राजनीतिशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक
(Principles of Political Science)

POLITICS & ADMINISTRATION

Title	Author
1 पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स)	डा प्रभुदत्त शर्मा
2 राजनीतिक विचारो का इतिहास (प्लेटो से वर्क)	डॉ प्रभुदत्त शर्मा
3 आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास (बेन्थम से अब तक)	डॉ प्रभुदत्त शर्मा
4 तुलनात्मक राजनीति	डॉ प्रभुदत्त शर्मा
5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति	डा प्रभुदत्त शर्मा
6 लोक प्रशासन सिद्धान्त एव व्यवहार	डॉ प्रभुदत्त शर्मा
7 भारतीय सरकार एव राजनीति	डा काश्यप एव डा राय
8 अन्तर्राष्ट्रीय सगठन	डा एम पी राय
9 आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन	डा ए अवस्थी एव डॉ आर के अवस्थी
10 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919-45)	डा मथुरालाल शर्मा
11 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1945-78)	डा मथुरालाल शर्मा
12 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919-78)	डॉ मथुरालाल शर्मा
13 सविधानों की दुनिया	डा प्रभुदत्त शर्मा
14 तुलनात्मक लोक प्रशासन	टी एन चतुर्वेदी
15 समाजवादी चिन्तन	डा के एल कमल
16 सामाजिक प्रशासन	डॉ डी के मिश्र
17 अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन	डा प्रभुदत्त शर्मा
18 रिसर्च मैथ्डोलॉजी	प्रो बी एम जैन
19 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था	डॉ सुभाष काश्यप
20 सेवीवर्गीय प्रशासन	डॉ सी एम जैन
21 बदलती विदेश नीतियाँ	डॉ मथुरालाल शर्मा
22 भारत में राज्यों की राजनीति	हरिश्चन्द्र शर्मा
23 अन्तर्राष्ट्रीय कानून	हरिश्चन्द्र शर्मा
24 भारत में लोक प्रशासन	हरिश्चन्द्र शर्मा
25 राजनय सिद्धान्त एव व्यवहार	हरिश्चन्द्र शर्मा
26 आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त	हरिश्चन्द्र शर्मा
27 प्राचीन भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक विचार एव सस्थाएँ	हरिश्चन्द्र शर्मा
28 भारत में स्थानीय प्रशासन	हरिश्चन्द्र शर्मा
29 इग्लण्ड में स्थानीय प्रशासन	हरिश्चन्द्र शर्मा
30 फ्रांस में स्थानीय प्रशासन	हरिश्चन्द्र शर्मा

राजनीतिशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक

(Principles of Political Science)

डॉ प्रभात त्यागी
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
राजकीय महाविद्यालय, कोटपूतली
एवं
सदस्य, समाज विज्ञान संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो श्रीमती चित्रा तखा
अध्यक्षा राजनीति विज्ञान विभाग
सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
एव
सदस्य, समाज विज्ञान संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

TOPICS FOR STUDY

1 Definition scope nature and methods of study of political Science according to traditional and contemporary perspectives The Scientific Methods and its application to Political Science Political Science and other Social Sciences Behavioural Approach—Its utility and limitation

2 Definition and nature of State—State as an association—State in terms of sovereignty—State in terms of law—Organic theory of the nature of State The idealistic theory of the nature of State Theory of the origin of State and historical development of the Modern State

3 The concept of sovereignty—Monistic and Pluralistic analysis of sovereignty—The concept of Power State and Society The Absolutist view of State and Nation Theory of National self determination—State and Religion—Theory of Secular State Functions of the State—Laissezfaire and socialistic theories The concept of Welfare State

4 Forms of Government—Democracy and Dictatorship—Presidential and Parliamentary types—Unitary and Federal forms The concept of Political System Organisational framework of Democracy—party system and pressure groups public opinion local self government the problem of minority representation

5 Organs of government and the problem of their relationship legislature—bicameralism—functions of legislature—executive and its functions judiciary and functions Theory of Separation of Powers Political concepts rights and theories of rights particular rights liberty its meaning and kinds—equality its meaning and kinds law its meaning and kinds—liberty and authority liberty and equality

अनुक्रमणिका

1

राजनीति शास्त्र का अर्थ, क्षेत्र एवं स्वरूप

(DEFINITION SCOPE AND NATURE OF POLITICAL SCIENCE)

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का प्रारम्भ प्राचीन यूनान से हुआ, और आज इसका जो स्वरूप है वह सदियो तक इसके विस्तार-विकास का प्रतिफल है। पहले राजनीतिक अध्ययन और चिन्तन केवल शासकवर्ग, राजनीतिज्ञो दार्शनिको और लेखकों तक ही सीमित था, किन्तु अब यह जनसाधारण के लिए भी एक रुचिकर विषय बन रहा है। लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के प्रसार ने राजनीति शास्त्र की अनन्यता (Exclusiveness) का अन्त कर दिया है। वर्तमान राजनीतिक चेतना की माग है कि राज्य जनसाधारण की भलाई के लिए काम करे, सरकार 'जनता की 'जनता द्वारा' और 'जनता के लिए' हो। आज के युग मे राजनीतिक सिद्धान्तो और आस्थाओ के *मूल्यांकन का आधार लोकहित की भावना बन गया है।*

मनुष्य के राजनीतिक सम्बन्धो के आधार पर जिस शास्त्र का विकास हुआ है उसे हम राजनीति शास्त्र की सज्ञा देते हैं। वह राज्य की उत्पत्ति, उसके विकास व कार्य विभिन्न अगो तथा इन सब के बारे में विभिन्न सिद्धान्तो और विचारधाराओ से परिचय कराता है। राजनीति-शास्त्र एक विशुद्ध सामाजिक शास्त्र है लेकिन धीरे धीरे अब यह एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप मे विकसित हो चुका है। अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था जिसने राजनीति-शास्त्र को व्यवस्थित एव वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। उसने इसे एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे भी विकसित किया। आज वह ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा का रूप ले चुका है।

राजनीति शास्त्र की उपयोगिता
(Utility of Political Science)

यह समाज के नवनिर्माण और पुनर्निर्माण के सिद्धान्तो को समझाने की चेष्टा करता है। राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो की नीव पर हम आदर्श और सुखद सामाजिक जीवन का निर्माण और सगठन कर सकते हैं। राजनीतिज्ञ ने दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों की प्राय अवहेलना की है। ये *सिद्धान्त समय और स्थान के साथ बदलते रहते हैं, तथापि* मूलरूप में ये मानव प्रगति के सिद्धान्त हैं, अत स्थायी हैं और शाश्वत् भी। राजनीति-शास्त्र का अध्ययन राज्यों को अधिकाधिक सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिए अपरिहार्य है।

राजनीति शास्त्र हमारे समक्ष लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करता है। पुलिस राज्य (Police State) का युग बीत चुका है, पुरान व्यक्तिवाद के सिद्धान्त लगभग मृत हो चुके है और एक सरक्षक के रूप मे राज्य के काय निरन्तर बढ रहे हैं। आज का राज्य जन रक्षक और जन सेवक है जो उन सभी कार्यो को करना चाहता है जिनके माध्यम स हमारा नागरिक और सामाजिकजीवन सुन्दर, आदश और सुखदायक बन सके। राज्य के इस स्वरूप का ज्ञान राजनीति शास्त्र के अध्ययन के माध्यम से भली प्रकार सम्भव है। यह वह ज्ञान है जो हमारे भौतिक और आध्यात्मिक पक्षो से राज्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करता है।

राजनीति शास्त्र यह प्रेरणा देता है कि हम विज्ञान और ज्ञान मे सतुलन स्थापित करते हुए रचनात्मक माग पर आगे बढें तथा ध्वसात्मक नीति स बचे। यह राज्य के उस स्वरूप को स्पष्ट करता है जिसम व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति सम्भव हो तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तो का ज्ञान कराता है ताकि हम विभिन्न सघर्षों और युद्धो की स्थिति से निकल कर, सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के माग पर अग्रसर हो। विश्वबधुत्व और जन जागरण राजनीति शास्त्र की महत्त्वपूण दन हैं।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन द्वारा हम राज्य के अधिकार-क्षेत्र से सम्बधित समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिवाद आदशवाद अराजकतावाद आदि चिन्तन धाराओ का परिचय मिलता है। इससे हमे राज्य के उद्देश्य और स्वरूप का भान होता है तथा राज्य के भावी आदश स्वरूप का चित्रांकन करने मे सहायता मिलती है। यह सब कुछ हमारे राजनीतिक सामाजिक, और आर्थिक जीवन को विवकशील तथा प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक है।

राजनीति शास्त्र हमे लोकतन्त्र का ज्ञान देता है और लोकतन्त्र के माग पर अग्रसर करता है। वतमान युग लोकतन्त्र का युग है। लोकतन्त्र के सिद्धान्त विकसित, परिष्कृत और प्रतिष्ठित हो रहे हैं। लोकतान्त्रिक क्रान्ति नागरिको से आशा करती है कि व इसका महत्त्व समझेंगे, अपने नूतन दायित्वो को पहिचानेंगे और इस द्वारा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन मे आने वाले परिवतनो के स्वागत क लिए तयार रहगे। इस सबके लिए आवश्यक है कि राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो स हमारा प्रगाढ परिचय हो। इसका अध्ययन लोकतान्त्रिक स्वरूप और विचारो को हमारे सामन प्रस्तुत करता है।

सबसे बडी बात यह है कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन नागरिको को सजग बनाता है, उन्हें हानिप्रद विचारो को स्वीकार करने से रोकता है। यदि कोई विचारधारा यह कहती है कि रगभेद की नीति मानव सभ्यता के लिए लाभकर है तो राजनीति-शास्त्र हम इस कुविचार को ग्रहण करने से रोकता है। यह समाज को राजनीतिक रूप में सजग बनाता है ताकि वह गलत विचारधाराओं के खतरो को पहचान सकें और उन्हें दूर भी कर सकें।

राजनीति-शास्त्र विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप और स्रोतो पर प्रकाश डालता है। यह विधि और अनुशासन का महत्त्व प्रतिपादित करता है।

इसमे व्यक्ति और विधि के पारस्परिक सम्बन्धो पर प्रकाश पडता है। इससे विधि सम्मत शासन को प्रोत्साहन मिलता है तथा जनता मे विधि के प्रति रुचि और जागरुकता विकसित होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के कार्यकलापो का मूल्यांकन हो पाता है अन्तराष्ट्रीय उलझनो और परिस्थितियो से निपटने मे प्रभावशाली सहायता प्राप्त होती है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन के बाद हम किसी भी राजनीतिक-सामाजिक मामले पर तर्कपूर्ण ढग से विचार विमर्श कर, तर्क सम्मत निर्णय पर पहुच सकते हैं।

प्राचीनकाल के उन क्षेत्रो मे जिनमे राज्य सचालन में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती थी, राजनीति का बहुत महत्त्व था। मध्य युग धर्मप्रधान रहा फलत राजनीति जन-साधारण का अपनी ओर आकर्षित नही कर सकी, किन्तु वर्तमान युग मे राज्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निकाय हो गया है, राजनीति व्यक्ति के जीवन के हर पहलू पर छा गयी है। एकतन्त्रवाद अथवा श्रेणीतन्त्रवाद के दिनो मे जहाँ राजशक्ति का प्रयोग किसी एक व्यक्ति या एक श्रेणी के हाथ में रहता था वहाँ आज के लोकतान्त्रिक समाज मे साधारण जनता स्वय अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा शासन करती है अर्थात् राजशक्ति की उपभोक्ता है। आम जनता का आज राजनीति से अविछिन्न सम्बन्ध हो गया है। सरकार के जनतन्त्रात्मक स्वरूप के कारण राजनीति शास्त्र जनसत्तात्मक बन गया है। प्रो० सोल्टाउ (Soltau) ने ठीक ही लिखा है कि राजनीति का सम्बन्ध प्रत्येक उस व्यक्ति से है जिसमे उत्तरदायित्व की कुछ भी भावना है क्योकि हर व्यक्ति इससे प्रभावित होता है।[1]

यथातथ्य पारिभाषिक शब्दावली का अभाव
(Lack of Precise Terminology)

राजनीति शास्त्र एक निरन्तर विकसित होता हुआ सामाजिक विज्ञान है, अत अभी तक सुनिश्चित और यथातथ्य (Exact) परिभाषिक शब्दावली नही बन पायी है। इसी बात को जलिनेक (Jellinek) इस प्रकार कहते हैं कि राजनीति-शास्त्र को एक समुचित शब्दावली की जितनी आवश्यकता है उतनी अन्य किसी विज्ञान को नही। यही कारण है कि विषय के प्रतिपादन और उसको समझने म अनेक उलझने पैदा हो जाती हैं। शब्दावली सम्बन्धी कठिनाइया कुछ अन्य सामाजिक विज्ञानों मे भी हैं। यह कमी कुछ सीमा तक राजनीति-शास्त्र को अपने परम्परागत साहित्य से एक विरासत के रूप मे मिली है। आधुनिक राजनीतिक विचारक इस कठिनाई को दूर करने का बहुत कुछ प्रयास कर रहे हैं फिर भी मजिल अभी दूर है।

राजनीतिशास्त्र की परम्परागत परिभाषाएं
(Traditional Definitions of Political Science)

राजनीति शास्त्र को परिभाषित करते समय हमे दो बातो पर विशेष ध्यान रखना होगा—एक तो यह कि परम्परागत रूप मे इसे किस प्रकार परिभाषित

1 R H Soltau An Introduction to Politics pp 2 ⁵

किया जाता रहा है, और दूसरे यह कि नये दृष्टिकोण से इसकी परिभाषाओं में क्या जोड़ दिया गया है अथवा इसके अध्ययन में कौन-कौन से नये दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। पहले हम राजनीति शास्त्र की परिभाषा उस परम्परागत रूप में लेंगे जिसका हम साधारणतया अब तक अध्ययन करते रहे हैं। फिर अगले शीर्षक में इसकी परिभाषा के नवीन रूप को प्रस्तुत करेंगे।

राजनीति' का पर्यायवाची शब्द पोलिटिक्स' (Politics) है जो यूनानी भाषा के 'पोलिस' (Polis) शब्द से बना है। ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व यूनानी लोग नगर राज्यों में रहते थे, जिन्हें पोलिस' कहा जाता था। ये नगर आत्म निर्भर और स्वशासित राजनीतिक इकाई थे। यूनानी दार्शनिकों ने इन नगर-राज्यों की स्थिति, घटनाओं और शासन विद्या को पोलिटिक्स कहा। इतिहास के कालचक्र में राज्य का स्वरूप बदला और नगर राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) ने ले लिया। अब राजनीति राज्य के विस्तृत स्वरूप से सम्बन्धित विद्या हो गयी, सामान्य ज्ञान से एक विज्ञान बन गयी। आधुनिक युग में जब हर क्षेत्र में वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन की लहर है, राजनीति से सम्बन्धित विषयों के अध्ययन को राजनीति शास्त्र (Political Science) की संज्ञा दी जाती है।

राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं को मोटे रूप में चार वर्गों में रखा जा सकता है —

प्रथम वर्ग में ब्लशली गार्नर, गेरिस आदि ने राजनीति-शास्त्र को मुख्यतः राज्य का अध्ययन माना है। इनकी परिभाषा में सरकार का उल्लेख नहीं किया गया है, जिसके अभाव में हम राज्य के क्रियात्मक रूप का दर्शन नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ ब्लशली के अनुसार राजनीति-शास्त्र वह विज्ञान है जिसका राज्य से सम्बन्ध है और जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति और विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।" गार्नर के अनुसार, राजनीति-शास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।' ये परिभाषाएँ, सरकार एवं मानव-तत्त्व की चर्चा न करने से अपूर्ण तथा एकांगी हैं।

दूसरे वर्ग की परिभाषाओं का राजनीति-शास्त्र में केवल सरकार के अध्ययन के रूप में प्रकट किया गया है। उदाहरणार्थ, सीले का कथन है कि, 'राजनीति-शास्त्र शासन सम्बन्धी बातों पर ठीक उसी प्रकार विचार करता है, जिस प्रकार अर्थशास्त्र सम्पत्ति जीवशास्त्र जीवन, बीजगणित अंक तथा रेखागणित स्थान और परिमाण के सम्बन्ध में विचार करते हैं।' लीकॉक की दृष्टि में, "राजनीति-शास्त्र सरकार से सम्बन्धित विद्या है। ये परिभाषाएँ भी अपूर्ण और एकांगी हैं क्योंकि इनमें सरकार का पृथक अस्तित्व प्रदान किया गया है जबकि वास्तव में वह राज्य का एक तत्त्व मात्र है। इन परिभाषाओं में राज्य की ओर कुछ भी संकेत नहीं किया गया है।

तीसरे-वर्ग की परिभाषाओं में राजनीति शास्त्र को राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन के रूप में दर्शाया गया है। अतः ये परिभाषाएँ उपर्युक्त दोनों वर्गों की

अपेक्षा अधिक न्यायसंगत हैं। उदाहरणार्थ, पाल जेनेट के अनुसार, "राजनीति-शास्त्र समाज-शास्त्र का वह भाग है जिसमें राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।" गेटेल का कथन है कि, "राजनीति शास्त्र राज्य के भूतकालीन, वर्तमान या भावी स्वरूप का राजनीतिक संगठन एवं राजनीति कार्यक्रम का, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन कराता है।"

यद्यपि तीसरे वर्ग की परिभाषाएँ तुलनात्मक रूप से अधिक मान्य हैं, तथापि इनसे भी राजनीति शास्त्र की प्रकृति की पूर्ण व्याख्या नहीं होती। ये मानव-तत्व की ओर संकेत नहीं करतीं जिसकी अनुपस्थिति में राजनीति शास्त्र की कोई भी परिभाषा सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती। मानव राज्य और सरकार दोनों का ही केन्द्र है। मानव-तत्व की उपेक्षा करने से समाज शास्त्र का कोई भी अंग पनप नहीं सकता। मानव जीवन के विविध पक्ष हैं और राजनीति-शास्त्र उसके राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है। मनुष्य के राजनीतिक सम्बन्धों को संचालित करने के लिए राज्य आवश्यक होता है और *राज्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति सरकार द्वारा होती है।* इस प्रकार राजनीति शास्त्र केवल राज्य और सरकार का ही नहीं, बल्कि मानव के सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का अध्ययन कराता है। मानव के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित सभी समस्याएँ राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। लास्की ने इसी दृष्टि से लिखा है कि, 'राजनीति-शास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध मानव सम्बन्धित संगठित राज्य से है।' एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल साइंसेज में हरमन हेलर ने तो यहाँ तक कहा है कि "राजनीति शास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा होता है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजनीति-शास्त्र राज्य, समाज, सरकार और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का एक क्रमबद्ध और संश्लिष्ट अध्ययन है। इसमें राज्य और सरकार के साथ ही एक राजनीतिक इकाई के रूप में मानव जाति का अध्ययन किया जाता है। इसमें मानव समुदायों सरकारी संगठनों तथा कानूनी व्यवस्थाओं, राज्य निर्देशन के अन्तर्गत आने वाली मानव के पारस्परिक सम्बन्धों, राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन सम्मिलित है। सारांशत राजनीति-शास्त्र की परिभाषा विज्ञान के रूप में की जा सकती है जिसमें मानव के उन सब कार्यकलापों का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध उस राज्य नामक संगठन से होता है जिसके अन्तर्गत स्वाभाविक रूप से सरकार का अध्ययन भी सम्मिलित होता है।

अतः राजनीति-शास्त्र का अध्ययन गतिशून्य न होकर सतत प्रगतिशील है।

राजनीति शास्त्र की परिभाषा का नवीन अथवा समकालीन दृष्टिकोण (Contemporary View of the Definition of Political Science)

राजनीति शास्त्र की परिभाषा का उपर्युक्त पारम्परिक रूप अब बदलता रहा है। उसके नवीन रूप के प्रतिपादक नयी परिभाषाएँ स्थापित कर

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र म नूतन पहलुओ को उजागर कर रहे हैं। पर इस सम्बन्ध मे आगे बढने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि परम्परावादी सम्प्रदाय मृत नही हुआ है। आज भी विद्वानो का ऐसा शक्तिशाली समुदाय है जो राजनीति शास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र के सम्बन्ध मे परम्परावादी दृष्टिकोण को ही सही मानता है। परम्परावाद के समर्थक महारथियो मे प्रमुख हैं—माइकेल ऑक्शाट शट्रा, मलफर्ड सिवनी आरेण्ट, बर्ट्रेण्ड जोवनेल, लियो स्ट्रॉस तथा एरिक वोगेलिन। माइकेल आकशाट को, जिसने हैराल्ड लास्की की मृत्यु के बाद 1951 मे लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स एण्ड पालिटिकल साइन्स मे राजनीति विज्ञान की अध्यक्षता सम्भाली, एक पक्का रूढिवादी राजनीतिक विचारक माना जाता है। इगलण्ड मे रूढिवादी चिन्तन के पुनरुज्जीवन के साथ उसका नाम मुख्य रूप से जुडा हुआ है।

अति आधुनिक काल मे—मुख्यत द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त—राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे नवीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई है, नए दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए हैं। कटलिन, लासवेल, ईस्टन, वी ओ की हरमन हीलर आदि समकालीन राजनीतिक विचारको का मत है कि राजनीति शास्त्र को राज्य' अथवा 'शासन' के अध्ययन तक सीमित नही रखा जा सकता। मानव जीवन समष्टिमय है। उसके राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक धार्मिक आदि विभिन्न पहलुओ को हम एक दूसरे से पूर्णत पृथक् नही कर सकते। अत राजनीति शास्त्र की गवेषणा का आधार मनुष्य का केवल राज्य-सम्बन्धी व्यवहार ही नहीं है बल्कि उसके बहु-पक्षीय व्यवहार और क्रिया कलाप हैं। इस मत के प्रतिपादको को "व्यवहारवादी विचारक कहा जाता है। इनका कहना है कि मानव-व्यवहार के केवल राजनीतिक पहलू का अध्ययन अपर्याप्त है, कुछ उन प्रक्रियाओ का अध्ययन भी आवश्यक है जो गैर राजनीतिक चरित्र की हैं। इन प्रक्रियाओ का मानव-व्यवहार के राजनीतिक पहलू पर प्रभाव पडता है। राज्य और राजनीतिक संस्थाओ का अध्ययन ही महत्वपूर्ण नही बल्कि राजनीतिक व्यवहार और उस पर पडने वाले मानसिक, सामाजिक आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियो के प्रभावो का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। इसी बात को स्टीफन वास्नी ने या व्यक्त किया है कि, "राजनीति शास्त्री सुबह नौ बजे से शाम को पाँच बजे तक जो कुछ करते हैं वही राजनीति शास्त्र है।'

कटलिन और लासवेल ने राजनीति शास्त्र को शक्ति का अध्ययन माना है। कटलिन ने राज्य के स्थान पर व्यक्ति के राजनीतिक क्रियाकलापो के अध्ययन पर बल दिया है और राजनीति को प्रभुत्व तथा नियन्त्रण (Dominance and Control) के लिए किया जाने वाला संघर्ष माना है। कटलिन के अनुसार 'शक्ति' (Power) सभी राजनीतिक कार्यों की कुन्जी है। लासवल के अनुसार भी, 'एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप म राजनीति शास्त्र शक्ति रूपरचना तथा उपभोग का अध्ययन है। मेरियम, मैक्स वेबर, वार्टकिन्स मोर्गेन्थो आदि विचारको न भी शक्ति को राजनीति की केन्द्रीय अवधारणा (Concept) माना है। शक्ति सम्बन्धी इस दृष्टिकोण की व्याख्या तो हम आगे पृथक से करेंगे, यहाँ इतना ही

समझ लेना चाहिए कि राजनीति शास्त्र की नवीन परिभाषा मे एक विचार यह है कि समाज मे शक्ति, उसके स्वरूप आधार, क्षेत्र, परिणाम आदि का अध्ययन होना चाहिए। जो शक्तिया शासन और उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं वे परिवार श्रम सघ आदि विभिन्न समूहो पर भी अपना असर डालती हैं अत आवश्यक है कि हम इन राजनीतिक शक्तियो का समुचित अध्ययन करें।

कुछ समकालीन राजनीतिक विचारक राजनीति शास्त्र के नीति-सम्बन्धी पक्ष पर अधिक बल देते हैं अत कुछ अर्से से 'नीति निर्धारण की प्रक्रिया' (Decision making Process) का विशेष अध्ययन होने लगा है। लेकिन कुछ अन्य विचारको का मत है कि प्रक्रिया के साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि हमारी नीति क्या हो? विशेष परिस्थितियो मे जो नीतियाँ अपनायी जा सकती हैं उनका समुचित अध्ययन अपेक्षित है।

डविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था' (Political System) की अवधारणा प्रस्तुत की। आज जिस हम राजनीतिक व्यवस्था कहत है, उसे पुरानी पाठ्य पुस्तको मे सरकार' 'राष्ट्र', 'राज्य' आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता था। तथापि यह नवीन शब्दावली अधिक व्यापक है जो राजनीतिक विषय सामग्री पर एक नए तरीके से प्रकाश डालती है। इसमे पुरानी बातो के लिए कुछ नए नाम निहित है और कुछ नए शब्द उन गतिविधियो तथा प्रक्रियाओ की अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत हुए हैं जिन्हे राजनीति के अगो या पहलुओ के रूप मे पहले मा यता प्राप्त नही थी। डेविड ईस्टन के अनुसार, "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यो के अधिकाधिक निर्धारण से है।" ईस्टन के इस दृष्टिकोण का आगे पृथक स विवेचन किया गया है। ईस्टन ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र म तीन बातो—नीति अधिसत्ता और समाज (Policy, Authority and Society) को प्रमुख माना है।

कुछ विद्वानो का मत है कि राजनीति को हम सघर्ष की राजनीति तक ही सीमित नही रख सकते, उसमे सहयोग और सहमति का भी प्रमुख स्थान है और इन सबका राजनीति शास्त्र के अ तगत अध्ययन किया जाना चाहिए।

वी ओ की नामक एक प्रमुख विचारक के अनुसार, "राजनीति शास्त्र प्रभुत्व और अधीनस्थता तथा प्रशासक और प्रशासित के मानवीय सम्बन्धो पर विचार करता है।"

सक्षेप रूप म राजनीति शास्त्र के प्रति जिन समकालीन प्रमुख दृष्टिकोणो का यहाँ उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र की परिभाषा एक व्यापक आधार पर की जानी चाहिए। यह राज्य, समाज, सरकार और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो का एक क्रमबद्ध और सश्लिष्ट अध्ययन ही नही है वरन् इसमे राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक व्यवहार और सामुदायिक जीवन के विविध राजनीतिक पक्ष भी सम्मिलित हैं। परम्परागत और अर्वाचीन परिभाषाओ तथा व्याख्याओ के प्रकाश मे राजनीति शास्त्र को हम राज्य शासन और राजनीतिक प्रक्रियाओ का अध्ययन कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध मनुष्य के उन सभी

क्रिया-कलापो से है जो उसके जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक, नतिक पहलुओ से प्रभावित होते हैं और इन पहलुओ को प्रभावित करते हैं।

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र (परम्परावादी दृष्टिकोण)
[Scope of Political Science (Traditional Approach)]

परिभाषा की भांति राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को भी लेखको द्वारा विभिन्न रूपो मे चित्रित किया गया है। उदाहरणार्थ, ब्लशली के अनुसार, "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधारो से है, अत वह उसकी आवश्यक प्रकृति उसके विभिन्न स्वरूपों, उसकी अभिव्यक्तियो एव उसके विकास का अध्ययन कराता है।" डॉक्टर गानर के शब्दो मे, "राजनीति शास्त्र का विषय क्षेत्र तीन भागो मे विभाजित है— प्रथम, राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति का अनुसधान, द्वितीय, राजनीतिक सस्थाओ के स्वरूप और उनके इतिहास तथा रूपो की घोषणा, एव तृतीय, उपयुक्त खोज तथा गवेषणा के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमो का यथासम्भव अनुमान लगाना।" गेटेल के मतानुसार, राजनीति शास्त्र के अन्तगत तीन बातें मुख्यत सम्मिलित हैं—(1) राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक सस्था तथा सिद्धान्तो का विकास, (11) वतमान राजनीतिक सस्थाओ और सिद्धान्तो का अध्ययन, एव (111) राज्य का भावी अर्थात् आदश स्वरूप। फ्रेडरिक पोलक के अनुसार, राजनीति शास्त्र के दो भाग होते हैं—सैद्धान्तिक राजनीति शास्त्र और व्यावहारिक राजनीति शास्त्र। प्रथम भाग में राज्य के मूल तत्त्वो, सिद्धान्तो और आदर्शों पर विचार किया जाता है तथा दूसरे भाग मे उन साधनो का विवेचन होता है जिनके द्वारा राज्य अपनी शक्ति का अभिव्यक्त और प्रयुक्त करता है। गिलक्राइस्ट ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध मे तीन तत्त्वो पर बल दिया है—राज्य का वतमान स्वरूप, राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप एव राज्य का भावी स्वरूप। विलोबी की मान्यता है कि, "राज्य विज्ञान साधारणत तीन बातो पर विचार करता है – राज्य, प्रशासन तथा विधि।"

राजनीति शास्त्र की क्षेत्र सम्बधी उपयुक्त परिभाषाओ से हमारे समक्ष तीन प्रकार की विचारधाराएँ आती हैं—प्रथम विचारधारा के अनुसार केवल राज्य, द्वितीय के अनुसार केवल सरकार और तृतीय के अनुसार राज्य तथा सरकार दोनो का अध्ययन राजनीति शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय माना गया है। किन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि परिभाषा की भाति राजनीति शास्त्र के क्षेत्र मे भी हम मानव तत्त्वों की उपेक्षा नही कर सकते। अभिप्राय यह है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे राज्य, सरकार, मनुष्य तीनों ही सम्मिलित हैं। इनमे से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अग्रिम पक्तियो में राजनीति शास्त्र के क्षेत्र का कुछ अधिक स्पष्टता से विवेचन किया जाएगा।

राज्य का अध्ययन—राजनीति शास्त्र राज्य का सर्वांगीण और सवकालीन अध्ययन है। इसमे राज्य के ऐतिहासिक वर्तमान और भावी तीनो ही स्वरूपो का अध्ययन किया जाता है।

सभी राजनीतिक सस्थाएँ क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य का वतमान स्वरूप ऐतिहासिक विकास की उपज है। राज्य के ऐतिहासिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त

किए बिना हम राज्य को यथोचित रूप मे नहीं समझ सकते। राजनीति शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, राज्य के वर्तमान स्थिति तक पहुँचने की विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न युगों और देशो मे राज्य तथा शासन के स्वरूप के विकास आदि का अध्ययन करता है। राजनीतिक विचारधारा (Political Theory) के विकास, राजनीतिक विकास (Political Development) के सिद्धान्त और नियम भी राजनीति शास्त्र की विषय सामग्री हैं।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे राज्य का वर्तमान स्वरूप, सगठन, औचित्य, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र आदि भी शामिल है। राज्य के स्वरूप के सन्दर्भ मे इसके अन्तर्गत राजतन्त्र, प्रजातन्त्र आदि सरकारो का वर्णन किया जाता है। सरकार के सगठन की दृष्टि से सरकार के विभिन्न अगो और उनसे सम्बन्धित सिद्धान्तो का अध्ययन इसमे शामिल है। कार्यक्षेत्र की दृष्टि से व्यक्तिवादी, समाजवादी, गाँधीवादी आदि विभिन्न सिद्धान्त अथवा विचारधाराएँ राजनीति शास्त्र का विषय है। यह शास्त्र राज्य के आन्तरिक कार्यक्षेत्र का भी अध्ययन करता है और बाह्य कार्य क्षेत्र का भी। इस प्रकार देश का कुशल प्रशासन स्थानीय स्वशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो कूटनीति सन्धि समझौते विश्व शान्ति आदि से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन राजनीति शास्त्र मे किया जाता है।

राजनीति शास्त्र राज्य के भावी स्वरूप का अध्ययन, विश्लेषण कराता है। राज्य के तात्कालिक स्वरूप और सगठन से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता, अत प्रारम्भ से ही वह आदर्श राज्य का स्वप्न लेता रहा है। प्लेटो, अरस्तू मूर आदि ने आदर्श राज्य का चित्र खीचा और वर्तमान विचारक भी राज्य के स्वरूप, उद्देश्य तथा कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे अनेक नवीन विचार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, समाजवादियो का कहना है कि समाज का आर्थिक जीवन भी राज्य द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। अराजकतावादी एक राज्यविहीन समाज का चित्रांकन करते हैं। बहुलवादी राज्य को अन्य मानव समुदायो के समकक्ष ही मानते हैं। इस विचारधारा का राज्य के स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। राजनीति शास्त्र मे समाज का अध्ययन किया जाता है और यह विचार आता है कि राज्य का भावी स्वरूप क्या हो तथा उसका प्रयोग किस दिशा मे हो? राज्य का स्वरूप जनतन्त्रवादी हो या सर्वसत्तावादी, राज्य धर्म निरपेक्ष हो या धर्म प्रधान राज्य मे एकदलीय व्यवस्था हो या बहुदलीय, सरकार के तीनो अगो का आदर्श स्वरूप क्या हो?, आदि सभी प्रश्न राजनीति शास्त्र की चिन्तन सामग्री हैं।

सरकार का अध्ययन—सरकार वह उपकरण है जो राज्य के स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति करता है। राज्य काल्पनिक वस्तु है और सरकार उसकी वास्तविक मूर्ति। अत सरकार के अध्ययन के अभाव मे राज्य का अध्ययन कोई महत्त्व नही रखता। राजनीति शास्त्र मे सरकार के विभिन्न अगो, उसके सगठन, कार्यक्षेत्र, उन अगो में पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक दल जनमत, स्थानीय [illegible] आदि का विशेष अध्ययन किया जाता है।

मनुष्य का अध्ययन—मनुष्य के हित के लिए ही राज्य अस्तित्व मे आता है। राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य के अधिकारो, राज्य के प्रति उसके कर्त्तव्या मनुष्य तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो आदि का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के वे क्रिया कलाप, जिनका सम्बन्ध राज्य और शासन से है इस शास्त्र की अध्ययन-सामग्री है। राज्य मानव प्रगति का सूचक है तथा राजनीति शास्त्र वर्तमान राजनीतिक सस्थाओ के विश्लेषण मात्र मे ही सन्तुष्ट नही हो सकता। उसे परिवर्तन विकास सामाजिक एव बौद्धिक वातावरण आदि का क्रम भी ध्यान मे रखना पडता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि एव सम्बन्धो का अध्ययन—जैसा कि पिछली पक्तियो मे कहा जा चुका है राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सम्बन्धो, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा राज्यों के कूटनीतिक सम्बन्धों का आदर्श स्वरूप आदि का अध्ययन सम्मिलित है।

यह कहना चाहिए कि राजनीति शास्त्र राज्य और सरकार के सर्वांगीण अध्ययन के साथ मानव तत्त्व और आधुनिक वातावरण का भी अध्ययन करता है। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल साइंसेज' म हरमन हेलर ने अपने 'पोलिटिकल साइंस' नामक लेख में राजनीति शास्त्र की प्रतिपाद्य सामग्री का विवेचन करते हुए लिखा है कि, "आज राजनीति शास्त्र प्रधानत राजनीतिक शक्ति की पूर्ति, उसके दृढीकरण और वितरण की समस्या पर केन्द्रित है। इसके अन्तर्गत उन प्रक्रियाओ के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा भौगोलिक, जलवायु सम्बन्धी, जातीय, प्राकृतिक, आर्थिक, सैनिक, नैतिक तथा राष्ट्रीय वातावरण और कानून के अनुसार जनशक्ति राज्यसस्था का स्वरूप धारण करती है। इसमे महत्वपूर्ण राजनीतिक समुदायो—विशेषकर राजनीतिक दलो के सगठन और कार्यों का वर्णन एव विश्लेषण किया जाता है। हम यह भी देखते है कि राजनीतिक समुदायो की उत्पत्ति एव विकास मे राजनीतिक विचारो के प्रभाव का क्या महत्त्व है। साथ ही इसमे सगठित राजनीतिक शक्ति तथा सघीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ म राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का पर्यवेक्षण भी किया जाता है।"

उल्लेखनीय है कि सन् 1948 मे सयुक्त राष्ट्रसघ के शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक सगठन (यूनेस्को) के एक सम्मेलन मे राजनीति शास्त्र के क्षेत्र पर विचार किया गया था। यूनेस्को के अनुसार, राजनीति शास्त्र का विषय क्षेत्र मोटे रूप मे चार शाखाओ मे विभाजित किया जा सकता है—

1 राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory)—इसमे राजनीतिक विचारो का इतिहास तथा राजनीतिक सिद्धान्त या विचारधारा सम्मिलित हैं।

2 राजनीतिक सस्थाएँ (Political Institutions)—इसम सविधान, राष्ट्रीय सरकार, लोक शासन, सरकार के सामाजिक एव आर्थिक कार्य, राजनीतिक सस्थाएँ आदि शामिल हैं।

3 राजनीतिक दल (Political Parties)—इसमें राजनीतिक दलों, समुदाय, जनमत, सरकार एवं प्रशासन में जनता के योगदान आदि का अध्ययन निहित है।

4 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (International Relations)—इसमें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्मिलित हैं।

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र एवं स्वरूप के सम्बन्धों में कुछ आधुनिक प्रमुख दृष्टिकोण

स्पष्ट है कि पारम्परिक तौर पर राजनीति शास्त्र का अध्ययन राज्य और राजनीतिक संस्थाओं तक सीमित माना जाता रहा है। इसके साथ ही एक अन्य सम्बद्ध धारणा यह रही है कि मानव समाज में राज्य का स्थान निर्णायक है, वह समाज का नियामक भी है और निर्माता भी। लेकिन अति आधुनिक काल में राजनीति शास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के इस दृष्टिकोण की कटु आलोचना हुई है। व्यवहारवादियों का मत है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में केवल राज्य और राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन ही महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन मानव व्यवहार का राजनीतिक पहलू भी महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति जो कुछ भी करता है और उसके पीछे जो भी प्रेरणाएँ कार्य करती हैं तथा इन प्रेरणाओं के निर्धारण में जो तत्त्व प्रभावी होते हैं उन सब का अध्ययन आवश्यक है। वस्तुत राजनीति मानवीय व्यवहार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मानव-व्यवहार का अध्ययन होने के नाते ही राजनीति शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध है और वह उनसे बहुत-कुछ ग्रहण करता है। व्यवहारवादी धारणा से प्रभावित राजनीति शास्त्री राज्य के स्थान पर मनुष्य के राजनीतिक क्रियाकलापों को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानते हैं। व्यवहारवादी दृष्टिकोण की विवेचना जिसने राजनीति शास्त्र के अध्ययन में एक नवीन भाग का विकास किया है, अध्याय चार में आगे पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से की गई है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम राजनीति शास्त्र के क्षेत्र एवं स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय अन्य प्रमुख प्रतिनिधि दृष्टिकोणों का वर्णन करेंगे जिनका संकेत राजनीति शास्त्र की आधुनिक परिभाषा के सन्दर्भ में किया जा सकता है।

राजनीति शास्त्र शक्ति का अध्ययन (केटलिन, लासवेल आदि)

समकालीन राजनीतिक विद्वानों केटलिन, लासवेल, मेरियम, वाटकिन्स, हरमन हीलर, मोर्गेन्थो आदि ने 'शक्ति' (Power) को राजनीति की केन्द्रीय कल्पना माना है। रॉब्सन (Robson) के अनुसार, "शक्ति एक ऐसी बुनियादी कल्पना है जो राजनीति शास्त्र के सभी विभागों को एक सूत्र में पिरो देती है।" राजनीति शास्त्र के अध्ययन का प्रमुख विषय है—समाज में शक्ति, उसका स्वरूप, आधार, क्षेत्र और परिणाम।

केटलिन—केटलिन और लासवेल शक्ति अवधारणा के प्रतिनिधि हैं। उनके विवेचन का मुख्य आधार मनोविज्ञान है। केटलिन ने, जैसा कि,

लिख चुके हैं, राज्य के स्थान पर व्यक्ति के राजनीतिक क्रियाकलापों पर बल दिया है और राजनीति को प्रभुत्व तथा नियन्त्रण (Dominance and Control) के लिए किया जाने वाला सघर्ष माना है। सघर्ष का मूल कारण मनुष्य की यह इच्छा है कि दूसरे लोग उसके अस्तित्व को स्वीकार करें। 1962 में 'सिस्टमेटिक पॉलिटिक्स' शीर्षक से केटलिन की पुरानी पुस्तक का जो संशोधित सस्करण प्रकाशित हुआ उसमे केटलिन के विचार अधिक स्पष्ट और परिष्कृत हैं। केटलिन ने 'शक्ति' को इच्छाओं के सघर्ष और नियन्त्रण प्रक्रिया का आलम्बन मानते हुए सभी राजनीतिक कार्यों की कुञ्जी बताया है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है—"नियन्त्रण से समाज मे जो कुछ होता है, नियन्त्रण भावना के कारण जो भी कार्य किए जाते हैं, नियन्त्रण भावना पर आधारित सम्बन्धो, इच्छाओं के कारण समाज मे जिस ढाँचे और जिन इच्छाओं का निर्माण होता है उन सबसे राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध है।" केटलिन की मान्यता है कि जहाँ कहीं भी शक्ति सघर्ष है वहीं राजनीति है। यदि यह शक्ति-सघर्ष धार्मिक सगठनो, पारिवारिक सम्बन्धो, श्रमिक सघो आदि मे भी दिखायी देता है तो उन सभी का अध्ययन राजनीति शास्त्र का विषय है।

लासवेल—लासवेल के अनुसार राजनीति विज्ञान प्रभाव तथा प्रभावी (Influence and Influential) का अध्ययन है। वह राजनीति शास्त्र के अध्ययन को कुछ सस्थाओं तक सीमित नहीं रखना चाहता। राज्य अथवा सरकार जैसी *संस्थाएँ ही राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु नहीं है। राजनीति शास्त्र की विषय* वस्तु 'शक्ति' है जो राज्य या सरकार जैसी औपचारिक सस्थाओं तक ही सीमित न होकर, हर जगह विद्यमान है। राजनीति का अध्ययन करने के लिए शक्ति-दृष्टिकोण ही अपनाया जाना चाहिए। 'प्रभाव और प्रभावी' समाज मे हर जगह पाए जाते हैं। लासवेल के अनुसार शक्ति दूसरों पर, अपने मूल्यों को लागू करने की क्षमता है।

लासवेल का कहना है कि राजनीति शास्त्र भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति एक नीति विज्ञान है और सामाजिक नीति ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा उन परिस्थितियों का निर्माण किया जा सके जिनमे समाज के मूल्यों को शक्ति के साथ समायोजित किया जा सके। शक्ति-सम्बन्धी प्रक्रिया सामाजिक प्रक्रिया से भिन्न न होकर सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक पहलू मात्र है। राजनीति शास्त्र मे अमूर्त सस्थाओं या सगठनो का अध्ययन नहीं होता, यह व्यक्ति को उसके पूर्ण रूप मे देखता है तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है इसमें व्यक्ति की आवश्यकताओं एव हितो के एक पक्ष मात्र का नहीं देखा जाता वरन् उसके समस्त पहलुओं सहित पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। यह उन सभी तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका मूल्यांकन करता है जो नीति सम्बन्धी लक्ष्यों के पूर्ण होने में अवरोध का कार्य करते हैं।

लासवेल का कथन है कि शक्ति का वितरण असमान होने से मूल्यों की प्राप्ति सब लोगों को एक जैसी, एक समय पर और एक तरह से नहीं होती है।

इसीलिए राजनीति शास्त्र उस राजनीति को खोजता है जो यह बतलाए कि 'कौन, क्या, कब और कसे प्राप्त करता है ?' इसी विचार के आधार पर उसने 1936 में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक का नाम ही 'राजनीति कौन, क्या कब और कसे प्राप्त करता है ?' रखा है। लासवेल के अनुसार शक्ति' राजनीति का मुख्य सार है। राजनीतिक व्यक्ति वह है जिसका प्रमुख मूल्य (उद्देश्य) शक्ति प्राप्त करना है। शक्ति का अभिप्राय महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से है और निर्णयों का महत्त्व इस बात से नापा जाता है कि मूल्यों के वितरण पर उनका कितना प्रभाव है। लासवेल शक्ति को मूल्यों के वितरण को प्रभावित करने वाला साधन मानता है। मूल्यों के सम्बन्ध मे निर्णय शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा लिए जाते हैं और ये निर्णय मूल्यों के वितरण को प्रभावित करते हैं। कौन क्या, कब और कसे पाता है—ये प्रश्न हमे उन व्यक्तियों के कार्य भाग के अध्ययन की ओर ले जाते हैं जो इन्हें प्राप्त करते हैं। व्यक्ति मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास इसलिए करते हैं क्योंकि इनकी प्राप्ति से उन्हें वैभव, पद और प्रतिष्ठा उपलब्ध होता है। मूल्यों को प्राप्त कर लेने के कारण समाज द्वारा ये सब चीजें व्यक्तियों को प्रदान की जाती हैं। मूल्यों का समाज मे वितरण किस तरह होता है, यह राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के अध्ययन का प्रमुख विषय है। मूल्यों के वितरण के अध्ययन द्वारा ही हम किसी राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति को समझ सकते हैं।

इस तरह लासवेल के विचार के अनुसार शक्ति और मूल्य दोनों का अध्ययन राजनीति मे महत्वपूर्ण है। लासवेल का मत है कि राजनीति शास्त्र के रूप में जो परिवर्तन आया है वह वैज्ञानिक और तकनीकी विकासों के प्रभाव का परिणाम है। विज्ञान ने विश्व के स्वरूप को इतना बदल दिया है कि राजनीति शास्त्र उससे अप्रभावित नही रह सकता। राजनीति शास्त्र का सही अध्ययन तभी किया जा सकता है जब उस पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न शक्तियों को भी अध्ययन का विषय बनाया जाए।

शक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रमुख दोष यह है कि व्यक्ति के उन सभी कार्यों को राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र की परिधि मे ले लिया गया है जिनका आधार शक्ति है। आखिर राजनीतिक और गैर राजनीतिक क्रियाकलापों के बीच सीमा रेखा तो है ही। फिर, राजनीति को केवल शक्ति का संघर्ष ही नहीं माना जा सकता, उसमे सहयोग और सहमति का भी स्थान है। पुनश्च, लासवेल ने 'कौन क्या, कब और कसे प्राप्त करता है' जसे प्रश्न उठा कर राजनीति को शक्तिशाली अभिजात्य वर्ग के क्रियाकलापों के अध्ययन तक ही सीमित कर दिया है जबकि जनसाधारण के क्रियाकलाप भी राजनीति शास्त्र के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण भाग है।

राजनीति शास्त्र सामाजिक मूल्यों के आधिकारिक निर्धारण का अध्ययन (ईस्टन)

शक्ति-अवधारणा की कमियों को दूर करने के प्रयास में डेविड ईस्टन ने

अपना अलग ही विचार प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक 'दी पॉलिटिकल सिस्टम' में एक स्थल पर उसने लिखा है कि राजनीति शास्त्र सामाजिक मूल्यों के आधिकारिक आवटन या निर्धारण (Authoritative allocations of the values of society) का अध्ययन है। इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर उसका कथन है—राजनीति शास्त्र मूल्यों के आधिकारिक आवटन का अध्ययन है, जैसा कि यह शक्ति के वितरण एवं प्रयोग के द्वारा प्रभावित होता है। ईस्टन ने राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन को दो भागों में बाटा है—प्रथम भाग के अन्तर्गत वह राजनीतिक व्यवस्थाओं (Political Systems) के कायम रखने (Survival) के अध्ययन को सम्मिलित करता है और दूसरे भाग में शक्ति के वितरण और इस वितरण के आधार पर मूल्यों के निर्धारण के अध्ययन को शामिल करता है। ईस्टन का विचार है कि आधिकारिक आवटन या निर्धारण तथा प्राप्त होने वाले मूल्यों और शक्ति के प्रयोग तथा वितरण के बीच एक घनिष्ठ ग्रंथि है जो एक दूसरे को जोड़ती है।

ईस्टन ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में तीन बातों पर प्रमुख रूप से बल दिया है—नीति, अधिसत्ता और समाज (Policy Authority and Society)। उसने इन तीनों बातों की व्याख्या की है। नीति का सार (The Essence of Policy) इस बात में है कि इसके माध्यम से कुछ बातें कुछ व्यक्तियों को निषिद्ध की जाती हैं और कुछ बातें दूसरों को प्राप्त करने योग्य बनायी जाती हैं। दूसरे शब्दों में, नीति का आशय समाज द्वारा अथवा किसी समुदाय या समूह के उन निर्णयों और मानव क्रियाकलापों के ताने बाने (A web of decisions and actions) से है जिनके द्वारा सामाजिक मूल्यों का आवटन होता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य बात है कि मूल्यों के निर्धारण की प्रक्रिया का अभिप्राय यह निश्चय करना होता है कि सामाजिक सम्पन्नता अथवा विपन्नता में कौन किस सीमा तक भागीदार बने। इस प्रक्रिया में किए गए निर्णयों की सफलता और असफलता दोनों राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अधिसत्ता (Authority) सम्बन्धी अध्ययन राजनीति शास्त्र के लिए आवश्यक है क्योंकि नीति सम्बन्धी निर्णयों के क्रियान्वयन के लिए अधिसत्ता का अस्तित्व जरूरी है। मूल्यों का आवटन आधिकारिक होता है। कोई भी चीज आधिकारिक तभी मानी जाती है जब इससे प्रभावित होने वाले या इससे सम्बन्धित लोग यह मान लें कि इसका पालन करना अनिवार्य है। अधिसत्ता की मान्यता के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, यथा, कानून के अनुसार आचरण करने की भावना, दबाव का भय आदि। समाज (Society) का अध्ययन राजनीति शास्त्र में इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति इस समाज का अंग है। उसका व्यवहार एकाकी न होकर समाज के सदस्यों के प्रति होता है और राजनीति शास्त्र में लोगों के उन्हीं क्रियाकलापों और नीतियों का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक एवं सार्वजनिक हों अर्थात् जिनसे समाज किसी न किसी रूप में प्रभावित होता हो। यदि एक श्रमिक संगठन केवल ऐसे नियमों का निर्माण करे जो संगठन की सीमाओं में ही प्रभावी हों तो राजनीति शास्त्र में उसका अध्ययन

आवश्यक नहीं है, किन्तु यदि श्रमिक संगठन एक ऐसी हड़ताल का निर्णय करें जिसका सारे समाज पर प्रभाव पड़ता हो तो उसका अध्ययन राजनीति शास्त्र के लिए आवश्यक है।

उल्लेखनीय है कि ईस्टन को ही यह प्रमुख श्रेय प्राप्त है कि उसने राजनीतिक व्यवस्था (Political System) की संकल्पना (Concept) का प्रतिपादन किया है। राजनीति शास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में जो विभिन्न कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए ही ईस्टन ने अपनी यह संकल्पना प्रस्तुत की है। 'राजनीतिक व्यवस्था' (Political System) शब्दावली आज अधिकाधिक सामान्य होती जा रही है। आज जिसे हम राजनीतिक व्यवस्था कहते है, उसे पुरानी पाठ्य पुस्तकों मे 'सरकार', 'राष्ट्र' 'राज्य' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता था, तथापि यह नवीन शब्दावली कुछ अधिक व्यापक है जो राजनीतिक विषय सामग्री पर *एक नए तरीके से प्रकाश डालती है। इसमें पुरानी बातों के लिए कुछ नए नाम* निहित हैं और कुछ नए शब्द उन गतिविधियों तथा प्रक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं जिन्हें राजनीति के अंगों अथवा पहलुओं के रूप में पहले मान्यता प्राप्त नहीं थी। ईस्टन का मत है कि राजनीति शास्त्र का पहला कार्य उन सामान्य समस्याओं का विश्लेषण करना है जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में लगभग समान रूप से पायी जाती हैं।

ईस्टन ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन को यद्यपि एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है तथापि यह दृष्टिकोण भी अनेक कमियों का शिकार है। उदाहरणार्थ, ईस्टन इस समस्या का समाधान करने में सफल नहीं हुआ है कि 'राजनीतिक' को 'अराजनीतिक' से कैसे अलग किया जाय। इस बात के निर्धारण में भी भ्रम होता है कि किसी नीति के आधिकारिक आवंटन से केवल कोई समूह विशेष ही प्रभावित हो रहा है अथवा सम्पूर्ण समाज। यह निश्चित करना भी कई बार अत्यन्त कठिन हो जाता है कि एक नीति विशेष का उद्गम कोई वैध अधिसत्ता है अथवा नहीं।

राजनीति शास्त्र नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन है

अनेक आधुनिक लेखकों का आग्रह है कि राजनीति शास्त्र में अध्ययन का केन्द्र बिन्दु नीति निर्माण प्रक्रिया (Decision Making Process) होनी चाहिए। राजनीति शास्त्र का एक प्रमुख भाग स्पष्टतः नीति निर्माण कार्य से सम्बन्धित है। इसमें उन अनेक अभिकरणों और साधनों का अध्ययन किया जाता है जो नीति निर्धारित करते हैं। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सभी प्रशासकीय कार्यों तथा मतदाताओं का अध्ययन करता है। इसमें राजनीतिक दलों के संगठन, प्रक्रिया, सरकारी क्रियाओं के विभिन्न परिणामों आदि पर विचार किया जाता है। राज्य की विविध संस्थाएँ क्या नीति अपनाएँ और उन नीति को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय, इस सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र विस्तार विवेचन करता है। नीति-निर्माण प्रक्रिया के अध्ययन पर आग्रह का विचार नि

उपयोगी है, तथापि इस दृष्टिकोण मे एक बडी कमी यह रह जाती है कि इस बात का पता लगाने का प्रयत्न नही किया जाता कि जिस समस्या के सम्बन्ध मे निर्णय लिया जा रहा है, समाज के सन्दभ में उसका क्या महत्त्व है और समाज पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी । कुल मिलाकर नीति निर्माण की प्रक्रिया राजनीति का एक सीमित रूप है और केवल उसी के अध्ययन से हम महत्वपूर्ण राजनीति का अध्ययन नहीं कर सकते ।

समस्याओ और सघर्षो का अध्ययन

कुछ विद्वानो के मतानुसार राजनीति शास्त्र समस्याओ और सघर्षों का अध्ययन है । समाज मे मूल्य और साधन सीमित हैं, अत उनके वितरण के प्रश्न पर विवाद और सघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं मत-वभिन्य चलता रहता है । जहा कही समस्या उत्पन्न होती है वही तनाव की राजनीति शुरू हो जाती है तनाव की यह राजनीति न केवल राजनीतिक दलो बल्कि विभिन्न व्यक्तियो और समूहो तक फैल जाती है । समाज में जो कुछ उपलब्ध और प्राप्य है उसके वितरण की समस्या के सम्बन्ध मे व्यक्तियो, समूहो दलो शासन के सभी क्षेत्रो में अभिनता राजनीतिक मच पर उदय और विलीन होते रहते हैं । वितरण सम्बन्धी सघर्ष की राजनीति चलती ही रहती है और इसी आधार पर प्रो० डायक ने सार्वजनिक समस्याओ पर परस्पर विरोधी मतो और इच्छाओ वाले पात्रो के सघर्ष को राजनीति कहा है । पीटर ओडीगाय का मत कुछ भिन्न है । तदनुसार सभी सघर्ष तब तक राजनीतिक नही माने जा सकते जब तक उनका उद्देश्य यह न हो कि सघर्ष के बाह्य तत्त्वो पर नियन्त्रण किया जाय ।

सारांशत , राजनीति विज्ञान राज्य, समाज, सरकार और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो का एक क्रमबद्ध और सश्लिष्ट अध्ययन है । इसमे राज्य और सरकार के साथ ही एक राजनीतिक इकाई के रूप मे मानव जाति का अध्ययन किया जाता है । समकालीन राजनीतिक विचार के अनुसार राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक व्यवहार सामुदायिक जीवन के विविध राजनीतिक पद आदि राजनीति विज्ञान की अध्ययन सामग्री है । कटलिन के मतानुसार, राजनीति विज्ञान का विषय सगठित मानव समाज से सम्बन्धित है, किन्तु मुख्यत वह सामुदायिक जीवन के राजनीतिक पहलुओ का अध्ययन करता है । लासवेल, मेरियम, मैक्स वेबर कार्टलिन्स, मॉर्गेन्थो आदि विद्वान शक्ति को राजनीति मे केन्द्रीय अवधारणा मानते हैं । रॉब्सन के अनुसार शक्ति एक ऐसी आधारभूत सकल्पना है जो राजनीति विज्ञान के सभी विभागो को एक सूत्र मे पिरो देती है । कुछ समकालीन विचारक अब राजनीति विज्ञान में नीति सम्बन्धी पक्ष पर अधिक बल देने लगे हैं और इसीलिए विगत कुछ काल से नीति निर्धारण की प्रक्रिया विशेष का अध्ययन होने लगा है ।

हम पुन यह दोहराना चाहेंगे कि यद्यपि राजनीति शास्त्र की परिभाषा और क्षेत्र के बारे म अर्वाचीन दृष्टिकोण लोकप्रिय होता जा रहा है, तथापि विद्वानों

का एक शक्तिशाली समूह इस सम्बन्ध मे परम्परागत दृष्टिकोण को ही उचित मानता है। वैसे, दोनो दृष्टिकोणो का समन्वय ही अधिक उपयुक्त है।

नाम विभेद राजनीति, राजनीतिक दर्शन या राजनीति विज्ञान ? (Terminological Distinctions Politics, Political Philosophy & Political Science ?)

राजनीति शास्त्र का नामकरण विवादास्पद है। इसे राजनीति, राजनीति दर्शन तथा राजनीति शास्त्र के नामो से सबोधित किया जाता है। आज अन्तिम नाम ही अधिकाँशत मान्य है, तथापि यह देखना आवश्यक है कि विभिन्न नामो के अर्थ मे क्या अन्तर है और इस शास्त्र को हम राजनीति शास्त्र ही क्यो कहे ?

राजनीति (Politics)

प्राचीन काल मे 'राजनीति' शब्द का ही प्रचलन था। अरस्तु ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'राजनीति' (Politics) ही रखा था। प्राचीन यूनान के निवासियो के लिए राजनीति का अर्थात् नगर-राज्य का वैज्ञानिक अर्थ राज्य एव शासन का विज्ञान था और इस शब्द अर्थात् 'राजनीति' से राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्षो का बोध होता था। यद्यपि जेलिनेक, होल्जनडोफ, सिजविक आदि कुछ आधुनिक लेखको ने भी राजनीति' नाम को पसन्द किया है, तथापि अधिकाँशत आज इस शब्द का प्रयोग केवल व्यावहारिक राजनीति के लिए ही किया जाता है, जिसका अर्थ होता है—शासन सम्बन्धी नीति, चुनाव प्रशासन आदि का अध्ययन। राजनीति शब्द मे चालाकी, तोड फोड, दलीय सगठन, नेतृत्व आदि की भावना निहित है, सगठित अध्ययन का भाव नही। इस शब्द से राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का कोई आभास नही होता। आज प्रचलित रूप मे हम राजनीतिज्ञ उस व्यक्ति को कहते हैं जो शासन की तत्कालीन समस्याओ मे विशेष रुचि प्रकट करता है। उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह राजनीति शास्त्र का ज्ञाता हो। अभिप्राय यह है कि राजनीति (Politics) मे प्रशासकीय क्रियाओ का वर्णन किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान (Political Science) उस सम्पूर्ण विषय का नाम है जिसके अन्तर्गत राज्य, सरकार और मनुष्यो तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो का विभिन्न पहलुओ से अध्ययन किया जाता है।

कुछ लेखक राजनीति को दो भागो में विभाजित करने के पक्ष मे हैं। इनके विचार से सैद्धान्तिक राजनीति (Theoritical Politics) और व्यावहारिक राजनीति (Applied Politics) राजनीति शास्त्र के दो सायक खण्ड होंगे। सैद्धान्तिक राजनीति का सम्बन्ध राज्य के उद्देश्यो कार्यों और विकास से होना चाहिए तथा व्यावहारिक राजनीति का वर्तमान-शासन से। फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति का शब्द का व्यापक प्रयोग करते हुए यह द्वि-भागीय वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
(क) राज्य सिद्धान्त (राज्य के मूल तत्त्व, गुण, धर्म एवं आदर्श आदि की व्याख्या तथा विवेचना)	(क) राज्य का व्यावहारिक तथा वास्तविक रूप और शासन-व्यवस्था का अध्ययन।
(ख) शासन सिद्धान्त (शासन सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग व्यवस्था विधि, राज्य-कर आदि के सिद्धान्तों का अध्ययन)।	(ख) शासन के वास्तविक और व्यावहारिक रूप का अध्ययन, सरकार की कार्य-प्रणाली का वर्णन और विवेचन।
(ग) विधान सिद्धान्त (कानून की उत्पत्ति, उद्देश्य विकास आदि की व्याख्या)।	(ग) विधि और विधि निर्माण प्रणाली अदालतें आदि।
(घ) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त।	(घ) व्यक्तिगत रूप में राज्य की कूटनीति, शान्ति, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति में मूलतः यही अन्तर है कि जहाँ प्रथम भाग में राज्य के मूल तत्त्वों, लक्षणों, उद्देश्यों, आदर्शों और गुणों आदि का वर्णन होता है, वहाँ दूसरे भाग में यह बताया जाता है कि मूल तत्त्वों, लक्षणों, उद्देश्यों और आदर्शों को किस प्रकार कोई राज्य कार्य रूप में परिणत कर सकता है। उदाहरणार्थ जनतन्त्रवाद के क्या मूल तत्त्व हैं क्या उद्देश्य हैं जनतन्त्रवादी शासन पद्धति क्या है आदि सब बातें जनतन्त्रवाद का सैद्धान्तिक पक्ष है, परन्तु जब इसके मूल तत्त्वों, शासन व्यवस्था विधि एवं अन्य व्यावहारिक पहलुओं को राज्य में कार्य रूप दिया जाय तो यह जनतन्त्रवाद का व्यावहारिक स्वरूप होगा। सैद्धान्तिक राजनीति का सम्बन्ध राज्य की मूल समस्याओं से होता है न कि सरकार के विशेष कार्यों और लक्ष्य तक पहुँचने के साधनों से। इसके विपरीत राजनीति का सम्बन्ध वास्तविक कार्य पद्धति से होता है जिसके द्वारा सरकारें अपना कार्य करती हैं।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति का विभाजन काफी उपयोगी है क्योंकि इसके अन्तर्गत अध्ययन की सम्पूर्ण सामग्री का समावेश हो जाता है। फिर भी वर्तमान युग में राजनीति शास्त्र की सम्पूर्ण विषय-सामग्री के लिए 'राजनीति' शब्द को ठीक नहीं समझा जाता। आजकल राजनीति शब्द का प्रयोग सरकार की दिन प्रतिदिन की समस्याओं और कार्यवाहियों से लिया जाता है, वैज्ञानिक ढंग के राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से नहीं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति राजनीति में रुचि रखता है तो हमारा आशय यही होता है कि वह आयात निर्यात कर, व्यापार, श्रमिकों व मिल मालिकों के सम्बन्धों, शिक्षा, खाद्य आदि विषयों से सम्बन्धित वर्तमान प्रश्नों में रुचि रखता है, राज्य की उत्पत्ति, विकास तथा उद्देश्य आदि के सैद्धान्तिक अध्ययन में नहीं। स्पष्ट है कि राजनीति शब्द का प्रयोग उस अध्ययन

क्षेत्र के लिए करना उचित नहीं कहा जा सकता जिसमे हम राज्य की उत्पत्ति, विकास प्रकृति और उद्देश्य आदि का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं और जिसे हम राजनीति-शास्त्र कहते हैं।

राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

ऐसे लेखकों की सख्या कम नहीं है जो राजनीति को 'राजनीतिक दर्शन' कहते हैं। किन्तु प्रो० गिलक्राइस्ट लिखते हैं—' राजनीतिक दर्शन शब्द बहुत सकुचित है।" राजनीतिक-दर्शन 'दर्शन' से सम्बन्ध रखता है। राजनीतिक दर्शन, सम्पूर्ण राजनीति नहीं है बल्कि उसका एक अग है जो केवल इसके सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना करता है। ऐसी स्थिति म सर फ्रेडरिक पोलक का वह अश, जिसे 'व्यावहारिक राजनीति' के नाम से पुकारा जाता है राजनीतिक-दर्शन के क्षेत्र के बाहर हो जाता है। इस मान्यता का स्वीकार करने पर जो विषय सामग्री राजनीति-शास्त्र की है, वह राजनीति दर्शन के अन्तगत नही आती। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "राजनीतिक दर्शन एक दृष्टि से राजनीति शास्त्र का पूर्वगामी है क्योंकि प्रथम राजनीति-दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर द्वितीय (राजनीति शास्त्र) आधारित है। राजनीतिक-दर्शन को स्वयं बहुत सी ऐसी सामग्री का प्रयोग करना पडता है जो उसे राजनीति-शास्त्र से प्राप्त होती है। अत इन दोनों मे कठोर विभाजन की रेखा नही खीची जा सकती, परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति शास्त्र का अर्थ काफी स्पष्ट है जबकि राजनीतिक-दर्शन मे वह स्पष्टता नही आ पायी है।" जे० एच० हैलोवेल के अनुसार 'राजनीतिक दर्शन' की दिलचस्पी इसमे नहीं है कि तथ्य कसे घटित होते हैं जितनी इसमें कि राजनीति में क्या घटित होता है और क्यो ? उदाहरण के लिए किसी देश के विधान के अन्तर्गत [illegible] व्यवस्था कसे चलती है यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक-[illegible] के क्षेत्र [illegible] नही आता पर वह व्यवस्था शक्ति विभाजन के सिद्धान्त', '[illegible], [illegible]-निरपक्षतावाद' आदि किन किन सिद्धान्तों पर आधारित है [illegible] और समझना राजनीतिक दर्शन का विषय है।" राज्य का [illegible], इस विषय पर जो विचारक मनन करते और निष्कर्ष निकालते [illegible] राजनीतिक-दर्शन के सिद्धान्त कहे जाते हैं। [illegible], साम्यवाद, अराजकतावाद आदि विचारधाराएँ इसी [illegible] है। इसी तरह [illegible] रूसो, मिल, मार्क्स, बेन्थम, गांधी आदि [illegible] राज्य की [illegible] समस्याओं पर विचार किया, राजनीति[illegible] राजनीतिक [illegible] कहना अधिक उपयुक्त होगा।

प्रकट है कि राजनीति[illegible] इन विभेद का स्पष्ट निर्देश [illegible] है। [illegible] राजनीति-शास्त्र निश्चय [illegible] बन चुका है। [illegible] उचित है।

राजनीति शास्त्र (Political Science)

वतमान समय मे राजनीति अथवा राजनीतिक दशन की अपेक्षा राजनीति-शास्त्र शब्द अधिक ग्राह्य है। इससे राज्य सम्बन्धी समस्त ज्ञान का बोध होता है। राज्य सिद्धान्त के सभी पहलू इसमे समाविष्ट हैं। इसम सद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति दोनो ही सम्मिलित हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति स्वरूप, उद्देश्य आदि प्रश्नो से है, जबकि व्यावहारिक पक्ष मे इसका सम्बन्ध राजनीतिक सस्थाओ के सगठन तथा उनके कार्यों से है।

राजनीति शास्त्र का स्वरूप विज्ञान अथवा कला ?

राजनीति शास्त्र को अधिकांश लेखको ने विज्ञान माना है तो कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो उसे विज्ञान मानना तो दूर रहा, एक अविकसित कला कहने मे भी सकोच नही करते।

क्या राजनीति शास्त्र विज्ञान है ?

जो विद्वान् राजनीति शास्त्र को विज्ञान नही मानते वे विज्ञान शब्द का अर्थ केवल पारिभाषिक रूप से लेत हैं। उनकी मान्यता है कि विज्ञान वह विधा है जो अपनी अध्ययन-वस्तु के व्यवहार के विषय मे निश्चित और स्थिर सिद्धान्त निर्धारित कर सकती है। उदाहरण के लिए भौतिक शास्त्र या रसायनशास्त्र के अध्ययन में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पदार्थ गरम करने पर फलने और ठडा करने पर सिकुडते हैं। भौतिक और रसायन शास्त्र के ये नियम अटल हैं। सामाजिक शास्त्रो के नियम इस प्रकार न तो सत्य हैं और न हो ही सकते हैं। अनुभव के आधार पर हम ऐसे नियम तो अवश्य बना सकते हैं जो अधिकांश स्थितियो मे सत्य हो परन्तु हम ऐसे नियम नही बना सकत जिनके बारे मे हम कह सकें कि वे सत-प्रतिशत सत्य हैं। सामाजिक शास्त्रो के नियम सभावनाएँ तो इगित कर सकते हैं परन्तु एक निश्चित एव सवथा सत्य नियम निरूपित नही कर सकते। चूँकि राजनीति शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है अत इसे विज्ञान की सज्ञा नही दी जानी चाहिए।

परन्तु उपयु क्त मत पूणत सत्य नहीं है। राजनीति शास्त्र के स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए आवश्यक है कि सवप्रथम हम विज्ञान के अर्थ को समझें और फिर यह देखें कि राजनीति-शास्त्र विज्ञान है या नही और यदि विज्ञान है तो उसकी वज्ञानिकता की सीमा क्या है ?

विज्ञान का तात्पर्य

राजनीति शास्त्र का विज्ञान होना इस बात पर निभर नहीं करता कि उसके सिद्धान्त सवथा सत्य और सावभौमिक हैं अथवा नहीं। गानर के शब्दो में 'एक विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान को कह सकते हैं जो विधिवत् पयवेक्षण, अनुभव एव अध्ययन के द्वारा निश्चित हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किए हुए हों।" राजनीति शास्त्र इस दृष्टि से विज्ञान है क्योंकि उसकी एक निश्चित शास्त्रीय अध्ययन पद्धति है। प्रो० हक्सा के अनुसार

किसी भी अध्ययन के विषय को विज्ञान की संज्ञा देते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह निष्पक्ष दृष्टि से सत्य का अनुसंधान करने मे सक्षम है।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

1 राजनीति शास्त्र मे राजनीति कार्य-कलापो का अध्ययन निष्पक्ष दृष्टि से किया जाता है।

2 राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे सभी प्रकार के तथ्यो का अन्वेषण भी किया जाता है।

3 राजनीतिशास्त्रियो द्वारा उस ज्ञान को एकरूपता के साथ नियमबद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है।

पूर्ण तथा अपूर्ण विज्ञान

राजनीति को विज्ञान मानने वाले लेखक अपने मत को अधिक न्याय-संगत दिखाने के लिए विज्ञान को दो भागो मे विभाजित करते हैं—(i) पूर्ण विज्ञान, और (ii) अपूर्ण विज्ञान।

पूर्ण विज्ञान वह है जिसके नियम सदैव सब परिस्थितियो मे अटल और अकाट्य रहते हैं। भौतिक विज्ञान रसायन विज्ञान और गणित शास्त्र इसी प्रकार के विज्ञान हैं उदाहरणार्थ जल का सूत्र (H_2O) हर देश तथा हर परिस्थिति मे वही रहता है।

अपूर्ण विज्ञानो मे कठोर नियम नही पाये जाते। वे सभी स्थितियो में सत्य नही होते, परिस्थितियो के साथ बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए मौसम विज्ञान (Meteorology) एक ऐसा ही अपूर्ण विज्ञान है। मौसम विज्ञान की सी ही स्थिति राजनीति विज्ञान की भी है जो भविष्यवाणी तो करते हैं पर यह प्राय अनुमान ही मानी जाती है। राजनीति शास्त्र एक समाज विज्ञान है और समाज विज्ञान वह होता है जो समाज और मानव जाति से सम्बन्धित तथ्यो का अध्ययन करता है। इन विज्ञानो की तुलना पूर्ण विज्ञानो से कदापि नहीं की जा सकती। यहाँ हम मानव के धर्म स्वभाव गुण और व्यापारो से सम्बन्ध रखते हैं जो सदैव परिवर्तनशील हैं। मनुष्य विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है।[1]

किन्तु इतना होते हुए भी हम राजनीति को विज्ञान से दूर नही धकेल सकते। लॉर्ड ब्राइस ने अमेरिका के राजनीति-शास्त्र परिषद् के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा था कि "राजनीति शास्त्र इस अर्थ मे विज्ञान है कि मनुष्य की प्रवृत्तियो मे एकरूपता और नियमितता होती है जिससे हम मनुष्य के कार्यों से सम्बन्धित नियम बना सकते हैं। जिन कारणो से मनुष्य अमुक परिस्थिति मे एक कार्य इस समय करता है उन्ही परिस्थितियो में नियमानुसार उसने वही कार्य भूतकाल में भी किया होगा। कार्यों को एकत्र कर उनमे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। उनको नियमित ढग से व्यवस्थित कर उनका अध्ययन किया जा सकता है और यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि उन कार्यों को करने मे सहायक प्रवृत्तियाँ साधारणतया एक सी ही थी।"

राजनीनि शास्त्र विज्ञान नही है

राजनीति शास्त्र को विनान मानने और नही मानने वाले लेखको के दो वग हैं। लम्म, ब्राइस, ब्लशली आदि विद्वान् अरस्तू के इस मत से सहमत हैं कि राजनीनि शास्त्र सर्वोपरि विनान है। बकल, काम्टे आदि की मायता है कि राजनीति शास्त्र विज्ञान कदापि नही कहला सकता क्योकि राज्य, शासन और व्यक्ति कभी एम विषय नही बन सकते जिनका वनानिक विधि से अध्ययन किया जा सके। बकल (Buckle) ने तो यहा तक कहा है कि "वतमान नान के आधार पर राजनीति का विज्ञान होना तो दूर रहा, वह कलाओ मे भी सबसे पिछडी हुई है।" काम्टे के अनुसार "राजनीति शास्त्र विज्ञान नही है क्योकि राज शास्त्रियो मे इसके सिद्धान्तो, इसकी पद्धतिया तथा निष्कर्षों के सम्ब ध मे मतक्य नहीं है। इसके विकास म क्रमबद्धता का अभाव है और इसमे निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।"

राजनीति शास्त्र की वज्ञानिकता के विपक्ष मे प्रस्तुत किये गये तक मुख्यत इस प्रकार हैं—

1 **सर्वमान्य विषयों का अभाव**—राजनीति का कोई भी सिद्धान्त पूणतया सत्य नही है। मिल जनतन्त्र को सर्वोत्कृष्ट सरकार मानता है तो फेनेट (Fagnet) उसी जनत त्र की अयोग्यता का सिद्धान्त घोषित करता है। ब्राइस ने मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार का गुण गान किया है तो सिजविक ने इसमे कितने ही गम्भीर दोष बतलाए हैं। कुछ लखक द्वि सदन प्रणाली को उपयोगी मानत हैं जबकि दूसरे दो सदनो के अस्तित्व को राज्य की प्रगति के लिए घातक बतलाते हैं। ये सभी उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि राजनीति शास्त्र ऐसे नियमा का निर्माण नही कर सकता जो सवमान्य हो सकते हैं अत इसे विज्ञान की श्रेणी में रखना अनुचित है।

2 **पयवेक्षण तथा परीक्षण का अभाव**—राजनीति शास्त्र का विषय इतना विशाल, जटिल और अनिश्चित है कि उसम पयवेक्षण एव परीक्षण सम्भव नही है। मानव कार्यों की विशालता और जटिलता के कारण गवेषणा की विशुद्ध वनानिक विधियो को अपनाना भी राजनीति शास्त्र मे पूरी तरह सम्भव नही है। ब्रोगन के शब्दो में, 'स्थायी नियमा के अभाव मे राजनीति को विनान नही कहा जा सकता। जब तक राजनीति के क्षेत्र मे डार्विन और मण्डिल जसे महारथी न होगे जो राजनीति के अटल सिद्धान्ता को निर्धारित कर सकें तब तक हम राजनीति को विनान नही कह सकते।'

3 **मानव स्वभाव की परिवतनशीलता**—मानव एक जीवित और चेतन सत्ता है जिसमे स्वय इच्छा शक्ति है अत उसका स्वभाव परिवतनशील है। इसके फलस्वरूप उसके बारे मे निकाला गया निष्कष निश्चित नहीं हो सकता। एक राजनीति शास्त्री को विभिन्न सीमाओ और कठिनाइयो क बीच काय करना पडता है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए यान्त्रिक सहायता और आदश परिस्थितियाँ सदैव प्राप्त नहीं हो सकती। प्राकृतिक विनान के प्रयोग के विषय निर्जीव होते हैं जो समान दशा म समान रूप स व्यवहार करत हैं, लेकिन राजनीति विनान के प्रयोग के विषय

मनुष्य हैं जो निजी विचारधाराओं, भावुकता, सवेदना आदि से निर्देशित होते है। एक ही मनुष्य समान परिस्थितियों मे भी प्राय विभिन्न रूप से व्यवहार कर सकता है। अत राजनीति शास्त्र, जो मनुष्य और उससे सम्बन्धित सस्थाओं का अध्ययन करता है प्राकृतिक विज्ञान की तरह नही हो सकता।

4 अचूक माप की कमी—शुद्ध माप विज्ञान का सब प्रधान महत्त्व है लेकिन राजनीति शास्त्र मे यह असम्भव है। मनुष्यों के आवेग, उत्तेजना, भावना अभिलाषा, क्रोध प्रेम आदि मानवीय तत्त्व राजनीति को प्रभावित करते हैं। ये सब तत्त्व अस्पष्ट और अदृश्य हैं जिन्हे मापना असम्भव है। हम ताप या गैस का दवाव ठीक-ठीक माप सकते हैं, पर किसी भावना या विचार के आवेश को नही माप सकते।

5 निश्चित भविष्यवाणी का अभाव—राजनीति शास्त्र मे निश्चित भविष्यवाणी करने की क्षमता नही है। इसके निष्कर्ष और प्राकृतिक विज्ञानो की तरह शुद्ध और शाश्वत नही हो सकते। भौतिक विज्ञान यह भविष्यवाणी कर सकता है कि किस दिन और किस समय चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण लगेगा। परन्तु राजनीति शास्त्र यह नही कह सकता कि किस निश्चित विचार का जनता पर क्या प्रभाव पडेगा अथवा किस समय आर्थिक असन्तोष देश में क्रान्ति ला देगा।

6 कार्य कारण मे सम्बन्ध नहीं – विज्ञान मे कार्य कारण (Cause and Effect) का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जल को एक निश्चित मात्रा में गर्म करने पर वह वाष्प मे परिवर्तित हो जायेगा और इसी तरह एक निश्चित मात्रा से अधिक शीत पहुँचने पर वह बर्फ का रूप ले लेगा, लेकिन राजनीति शास्त्र में इस प्रकार का कार्य कारण का सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। यह कहना कठिन है कि किस राजनीतिक घटना के पीछे क्या निश्चित कारण हैं। राजनीतिक क्षेत्र मे एक से कारणो का एक ही परिणाम नही निकलता किसी एक निश्चित नीति का एक-सा प्रभाव नहीं पड़ता।

उपर्युक्त सभी तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि राजनीति शास्त्र को विज्ञान कहना भ्रामक और गलत है।

राजनीति शास्त्र विज्ञान है

राजनीति शास्त्र के विज्ञान होने के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनमे सत्य इतना ही है कि जिस प्रकार रसायन शास्त्र एक विज्ञान है, उस प्रकार के विज्ञान की श्रेणी मे शायद राजनीति शास्त्र कभी नही आ सकता। पर केवल इसीलिए हम राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिकता से इन्कार नहीं कर सकते। राजनीति शास्त्र अपनी अध्ययन-पद्धतियों की उपयोगिता और निष्कर्षों की शुद्धता के सम्बन्ध मे प्राकृतिक विज्ञानो की समानता नहीं कर सकता, परन्तु उसका स्वरूप वैज्ञानिक ही है क्योंकि इसमे वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग समुचित रूप से किया जाता है और पर्याप्त रूप से अनेक शुद्ध निष्कर्ष भी प्राप्त होते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल से विद्वान् राजनीति को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते रहे हैं। सर्वप्रथम अरस्तु ने राजनीति को 'विज्ञान' (Master Science) बताया था और अपने राज्य विषयक अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया था। इसी प्रकार बाद में बोदाँ, हॉब्स तथा मॉण्टेस्क्यू ने और वर्तमान काल में लेविस, सिजविक, ब्राइस, ब्लशली, जेलिनेक, गार्नर आदि विद्वानों ने राजनीति शास्त्र को विज्ञान स्वीकार किया है।

राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ पर्याप्त हैं—

1 मतैक्य का अभाव वैज्ञानिक तत्त्वों में कमी नहीं लाता—यह आपत्ति विशेष वजन नहीं रखती कि राजनीतिक तथ्यों में मतैक्य न होने से राजनीति शास्त्र विज्ञान नहीं कहा जा सकता। मतैक्य के अभाव का कारण राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक तत्त्वों की कमी न होकर परिवर्तनशील मानव प्रकृति है। लोकतन्त्रवाद सामान्यतया एक सफल शासन प्रणाली मानी जाती है पर किसी देश अथवा काल विशेष में वह असफल सिद्ध हो जाय तो इसका कारण राजनीति शास्त्र की अवैज्ञानिकता न होकर देश अथवा काल विशेष के विषयों और व्यवहारों की परिवर्तनशीलता है।

2 कार्य कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है—विभिन्न समयों और स्थानों पर घटित किसी घटना के विशेष कारणों का विधिवत् अध्ययन करके बहुत कुछ इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि घटना सब समयों और स्थानों पर सामान्यतः किन कारणों से उत्पन्न हुई। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में पायी जाने वाली एकरूपता और समानता की सहायता से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होने वाला मनुष्य बहुधा एक ही प्रकार के कार्य करता है। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और उन्हें श्रृंखलाबद्ध करके सामान्यतः क्रियाशील प्रवृत्तियों के परिणामरूप में उनका अध्ययन भी सम्भव है।"

3 पर्यवेक्षण सम्भव – राजनीति शास्त्र में पर्यवेक्षण भली प्रकार सम्भव है। इसके द्वारा उन तत्त्वों का पता लगाया जा सकता है जिन्हें वैज्ञानिक अर्थ में सत्य कहा जाता है। प्राचीन भारत में विविध राज्यों का पर्यवेक्षण करके ही आचार्य चाणक्य ने यह निष्कर्ष निकाला था कि दण्डशक्ति के दुरुपयोग से गृहस्थ तो क्या वानप्रस्थ और संन्यासी भी क्रुद्ध होकर विद्रोह कर बैठते हैं, किन्तु दण्ड-शक्ति को ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर जनता में धर्म का राज्य स्थापित होता है। चाणक्य का निष्कर्ष आज भी यथार्थ सही है। इसी प्रकार लोकतन्त्रवाद के विकास के पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि लोकतन्त्रात्मक शासन में जनता अपने राजनीतिक अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सजग रहती है जिसके फलस्वरूप राज्य-शक्ति की अभिव्यक्ति जनता के हित में होती है।

4 परीक्षण सम्भव—प्राकृतिक विज्ञान की भाँति राजनीति शास्त्र में मानव

समुदाय पर प्रयोग के लिए कोई प्रयोगशाला या परीक्षण नली नहीं हो सकती, तथापि बहुत दृष्टिकोण से राजनीति में नित्य प्रयोग होते रहते हैं। राज्य का प्रत्येक नया कानून या नयी नीतियाँ या शासन का स्वरूप एक प्रकार का राजनीतिक परीक्षण ही है। ब्रिटेन और भारत में मन्त्रिपरिषदीय प्रणाली है जबकि अमेरिका में अध्यक्षात्मक प्रणाली है। इन दोनों पद्धतियों का अवलोकन कर हम यह जान सकते हैं कि कौनसी शासन पद्धति समय और परिस्थितियों के अनुसार अधिक उपयुक्त है। हिटलर तथा मुसोलिनी ने एक नये सिद्धान्त का परीक्षण किया था, जिसे नाजीवाद व फासीवाद कहा जाता है साम्यवाद का परीक्षण आज रूस, चीन पोलेण्ड यूगोस्लाविया आदि राज्यों में जारी है। भारत के भूतपूर्व वित्तमन्त्री एवं वर्तमान में प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने अपने स्वर्ण नियन्त्रण और अनिवार्य बचत योजना की नीतियों द्वारा नये प्रयोग किये जो कालान्तर में परिस्थितियों के अनुकूल संशोधित किये गये।

5 भविष्यवाणी करना सम्भव—राजनीति शास्त्र में प्राकृतिक विज्ञान की भाँति निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, तथापि जैसा कि फाइनर ने कहा है— हम भविष्य की सम्भावनाओं के विषय में तो अवश्य ही भविष्यवाणी कर सकते हैं।' इन भविष्यवाणियों में शत-प्रतिशत सही होने की आशा नहीं की जा सकती, लेकिन उसमें सत्य का पर्याप्त अंश रहने की निश्चित आशा की जा सकती है और यह बात अपने आप में काफी महत्त्वपूर्ण है।

पुनश्च, यह तथ्य भी स्मरणीय है कि अनेक प्राकृतिक विज्ञान भी अधिकांशत सापेक्ष सत्य (Relative Truth) ही बताते हैं, पूर्ण सत्य (Absolute Truth) नहीं। उदाहरणार्थ, निश्चित सिद्धान्त की घोषणा नहीं करता वरन् सम्भावित सिद्धान्त ही निश्चित करता है। ऋतुओं के सम्बन्ध में इसके सिद्धान्त सर्वथा सत्य नहीं होते। अत यदि राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त भी पूर्ण सत्य प्रमाणित नहीं होते हों और उनके बदलने की सम्भावना रहती हो तो केवल इसी आधार पर उसे विज्ञान के पद से गिरा देना अनुचित है।

6 एक क्रमबद्ध विज्ञान—विज्ञान को क्रमबद्ध ज्ञान माना जाता है और राजनीति शास्त्र भी एक क्रमबद्ध ज्ञान है आज राजनीति शास्त्र ज्ञान की एक पृथक् शाखा है जिसका क्षेत्र निश्चित है, जिसके अधिकांश नियम स्थापित हो चुके हैं और जिसकी अनेक मौलिक बातों का अन्वेषण किया जा चुका है। इसकी सभी बातों को एक क्रम में सजो कर इनका अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए राजनीति शास्त्र राज्य की उत्पत्ति विकास, उसके स्वरूप आदि के बारे में एक क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करता है।

7 सामान्य निष्कर्षों और सिद्धान्तों का पाया जाना—विज्ञान की भाँति राजनीति शास्त्र में भी विधियों के सहारे एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी तथ्यों को एकत्र करता है। फिर वह उनमें तारतम्य मिलाता है और तब सम्बन्धित सिद्धान्तों की खोज कर निकालता है राजनीति शास्त्र में ऐतिहासिक तथ्यों के संचय, [illegible]

के कार्यों के परीक्षण और वर्गीकरण आदि द्वारा कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर पहुँचा जा सकता है। इस तरह राजनीति शास्त्र में सामान्य सिद्धान्त और नियम प्रतिपादित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, इस सामान्य नियम की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समुचित न्याय के लिए न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतन्त्र रहना चाहिए अथवा प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जनता को चेतनाशील होना चाहिए।

क्या राजनीति शास्त्र एक कला है?

अनेक राजनीति विचारकों ने राजनीति शास्त्र को कला माना है। वे कहते हैं कि समाज से सम्बन्ध रखने वाले अन्य सभी विषयों को छोड़कर केवल राजनीति को ही विज्ञान क्यों माना जाता है। यदि राजनीति विज्ञान है तो इसी प्रकार की अन्य कलाओं को विज्ञान क्यों नहीं कहा जाना चाहिए। हमने अर्थशास्त्र को अर्थ विज्ञान दर्शन शास्त्र को दर्शन विज्ञान या इतिहास का इतिहास विज्ञान कहते नहीं सुना। बकल ने राजनीति शास्त्र को सबसे अधिक अविकसित कला माना है। गटिल मानता है कि राजनीति की कला का उद्देश्य मनुष्य के क्रियाकलापों से सम्बन्धित उन सिद्धान्तों एवं नियमों का निर्धारण करना है, जिनका अनुसरण राजनीतिक संस्थाओं के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है।

राजनीति शास्त्र के कलात्मक स्वरूप को समझने के लिए कला का अर्थ जानना अनिवार्य है। कला के लिए कहा जाता है कि वह वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग है। कला जीवन का चित्रण होती है, राजनीति शास्त्र द्वारा भी हम मानव के राजनैतिक जीवन का सुन्दर चित्रण कर सकते हैं। राजनीति शास्त्र का अध्ययन निश्चित विधियों से किया जाता है, इसलिए तो वह विज्ञान है पर अच्छा नागरिक बनने के लिए मनुष्य को राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों को ठीक रूप से व्यवहार में भी लाना पड़ता है। इस कारण राजनीति शास्त्र को कला भी कहा जा सकता है। कला को मानव की सृजनात्मक शक्ति की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति माना गया है। उसमें सत्यं, शिवं सुन्दरम् का समावेश होता है। वह जीवन को उदार और महान आदर्शों की ओर प्रेरित करती है। इस कसौटी पर कसे जाने पर राजनीति शास्त्र एक विशुद्ध कला है। राज्य, समाज और सरकार जिनका यह अध्ययन करता है, सत्य हैं। इन्हें सुन्दर और शिव रूप में ढालने के लिए राजनीति शास्त्र का अध्ययन हमें मार्ग-दर्शन देता है। एक सुन्दर राज्य और सुसंस्कृत आदर्श समाज की स्थापना राजनीति शास्त्र के अध्ययन का ध्येय और लक्ष्य है और इस दृष्टि से वह उच्चकोटि की कला है जो समाज का चित्र भी प्रस्तुत करती है और पथ प्रदर्शन भी करती है।

2

राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ : परम्परागत एवं आधुनिक संदर्भ मे

(METHODS OF STUDY OF POLITICAL SCIENCE ACCORDING TO TRADITIONAL AND CONTEMPORARY PERSPECTIVES)

राज्य के स्वरूप, राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध, राज्य की शासन-व्यवस्था आदि प्लेटो से लेकर आज तक चर्चा और विवाद के विषय रहे हैं। जहा प्राचीन राजनीतिक विचारको ने आदर्श राज्य की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, मध्यकालीन विचारको ने धरती पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना के लिए सुविचारित विकास करने पर ध्यान दिया, वहा हाल ही के राजनीतिक दार्शनिको ने शक्ति, सत्ता आदि समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया है। राजनीति मे परम्परागत रूप में जिन बातो का समावेश किया जाता था, आज के राजनीतिशास्त्री उनको अपर्याप्त मानते है। प्राचीन लेखको की दार्शनिक और विवरणात्मक पद्धति के स्थान पर आधुनिक लेखकों का दृष्टिकोण व्यावहारिक, विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक अधिक है।

परम्परागत एव समकालीन मान्यताओ के आधार पर ही राजनीति शास्त्र की विभिन्न अध्ययन पद्धतियो को हम दो सम्प्रदायो (Schools) में विभक्त करते हैं—(क) परम्परागत (Traditional) (ख) अर्वाचीन या समकालीन (Contemporary)। परम्परावादी विचारक राजनीति शास्त्र मे संस्थात्मक पहलू पर बल देते हैं। उन्होंने मानव-व्यवहार के अध्ययन की उपेक्षा की है। इस सम्प्रदाय ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन की जो पद्धतियाँ प्रस्तुत की हैं उनमे प्रमुख हैं — दार्शनिक, कानूनी, अवलोकनात्मक एतिहासिक एव प्रयोगात्मक। समकालीन अथवा अर्वाचीन पद्धतियो या उपागमो मे प्रमुख हैं मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method), संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural Functional Approach), व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach) आदि।

परम्परागत पद्धतियाँ
(Traditional Methods)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए आधुनिक युग में जिन प्रमुख

पद्धतियों का प्रयोग किया जाता रहा है वे हैं प्रयोगात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, अवलोकनात्मक एव दार्शनिक पद्धतियाँ ।

1 प्रयोगात्मक विधि
(The Experimental Method)

यह विधि प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन मे प्रयुक्त की जाती है, तथापि राजनीति शास्त्र में उसके प्रयोग के लिए गुंजाइश है । प्रयोगात्मक विधि के अनुसार भौतिक विज्ञानो मे वैज्ञानिक पदार्थों को तोला और नापा जा सकता है पर राजनीतिक क्षेत्र मे लोगो के मत, मनोवेग आदि नापे या तोले जाने योग्य नहीं होते। इसके उपरान्त भी कुछ लेखक ऐसे हैं जो राजनीति शास्त्र के अध्ययन की प्रयोग विधि मे विश्वास रखते हैं, यह निराधार भी नही है । काम्टे (Comte) की मान्यता है कि "राज्य के अन्तर्गत होने वाला प्रत्येक परिवर्तन अपने आप में एक राजनैतिक प्रयोग है । ' गार्नर की भी मान्यता है कि ' प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नई सस्था की स्थापना, प्रत्येक नई नीति का प्रारम्भ, एक प्रकार से प्रयोग ही होता है क्योंकि उसे उस समय तक केवल अस्थायी अथवा प्रस्ताव रूप में ही समझा जाता है जब तक कि उसके परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध नही करते । ' गिलक्राइस्ट का भी यही मत है —' वास्तव मे समस्त ससार राजनीति-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए एक प्रयोगशाला है जहाँ अनेक राजनैतिक परिवर्तनो के रूप मे वह प्रयोग करता रहता है । ' इन शाश्वत और नैसर्गिक प्रयोगो के आधार पर राजनीति शास्त्र के विद्वानो ने असख्य महत्त्वपूर्ण तथ्य एकत्रित किये हैं जिनकी सत्यता एव उपयोगिता स्वयसिद्ध है ।

ससार में तर्क और बुद्धि के आधार पर नित्य राजनैतिक प्रयोग और परीक्षण होते रहते हैं इस प्रक्रिया के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं —

(1) उन्नीसवी सदी मे समाजवादी विचारो के शुरू होते ही रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) ने अपने समाजवादी विचारको की परिकल्पना के अनुसार 'न्यू हारमनी (अमेरिका मे) नामक एक नए प्रकार के समाज की स्थापना का परीक्षण किया । उसे अपने इस परीक्षण में अधिक सफलता प्राप्त नही हो सकी ।

(2) 1839 की डरहम रिपोर्ट (Durham Report) के आधार पर कनाडा को दिया गया उत्तरदायी स्वायत्त शासन अथवा भारत को वैधानिक ढग से किस्तो मे दी गई पूर्ण स्वतन्त्रता के परीक्षण सम्बन्धी उदाहरण हैं ।

(3) आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशो मे राजनीतिक दल राज्य के आन्तरिक सगठन एव कार्यविधि के सम्बन्ध मे अपने विचार जनता के सम्मुख रखते हैं । जब ससद् मे उन्हें बहुमत प्राप्त हो जाता है और राजसत्ता उनके हाथो में आ जाती है तो वे अपने विचारो के अनुसार कानून स्वीकृत करवा लेते हैं । इस प्रकार कानूनो के क्षेत्र मे परीक्षण होते हैं । अहितकारी कानूनों मे परिवर्तन किया जाता है और राजनीतिक विचारक इन्हीं परीक्षणों का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करते हैं ।

(4) परीक्षण विद्रोह या क्रांतियों के द्वारा भी हो सकते हैं। फ्रांस की राज्य क्रान्ति द्वारा लोकसत्तावाद का परीक्षण शुरू हुआ। इसी प्रकार रूस में भी क्रांति के द्वारा ही समाजवादी व्यवस्था के परीक्षण का श्रीगणेश हुआ।

अतः हम कह सकते हैं कि राज्यों और सरकारों में परीक्षण एक निरंतर प्रक्रिया है, चाहे ये परिवर्तन संवैधानिक उपायों द्वारा हों अथवा क्रांति द्वारा। इस स्थिति में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि राजनीति शास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति को अपना एक स्पष्ट और निश्चित स्थान प्राप्त है।

2 ऐतिहासिक पद्धति
(The Historical Method)

राजनीति शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इतिहास का सही और सम्यक् अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। ऐतिहासिक घटना राजनैतिक संस्थाओं की पृष्ठभूमि स्पष्ट करने और उन्हें समझने में सहायक होती है। इस प्रकार इतिहास राजनीति-शास्त्र के लिए एक प्रयोगशाला के समान है। ऐतिहासिक विधि के अनुसार हम राज्य और उसकी संस्थाओं के भूतकालीन जीवन का अध्ययन करते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता है कि उनका वर्तमान स्वरूप किस प्रकार बना और भविष्य में उनका क्या स्वरूप होने वाला है। ऐतिहासिक विधि द्वारा हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि राज्य क्या था, क्या है, और क्या होगा।

वर्तमान राज्य के कार्यों को समझने के लिए मानव संस्थाओं के विकास का ज्ञान परम आवश्यक है। इंगलैण्ड के मंत्रिमण्डल (Cabinet) के स्वरूप को समझने के लिए अपेक्षित है कि हम उसके इतिहास का अध्ययन करें। अमेरिका में संघ सरकार और उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उनके क्रमिक विकास का ज्ञान होना अनिवार्य है। इसी प्रकार ब्रिटिश कामनवल्थ में सम्मिलित स्वतन्त्र उपनिवेशों की वास्तविक वैधानिक स्थिति कभी नहीं जानी जा सकती जब तक कि हमें उनके विगत इतिहास का ज्ञान प्राप्त न हो। स्पष्ट है कि राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों के जन्म, विकास और उत्थान के अध्ययन का महत्त्व इसी बात में है कि हम उसके द्वारा पथ प्रदर्शन के भावी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इतिहास हमें केवल बीती हुई बातें ही नहीं बतलाता बल्कि भावी-व्यवस्था की कुंजी भी प्रदान करता है। इतिहास वह धुरी है जिसके चारों ओर राजनीति शास्त्र की आगमनात्मक (Inductive) और निगमनात्मक (Deductive) पद्धतियाँ चक्कर लगाती हैं।

ऐतिहासिक पद्धति, जिसके प्रमुख समर्थक सीले (Seeley) और फ्रीमैन (Freeman) हैं, प्रधानतः आगमनात्मक (Inductive) है। इसका आधार पर्यवेक्षण और ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन है।

सिजविक (Sidgwick) ऐतिहासिक विधि को अधिक महत्त्व नहीं देता, क्योंकि प्रथम, तो इतिहास राजनीति के अन्दर अच्छे और बुरे स्तर को [illegible] करने में कभी सहायता नहीं दे सकता एवं द्वितीय, ऐतिहासिक घटनाओं में

युग से सम्बधित समीचीन समस्याओं के विषय मे हम उचित निर्णय नही कर सकते। किन्तु इन दोषो को मानत हुए भी उसने स्वीकार किया है कि राज्य विज्ञान के अध्ययन म ऐतिहासिक विधि का अपना स्थान है। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा हम राज्य के विकास के नियमो को निर्धारित कर सकते हैं और इस तरह भविष्य के लिए यदि पूणत नही तो अ शत भविष्यवाणी भी कर सकते हैं।

ऐतिहासिक पद्धति के प्रयाग में किसी भी राजनीति शास्त्र के अध्येता को निम्नलिखित सावधानियाँ बरतना आवश्यक है—

(1) उसे ऊपरी समानताओ (Superficial Resemblances) और बाह्य साहश्यो (Parallels) के भ्रम मे नही पडना चाहिए। चूँकि वे सदव सत्य ही हो, यह आवश्यक नही।

(2) उसे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि केवल भूत के आधार पर ही वतमान और भविष्य का निर्धारण न किया जाय। यह आवश्यक नही होता कि भूतकाल मे घटित कोई भी घटना वतमान मे भी फिर उसी ढग से घटित हो।

(3) इतिहासकारो मे कभी कभी यह प्रवृत्ति भी पायी जाती है कि वे भूतकालीन इतिहास के कुछ ऐस दृष्टिकोण और घटनाओ को खोज निकालते हैं जिनसे उनके अपने अनुमानो को समथन मिलता है। कोई सस्था कभी रही हा अथवा नही कि तु वे येनकेन प्रकारेण अपने शोधो से उसके चारा ओर घटनाओ की भूमिका बना दत हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि इतिहासकार पक्षपातपूण दृष्टि लेकर चलते हैं। वे सत्य को तोड मरोड दत हैं अत आवश्यक है कि राजनीति-शास्त्र की एतिहासिक अध्ययन-विधि को इन सब दोषों से बचाया जाय।

(4) ऐतिहासिक पद्धति कभी कभी सकीण रूढिवाद का रूप भी धारण कर लेती है। एक अच्छे राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि वह इस रूढ़िवादिता से अपने निष्कर्षों को बचाए।

उपयुक्त सावधानियों के अभाव में ऐतिहासिक विधि अनुपयोगी और केवल प्रचारात्मक बन सकती है। अत इस पद्धति के प्रयोग मे बहुत सावधानी बरतना चाहिए। कठिनाइया के होते हुए भी इस विधि की अपनी उपयोगिता है और इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक अनुशीलन का महत्त्व सदव रहेगा।

3 तुलनात्मक विधि
(The Comparative Method)

राजनीति-शास्त्र की अध्ययन पद्धतियो में ऐतिहासिक से भी अधिक तुलनात्मक विधि का महत्व है। प्राचीन समय म अरस्तू ने 15 राज्यों के सविधाना को एकत्र कर उनके गुण दोषों की तुलनात्मक विवचना प्रस्तुत की थी। आधुनिक काल मे मॉटेस्क्यू, डि टोकूवीले, ब्राईस, सर हेनरी मेन आदि इस प्रणाली को प्रयोग मे लाने वाले प्रमुख विद्वान् हैं। तुलनात्मक विधि, घटनाओ के वणन, उनके उचित वर्गीकरण, विकास और अथ पर अधिक बल देती है। यह विधि हमें बतलाती है कि राजनीतिक

नियमो की जानकारी के लिए सस्थाओ की तुलना द्वारा हमे उक्त परिणामो पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। विभिन्न सविधानो का विश्लेषण करते समय अरस्तू का भी यही दृष्टिकोण था। वास्तव मे तुलना द्वारा अनेक महत्वपूर्ण राजनतिक सिद्धान्तो की खोज की जा सकती है। उदाहरणाय, वतमान समय मे लॉड ब्राइस ने इस विधि के आधार पर आधुनिक जनतन्त्र का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रमुख जनतन्त्रो की कायप्रणाली की बडी सफलता से तुलना की है और इस प्रकार अपने निष्कर्षों मे भी वह अनेको राजनतिक सस्थाओ के पारस्परिक गुण दोषो को निरूपित करने मे काफी सफल रहे हैं। इसी प्रकार यदि हम विश्व की प्रमुख राज्य-क्रान्तियो का सावधानी से अध्ययन और उनसे सम्बन्धित सभी घटनाओ पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि जहाँ इनके स्वरूप और कारणो मे बहुत कुछ भिन्नता है, वहाँ मूल रूप में इनके उद्गम और परिणाम सदव लगभग एक से रहे हैं।

इस विधि के प्रयोग मे भी कुछ विशेष सतकताएँ (Precautions) जरूरी है। यह विधि केवल तभी तक लाभकारी होती है जब तक सविधानो, सगठनो अथवा सस्थाओ का अध्ययन कुछ कुछ समान परिस्थितियो मे किया जाय। हिटलर (Hitler) के जमनी की तुलना अमेरिका जनतन्त्र से करना निरथक होगा। ब्रिटेन, भारत और अमेरिका—तीनो ही देशो में प्रजातन्त्र है, किन्तु फिर भी लन्दन, दिल्ली, वाशिंगटन म प्रजातन्त्रात्मक शासन के जो स्वरूप हैं उनमे कितनी ही विभिन्नताएँ हैं। इसका एक कारण यह है कि इन तीनो देशो के निवासियो की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

घटनाओ की तुलना करते समय यह आवश्यक है कि विवेच्य देशो की परिस्थितियो की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का ध्यान रखा जाय। किन्हीं राजनतिक सस्थाओ की विचारहीन तुलना किसी तरह भी उपयोगी नही हो सकती। कहने का तात्पय यह है कि तुलना को न तो बहुत दूर तक ले जाना चाहिए और न समानताओ को ही एक सीमा से अधिक देखने का प्रयास करना चाहिए। सस्थाओ की तुलना करते समय विभिन्न सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो को भी नहीं भूलना चाहिए। इसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि जनसमुदाय की राजनतिक जागृति के स्तर पर भी समुचित विचार किया जाय।

4 अवलोकन या पयवेक्षणात्मक विधि
(The Observational Method)

राजनीति शास्त्र म हम राज्यो की शासन विधि, उनका सगठन, उनकी नीति तथा कार्यों का ध्यान से अवलोकन करने पर अनेक तथ्यो का ज्ञान प्राप्त करते हैं। सुप्रसिद्ध लेखक लावेल के शब्दो मे राजनैतिक सस्थाओ की प्रत्यक्ष काय विधि की प्रयोगशाला पुस्तकालय नही बल्कि राजनतिक जीवन का बाह्य ससार है।"

लावेल का कथन अवलोकन विधि का समथन करता है।
शताब्दी में ही मॉटेस्क्यू ने इस विधि का बहुत सफलतापूवक प्रयोग

मांटेस्क्यू ने ब्रिटेन की शासन पद्धति का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया और फ्रांस की शासन व्यवस्था से उसकी विस्तृत तुलना की। अपने अवलोकन द्वारा ही वह इस परिणाम पर पहुँचा कि शक्तियों का केन्द्रीकरण एक ही स्थल पर नहीं होना चाहिए।

वर्तमान समय में लॉर्ड ब्राइस ने अपने गम्भीर प्रयत्नों द्वारा इस विधि को सही स्वरूप प्रदान किया और यह राजनीति के अध्ययन की प्रमुख विधि बन गई है। लॉर्ड ब्राइस की 'अमेरिकी राष्ट्रमंडल' (American Commonwealth) तथा 'आधुनिक प्रजातन्त्र' (Modern Democracies) नामक पुस्तकें अमेरिकी और महाद्वीपीय जनतन्त्रों के सूक्ष्म अवलोकन और व्यक्तिगत निरीक्षण पर आधारित है। लार्ड ब्राइस ने स्वयं इन देशों की यात्राएँ की और उनकी राजनैतिक संस्थाओं की कार्य प्रणालियों का व्यक्तिगत रूप से अवलोकन किया। इस प्रकार अवलोकन विधि के आधार पर उन्होंने राजनीति के इन दो महान ग्रन्थों की रचना की। उनके लेख विश्वसनीय है, क्योंकि वे गम्भीर अवलोकन के आधार पर लिखे गये हैं। अवलोकन विधि से प्राप्त सूचनाएँ दूसरों के कथन पर निर्भर नहीं रहतीं, इसलिए वे सदैव अभिनव तथा अधिक सही होती हैं।

अवलोकन विधि के प्रयोग को पूर्ण प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित सावधानियां बरती जानी चाहिए—

(1) इस विधि के प्रयोग में सामान्य अनुमानों से बचना चाहिए।

(2) यह देखना चाहिए कि सूचना सूत्र में जरा भी शंका के लिए स्थान न हो। बिना सोचे किसी भी तथ्य अथवा कथन पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

(3) अध्ययन प्रत्यक्ष दर्शी तथा अनुभव परक घटनाओं पर आधारित होना चाहिए।

(4) स्वयं अवलोकन करने के बाद भी यह जरूरी नहीं कि किसी अवलोकन पर आधारित परिणाम पूर्ण सत्य हो। उदाहरणार्थ, मांटेस्क्यू ने ब्रिटेन जाकर भी वहाँ के शासन के बारे में एक महान् असत्य की खोज की कि वहाँ शक्तियों का पृथक्करण है।

(5) अवलोकन गम्भीर और व्यापक होना चाहिए। एक चलता फिरता यात्री भी किसी देश में कुछ सप्ताहों के लिए ठहर कर उस देश की राजनैतिक संस्थाओं के बारे में एक पुस्तक लिख सकता है पर सही अवलोकन के लिए अधिक समय तक सूक्ष्म अध्ययन परम आवश्यक है। संक्षिप्त भेंट अवलोकन के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होती।

5 दार्शनिक विधि
(The Philosophical Method)

दार्शनिक विधि के अनुसार विचारक पहले यह कल्पना करता है कि राज्य का आदर्श स्वरूप क्या होना चाहिए। इसके उपरान्त राज्य को इस आदर्श तक पहुँचाने के लिए वह उपायों की खोज करता है। इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र में

A Priori' विधि भी कहते हैं। प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने इसी विधि का अनुसरण किया था।

वर्तमान समय में रूसो, कॉट, हीगल, मिल सिजविक आदि दार्शनिकों ने इस विधि का रोचक ढंग से प्रयोग किया है। इस विधि में यह डर है कि दार्शनिक ऐसे सिद्धान्तों की दुनिया में खो सकता है जो बहुत कम अथवा कभी-कभी बिलकुल भी ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित नहीं होते। ऐसी स्थिति में यह विधि आदर्श मात्र रह जाती है। इस पर आधारित विचार व्यावहारिक राजनीतिक जीवन से बहुत दूर हो जाते हैं। ये विचार कभी कभी राजनीतिक घटनाओं से बिलकुल मेल नहीं खाते। प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) और मोर (More) की 'यूटोपिया' (Utopia) नामक पुस्तकों में जो आदर्श राज्यों का चित्र प्रस्तुत किया गया है, वे इतिहास तथा मानव-स्वभाव के तथ्यों से बहुत कम मेल खाते हैं। सीले (Seeley) के अनुसार इस पद्धति द्वारा 'जो है' और 'जो होना चाहिए' अर्थात् यथार्थ एवं आदर्श का भेद स्पष्ट नहीं होता। प्राय देखा गया है कि दार्शनिक वास्तविकता से अपना सम्बन्ध खो बैठता है।

फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि दार्शनिक पद्धति से कोई लाभ नहीं है। दार्शनिकों के दृष्टिकोण राजनीति को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। वे जनता के सम्मुख नए विचार रखते हैं। नागरिकों और संस्थाओं में नई प्रेरणा भरते हैं। इस प्रकार राजनैतिक चिन्तन समाज को पतन की ओर जाने से रोकता है। वास्तव में राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष के लिए दार्शनिक विधि का प्रयोग नितान्त उपयोगी है।

6 अध्ययन की अन्य विधियाँ

(1) सामाजिक विधि (Sociological)
(2) जैविक विधि (Biological)
(3) मनोवैज्ञानिक विधि (Psychological)
(4) कानूनी विधि (Juridical)

(1) सामाजिक विधि—इसके अनुसार सामाजिक अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को राजनैतिक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। राजनीतिक जीवन का अध्ययन कबीलों के विकास के अध्ययन के आधार पर किया जाता है। काम्टे (Comte) ने इस प्रकार के अध्ययन का प्रयास किया है।

(2) जैविक विधि—राजनीतिक विचारकों ने जीव विज्ञान के आधार पर भी राज्य के स्वरूप का अध्ययन किया है। स्पेन्सर (Spencer) इस पद्धति का अनुसरण करने वाला प्रमुख विचारक है।

(3) मनोवैज्ञानिक विधि—इस पद्धति के प्रतिपादक ग्रेहम वालस (Graham Wallas) हैं। इनके अनुसार राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाना चाहिए। यह विधि मनुष्य के स्वभाव और प्रकृति के अध्ययन पर बल देती है।

(4) कानूनी विधि —इसके अनुसार राजनीतिक समाज कानूनो का एक सगठन है, अत उसका विश्लेषण भी कानूनी दृष्टि से किया जाना चाहिए।

इन सब पद्धतियो पर टीका करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "वास्तव म ये अध्ययन की पद्धतियाँ नही हैं, ये तो केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण हैं।" अन्त मे उपसहार के रूप मे यह कहना सत्य ही होगा कि ये तथाकथित अध्ययन विधिया राजनीति विज्ञान के जानने के सच्चे मार्ग हैं। ये व निश्चित दृष्टिकोण हैं जिनका आधार लेकर राजनीति विज्ञान के भिन्न भिन्न लेखकों ने अपने अध्ययनो का समारभ किया है।

अर्वाचीन या समकालीन पद्धतिया
(Contemporary Approaches)

राजनीति शास्त्र के परम्परावादी सम्प्रदाय की तुलना मे आधुनिक सम्प्रदाय अधिक विस्तारवादी और प्रगतिवादी है। आधुनिक सम्प्रदाय राजनीति शास्त्र को सस्थाओ तक सीमित रखने के पक्ष में नहीं है अपितु अध्ययन के नए आयामो को प्रस्तुत करता है जिसमे शक्ति, मूल्य, प्रभाव, निर्णय प्रक्रिया, नियत्रण प्रभुत्व, अधीनस्थता आदि उल्लेखनीय है। आधुनिक सम्प्रदाय म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, सरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, व्यवहारवादी दृष्टिकोण आदि मुख्य हैं।

1 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण या पद्धति
(The Psychological Approach or Method)

मानव-स्वभाव और मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार मे मनोविज्ञान का उपयोग अपेक्षाकृत एक नयी बात है विशेषकर उस रूप मे जिस रूप मे आज इस दिशा मे विधिवत अध्ययन चल रहा है। यद्यपि प्लेटो, मेकियावली, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम आदि ने भी मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे अपने अपने विचार व्यक्त किये थ, तथापि उनके निष्कर्ष मनोविज्ञान के विधिवत अध्ययन पर आधारित नही थे, जबकि आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अध्ययन की इस कमी को दूर करने को प्रयत्नशील हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अर्वाचीन प्रतिपादको का विचार है कि उन्नत सामाजिक मनोविज्ञान का यदि समुचित रूप में वैज्ञानिक प्रयोग हो तो मानव स्वभाव और मानव व्यवहार के बुनियादी तथ्यो का पता लगाना अधिक सम्भव और सतोषप्रद हो सकता है। इस प्रकार खोजे गए मनोवैज्ञानिक आधारों पर एक नये राजनीतिक सिद्धात का निर्माण किया जा सकता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की नींव दृढ़ करने में लासवेल, लासवेल आदि का विशेष योग है। फिर भी अभी तक इस दिशा मे जो प्रयास हो सके हैं वे सन्तोषजनक नहीं हैं और सही तथा व्यवस्थित ज्ञान के रूप म एसा कोई ठोस आधार विकसित नहीं किया जा सका जिस पर राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धात स्थिर किय जा सकें अथवा लोकमत के बारे में निश्चित विचार प्रतिपादित किये जा सकें। पर इस तथ्य स भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने आधुनिक प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए नये द्वार अवश्य खोल दिए हैं चाहे अभी

तक राजनीति विज्ञान के अध्ययन को आगे बढाने मे इसे विशेष सफलता न मिली हो। सही बात तो यह है कि विगत कुछ वर्षों स राजनीति विज्ञान काफी यथार्थवादी हो चला है और शासक क औपचारिक रूप की अपेक्षा शासन की प्रक्रिया की ओर अधिक ध्यान देने लगा है, शक्ति पर इसका आग्रह कम है जबकि शक्ति का उपयोग कैसे हो रहा है इस पर ध्यान अधिक है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण स अभी तक प्राप्त होने वाले परिणाम यद्यपि बहुत साधारण हैं तथापि एक एसा दृष्टिकोण बनता जा रहा है जिससे भविष्य मे महत्वपूर्ण सफलता की आशा की जा सकती है। इस दृष्टिकोण का एक प्रमुख दोष इसके निष्कर्षों पर विश्लेषणात्मक और अचल या स्थिर हाना है। यह दृष्टिकोण अपेक्षाकृत सरल और स्थिर सामाजिक स्थितियो की व्याख्या करने मे तो सफल हुआ है, लेकिन जटिल परिस्थितिया और गतिशील तथा जीवन्त राजनीतिक प्रक्रियाओ की व्याख्या करने मे विशेष सहायक नही हुआ है। बुद्धि विरोधी तत्वो को प्रधानता देने के फलस्वरूप यह दृष्टिकोण अभी तक कोई रचनात्मक सिद्धान्त निरूपित करने मे भी असफल रहा है।

2 सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
(Structural Functional Approach)

आज अभी राजनीति शास्त्र इस बात पर सहमत है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था मे उस व्यवस्था की सरचना और राजनीतिक सस्थाओ के काय मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनो एक दूसरे को प्रभावित ही नही करते बल्कि एक दूसर के नियामक भी हैं। अत राजनीतिक व्यवस्थाओ का अध्ययन इन दोना के सन्दर्भ मे किया जाना चाहिए। किसी सगठन अथवा राजनीतिक प्रणाली के समुचित अध्ययन के लिए केवल स्वरूप को जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि यह भी जानना होता है कि वह राजनीतिक सगठन या सस्था किस प्रकार काय करती है। साथ ही किसी सस्था की सरचना और कार्य अन्य सस्था की सरचना और कार्यों से सम्बद्ध ही नहीं होते वरन उनमे कार्य कारण और क्रिया प्रतिक्रिया का सम्बन्ध भी होता है। इसलिए यह सवथा आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्था की अध्ययन विधि मे सम्पूर्ण व्यवस्था की सरचना और काय को सम्मिलित किया जाय। आज इस बात पर भी लगभग सभी राजनीतिक विचारक एकमत हैं कि राजनीतिक व्यवस्था म सावयवी एकता (Organic Unity) होती है, अत राजनीतिक सस्थाओ मे भी सावयवी निभरता (Organic Interdependence) पायी जाती है। समाज एक बडी व्यवस्था (Bigger System) तथा राजनीतिक व्यवस्था उसकी एक उप-व्यवस्था (Sub system) है। यही कारण है कि इस राजनीतिक व्यवस्था मे अथवा समाज की अन्य व्यवस्थाओ मे या एक ही व्यवस्था की किसी सस्था या प्रक्रिया मे यदि कुछ असमान व्यवस्था उत्पन्न हो जाय या प्रवेश कर जाय तो उससे सम्पूर्ण व्यवस्था न केवल प्रभावित ही होती है। बल्कि उसका सन्तुलन समाप्त होकर क्रान्तियो तक का माग प्रशस्त हो सकता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण मे राजनीतिक व्यवस्था दो प्रकार से दिखायी देती है जिन्हे एमण्ड ने दो विशिष्ट नाम दिये हैं—(1) इनपुट (निवेश) कार्य (Input Functions) एवं (2) आउटपुट (निर्गत) कार्य (Output Functions)। किसी भी व्यवस्था मे होने वाले आंतरिक कार्य 'Input Functions' की श्रेणी में आते हैं और इनके कारण जो वाह्य कार्य सम्पादित होते हैं वे *Output Functions' की श्रेणी में सम्मिलित किये जाते हैं*। इन दोनों श्रेणियों के कार्यों का विवेचन राजनीतिक प्रक्रियाओं मे इनकी उपयोगिता को स्पष्ट करता है। इनपुट और आउटपुट कार्य आपस मे सावयवी ढंग से सम्बद्ध है तथा किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन इन कार्यों के सम्बन्ध मे न केवल सरल बन जाता है बल्कि अधिक गहन और समस्या समाधानात्मक भी हो जाता है। इन कार्यों के आधार पर वे व्यवस्था की सजीवता को जान पाते हैं, विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना कर पाते हैं और यह निष्कर्ष निकालन मे समर्थ होते हैं कि *एक प्रकार का इनपुट आउटपुट कार्य सम्पूर्ण व्यवस्था* को किसी प्रकार भिन्न प्रकृति का बना देता है। एक राजनीतिक व्यवस्था मे इन दोनों प्रकार के कार्यों की श्रेणियों मे कौन कौन से कार्य मुख्यत सम्मिलित हैं, यह सक्षेप मे देखना आवश्यक है।

(क) एक व्यवस्था के इनपुट कार्य (Input Functions in a System)—प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था मे ये कार्य कम अथवा अधिक मात्रा मे व्यवस्थात्मक प्रक्रियाओं द्वारा सम्पादित होते हैं। सांकेतिक रूप मे ये इस प्रकार हैं—

1 राजनीतिक सामाजीकरण और आप्रवेशन (Political Socialization and Recruitment)—प्रत्येक व्यवस्था मे राजनीतिक सामाजीकरण तथा आप्रवेशन के कार्य मुख्यत राजनीतिक दलों और साधारणत अन्य राजनीतिक सगठनों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। व्यवस्था की प्रकृति के अनुरूप वे कार्य सीमित अथवा विस्तृत हो सकते हैं। राजनीतिक दल अपनी राजनीतिक मान्यताओं का सामाजीकरण करते हुए अधिकाधिक लोगों मे अपनी मान्यताओं के प्रति आस्था उत्पन्न करने को प्रयत्नशील रहते हैं। राजनीतिक मान्यताओं का यह समाजीकरण किस प्रकार का *और किस सीमा तक होगा—यह समाज की परिस्थितियों और उसके संस्थों पर* निर्भर करता है। राजनीतिक समाजीकरण आप्रवेशन के स्वस्थ साधन के सम्बन्ध में ही लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं की सफलता या असफलता को मापा जा सकता है। यदि इन साधनों को राजनीतिक शक्ति द्वारा दबा कर रखा जायगा या प्रतिबन्धित किया जायगा तो प्रत्येक व्यवस्था मे खिंचाव और तनाव की विस्फोटक स्थिति पैदा होने का खतरा बना रहेगा। वास्तव मे राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक आप्रवेशन अथवा भर्ती का स्वस्थ स्वरूप हर राजनीतिक व्यवस्था की स्वस्थता के लिए आवश्यक है।

2 हित अभिव्यक्ति तथा एकत्रीकरण (Interest Articulation and Interest Aggregation)—प्रत्येक राजनीतिक समाज मे हितों की अभिव्यक्ति और

एकत्रीकरण आवश्यक है। किसी भी हित पर अकेले व्यक्ति के विचार राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से सामान्यत विशेष महत्त्व नही रखते क्योंकि अलग-अलग विचारो से समाज को और राजनीतिक व्यवस्था की सस्थाओ तथा प्रक्रियाओं को दिशा निर्देश नही मिल पाते। व्यक्तिगत दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विचार सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भ मे तब तक स्थान नही पाते जब तक कि अपने हितो से सम्बन्धित इन विचारो की अभिव्यक्ति अन्य व्यक्तियो द्वारा भी न हो और इन सबका फिर एकत्रीकरण न हो। प्रत्येक लोकतान्त्रिक समाज मे दबाव समूह और हित समूह व्यक्तियों की मागो का एकत्रीकरण कर उन्हे राजनीतिक सस्थाओ के पास कार्यान्वयन के लिए पहुँचाते हैं और इसके लिए राजनीतिक प्रक्रियाओ पर आवश्यक दबाव डालने को प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति समष्टि से सम्बद्ध हो जाता है और समाज म इसकी व्यावहारिक उपादयता स्पष्ट होती है। यह स्थिति राजनीतिक समाजीकरण और आप्रवेशन के लिए सहायक होती है।

3 राजनीतिक सम्प्रेषण (Political Communication)—किसी भी राजनीतिक व्यवस्था म यह कार्य सर्वाधिक महत्त्व का है क्योंकि इससे व्यवस्था में गतिशीलता बनी रहती है। नागरिको की मान्यताओ, आस्थाओं, आकांक्षाओ और आवश्यकताओ को राजनीतिक सत्ताधारियो तक पहुँचाना ही राजनीतिक सम्प्रेषण कहलाता है। सचार-साधनो, समाचार पत्रों, मच, दल आदि के माध्यम से जन-साधारण को राजनीतिक व्यवस्था की नीतियो और निर्णयो से परिचित कराया जाता है और एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे इन्ही साधनो द्वारा सस्थाओ के समक्ष पहुँचा जाता है। यह राजनीतिक सम्प्रेषण शासको और शासितो के बीच सम्पर्क-सूत्र है। राजनीतिक सम्प्रेषण की 'सजीवता' किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता की सूचक है। इसके फलस्वरूप व्यवस्था म खिचाव-तनाव प्राय उत्पन्न नहीं हो पाते और होते भी हैं तो उग्र रूप धारण नहीं करते।

(ख) एक व्यवस्था के निर्गत या आउटपुट कार्य (Output Functions of a System)—किसी भी राजनीतिक व्यवस्था मे आउटपुट कार्य मुख्यत ये होते हैं—

1 नियम निर्माण (Rule Making)—किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि जनता की जो माँगें उसके सामने आएँ उन्हे समुचित मान्यता देकर सार्वजनिक नीति का रूप दें। विधि निर्माण का यह कार्य व्यवहार में जनता की माँगो के औचित्य को राजनीतिक सस्थाओ द्वारा स्वीकार कर वैध रूप देना मात्र है। उदाहरणार्थ, यदि नागरिको की माँग हो कि मताधिकार हर 18 वर्ष की आयु के व्यक्ति को प्राप्त हो तो राजनीतिक व्यवस्था का कार्य होगा कि इस माँग की उपयुक्तता पर विचार कर तदनुरूप विधि निर्माण द्वारा इस माँग को कानूनी मान्यता प्रदान करे।

2 नियम प्रयोग (Rule Application)—विधि निर्माण सार्थक तभी होगा

जब विधियो का कार्यान्वयन हो। अत किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का दूसरा आधारभूत आउटपुट काय विधियो को लागू करना है

3 नियम निर्णय (Rule Adjudication)—विधि निर्माण और कार्यान्वयन के उपरान्त राजनीतिक व्यवस्था को यह भी देखना होता है कि वह विधि समाज के समूहो, वर्गों और लोगो द्वारा स्वीकाय है या नही। वास्तव म इस बात पर ही व्यवस्था का सन्तुलन आधारित होना है। यदि समाज के कुछ समूह या वर्ग या व्यक्ति उस कानून को नहीं मानने तो इस स्थिति मे राजनीतिक व्यवस्था का विरोधी प्रवृत्तियो से टकराव होगा। उस व्यवस्था की सफलता इस बात मे निहित है कि टकराव की ऐसी किसी भी समस्या को उपयुक्त ढग से सुलझाए और सन्तुलनकारी शक्तियो में स्थायित्व लाए। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न प्रवृत्तियों के विरोधाभासो को पूर्ण करने और उनमें पारस्परिकता लाने के लिए प्रयत्नशील रहती है, क्योकि यही उसकी सफलता की कसौटी है।

सरचनात्मक-कार्यात्मक पद्धति में माना गया है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक दल अनिवाय हैं लेकिन कई राज्य ऐसे हैं जहाँ राजनीतिक दल या तो हैं ही नहीं और यदि हैं तो केवल नाम मात्र के लिए, फिर भी व्यवस्था द्वारा काय सम्पन्न हो रहे हो तो क्या यह मान लिया जाए कि व्यवस्था काय नही कर रही है ? वास्तव में राजनीतिक दलो की अनुपस्थिति में व्यवस्था का कायरत रहना इस बात का सकेत है कि वह व्यवस्था सन्तुलित और स्वस्थ नही है, वह सम्भावित असन्तुलन और तनाव मे परिपूर्ण है।

एमण्ड, ईस्टन और एप्टर के विचार

सरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण की इस व्याख्या के उपरान्त अब हम तीन प्रमुख विद्वानो के विचारो का विवेचन करेंगे—एमण्ड, एप्टर तथा ईस्टन।

एमण्ड (Almond) के विचार—एमण्ड ने विकासशील देशो की राजनीतिक व्यवस्था को दो दृष्टियो से देखा है—(1) एक तो यह कि परम्परावादी समाज से आधुनिक समाज की ओर बढने म उनके राजनीतिक विकास का क्या सिद्धान्त हो सकता है और (2) दूसरे, विकास की इस प्रक्रिया से गुजरने वाले देश कितने प्रकार के हो सकते है तथा उनका कोई *वर्गीकरण* सम्भव है या नही। एमण्ड के अनुसार 'राजनीतिक व्यवस्था' शब्दावली राज्य का पर्यायवाची नहीं है वरन् एक ऐसी स्थिति है जो सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया को केवल सम्भव ही नही बनाती बल्कि जीवित भी रखती है।

एमण्ड ने सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए व्यवस्था को एक ऐसी इकाई माना है जो वातावरण को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित भी होती है। सरचना अथवा सगठन और कार्यों की दृष्टि से किसी भी राजनीतिक व्यवस्था मे निम्नलिखित विशेषताओ का होना अपेक्षित है—(1) सम्पूर्णता, (2) अन्तर्निर्भरता, (3) सीमा रेखाएँ (4) उन्मुक्तता, एव (5) व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के स्थान पर व्यक्ति की भूमिकाओ की प्रतिक्रियाएँ। एमण्ड ने

सरचनात्मक-कार्यात्मक तथा सन्तुलनात्मक दृष्टिकोण मे स्थायित्व और परिवर्तन दानो पर बल दिया है। एमण्ड के मतानुसार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था म चार प्रकार की सरचनाएँ होती हैं (1) क्रिया प्रतिक्रियाग्रा के वैध एव औचित्यपूण प्रकार, (2) कुछ निश्चित एव समान राजनीतिक काय, (3) राजनीतिक ढाँचे की बहुक्रियाशीलता एव (4) एक राजनीतिक सस्कृति। व्यवस्था के विकास के साथ-साथ इसके ढाँचे विशेषीकृत कार्य करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप राजनीतिक सस्कृति का स्वरूप बदलन लगता है।

उपर्युक्त चारो प्रकार की सरचनाओ अथवा ढाँचो की राजनीतिक व्यवस्था को, चाहे वह कसी भी हो सन्तुलन कायम रखने के लिए कुछ काय करन पडते हैं। यदि राजनीतिक व्यवस्था मे सरचनाएँ अपने काय सन्तुलन की दृष्टि से करती हैं तो वह व्यवस्था जीवित अथवा प्राणवान रह सकेगी किन्तु यदि वे समुचित रूप से काय नही करेंगी ता इस बात की पूरी सम्भावना है कि राजनीतिक व्यवस्था ऐसे परिवतन की ओर मुड जाय जो उसे विघटित भी कर दे।

एमण्ड ने विकसित पाश्चात्य आधुनिक व्यवस्थाओ को समानाथक माना है और एक राजनीतिक व्यवस्था के मुख्यत दो प्रकार के काय बतलाए ह—निवेश अर्थात् इनपुट काय तथा निगत अर्थात् आउटपुट कार्य। एमण्ड न आगे चलकर इन दोनों ही मुख्य कार्यों के कुछ उप काय और माने हैं तथा यह मान्यता प्रकट की है कि ये सभी उप-काय मिलकर सम्पूर्ण व्यवस्था मे एक रूपान्तरण काय (Conversion Function) पूरा करते हैं। एमण्ड के अनुसार इनपुट काय चार हैं—(1) राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती, (2) हितो का जोड-तोड, (3) हिता का एकत्रीकरण, एव (4) राजनीतिक सचार। आउटपुट काय तीन हैं—(1) नियम निर्माण, (2) नियम कार्यान्विति, एव (3) नियम निणय। एमण्ड के सम्पूर्ण विश्लेषण का निष्कष यह है कि जो राजनीतिक व्यवस्था जितनी विकसित होगी उसकी सरचनाएँ उतनी ही विशेषीकृत तथा सीमा की दृष्टि से व्यापक और विस्तृत होगी। एमण्ड अपने सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण द्वारा वास्तव मे राजनीतिक परिवतन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसका यह सिद्धान्त सगठन और कार्यों के विभिन्न स्तरो को पहचानने तथा उन्हे स्पष्ट करने की क्षमता रखता है।

डेविड ईस्टन के विचार—व्यवहारवादी लेखक डेविड ईस्टन अपने विश्लेषण मे व्यवहारवादी यथार्थता को जानने के लिए एक ऐसी विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical System) प्रस्तुत करना चाहते हैं जो विभिन्न प्रकार के आचरणों को बताने मे समथ हो। उन्होंने एक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसके दो पहलू हैं—प्रथम, सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक समस्याओ का समुचित विश्लेषण किया जा सके, और द्वितीय, सिद्धान्त में ऐसी विशेषताएँ होनी चाहिए कि उसका प्रयाग सामान्य और विशिष्ट दोनो तरह की समस्याओ के समाधान के लिए सम्भव हो सके।

ईस्टन ने अपने विश्लेषण मे शक्ति सम्बन्धों (Power Relations) को

उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना एमण्ड तथा लासवेल ने। यद्यपि ईस्टन के अनुसार राजनीति की परिभाषा 'मूल्यो का सत्तात्मक आवटन' (Authoritative Allocation of Values) है तथापि इसमे सत्तात्मक आवटन (Authoritative Allocation) स वह सम्बन्ध कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है जो किसी व्यावहारिक नियम या काय (Practical Act) को सत्तात्मक आवटन से जोडता है। आवटन (Allocation) का विश्लेषण करते समय ईस्टन का यह विचार रहा है कि राजनीतिक व्यवस्था एक जीवित व्यवस्था है उसके अस्तित्व में कोई सन्देह नही। एमण्ड तथा ईस्टन के विश्लेषणो से सबसे प्रमुख अन्तर यही है कि जहा एमण्ड व्यवस्था (Sy tem) को जीवित रखने के लिए कुछ तत्त्वो की अपेक्षा करता है वहा ईस्टन की समस्या व्यवस्था का जीवित रहना नहीं वरन उसकी निरन्तरता या अविरलता (Persistence) हैं। ईस्टन 'जीवित रहने की दिशाओ (Conditions of Survival) में अधिक रुचि रखता है ताकि व्यवस्था की गत्यात्मकता कायम रह सके।

ईस्टन मूल रूप से 'सरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण' (Structural Functional Approach) का आलोचक है। इस सम्बन्ध मे उसके आक्षेप अथवा आलोचनात्मक तक निम्नलिखित हैं—

1 सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण सभी प्रकार की व्यवस्थाओ पर एक समान लागू नही होता है, अत यह अपने आप मे अपूर्ण और अपर्याप्त है।

2 इस विश्लेषण में 'काय की अवधारणा' (Functional Concept) किसी सिद्धान्त (Theory) का आधार नही बन सकती चाहे वह सिद्धान्त की पूव माँग या पूव आवश्यकता (Pre requisite) ही क्यो न रही हो।

3 एमण्ड का सन्तुलन प्रतिमान (Model) ईस्टन को इसलिए मान्य नही है कि यह प्रतिमान वास्तविकता को सरल तो बनाता है, लेकिन उसका यथाथवादी चित्रण नहीं करता।

ईस्टन ने राजनीतिक विश्लेषण की समस्याओ के दो स्तरो का उल्लेख किया है प्रथम विविध समस्यात्मक, एव द्वितीय, सद्धान्तिक। प्रथम विश्लेषण में निरन्तरता और परिवतन दोनो की विवेचना अपेक्षित है जबकि दूसरे विश्लेषण मे समस्या राजनीतिक जीवन के तत्त्वों को पहचानने की है। इसे ईस्टन ने सिद्धान्तवादी ढाँचा (Conceptual Framework) अथवा 'विश्लेषण की सरचना' (Structure of Analysis) की सज्ञा दी है। ईस्टन के विश्लेषण का मुख्य ध्येय अन्त क्रियाओ की प्रक्रिया' (Process of Interaction) है जो एमण्ड से पर्याप्त भिन्न है।

डेविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को एक 'खुली व्यवस्था (Open System) माना है जिसमे व्यवस्था-सीमाएँ (Systems Boundaries) समाज की अन्य व्यवस्थाओं (Systems) से उसे भिन्न बनाती हैं। इस व्यवस्था का वातावरण 'समाज के भीतर और समाज में बाह्य' (Intra societal and Extra-Societal) दोनों प्रकार का होता है। 'इनपुट आउटपुट' में सन्तुलन बना रहने पर यह 'स्थिर

अवस्था' (Steady State) में रहता है जो 'निरतरता' (Persistence) का ही लक्षण है।

ईस्टन मुख्यत 'राजनीतिक समाजीकरण' (Political Socialization) का विद्यार्थी है जिसकी इस तथ्य में अधिक रुचि है कि व्यवस्था के मूल्य व्यक्तियो द्वारा कसे स्वीकारे जाते हैं। ईस्टन के अनुसार व्यवस्था अपने आप मे एक चलती रहने वाली प्रक्रिया है जिसकी काय (Function) के आधार पर परीक्षा करना अनुपयुक्त होगा।

एप्टर के विचार— एप्टर भी एमण्ड की तरह की अपनी विश्लेषण दृष्टि में 'व्यवस्था विश्लेषण' (System Analysis) का समथक है। उसने विकासशील देशो म सक्रमण की स्थिति को अपना अध्ययन विषय बनाया है। उसने एक ओर तो कतिपय निश्चित समस्याओ को विश्लेषण के लिए चुना है और दूसरी ओर विश्लेषणात्मक पद्धतिया के लिए नई तकनीक विकसित करनी चाही है। एप्टर ने सरकारो का वर्गीकरण किया है और यह जानने का प्रयत्न किया है कि सामाजिक वातावरण के किस स्तर पर कौन सी सरकार प्रभावशील हो सकती है? 'आधुनिकीकरण की राजनीति' (Politics of Modernization) के अध्ययन द्वारा एप्टर न यह बतलाया है कि विचार के नैतिक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण म एकता की कितनी आवश्यकता है। एप्टर अपने विश्लेषण मे ईस्टन से इस दृष्टि से भिन्न है कि उसने 'सद्धान्तिक ढांच' (Framework of Theoretical) से आगे बढकर सिद्धा त के ज म लेने के लिए नतिक आधारो का परीक्षण किया है।

एप्टर का विश्लेषण मुख्यत इस मा यता पर केन्द्रित है कि व्यवस्था मे चुनाव प्रणाली को महत्त्वपूण तत्त्व के रूप मे माना जाय। किसी भी सरकारी क्षेत्र मे कुछ निश्चित चयन करने पडते हैं जो काला तर में समाज के नैतिक उद्देश्य बन जाते हैं। एप्टर का विचार है कि सभी सरकारें स्थायित्व की आकांक्षी होती हैं और यह चाहती हैं कि परिवतन धीरे धीरे शान्तिपूवक लाए जाएँ। ये परिवतन सामाजिक और आर्थिक परिवतनो के साथ शनै शन प्रस्तुत होते हैं। एक विकासशील देश में इन परिवतनो को 'प्रयोग' न मानकर 'वज्ञानिक विश्लेषण की प्रयोगशाला' कहा जा सकता है।

एप्टर एमण्ड की भांति सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण का समथक है। उसने भूमिकाओ को कार्यों द्वारा परिमापित व्यवहारो के सस्थानीकृत रूप (Institutionalised Forms of Behaviours defined by Functions) माना है। अत सरचनात्मक कार्यों मे व्यवहार के उद्देश्यो (Motives of Behaviour) को जोडने से एप्टर आचरणवादी विश्लेषण का भी समथक प्रतीत होता है। दूसरे शब्दो में यह कहना चाहिए कि एप्टर ने राजनीतिक विश्लेषणो को दो स्तरो पर विभाजित किया है एक पसन्द अथवा चयन का विश्लेषण (Analysis of Choice) और दूसरा सन्दभ का विश्लेषण (Analysis of Context)। इस दृष्टिकोण मे सरचनात्मक (Structural) और व्यवहारात्मक (Behavioural) दृष्टिकोण सयुक्त हो जाते हैं।

3

वैज्ञानिक पद्धति और राजनीति शास्त्र मे उसका प्रयोग

(THE SCIENTIFIC METHOD AND ITS APPLICATION TO POLITICAL SCIENCE)

आज के वैज्ञानिक युग मे प्रत्येक समस्यामूलक तथ्य की परीक्षा वैज्ञानिक ढग से की जाती है। सामाजिक अनुसधानो मे इसका महत्व और भी अधिक है क्योंकि इनमे तथ्य और घटनाएँ विचित्र, परिवर्तनशील एव जटिल प्रकृति की होती हैं और वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग न करने पर हमारे निष्कर्ष भ्रामक हो सकते हैं। वैज्ञानिक पद्धति अपने आप मे एक स्पष्ट पद्धति है जिसका प्रयोग अनुसधानकर्त्ता को बडी सतर्कता के साथ करना पडता है। यदि वह इसका प्रयोग निष्पक्षता और आत्मविश्वास के साथ नही करते तो उद्देश्य प्राप्ति मे निराशा का ही सामना करना पडता है।

वैज्ञानिक पद्धति परिभाषाएँ और विशेषताएँ

साधारण शब्दो में वैज्ञानिक पद्धति वह है जिसे एक वैज्ञानिक किसी विषय वस्तु के अध्ययन के प्रयोग में लाता है। इस पद्धति की परिभाषाए विद्वान् लेखको ने विभिन्न प्रकार से दी हैं, जिनमे कुछ उल्लेखनीय ये हैं—

"वैज्ञानिक पद्धति एक सामूहिक पद है जो उन विभिन्न प्रक्रियाओं के विषय म उल्लेख करता है जिनकी सहायता से विज्ञान बनते हैं। विस्तृत अर्थ मे कोई भी अध्ययन पद्धति जिसके द्वारा वैज्ञानिक अथवा निष्पक्ष और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जाता है एक वैज्ञानिक पद्धति कहलाती है।"

—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

"वैज्ञानिक पद्धति की सर्वप्रथम विशेषता यह होती है कि इसमे वास्तविक तथ्यो को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है न कि इच्छित तथ्यो को। इसकी द्वितीय विशेषता यह है कि प्रत्येक अनुसंधान स्वय में विशिष्ट होता है।"

—कोहन एव मोले

"वैज्ञानिक विधि मे प्राप्त सामग्री (Data) का क्रमबद्ध अवलोकन वर्गीकरण तथा व्याख्या सम्मिलित हैं। हमारे प्रतिदिन के निष्कर्षों तथा वज्ञानिक विधि मे मुख्य अतर औपचारिकता की मात्रा, दृढता, सत्यापन किए जा सकने की योग्यता तथा व्यापक रूप मे प्रमाणिकता में निहित होता है।"

—लुण्डबर्ग

"वैज्ञानिक विधि म निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं--(अ) तथ्यो का सतर्क एव शुद्ध वर्गीकरण तथा उनके सह-सम्बन्ध और क्रम का निरीक्षण, (ब) सृजनात्मक कल्पना द्वारा वज्ञानिक नियमो की खोज, (स) आत्म आलोचना तथा सामान्य बुद्धि के व्यक्तियो के लिए समान महत्त्व की अन्तिम कसौटी।"

—कार्ल्स पियसन

इन विभिन्न परिभाषाओ के विश्लेषण से वज्ञानिक पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

1. सभी तथ्या का सतकता के साथ सम्यक् विभाजन,
2. तथ्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का सयोजन,
3. रचनात्मक कल्पना के आधार पर वज्ञानिक नियमो का निर्धारण,
4. वस्तुनिष्ठता अथवा पक्षपातहीनता अर्थात् अनुसधानकर्त्ता द्वारा अपने-अपने अध्ययन मे व्यक्तिगत भावनाओ या पूर्वाग्रहो को न आने देना और तथ्या को उनके वास्तविक रूप मे बने रहने देना,
5. सत्यापनशीलता (Verification) अर्थात् निष्कर्षों की जाच,
6. निश्चितता (Definiteness),
7. सामान्यता (Generality) अर्थात् ऐसे तथ्यो या नियमो को ढूँढने का प्रयास किया जाना जो समान अवस्थाओ मे सदव प्रामाणिक सिद्ध हो सकें, एव
8. भविष्यवाणी करने की क्षमता (Predictability) अर्थात् किसी घटना अथवा समस्या के कारणो और प्रभावा का वज्ञानिक ढग से अध्ययन करने के पश्चात् उसके आधार पर अनुसधानकर्त्ता द्वारा वैसी ही परिस्थितियों मे सही भविष्यवाणी कर सकना।

वैज्ञानिक पद्धति के तत्त्व

अध्ययन की वज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्त्व होते हैं जिन्हें वज्ञानिक कार्य, वज्ञानिक व्यवहार या वज्ञानिक प्रक्रिया के सोपान कहा जा सकता है। ये हैं— पर्यवेक्षण (Observation), वर्णन (Description), मापन (Measurement), स्वीकृति (Acceptance), आगमनात्मक सामान्यीकरण (Inductive Generalisation), स्पष्टीकरण (Explanation), तार्किक निगमनात्मक तर्क प्रक्रिया (Logical Deductive Reasoning), जाँच (Testing), शुद्धीकरण (Correcting), भविष्यवाणी (Predicting), अस्वीकृति (Non Acceptance), आदि। ये समस्त वज्ञानिक विधियाँ मिलकर राजनीति शास्त्र की अध्ययन प्रणाली को रग देती हैं और उसके निष्कर्ष को निश्चितता प्रदान करती हैं।

(1) पर्यवेक्षण- राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिक प्रणाली में सर्वप्रथम तथ्यों का पर्यवेक्षण किया जाता है। पर्यवेक्षण के विषय और लक्ष्यों के बीच समायोजन किया जाता है। पर्यवेक्षणकर्त्ता की मान्यताएँ, पूर्व विचार एवं अनुभव, पर्यवेक्षण की गयी वस्तु के रूप को निर्धारित करते हैं और कई बार उसे पथ भ्रष्ट भी कर देते हैं। वैज्ञानिक प्रक्रिया मे सबसे पहले सामान्य ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। सामान्य ज्ञान के आधार पर जो पर्यवेक्षण किया जाता है वह बहुत कुछ सीमित होता है। इसकी निश्चितता कई बातों से तय होती है, यथा जिन तथ्यों का पर्यवेक्षण किया जा रहा है वे अध्ययन की दृष्टि से कितने उपयुक्त हैं, उनको कितनी निष्पक्षता के साथ देखा गया है तथा ये पर्यवेक्षण वास्तविकता के कितने अनुरूप हैं, आदि। इन विभिन्न परिस्थितियों के न होने पर व्यवहारिक पर्यवेक्षण को भी चुनौती दी जा सकती है। वैज्ञानिक इसे निश्चित मान भी सकते हैं और नहीं भी। किसी तथ्य को सही मानने के लिए कौन सी परिस्थितियां होती हैं इस सम्बन्ध मे कोई ठोस नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।

पर्यवेक्षण करने के हमारे साधन मानव प्रकृति द्वारा सीमित रहते हैं। यह हो सकता है कि जो पर्यवेक्षण योग्य तथ्य हैं उनको पर्यवेक्षण का विषय ही न बनाया जाय। कई बार जो अनुमान लगाये जाते हैं वे भी मानवीय कमजोरियों एवं व्यक्तिगत भावनाओं से इतने प्रभावित होते हैं कि वास्तविकता मे बहुत दूर पड जाते हैं।

(2) व्याख्या एवं प्रतिवेदन जिन परिस्थितियों का पर्यवेक्षण किया जाता है उनकी व्याख्या की जाती है और उसके बाद अध्ययन की प्रक्रिया को आगे बढाया जाता है। व्याख्या के अतिरिक्त सम्बंधित प्रश्नों का उत्तर ढूँढा जाता है अथवा तत्सम्बन्धी साक्षात्कार किये जाते हैं। पर्यवेक्षित परिस्थिति के सम्बन्ध में पर्यवेक्षणकर्त्ता एक प्रतिवेदन तैयार करता है। यह प्रतिवेदन आगे के अध्ययन का एक मूल आधार होता है। इस प्रतिवेदन मे दिये गये शब्दों के अर्थ को अन्य सम्बन्धित आँकडों के आधार पर देखा जाता है। राजनीति शास्त्र मे किये गये पर्यवेक्षण विभिन्न समस्याओं के लिए निश्चित रूप से उत्तर नही दे पाते। एक राजनीति शास्त्री द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन को दूसरा राजनीति शास्त्री स्वीकार भी कर सकता है और अस्वीकार भी। कई बार शब्दों के एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। हो सकता है कि लेखक ने शब्दों को जिस अर्थ मे प्रयुक्त किया है उन्हें उसी अर्थ मे न समझा जाय।

स्वयं जो पर्यवेक्षण किया जाता है उसमे भी निश्चितता एवं पर्याप्तता की अनेक समस्याएँ उठती हैं। यह हो सकता है कि एक बार अध्ययन करने पर पर्यवेक्षणकर्त्ता ने जो अनुभव किया, वह दूसरी बार पर्यवेक्षण करने पर असत्य प्रतीत होने लगे। आजकल बहुत से लोगों का पर्यवेक्षण करने के लिए साक्षात्कार एवं नियोजित प्रश्नावलियों का प्रयोग किया जाता है ताकि तथ्यों अथवा मतों की जानकारी प्राप्त की जा सके। इस प्रक्रिया में कई स्थानों पर गलती होने की सम्भावना रहती है। हो सकता है कि साक्षात्कार करने वाले की उपस्थिति मे सूचना

देने वाला व्यक्ति स्वय का सही अध्ययन न कर सके अथवा उसके द्वारा दी गई सूचना अपर्याप्त हो।

एक अच्छे साक्षात्कार के लिए साक्षात्कार करने वाले को सम्बंधित व्यक्ति के साथ मत्रीपूर्ण सम्बध स्थापित करने होंगे। इसके अतिरिक्त दी गई सूचना का मूल्यांकन एव ग्रहण साक्षात्कारकर्त्ता के व्यक्तिगत विचारो पर भी निभर करता है। प्रश्नावली की प्रक्रिया भी त्रुटियो से अछूती नही है चाहे प्रश्न कितने ही सोच समझकर तैयार किये जाएँ।

(3) माप एव वर्गीकरण—पयवेक्षित सामग्री की उपयुक्त व्याख्या करने के बाद उसका मापन और वर्गीकरण किया जाता है पयवेक्षण में प्राप्त विभिन्न तथ्यो या मूल्यो के मापदण्डो के आधार पर स्तरीकरण किया जाता है, उनकी उपयोगिता, निश्चितता सत्यता आदि की जाच की जाती है। अध्ययन सामग्री को वर्गीकृत करते समय उन्हे विभिन्न वर्गों मे सजो कर रखा जाता है और उन्हे व्यवस्थित किया जाता है। जिस सामग्री की हम व्याख्या नही कर सकने उसे भी कम से कम वर्गीकृत कर सकते हैं। जब अध्ययन की विषय वस्तु मे गुणो के आधार पर अन्तर होते हैं तो वर्गीकरण का साधन अधिक उपयोगी बन जाता है।

(4) विश्लेषण—गुणो के आधार पर किये गये वर्गीकरण के अतिरिक्त सख्या के आधार पर भी विषयवस्तु का विश्लेषण किया जा सकता है। केवल विषयगत प्रभावो पर आधारित न रहकर वस्तु स्थिति का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। राजनैतिक वातावरण, सरकार की प्रक्रिया जनता का व्यवहार आदि पर आधारित विभिन्नताओ को जानने के लिए समाचार-पत्रो, सावजनिक भाषणो, राज्यकीय अभिलेखो, रेडियो प्रसारणो, व्यक्तिगत पत्रों एव सचार के अन्य साधनो की गहरी छान बीन करना आवश्यक है। इस प्रकार का मात्रात्मक विश्लेषण तभी सम्भव है जब कि पहले कुछ परिकल्पना बना ली जाये।

(5) तथ्यों की स्वीकृति—वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया का अगला कदम तथ्यो की स्वीकृति एव वास्तविकता का प्रमाणीकरण है। जब एक पयवेक्षण को निश्चित रूप से निर्मित और पर्याप्त रूप से सचारित मान लिया जाता है तब यह निर्णय करना होता है कि जिस वातावरण या विषयगत रूप से पयवेक्षण किया जाता है वह वास्तविक तथ्यो के साथ वस्तुगत रूप से समरूपता रखता है अथवा नहीं। पयवेक्षणकर्त्ता अपने प्रतिवेदन मे यह कह सकता है कि उसने किसी निश्चित स्थान और निश्चित समय पर ऐसी वस्तु देखी जो एक कुर्सी या सितारे या हवाई जहाज या अन्य किसी भी प्रकार की थी। इस प्रतिवेदन की निश्चितता पर तथा पयवेक्षण की सत्यता पर कोई वैज्ञानिक अविश्वास नहीं कर सकता, किन्तु फिर भी उसे यह देखना पडेगा कि वह पयवेक्षणकर्त्ता के निष्कर्षों को स्वीकार करे अथवा न करे। उसे यह देखना होगा कि क्या वास्तविक तथ्य भी पयवेक्षणकर्त्ता के प्रतिवेदन के कथन की पुष्टि करते हैं। ऐसा करते समय वनानिक द्वारा यह देखा जायगा कि पयवेक्षण मे कितना समय दिया गया था, उसमें कौन कौन से साधन प्रयुक्त किए गए

थे, पर्यवक्षरण पर प्रभाव डालने वाली कौन सी परिस्थितिया उस समय विद्यमान थीं वातावरण की स्थिति कैसी थी, क्या किसी प्रकार का भ्रम होने की सम्भावना थी, आदि ।

(6) तर्कपूर्ण युक्तियुक्तता—अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली मे तर्कपूर्ण युक्तियुक्तता (Logical Reasoning) का भी अपना स्थान है। इसे वैज्ञानिक प्रणाली का आवश्यक भाग केवल तभी माना जाता है जबकि इसका रूप विश्लेषणात्मक हो। विश्लेषणात्मक रूप होने के लिए प्रयुक्त शब्दो को कोई नया अर्थ नही दिया जाता किन्तु अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट कर दिया जाता है। इस विश्लेषणात्मक कथन के उदाहरण के रूप मे कहा जा सकता है कि यदि सभी मनुष्य मरणशील हैं और राम एक मनुष्य है तो राम भी मरणशील है। इस प्रकार की तर्क प्रक्रिया मे कुछ बातो को मान कर चलना होता है और उसकी सत्यता मे अविश्वास नही किया जाता। यदि वे असत्य होगी तो निश्चय ही निष्कर्ष भी असत्य होगा। तर्क की प्रक्रिया मे जब किसी शब्द के साथ कोई नया अर्थ जोड दिया जाता है तो यह विश्लेषणात्मक न रहकर सश्लेषणात्मक बन जाता है। विश्लेषणात्मक तर्क प्रक्रिया के निष्कर्ष हमेशा सत्य सिद्ध होते हैं, किन्तु विश्लेषणात्मक को ही जब सश्लेषणात्मक बना लिया जाता है तो वह असत्य बन सकता है। सभी हसो को सफेद केवल तभी कहा जा सकता है जब सफेद होना हँसो का विशेष गुण माना जाय। यदि ऐसा नही किया गया तो निष्कर्ष गलत हो जायगा। गणित सम्बन्धी कथनो को विश्लेषणात्मक माना जाय अथवा सश्लेषणात्मक यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। अकगणित और बीजगणित मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक होते हैं, न कि सश्लेषणात्मक।

तार्किक रूप से जो युक्ति दी जाती है उसमें आगमनात्मक एव निगमनात्मक दोनो ही पद्धतिया अपनायी जाती हैं। कई बार केवल निगमनात्मक, विश्लेषणात्मक तर्क प्रक्रिया सत्यान्वेषण के लिए पर्याप्त नही होती और इसलिए अन्य तरीको को अपनाना पडता है।

(7) स्वीकृति अस्वीकृति, कार्य कारण का सम्बन्ध आदि—एक तर्क शास्त्री की दृष्टि से सभी सश्लेषणात्मक कथनो को दो भागो मे विभाजित किया जाता है—स्वीकृत और अस्वीकृत। एक वैज्ञानिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रक्रिया के नियमो के अनुसार कथनो को इन दोनो वर्गों मे रखा जाता है। किसी भी कथन को सत्य स्वीकार करने के लिए कुछ सकारात्मक तथा कुछ निषेधात्मक नियम होते हैं। निषेधात्मक नियम के अनुसार किसी भी नियम को ऐसी स्थिति मे स्वीकार नही किया जाता जब वह अपने समकालीन तथा पूर्व कथनो से मेल न खाता हो। अस्वीकृति का वर्गीकरण करना यहाँ खतरे से खाली नही है।

किसी विषय का वैज्ञानिक रूप से विश्लेषित करने के लिए विभिन्न कार्य करने होते हैं। यह स्पष्ट करना होता है कि सम्बन्धित विषय का अर्थ क्या है, वह सत्य या असत्य क्या है अथवा कुछ नियमों तथा माप-दण्डो के अनुकूल या विपरीत क्यों है अथवा भिन्न चीजो का अस्तित्व है उनका अस्तित्व क्यो है और उसका क्या

परिणाम है। इस प्रकार ये विभिन्न स्पष्टीकरण अध्ययन की वज्ञानिक प्रणाली के लिए परमावश्यक हैं। वस्तु स्थिति क बीच काय-कारण का सम्बध स्थापित करना इस दृष्टि से परम आवश्यक होता है। एक प्रस्तुत तथ्य का अथ स्वय तथ्य से सदव भिन्न होता है। प्रत्यक तथ्य को निश्चित अथ में प्रयुक्त माना जाता है। किसी तथ्य से जो अथ ग्रहण किया जाता है वह सही भी हो सकता है और गलत भी।

काय कारण का सम्बध स्थापित करना, दो निकटवर्ती घटनाओ के बीच पारस्परिक सम्बध स्थापित करने का एक परम्परागत नाम है। कारण काय सम्बन्ध के आधार पर तथ्यो का अध्ययन करते समय निश्चितता एव स्पष्टता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। कारणो का अध्ययन करने के बाद निश्चित रूप से कार्यो का अनुमान लगाया जा सकता है। इस आधार पर जब हम कुछ निश्चित परिस्थितियो का अवलोकन करते हैं तो उनसे सम्पन होने वाले कार्यों का अनुमान अत्यत शीघ्रता से लगा लेते हैं। बादलो को उमडते देखकर वर्षा के होने का अनुमान काय-कारण सम्बध पर आधारित ह। काय-कारण से सम्बधित ज्ञान वस्तुगत होता है।

कई विचारक मानव मस्तिष्क की रचना को कुछ इस प्रकार का मानते हैं जिसमे काय कारण के सम्बध को समझना मुश्किल है। किसी निश्चित कारण के बिना भी परिवतन होते रहते हैं। सांख्यिकीय सम्भावनाओ के आधार पर भी घटनाओ का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। काण्ट ह्यूम तथा डीवे आदि ने कारण काय के सिद्धात की वास्तविकता के सम्बध में दाशनिक सदेह प्रकट किए हैं। जब कारण-काय के सिद्धान्त को राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर लागू किया जाता है तो हम यह मानकर चलते हैं कि मानवीय व्यवहार अनेक तत्वा से प्रभावित होता है। इन तत्वों का व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करना पर्याप्त कठिन होता है। वज्ञानिक प्रणाली की दृष्टि से प्रेरक को कारण-काय का एक विशेष प्रकार माना जाता है। प्रत्येक काय किसी न किसी प्ररणा के द्वारा प्रतिफलित होता है। यह प्रेरणा उसकी चेतन तथा अचेतन दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों म निहित रह सकती है।

व्यक्ति जो काय करता है उसम स्वेच्छा का कितना महत्व है और आवश्यकता का कितना यह एक विवादपूण प्रश्न है। वज्ञानिक प्रणाली इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार नही करती। इस सम्बध मे अनेक बातें स्पष्ट होने पर भी यह बात पर्याप्त स्पष्ट है कि मानवीय इच्छा इतनी स्वतन्त्र कभी नही होती कि वह बाहरी प्रभावो से अपने आप को अछूता बना ले। प्रेरकों को कई बार इच्छानुसार पैदा भी किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन म इसका एक विशेष महत्व है। इस दृष्टि से मनोवज्ञानिक समाज शास्त्री एव राजनीति शास्त्रियो को साथ-साथ मिल कर काय करना होता है।

काय कारण सम्बधो के बारे मे एक मुख्य बात यह जाननी होती है कि यदि कारणो की व्यवस्था म अन्तर किया जाए तो क्या उसके परिणामो म अन्तर होगा,

क्या लक्ष्य अपने कारणों को बदल सकते हैं तथा क्या भविष्य अपने अनुकूल अतीत का निर्माण कर सकता है। इन विभिन्न प्रश्नो के सम्बन्ध म प्राकृतिक एव सामाजिक विज्ञानो के विशेषज्ञो ने अलग अलग मत प्रगट किए हैं। वैज्ञानिक विधि का एक काय भिन्न भिन्न तथ्यो की जाच करना एव उनका शुद्धिकरण करना होता है। ऐसा करने के लिए अतिरिक्त पयवेक्षण किये जाते है। जब इस प्रकार की जाच के लिए, किए गए पयवेक्षण द्वारा वस्तु-स्थिति असत्य सिद्ध हो जाती है तो सम्भावित निष्कष को रोक लिया जाता है अथवा बदल दिया जाता है। वैज्ञानिक प्रणाली में सावधानीपूवक की गई जाच कई कारणो से आवश्यक होती है। इससे विचारको को अपने पयवेक्षणो एव निष्कर्षों के लिए एक आधार प्राप्त होता है और इसके अतिरिक्त वे वैज्ञानिक रूप से प्राप्त ज्ञान को अन्तर्विषयी बना सकते हैं। इस प्रकार की जाँच करते समय परिकल्पनाएँ की जाती हैं और उनको तथ्यो के सहारे सही सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। कई बार यह कहा जाता है कि वैज्ञानिको द्वारा वस्तुओ की नही वरन् परिकल्पनाओ की जाच की जाती है। इसमे सत्यता होते हुए भी यह पूण सत्य नही है। यह ठीक है कि प्रत्येक जाच किसी न किसी उद्देश्य के लिए की जाती है और इन उद्देश्यो के सम्बन्ध मे परिकल्पनाएँ करना पर्याप्त वैज्ञानिक है। जब एक अध्ययनकर्त्ता अपने पयवेक्षित तथ्यो पर वैज्ञानिक रूप से दृष्टिपात करता है तो वह उसके सम्बन्ध मे अपने कुछ विचार बना लेता है। जाँच के समय भी पयवेक्षण, व्याख्या, माप, तार्किक युक्तियुक्तता एव स्पष्टीकरण आदि प्रक्रियाओ को काम म लिया जाता है।

पयवेक्षित तथ्यो की जाच की जाती है। इसके एक प्रकार मे दो ऐसी स्थितियो की तुलना की जाती है जो प्रत्येक बात म समान होती हैं और केवल एक बात मे उनम भिन्नता होती है। इस तुलना के परिणाम पर विशेष ध्यान दिया जाता है और इसे उस अन्तर का परिणाम माना जाता है। इस प्रकार के प्रयोग सामाजिक विज्ञानो में कम किए जा सकते हैं। प्रयोग करते समय बाहरी परिस्थितियो को चाहे कितना ही प्रतिबन्धित कर दिया जाए, तथापि मानवीय तत्त्व के अस्तित्व के कारण अनेक विभिन्नताएँ उपस्थित हो जाती हैं। कोई भी दो व्यक्ति कभी पूण रूप स समान नहीं हो सकते। एक दूसरे प्रकार की प्रायोगिक जाच उन तत्वो के बीच तुलना करते हुए की जाती है जिनमे विभिन्नताएँ बहुत कम होती हैं। स्थानीय स्तर पर राज्य स्तर पर एव राष्ट्रीय स्तर पर अनेक सस्थाओ एव प्रशासकीय प्रक्रिया म नए नए परिवतन करके प्रयोग किए जाते है। सरकार एव सस्थाओ का सम्पूण इतिहास जाँच की गई परिकल्पनाओ का एक विस्तृत स्रोत है। सरकार एव सस्थाओ के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेक नयी बातें सामने आती हैं। आजकल नियन्त्रित प्रयोग जस अनेक नव विकसित प्रयोगो द्वारा प्रायोगिक जाँचो का स्थान लिया गया है। राजनीति शास्त्र में आज भी तुलनात्मक सरकार एव तुलनात्मक शासन प्रयोगशाला में की गई जाँच के सवाधिक महत्वपूण विकल्प हैं। इस सम्बन्ध में कोई सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। एक जसी सस्थाओ का विभिन्न स्थानो या समयों पर अध्ययन करने से भिन्न प्रकार के परिणाम प्राप्त हो सकते है। ऐसी स्थिति म परिस्थितियों के अन्तरों को भी ध्यान में रखना पडता है वरना भविष्यवाणियाँ गलत होंगी।

8 भविष्यवाणी —अध्ययन की वज्ञानिक प्रणाली में भविष्यवाणी करने का अपना एक महत्व है। भविष्य की घटनाओ के बारे में जब तक वज्ञानिक रूप से कुछ भविष्यवाणी नही की जाती तब तक अध्ययन अधिक उपयोगी नही बन पाता। भविष्यवाणियाँ प्रत्यक जाँच के बाद की जाती है। इसका अथ यह नहीं होता कि जाच केवल वैज्ञानिक भविष्यवाणियो के लिए ही की जाती है। प्रत्येक भविष्यवाणी को कई आधारो पर चुनौती दी जाती हैं। यह हो सकता है कि जिन घटनाओ एव तथ्या पर भविष्यवाणी आधारित है व कभी घटित न हुए हों अथवा भविष्य मे घटित न हो। दूसर, कार्यों के अन्य विकल्प भी हो सकते हैं। तीसरे, परिकल्पनात्मक रूप के जो कारण-काय सम्बन्धा का नियम स्वीकार कर लिया जाता है, उस उचित नही माना जा सकता। चौथ, अतिरिक्त तत्त्व भी भविष्यवाणी की गई घटनाओ मे हस्तक्षेप कर सकने हैं और इस प्रकार उनको बदल सकते हैं।

जब यह कहा जाता है कि सामाजिक विज्ञानो म मानवीय व्यवहार एक निर्णयात्मक योगदान करता है तथा मानवीय व्यवहार मे निहित स्वत त्रता उसके सम्बन्ध मे कोई कठोर नियम नही बनाने देती तो यह प्रतीत होता है कि भावी मानवीय व्यवहार के बारे मे कुछ भी कहना व्यथ है। कुछ विचारको के मतानुसार यह निष्कर्ष भ्रमपूण है। यह सच है कि राजनीति शास्त्र म अनेक कारणा से सच्ची और निश्चित भविष्यवाणियाँ सम्भव नही होती, तथापि जब अनेक लोगो के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है तो मानवीय व्यवहार के आधार पर निश्चय के साथ भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए प्राप्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राय सामान्य व्यवस्थापक की यह इच्छा होती है कि इसको दुबारा चुना जाए। राजनीति शास्त्र मे कुछ अन्य क्षेत्र भी ऐसे हैं जिनमे लोगो के व्यवहार के सम्बन्ध मे कुछ सीमाओ तक भविष्यवाणियाँ की जाती हैं।

निष्कर्ष

राजनीति शास्त्र मे अन्य सामाजिक एव प्राकृतिक विज्ञानो की भाँति अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगो का कहना है कि केवल वज्ञानिक प्रणाली को ही वज्ञानिक नही कहा जा सकता उसके लिए जिन अन्य विधियो का प्रयोग किया जाता है वे भी प्राय उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इतने पर भी सामान्य धारणा यह है कि वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली का प्रयोग करने पर ही सही निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। वैज्ञानिक प्रणाली के अनेक समथको न यह दावा किया है कि इस प्रणाली को प्रत्येक समस्या के अध्ययन पर लागू किया जा सकता है। अध्ययन की वज्ञानिक प्रणाली का एक प्रमुख लाभ यह बताया जाता है कि इसके द्वारा ज्ञान का एक व्यक्ति स दूसर व्यक्ति तक आसानी स पहुँ[illegible] सकता है। वज्ञानिक प्रणाली मे प्राय उन प्रमाणो को स्थान नहीं जिनको दूसरो तक न पहुँचाया जा सकता हो।

4

राजनीति शास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्र

(POLITICAL SCIENCE AND OTHER SOCIAL SCIENCES)

राजनीति शास्त्र का अन्य सभी सामाजिक शास्त्रो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक जीवन जिस रूप मे बनता अथवा विकसित होता है, उसके पीछे अन्य कितने ही सम्बन्ध और प्रभाव होते हैं जिनका अध्ययन अन्य विषयो के अन्तगत होता है। अत ये सभी विषय एक दूसरे के पूरक हैं। एक विषय का ज्ञान दूसरे विषय को समझने मे सहायता करता है। सिजविक ने ठीक ही कहा है कि, 'यदि हमे किसी विषय अथवा विज्ञान का अन्वेषण करना हो तो यह बहुत ही लाभदायक होगा कि हम उस विज्ञान या विषय का अन्य विज्ञानो या विषयो से सम्बन्ध ज्ञात करें और फिर यह जानने का प्रयास करें कि उक्त विषय या विज्ञान से अन्य विषयो ने क्या लिया है और उसने स्वय अन्य विषयो को क्या दिया है।"

अत प्रस्तुत अध्याय मे हम राजनीति शास्त्र का अन्य प्रमुख समाज शास्त्रो के सम्बन्धो का अध्ययन करेंगे।

राजनीति शास्त्र और इतिहास
(Political Science and History)

इतिहास मानव समुदाय के विकास की कहानी है। इसके द्वारा हमे मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का विवरण प्राप्त होता है। गटिल के शब्दो मे—"इतिहास अतीत की घटनाओ और विकासो, उनके कारणो और पारस्परिक सम्बन्धो का लेख है। यह आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक दशाओ के साथ साथ राज्य, उनके विकास, सगठन तथा पारस्परिक सम्बन्धो का भी वणन प्रस्तुत करता है।"

राजनीति शास्त्र तथा इतिहास मे घनिष्ठ सम्बन्ध

राजनीति शास्त्र और इतिहास दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। विलोबी के अनुसार इतिहास राजनीति शास्त्र की तीसरी सीमा को दर्शाता है।" फ्रीमैन की दृष्टि मे, 'इतिहास भूतकालीन राजनीति है, और राजनीति वतमानकालीन

इतिहास।" बर्गेस (Burgess) ने चेतावनी दी है कि "राजनीति को इतिहास से अलग कर दो, तो उनमे से एक यदि शव नही तो पगु हो जायगा और दूसरा बिना पेंदी का लोटा।" लॉर्ड ब्राइस के शब्दो मे "राजनीति शास्त्र, इतिहास और राजनीति के अतीत और वतमान का मध्यस्थ है। उसने एक से अपनी सामग्री ली है और उसे उसका प्रयोग दूसरे पर करना पडता है।"

इतिहास पर राजनीति शास्त्र की निभरता

आधुनिक राज्य ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम है। उसका स्वरूप बदलता रहता है। राज्य की उत्पत्ति, विकास और उसमे होने वाले परिवतनो का ज्ञान इतिहास के माध्यम द्वारा ही सम्भव है। राजनीति और इतिहास दोनो समकक्ष विषय हैं। वे दोनो ही मानव से सम्बन्धित हैं। किसी भी समाज की राजनीति के समुचित अध्ययन के लिए उसके भूतकाल का ज्ञान अनिवाय है।

इतिहास मे भूतकालीन घटनाओ का वणन होता है। ये घटनाएँ आर्थिक, सांस्कृतिक धार्मिक और सामाजिक हो सकती हैं। राजनीति शास्त्र को राजनैतिक सस्थाओं के लिए इतिहास की शरण लेनी पडती है। इतिहास राजनीति शास्त्र के अध्ययन की सामग्री प्रदान करता है। काफी हद तक इतिहास राजनीति का आधार है। लॉर्ड एक्टन ने अपनी पुस्तक 'दी स्टेडी ऑफ हिस्ट्री' (The Study of History) में लिखा है—"राजनीति, इतिहास की धारा मे उसी भाति सचित है जिस प्रकार नदी की रेत म सोने के कण।"

इतिहास हमारा मागदशन ही नहीं करता बल्कि सावधान भी करता है। इतिहास एक प्रयोगशाला है और मनुष्य प्रयोग कर्ता है। वास्तव में मनुष्य के सफल और विफल प्रयोगो का सग्रह ही इतिहास है और ऐतिहासिक प्रयोगों की सफलता या विफलता से राजनीति प्रभावित होती रहती है। राजनीतिज्ञ इन प्रयोगा से लाभ उठाकर सतक हो जाते हैं, अपना मागदशन करते हैं और अपनी त्रुटियो को सुधार लेते हैं। राजनीतिज्ञ इतिहास द्वारा ही यह शिक्षा प्राप्त करते हैं कि दूध के जले को छाछ भी फूँक फूँककर पीनी चाहिए। उदाहरणाथ भारतीय इतिहास में अकबर की सफलता और औरगजेब की विफलता के प्रयाग राजनीतिज्ञो के भविष्य के सकेत-चिह्न हैं। भारतीय इतिहास आज के राजनीतिज्ञो को यह शिक्षा देता है कि राज्य की उन्नति के लिए उन्हे धार्मिक नही, लौकिक होना चाहिए। सक्षेप मे, इतिहास में सग्रहीत प्रयोगो के ज्ञान से वतमान राजनीतिक समस्याओ को सुलझाने में बहुत सहायता मिल सकती है।

इतिहास राजनीति शास्त्रियो के विचार-क्षितिज को विस्तृत बनाता है। "यह भावना की श्रृखला को व्यापक और सशक्त बनाता है तथा भावनाओ के प्रति एक प्रकार का विशिष्ट भाव, जिसे ऐतिहासिक उत्पन्न करता है।" इतिहास भूत, वतमान और भविष्य तीनो के स्थापित करता है।

राजनीति पर इतिहास की निर्भरता—परन्तु इतिहास भी राजनीति पर आधारित है। राजनीति की सहायता से इतिहास कुछ सिद्धान्तों का निरूपण करता है। राजनीतिक समस्याएँ, राजनीतिक विचारधाराएँ और राजनीतिक आन्दोलन इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री तैयार करते हैं। राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ हुआ है वह इतिहास का विषय बन जाता है। यदि विगत घटनाओं, आन्दोलनों और विचारधाराओं का सही मूल्यांकन नहीं किया जाता तो इतिहास का ज्ञान सारहीन हो जाता है। उदाहरणार्थ 19वीं सदी के यूरोप के इतिहास का कोई भी विवरण अपूर्ण ही रहेगा जब तक कि व्यक्तिवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद आदि राजनीतिक विचारों के ज्ञान से उसकी पूर्ति नहीं हो जाती। इसी तरह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास के प्रसंग में शासन सुधार सम्बन्धी अधिनियमों साइमन कमीशन, गोलमेज सम्मेलनों, क्रिप्स प्रस्तावों, साम्प्रदायिक निर्णयों, केबीनट मिशन घोषणा आदि की चर्चा आवश्यक है। सारांश यह है कि राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण और विवरण के बिना इतिहास की सामग्री का वास्तविक मूल्य नहीं रहेगा। राजनीतिक घटनाएँ इतिहास का निर्माण करने वाली आधारशिलाएँ होती हैं। सन 1917 की रूसी क्रान्ति ने रूस के इतिहास पर जो प्रभाव डाला वह सर्वविदित है। जार-युग की तानाशाही के विनष्ट होने पर रूस में श्रमिक वर्गीय सरकार और साम्यवाद का युग प्रारम्भ हुआ जिसने रूस के वर्तमान नए इतिहास का निर्माण किया। आज के रूस के इतिहास को जानने के लिए इस राजनीतिक आन्दोलन का अध्ययन अनिवार्य है।

स्पष्ट है कि इतिहास और राजनीति एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है।

इतिहास और राजनीति में भेद

इतिहास और राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध के बावजूद निम्नांकित आधारभूत भेद हैं।

(1) इतिहास एक वर्णनात्मक विषय है। उसमें घटनाओं का वर्णन होता है। राजनीति घटनाओं से आगे बढ़कर उनकी व्याख्या करती है। राजनीति मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है। राजनीति में नैतिक और दार्शनिक आदर्श होते हैं और उनके आधार पर हम विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और घटनाओं का मूल्य निर्धारित करते हैं।

(2) इतिहास का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। उसकी तुलना में राजनीति शास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त संकुचित है। इतिहास का सम्बन्ध धर्म, संस्कृति सभ्यता, प्रथाएँ, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ, वेश भूषा और लोगों के खान पान सभी से होता है। इतिहास रक्षा सम्बन्धी समस्याओं, सैनिक समस्याओं, वैज्ञानिक विकासों आदि का भी वर्णन करता है। ये सब बातें राजनीति के क्षेत्र में नहीं आती। राजनीति शास्त्र तो राज्य और उससे सम्बन्धित संस्थाओं की उत्पत्ति

का विकास आदि से सम्बन्धित तत्वो का अध्ययन करता है अत इतिहास का क्षेत्र सर्वव्यापी और विशाल है जबकि राजनीति का क्षेत्र सीमित और निश्चित है।

(3) घटनाओ का वर्णन प्रस्तुत करने के बाद इतिहास का काम खत्म हो जाता है किन्तु राजनीति इन घटनाओ से कई परिणाम निकाल कर उन्हें विस्तृत रूप प्रदान करती है। इतिहास के इन वर्णनो से राज्य की नीव को मजबूत बनाने मे सहायता मिलती है।

(4) इतिहास और राजनीति के उद्देश्य भी भिन्न हैं। राजनीति का सम्बन्ध ऐसे राज्य से भी है जैसा कि उसे होना चाहिए। इतिहास का सम्बन्ध उस राज्य से है जैसा कि वह रहा है। इतिहास मे दार्शनिकता का स्थान नही होता जबकि राजनीति का बहुत बडा अंश दार्शनिकता लिए हुए होता है।

(5) ऐतिहासिक घटनाओ पर एक न एक अध्ययन की शाखा का एकाधिपत्य रहता है। इतिहास की विषयवस्तु भविष्य मे दूसरे विषयो द्वारा पूरी तरह निगली भी जा सकती है, किन्तु राजनीति को ऐसा कोई डर नही है। उसका क्षेत्र तो भविष्य म विस्तृत होगा जिसमे अन्य विषय हस्तक्षेप नही कर सकेंगे।

इस प्रकार इतिहास और राजनीति मे केवल विषयवस्तु का ही अन्तर नहीं, विवेचन पद्धति, विस्तार और उद्देश्यों का भी भेद है। अत हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राजनीति और इतिहास दोनो का कल्याण पारस्परिक आदान प्रदान में ही है। इन दोनो का आपसी सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इनके वृत्त क्षेत्र कहीं एक दूसरे को छूते हैं तो कही एक दूसरे का अतिक्रमण भी करते हैं।

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र
(Political Science and Sociology)

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र मे पर्याप्त घनिष्ठता है क्योकि समाज शास्त्र ही सामाजिक विज्ञानो का मूल है। राजनीति शास्त्र उसका विशेष अंग है क्योकि वह सामाजिक जीवन के राजनैतिक पहलू से सम्बन्धित है। राज्य समाज का ही रूप है और राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र की अनेक सन्तानो मे से एक है।

राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र मे घनिष्ठता

दोनो शास्त्रो का सम्बन्ध बुनियादी है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। समाज शास्त्र राजनीति शास्त्र मे राज्य की मूलभूत बातो और उसकी सामाजिक आधार-शिला का ज्ञान प्रदान करता है। समाज शास्त्र ही हमें राजनीतिक सत्ता, सम्प्रभुता और राजनीतिक संस्कृति का मूल स्रोत बतलाता है। समाजशास्त्र का अध्ययन राजनीति को समझने मे अत्यधिक सहायक है। मनुष्य की जो आधारभूत सामाजिकता है, वही राज्य के प्रादुर्भाव का कारण है। समाज शास्त्र के [illegible] रूपो पर विचार करने और उन्हे एक सूत्र मे संगठित करने वाले तत्वों का [illegible] करने से उन तत्त्वों का स्वत प्रतिपादन हो जाता है जिनके कारण मनुष्य [illegible] रूपी समुदाय में संगठित होता है।

समाज शास्त्र सामाजिक जीवन के विकास के सम्बन्ध में उसके घटक तत्वों और प्रतिपादक तत्त्वो के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का प्रतिपादन करता है, राजनीति शास्त्र उन्हे स्वीकार करता है। यदि राजनीति शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, उसके सगठन, उसके अतीत और वतमान रूप तथा भविष्य के विकास की दिशा आदि पर विचार करता है तो समाज शास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य की आधारभूत सामाजिकता कौनसी है जिससे वह राज्य के रूप में सगठित होने के लिए प्रवृत्त होता है।

यह एक प्रकट तथ्य है कि जो विगत 30-40 वर्षों मे राजनीतिक सिद्धान्तो मे जो बहुत से परिवतन हुए हैं व अधिकतर समाज शास्त्र द्वारा निर्धारित और प्रभावित आधारो पर ही हुए हैं। कोई राज्य कसे व कौन से नियम अथवा कानून बनाए या किन रीति रिवाजो और प्रथाओ को कानून के रूप मे स्वीकार करे—इस बात का निर्धारण एक जन समूह में विद्यमान सामाजिक मूल्यो के आधार पर किया जाता है। कानून बनाते समय और अपनी नीति निर्धारित करते समय सरकार को सदैव यह ध्यान रखना पडता है कि जनता के विचार क्या हैं, उसके विश्वास क्या हैं, उसकी प्रथाएँ और परम्पराएँ क्या हैं? इन बातो के लिए उसे समाज शास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश करने की आवश्यकता होती है। समाज शास्त्रीय तथ्यो का ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई भी राज्य सफल कानूनो का निर्धारण नही कर सकता और जनता की उन्नति के लिए कोई सफल योजना नही बना सकता।

दूसरी ओर राजनीति शास्त्र भी समाज शास्त्र की सहायता करता है। समाज शास्त्र अपने अध्ययन की पर्याप्त सामग्री राजनीति शास्त्र से ग्रहण करता है। उदाहरणाथ, यह समाज शास्त्र को राज्य के सगठन और कृत्यो के बारे मे बताता है। यह उसे राजनीतिक सत्ता और नियमो के स्रोत का ज्ञान प्राप्त कराता है जो समाज का नियन्त्रण करते हैं। जिस समानता, भ्रातृत्व और सहयोग की भावना पर सामाजिक जीवन आधारित है, उसका सपोषण राजनीतिक विज्ञान के नियमो द्वारा ही होता है। मानव-जीवन के राजनीतिक पहलू और राजनीतिक सगठनो के अध्ययन के बिना समाज शास्त्र अधूरा है।

समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र की इस घनिष्ठता को देखत हुए कटलिन ने दोनो शास्त्रो को एक चित्र के दो पहलू कहा है। गानर का यह मत ठीक है कि एक राजनीतिक वज्ञानिक को समाज शास्त्री होना चाहिए और एक समाज शास्त्री को राजनीतिक वज्ञानिक।

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र मे अन्तर

घनिष्ठता होने के बावजूद दोनो शास्त्र एक नहीं हैं। इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित आधारो पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

1 समाज शास्त्र समाज के सभी स्वरूपों और पक्षो का अध्ययन है जबकि राजनीति शास्त्र केवल राज्य, शासन और सरकार का अध्ययन है। राज्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था म राजनीतिक सस्था की अपेक्षा सामाजिक सस्था अधिक था

लेकिन आज के युग मे इन दोनो का अन्तर स्पष्ट है । ग्रेनेनवग के अनुसार, "जबकि समाज शास्त्र मे विभिन्न वर्गों और समूहो का विवेचन होता है राजनीति शास्त्र मे एक विशेष सघ अर्थात् राष्ट्र का ही विवेचन होता है ।"

2 समाज शास्त्र सगठित समुदायो के अतिरिक्त असगठित समुदायो का भी अध्ययन करता है किन्तु राजनीति शास्त्र केवल सगठित समाज का ही अध्ययन करता है जिस पर राजनीतिक प्रभाव पड चुके हो । इससे स्पष्ट है कि राजनीतिक चिन्तन का जन्म अवश्य ही समाज शास्त्र के बाद हुआ होगा ।

3 समाज शास्त्र मे मनुष्य के द्वारा जान बूझ कर किए गए अर्थात् चेतन कार्यों का ही अध्ययन किया जाता है, जबकि राजनीति शास्त्र मे इनके साथ-साथ अनजान मे किए गए कार्यों का भी अथात् चेतन और अचेतन दोनो कार्यों का विवेचन होता है ।

4 समाज शास्त्र में नागरिको के वधानिक, नतिक आदि सम्बन्धो के साथ साथ परम्पराओं, आचारो, धम आदि का भी अध्ययन किया जाता है, राजनीति शास्त्र म एसा नही होता । उसमे मनुष्यो के केवल वधानिक सम्बन्धो का ही अध्ययन किया जाता है ।

5 राजनीति शास्त्र के अध्ययन का प्रारम्भ मनुष्यो के राजनीतिक कार्यों के आधार पर होता है जबकि समाज शास्त्र के अन्तगत इससे पहले की स्थिति का भी अध्ययन किया जाता है ।

6 समाज शास्त्र मे केवल इस बात का अध्ययन होता है कि क्या हो चुका है और क्या होने जा रहा है ? उसमे यह विचार नही किया जाता कि क्या होना चाहिए ? राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे इस विशिष्ट पहलू का भी अध्ययन होता है अर्थात् राजनीतिक तथा प्रशासकीय पक्ष पर हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि क्या किया जाना चाहिए ।

राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र (Political Science and Ethics)

नीतिशास्त्र एक नतिक विज्ञान है जो हमारी सामाजिक आत्मा के स्तर को निर्धारित करता है । यह शास्त्र मानवीय आचरण के अच्छे-बुरे, उचित अनुचित आदि माप दण्डो की व्यवस्था करता है । वास्तव मे यह मानव-आचरण मे निहित आदर्शों का अध्ययन है । राजनीति शास्त्र का भी नागरिको और उनके आचरण से सम्बन्ध है, अत दोनो ही विज्ञान एक दूसरे के अति निकट हैं ।

राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र की घनिष्ठता

दोनो शास्त्रो मे सम्बन्ध अति प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं । प्राचीन भारत और यूनान के दाशनिको ने इनमे कभी कोई स्पष्ट भेद नही माना था । यूनानी विद्वानो की दृष्टि म नीतिशास्त्र का कत्तव्य सदाचारी जीवन के लिए आदर्शों का निर्माण करना था तथा राजनीति शास्त्र का काय उन आदश नतिक नियमो को लागू करना एव नागरिको के आचरण और चरित्र को ऊँचा उठाना

था। प्लेटो ने राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक समझते हुए ही कहा था कि, "राज्य को चाहिए कि वह मनुष्यो को सदाचार की शिक्षा दे।" अरस्तू का कथन था, "मानव के उच्च सदाचार पर राजनीतिक प्रश्नो का बडा प्रभाव पडता है।" आधुनिक विचारक रूसो ने भी राज्य को नैतिक सस्था के रूप मे स्वीकार किया और उसका उद्देश्य भी नैतिक बतलाया। रूसो के अनुसरण मे काण्ट हीगल, ग्रीन आदि आदशवादी विचारको ने राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक दूसरे के इतने निकट ला दिया कि वे पर्यायवाची लगने लगे। आधुनिक राजनीतिक विचारधारा भी दोनो शास्त्रो को एक दूसरे की पूरक समझती हैं। आइवर ब्राउन, जाज केटलिन आदि ने दोनो की निकटता को स्वीकार किया और महात्मा गाधी ने तो दोनो के निकट सम्पक रखन पर इतना बल दिया, कहने की आवश्यकता नही है।

राजनीति शास्त्र वस्तुत अनेक दृष्टियो से नीतिशास्त्र का ऋणी है। आदश राज्य की कल्पना नतिक मा यताओ के आधार पर ही सम्भव है। राजनीति शास्त्र को नीतिशास्त्र से सवथा पृथक कर देने पर वह निस्सार और ग दा हो जायगा जिसमे गतिशीलता तथा आदश एकता के दशन नही हो सकेंगे। मानव के कार्यों के ो रूप हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। चाहे व्यक्तिगत बातो का राजनीति शास्त्र से विशेष सम्ब ध न हो, लेकिन सामाजिक काय राजनीति शास्त्र के अधिकार क्षेत्र से परे नही है। यदि मद्यपान का समाज पर कुप्रभाव पडता है तो यह काय राजनीति शास्त्र की चि ता का विषय है। आशय यह है कि राजनीति शास्त्र मे व्यक्तिगत नतिकता को सामाजिक स्तर पर लागू किया जाता है। आइवर ब्राउन के शब्दो मे—"नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र में केवल मात्रा का अन्तर है गुण का नही। नीतिशास्त्र का ही विस्तृत रूप राजनीति शास्त्र है।" वस्तुत नीतिशास्त्र राजनीति शास्त्र के लिए एक आदश मापदण्ड और शिक्षक की भूमिका अदा करता है। इसीलिए फवाय (Foy) ने लिखा है कि, "जो वस्तु नतिक दृष्टिकोण से गलत है वह राजनीतिक दृष्टिकोण से भी सही नही हो सकती।" हम इस बात से कदापि इनकार नही कर सकते कि राजनीति शास्त्र की विभिन्न शाखाएँ नीतिशास्त्र की आधार भूमि पर स्थित हैं। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय विधियो का सम्पूण शास्त्र ही अन्तर्राष्ट्रीय नतिकता पर आधारित है। संविधानो मे नतिक आदर्शों को स्थान दिया जाता है। भारतीय सविधान में 'राज्य के नीति निर्देशक तत्व' यदि नैतिक आदर्शों की स्थापना नहीं हैं तो क्या हैं? इतना ही नहीं, अनेक राजनीतिक सिद्धा त अथवा विचारधाराएँ नतिकता से ओत प्रोत हैं। गाधीवाद पर तो नीतिशास्त्र की अमिट छाप है।

दूसरी ओर नीतिशास्त्र भी राजनीति शास्त्र का ऋणी है। प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन आदि राजनीतिक दार्शनिको को ही श्रेय है कि उन्होंने नतिक आदर्शों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। वास्तव में नैतिक आदर्शों का राजकीय कानूनों के माध्यम से ही क्रियात्मक रूप दिया जाता है। आइवर ब्राउन के शब्दों में, "नीति

शास्त्र का सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त के बिना अपूर्ण है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और यह पूर्णतः अकेला नहीं रह सकता।"

वर्तमान युग में मकियावली वह प्रमुख दार्शनिक था जिसने नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र को पृथक् घोषित करते हुए कहा कि नैतिक अवयवों का राज्य के कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसकी विचारधारा ने पश्चिम में एक नीति निरपेक्ष राजनीति को जन्म दिया, तथापि मेकियावली भी नीतिशास्त्र को राजनीति शास्त्र के अस्त्र के रूप में स्वीकार करने से बचा नहीं रह सका। उसने कहा कि धर्म और सदाचार राज्य के स्वामी या पथ-प्रदर्शक नहीं हैं, अपितु राज्य के उपयोगी सेवक और घटक हैं।

अधिकांश वर्तमान लेखकों ने राजनीति और नीति शास्त्र के निकट सम्बन्ध की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ, लॉर्ड एक्टन के मतानुसार, "सरकारें क्या व्यवस्था करती हैं यह खोजना प्रमुख प्रश्न नहीं है बल्कि उन्हें क्या करना चाहिए बस यही प्रश्न प्रमुख है।" बेनेडिटो क्रोचे (Penedetto Croce) के अनुसार भी नैतिकता अपनी पूर्ण और उच्चतम स्पष्टता राजनीति में ही पाती है।

राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र में अन्तर

दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी विभाजन रेखा स्पष्ट खींची जा सकती है। दोनों विज्ञानों में प्रमुख अन्तर ये हैं—

(1) नीतिशास्त्र आचरण से सम्बन्धित है, जो अच्छाई बुराई के आदर्शों का अध्ययन करता है। वह एक व्यावहारिक और वर्णनात्मक विज्ञान है जबकि राजनीति शास्त्र सैद्धान्तिक और आदर्शात्मक।

(2) नीतिशास्त्र 'क्या होना चाहिए' का अध्ययन करता है जबकि राजनीति शास्त्र 'क्या है' पर अधिक बल देता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यों से है जबकि राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध तथ्यों से अधिक है।

(3) राजनीति शास्त्र का क्षेत्र सीमित है, नीतिशास्त्र का क्षेत्र विशाल और विस्तृत है। राजनीति शास्त्र राजनीतिक कार्यों का अध्ययन करता है जबकि नीति शास्त्र मानव के सम्पूर्ण आचरण का, चाहे वह राजनीतिक हो अथवा सामाजिक।

(4) राजनीति शास्त्र उपयोगिता पर बल देता है और उसका मापदण्ड परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। नीतिशास्त्र चिन्तन, सत्य और निश्चित मापदण्ड में विश्वास करता है।

(5) राजनीति शास्त्र अधिकांशतः प्रत्यक्ष बातों और मनुष्य के बाह्य पक्ष से सम्बन्धित है, जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध परोक्ष बातों तथा मनुष्य के आन्तरिक पक्ष से है।

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र
(Political Science and Economics)

अर्थशास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों की भांति एक स्वतन्त्र

मानव के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। राजनीतिशास्त्र का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि मनुष्य के राजनीतिक तथा आर्थिक क्रिया-कलाप परस्पर गु थे हुए हैं। दोनो ही समकक्ष विषय हैं जो एक दूसरे को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित करत हैं। प्राचीन विद्वान तो राजनीति को राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) कहा करते थे। भारतीय दार्शनिक कौटिल्य ने राजनीति की जो पुस्तक लिखी ह वह 'अर्थशास्त्र' के नाम से ही विख्यात है।

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र मे घनिष्ठता

दोनो ही शास्त्र स्वतन्त्र विज्ञान होने पर भी अन्योन्याश्रित और एक दूसरे के पूरक हैं। आधुनिक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख आधार ही आर्थिक है। दोनो ही शास्त्रो के अध्ययन की सामान्य इकाई मनुष्य है और उसके हितो का साधन दोनो का उद्देश्य है।

दोनो ही शास्त्र मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण तयार करते हैं। अर्थशास्त्र आर्थिक वातावरण की सृष्टि करता है तो राजनीतिशास्त्र राजनीतिक वातावरण की। राजनीतिशास्त्र राजनीतिक सगठन का अध्ययन करता है तो अर्थ शास्त्र इस सगठन की आर्थिक नीव का। राजनीतिशास्त्र यदि राजनीतिक और सामाजिक हित का चिन्तन करता है तो अर्थशास्त्र उसके आर्थिक हित का। इस तरह दोनो ही शास्त्रो का अतिम ध्येय मानव हित है।

अर्थशास्त्र पर राजनीति शास्त्र की निर्भरता

अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र एक दूसरे के ऋणी हैं। आर्थिक सस्थाएँ राजनीतिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं। काल माक्स के मतानुसार तो सम्पूर्ण राजनीतिक ढाचा आर्थिक परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब मात्र है। यद्यपि यह मत अतिशयोक्तिपूर्ण है, लेकिन इतना अवश्य मानना होगा कि नागरिकों के राजनीतिक जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली आर्थिक परिस्थितियाँ होती हैं। राजनीतिक असन्तोष का सबसे बडा और मूल कारण आर्थिक असन्तोष होता है। आज विश्व के गरीब और पिछडे देशो मे साम्यवाद के तेजी से प्रसार का प्रधान कारण उन देशो मे व्याप्त आर्थिक असन्तोष ही है।

राज्य के स्वरूप, सगठन सविधान आदि पर आर्थिक शक्तियो का स्पष्ट प्रभाव पडता है। आज जितने भी राजनीतिक वाद प्रचलित हैं, उनमें आर्थिक विचारो की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। व्यक्तिवाद समाजवाद, पूँजीवाद आदि सब विचारधाराएँ आर्थिक विचारों से प्रभावित हैं। एक देश की आर्थिक दशा ही वहाँ की सरकार अथवा वहाँ के शासन तन्त्र की रूपरेखा और उसके क्षेत्र को निश्चित करती है। राज्य के कार्य आर्थिक व्यवस्था से व्यापक रूप में प्रभावित होते हैं। आज तक राज्य के कार्य सम्बन्धी जितने सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उनके पीछे आर्थिक व्यवस्था ही क्रियाशील रही है। कानूनों और विधानो पर आर्थिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पडता है। अधिकांश कानून आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए

बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नागरिक अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रता का वास्तविक मूल्य आर्थिक दशाओं के सदर्भ में ही हो सकता है। किसी भी शासन का स्थायित्व देश के नागरिकों की आर्थिक सन्तुष्टि पर निर्भर करता है, अन्यथा क्रांतियों या अन्य उपायों द्वारा शासन का तख्ता पलट दिया जाता है। फ्रांस की राज्य क्रांति और रूस की साम्यवादी क्रांति के मूल में कष्टप्रद आर्थिक परिस्थितियाँ ही थी। जर्मनी में नाजीवाद के उदय के कारण भी बहुत कुछ आर्थिक थे। इस तरह समाजवाद के विकास का मूल उद्देश्य हमेशा आर्थिक रहा है। जर्मनी के लौह पुरुष बिस्मार्क ने घोषणा की थी—"हमें नये राज्यों की नहीं वरन् व्यापार केन्द्रों की आवश्यकता है।" इस तरह प्रकट है कि आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीति को सदा से प्रभावित करती रही है।

राजनीति शास्त्र पर अर्थशास्त्र की निर्भरता

अर्थशास्त्र भी राजनीति शास्त्र का ऋणी है। आज बहुसंख्यक आर्थिक कार्यवाहियाँ राजकीय नियमों द्वारा नियन्त्रित होती हैं। धन के उत्पादन और वितरण का निर्णय सरकार की नीतियों पर निर्भर करता है। अधिकांश राजकीय समस्याएँ राजकीय हस्तक्षेप द्वारा ही सुलझायी जाती हैं। प्रो निकल्सन के शब्दों में "सरकार को अब आर्थिक व्यवस्था के अनुसार कार्य करना पड़ता है।"

समाज के आर्थिक ढाँचे को नियमित करना राज्य का प्रमुख कार्य हो गया है। साम्यवादी रूस और चीन में तो आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का एकाधिकार है। लोक कल्याणकारी प्रजातान्त्रिक राज्यों में भी नागरिकों की आर्थिक उन्नति पर ही राज्य द्वारा अधिकाधिक ध्यान दिया जाता है। भारत सरकार पचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश का आर्थिक चित्र बदल रही है। आज राज्य पर ही इस बात का मुख्य उत्तरदायित्व है कि नागरिकों को पूर्ण भोजन, स्वास्थ्यकर निवास-स्थान और अन्य भौतिक सुख सुविधाएँ उपलब्ध हो।

देश की आर्थिक दशा को नियमित करने के लिए राज्य कर व्यवस्था, मुद्रा, आयात निर्यात, श्रम, व्यापार आदि पर नियन्त्रण रखता है। पूँजी का उत्पादन और वितरण शासन के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ साम्यवादी और समाजवादी राज्यों में आर्थिक व्यवस्था पूँजीवादी राज्यों से सर्वथा भिन्न होती है। उत्पादन की विधियों और परिस्थितियों पर तथा सकटकालीन अवस्थाओं में राशन और मूल्य नियन्त्रण आदि पर शासन का अधिकार रहता है। राज्य ही निश्चय करता है कि वह देश को स्वतन्त्र या रक्षित व्यापार की नीति पर चलाये। राजकीय मुद्रा निर्माण और बैंकों के नियन्त्रण पर तो प्राय राज्य का एकाधिकार ही होता है। तानाशाही, समाजवाद साम्यवाद और जनतन्त्रवाद आदि शासन के वर्तमान सिद्धान्त तथा रूप आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही हैं। आर्थिक सिद्धान्त राजनीतिक जीवन को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जैसे राज्य सिद्धान्त आर्थिक जीवन को।

स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों विभिन्न दृष्टियों से एक दूसरे के ऋणी हैं। दोनों ही शास्त्र एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं।

राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र मे अन्तर

इतने निकट सम्बन्धो के बावजूद दोनो शास्त्रो में निम्नलिखित मौलिक अ तर हैं –

(1) अथशास्त्र मनुष्य के आर्थिक जीवन से सम्ब धित है जबकि राजनीति शास्त्र राजनीतिक जीवन से । राजनीति शास्त्र का मुख्य सम्ब ध मनुष्य के राजनीतिक विषयो, त्रिया कलाओ और राजनीतिक प्रश्नो से है जबकि अथशास्त्र का सम्ब ध उन वस्तुओ से है जिनका उत्पादन, उपभोग या श्रय विक्रय मनुष्य करता है ।

(2) अर्थशास्त्र मनुष्य के भौतिक जीवन से सम्बन्धित है । यह उत्पादन वितरण आदि आर्थिक क्रिया-कलापो का अध्ययन करता है । यह केवल वस्तुओ की कीमत पर ध्यान देता है । इसके विपरीत राजनीति शास्त्र न केवल वास्तविक राजनीतिक क्रिया-कलापो को बल्कि मानवीय मूल्यो को भी ध्यान मे रखता है । वास्तव मे राजनीति शास्त्र कीमत पर नही बल्कि मानवीय मूल्यो पर अत्यधिक जोर देता है ।

(3) अथशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है । यह नतिकता तथा आदश पर ध्यान नही देता । राजनीति शास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान है जिसका दृष्टिकोण नतिक भी है । अर्थशास्त्र मे व्यक्ति लक्ष्य नही है । व्यक्ति का महत्व केवल उसके द्वारा निर्मित, बेची गई अथवा प्रयोग मे लाई गई वस्तुओ तक सीमित है । किन्तु राजनीति शास्त्र व्यक्ति को केन्द्र अथवा साध्य मानता है । आईवर ब्राउन के शब्दो मे "राजनीति शास्त्र का सम्ब ध समाज के व्यक्तियो से है जबकि अथशास्त्र का मुख्यतया वस्तुओ से । यद्यपि अथशास्त्र भी आजकल व्यक्तियो से सम्बन्ध स्थापित कर रहा है परन्तु यह सम्बन्ध एक साध्य के रूप मे न होकर केवल साधन के रूप मे ही है । इसके विपरीत राजनीति शास्त्र व्यक्ति को अपना केन्द्र और साध्य मानता ह ।"

राजनीति शास्त्र व मनोविज्ञान
(Political Science and Psychology)

बीसवी शताब्दी मे राजनीति मनोविज्ञान के बहुत समीप आ चुकी है । मनोविज्ञान मनुष्य के मन की चेतन व अचेतन क्रियाओं और प्रक्रियाओ का एक वज्ञानिक अध्ययन है । "उसे व्यक्ति के अनुभव का विज्ञान भी कहा जाता है ।" राज्य एक मानव संस्था है अत स्वाभाविक है कि उस पर मनुष्य की मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं का प्रभाव पडे । राजनीति शास्त्र मानव की राजनीतिक क्रियाओ का अध्ययन करता है, अत उसके लिए मनोविज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है । बाकर के अनुसार, 'राज्य मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है इसलिए उसकी व्याख्या भी मानसिक शब्दो में ही होनी चाहिए ।

राजनीति और मनोविज्ञान मे घनिष्ठता

आधुनिक युग मे राजनीति और मनोविज्ञान के सम्बन्ध पर अधिक बल दिया गया है। टार्ड (Tarde), लि बॉं (Le Bon), मकूडूगल (Mac-Dougall), वलास (Wallas), बाल्डविन (Baldwin) आदि ने लगभग सभी राजनीतिक समस्याओ के मनोवैज्ञानिक हल प्रस्तुत किये हैं। व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में तो मनोविज्ञान का महत्त्व और अधिक है। एक सफल राजनीतिज्ञ वह है जो राजनीतिक शक्ति के प्रयोग से पहले जनता की मानसिक और मनोवैज्ञानिक दशा ओ का अनुमान लगाता है। एक निपुण राजनीतिक नेता के लिए आवश्यक है कि वह सफल मनोवैज्ञानिक हो जनता की मानसिक धारणा को समझ कर चलनेवाला नेता ही राजनीति मे अधिक समय तक चल सकता है। राजनीतिक शासन प्रणालियाँ तभी सफल एव स्थायी हो सकती हैं जबकि वे जनता की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो पर आधारित हो।

हाल ही मे मनोविज्ञान ने जो प्रगति की है, उसके कारण राजनीति के अध्ययन मे मनोविज्ञान का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। बार्कर ने ठीक कहा है कि "मनुष्य के कार्यों की पहली सुलझाने मे मनोविज्ञान का प्रयोग आजकल एक फशन हो गया है। हमारे पूर्वज जहाँ जीव विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे, वहाँ हम आजकल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं।" लॉर्ड ब्राइस के शब्दों मे "राजनीति शास्त्र की जडे मनोविज्ञान म है।" बेजहॉट (Bagehot) ने अपने ग्रन्थ 'फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स' (Physics and Politics) मे ब्रिटेन की सविधानिक व्यवस्था की सफलता की व्याख्या बहुत सीमा तक मनोवैज्ञानिक आधारो एव देश विशेष के नागरिकों की सामान्य बुद्धि के आधार पर की है, डॉ० गार्नर के मतानुसार, "सरकार के स्थायित्व एव उसकी लोकप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसम उन लोगों के मस्तिष्क के विचार और नैतिक भावनाएँ परिलक्षित हो जो उसकी सत्ता के अधीन हैं।" वास्तव मे राजनीति की सारी समस्याओ को मनोविज्ञान के आधार पर समाधान करना लाभदायक ही नही वरन् सफल सिद्ध होगा। किसी भी शासन की लोकप्रियता या कानून की दृढ़ता जनता की नैतिक मान्यताओ और मानसिक धारणाओ पर निर्भर है।

दूसरी ओर मनोविज्ञान भी राजनीति शास्त्र का ऋणी है क्योंकि उसे राजनीति शास्त्र से सामग्री प्राप्त होती है। जो राजनीतिक तथ्य मनोविज्ञान को उपलब्ध होते हैं, उनका वह मानसिक अवस्थाओ के सदर्भ मे विश्लेषण करता है। राजनीतिशास्त्रीय ज्ञान के अभाव में मनोविज्ञान का अध्ययन अपूर्ण है।

राजनीति व मनोविज्ञान मे भिन्नता

मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र की प्रमुख भिन्नतायें इस प्रकार हैं—

(1) राजनीति शास्त्र की तुलना में मनोविज्ञान का सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से कम है। यह व्यवहार और उसके आधार पर अधिक बल देता है। राजनीति म दर्शन का तत्त्व अधिक है। वह मूल्यो और आदर्शों की स्थापना है जबकि मनोविज्ञान का अध्ययन अधिकतर तथ्यपूर्ण होता है। यही कारण

राजनीति शास्त्र कभी-कभी दर्शन की ओर अधिक झुकता सा प्रतीत होता है तथा मनोविज्ञान की ओर कम।

(2) राजनीति का अध्ययन विषय मूलतः राज्य है, जबकि मनोविज्ञान मानव-जीवन की मूल प्रवृत्तियों एवं उनकी चेतन व अद्ध चेतन अवस्थाओं और प्रतिक्रियाओं पर बल देता है तथा उनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

(3) कैटलिन (Catlin) के अनुसार मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन है जबकि राजनीति शास्त्र सम्मिलित कार्यों का अध्ययन माना जाना चाहिए।

राजनीति शास्त्र एवं भूगोल
(Political Science & Geography)

राजनीति शास्त्र और भूगोल में भी पर्याप्त घनिष्ठता है। भौगोलिक तत्वों का राजनीति पर सदैव से प्रभाव पड़ा है। देश के आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर पर्वत तथा नदियों मैदान तथा रेगिस्तान, समुद्र और खनिज पदार्थ इत्यादि की उपस्थिति या अनुपस्थिति का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। ब्रिटेन अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही बहुत समय तक समुद्र की लहरों पर शासन करता रहा है। दुनिया की प्रगति की दौड़ में अफगानिस्तान और नेपाल भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही पीछे रह गये हैं।

राजनीति शास्त्र व भूगोल मे घनिष्ठता

भौगोलिक अवस्थाएँ राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। अरस्तू का मत था कि भूगोल के बिना राजनीति शास्त्र के ज्ञान में वृद्धि नहीं हो सकती। रूसो ने लिखा था कि "स्वतन्त्रता सभी जलवायुओं का फल नहीं है इसलिए सभी जातियाँ इसका रसास्वादन नहीं कर सकती। स्वेच्छाचार (Despotism) गरम जलवायु के अनुकूल रहता है, बबरता ठण्डे देशों और श्रेष्ठ शासन व्यवस्था समशीतोष्ण प्रदेशों में ही पायी जाती है। माटेस्क्यू (Montesquieu) का मत था कि शीत जलवायु स्वतन्त्रता, प्रेम और जनतन्त्र के लिए उपयुक्त है तथा गरम जलवायु निरकुश शासन को जन्म देती है। आधुनिक समय में ब्लशली ट्रीटशे हरिंग्टन आदि लेखकों ने राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों के अनिवार्य प्रभाव को अनेक रूपों में स्वीकार किया है। बकल (Buckle) का मत उपयुक्त सभी लेखकों से आगे है। उसने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन' (History of Civilisation) में लिखा है कि 'मानव क्रियाएँ और उनके फलस्वरूप समाजों की प्रक्रियाएँ, मानव मन और ग्राह्य वातावरण-वृत्त के बीच पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा निश्चित होती है।' उसने इस बात पर बल दिया है कि व्यक्तियों तथा समाज की क्रियाओं पर जलवायु, भोजन तथा धरती की प्रकृति का पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है।

स्पष्ट है कि भूगोल राज्य के जीवन पर किसी न किसी प्रकार अपना प्रभाव

अवश्य डालता है। जर्मनी मे तो राजनीति तथा भूगोल के सम्बन्ध को इतना घनिष्ठ माना गया है कि वहा जियो–पालिटिक्स (Geo-Politics) नामक एक पृथक् विज्ञान शुरू हो गया है। भूगोल और राजनीति के सम्बन्ध को समझने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जैसे ठण्डे देशो के लोग चुस्त होते हैं। जबकि गरम जलवायु के निवासी सुस्त पाये जाते हैं। अफ्रीका अपनी गरम जलवायु और रेत के कारण बीसवी शताब्दी तक अन्धमहाद्वीप (Dark Continent) बना रहा। वास्तव मे नदी और पर्वतो ने सब देश और काल के लोगो को सदैव अपने अचल मे खीचा है। सभ्यताएँ वहीं पर बनी, पनपी और बिगडी हैं। नदियो और पर्वतो के कारण हमेशा राजनीति मे झगडे और तनाव पाये गये हैं। फीफील्ट और पीयर्सी के अनुसार —'शान्ति और युद्ध दोनो कालो मे राज्य की विदेश नीतियाँ भौगोलिक स्थितियो को ध्यान मे रख कर बनायी जाती हैं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि ब्रिटिश और जापानी द्वीप समूह इतने बडे साम्राज्यों के स्वामी बन गये। इसे केवल सयोग नही कहा जा सकता कि सयुक्तराज्य अमेरिका ने एटलान्टिक और प्रशात महासागर के बीच की सुरक्षा के सिद्धान्त को अपनाया। यह भी सयोग की बात नही है कि रूस ने गरम पानी वाले बन्दरगाहो को पाने और विकसित करने के लिए उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे चेष्टा की। द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर जर्मनी ने पहले रूस के विरुद्ध और फिर सयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध जापान के साथ जो गठबन्धन किया, उसे कोई आकस्मिक सयोग नही माना जा सकता। इन घटनाओ का ठीक रहस्य जानने की एक ही कुन्जी है और वह है भूगोल।" अभी कुछ समय पूर्व साम्यवादी चीन ने ऐतिहासिक मेकमोहन सीमा रेखा का उल्लघन कर हमारे देश पर जो आक्रमण किया उस राजनीतिक घटना के पीछे भी कितने ही भौगोलिक कारण ढूँढ जा सकते हैं। चीन की और हमारी तथा हम दोनो के पडोसी राष्ट्र पाकिस्तान नेपाल बर्मा आदि सभी राष्ट्रो की विदेश नीति के निर्धारण में 'हिमालय' का अपना महत्त्व तथा निर्णयात्मक प्रभाव है जिसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता।

राजनीति और भूगोल में भिन्नता

राज्य की भाग्य रेखाओ के निर्माण मे भूगोल का यह स्थान महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक समय में विज्ञान की प्रगति भौगोलिक परिस्थितियो को बदल रही है। ससार के प्राकृतिक साधन सभी राज्यों के लिए सुलभ होने लगे हैं। अन्तरिक्ष यात्राएँ भूगोल का स्वरूप बदल रही हैं जिसका प्रभाव भी आज की राजनीति पर गम्भीरता से पड रहा है। किन्तु इस परिवर्तन के फलस्वरूप यह भी नहीं है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ अब राजनीतिक जीवन का इतना निर्धारण नहीं करती और राजनीति विज्ञान भी भूगोल का दास नही रहा है। राजनीति शास्त्र का अस्तित्व स्वतन्त्र बन चुका है। उसके परिणाम और समस्याओ मे अनेक तत्त्वों का योग रहता है किन्तु भूगोल उन अनेक तत्त्वो मे से केवल एक है।

उपर्युक्त विज्ञानो के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध जीवविज्ञान (Biology), गणनाशास्त्र (Statistics), नागरिकशास्त्र (Civics), विधिशास्त्र (Jurisprudence), मानव विज्ञान (Anthropology) तथा लोक प्रशासन (Public Administration) आदि सभी से है। इनमे से नागरिक शास्त्र विधिशास्त्र और लोकप्रशासन तो अभी भी प्राय राजनीति शास्त्र के ही अग समझे जाते हैं। स्पष्ट है कि सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। राजनीति शास्त्र को अन्य समाजशास्त्रो से पृथक् करके हम उसका समुचित और सम्यक् अध्ययन नही कर सकते। हम जानते हैं कि ज्ञान अखण्ड है और उसका विभाजन हम केवल अपने अध्ययन की सुविधा मात्र के लिए ही कर सकते है। राजनीति इस अखण्ड ज्ञान का एक अग है, इसलिए इसका सम्बन्ध दूसरे विज्ञानो के साथ होना स्वाभाविक ही नही अनिवार्य है।

5

व्यवहारवादी दृष्टिकोण : इसकी उपयोगिता एवं सीमाएँ

(THE BEHAVIOURAL APPROACH ITS UTILITY AND LIMITATIONS)

व्यवहारवादी दृष्टिकोण का अर्थ

व्यवहारवादी उपागम अथवा दृष्टिकोण का महत्त्व द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वीकार किया गया है। इस दृष्टिकोण को विकसित करने का श्रेय अमेरिकी राजनीति-वैज्ञानिकों को है। अर्वाचीन राजनीतिक दृष्टिकोणों मे व्यवहारवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक व्यवहृत दृष्टिकोण है जो परम्परावादी दृष्टिकोणों से मुख्यत इस बात में भिन्न है कि इसमे मूल्यो और कल्पना को कोई स्थान नहीं है। यह दृष्टिकोण राजनीतिक तथ्यो की व्याख्या और विश्लेषण का एक विशिष्ट तरीका है जो राजनीति-विज्ञान के सन्दर्भ में मुख्यत अपना ध्यान 'राजनीतिक व्यवहार' पर केन्द्रित करता है। इस दृष्टिकोण का मन्तव्य है कि राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन द्वारा यह राजनीति उसकी सरचनाओ, प्रक्रियाओ आदि के बारे मे वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करे तथा उनकी परिमाणन एव सक्रियात्मक परिभाषाएँ विकसित करे। दूसरे शब्दो में यह दृष्टिकोण 'अनुभवात्मक और प्रकार्यात्मक' (Empirical and 'Functional) अधिक है जो राजनीतिक विज्ञान को सस्थागत, कानून एव दार्शनिक सीमा में न बाँधकर अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु राजनीतिक व्यवहार को ही मानता है। व्यवहार पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के कारण ही यह एक अन्त शास्त्रीय दृष्टिकोण है अर्थात् ऐसा उपागम है जो दूसरी अनुशासनात्मक अवधारणाओं, सिद्धान्तो और दृष्टिकोणों को अपनाकर अन्त अनुशासनात्मक शोध को आगे बढाना चाहता है। परम्परावादी दृष्टिकोणो के विपरीत यह राज्य विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक बनाने का आकांक्षी है। अनुभवात्मक और प्रकार्यात्मक होने के फलस्वरूप इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यो, मानवीय वितरण, कल्पनाओ आदि के लिए कोई स्थान नही है। रॉबट डहाल के अनुसार, व्यवहारवादी क्रान्ति 'परम्परागत राजनीति शास्त्र की उपलब्धियो के प्रति असन्तोष' का परिणाम है।

व्यवहारवाद के अर्थ के बारे मे कोई समान दृष्टिकोण नहीं पाया जाता। कुछ व्यवहारवादियो के अनुसार यह केवल एक मनोदशा (Mood) अथवा मनोवृत्ति (Attitude) है तो कुछ अन्य विद्वानो की दृष्टि से इसके अपने कुछ निश्चित विचार और सिद्धान्त हैं तथा कुछ निश्चित कार्य-विधियाँ हैं। डेविड ईस्टन ने इस दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक मनोदशा का प्रतिबिम्ब' कहा है। उन्होंने इसे 'बौद्धिक प्रवृत्ति' एव 'तथ्यात्मक शैक्षणिक आन्दोलन' (Concrete Academic Movement) घोषित किया है। स्पष्ट है कि व्यवहारवाद के निश्चित अर्थ के सम्बन्ध मे विभिन्न टीकाकारो के विभिन्न मत हैं, फिर भी किर्क पैट्रिक का यह मत वर्तमान परिस्थितियो मे स्वीकार्य है कि अब यह पद (व्यवहारवाद) ऐसा नहीं रह गया है जिसका मनचाहा अर्थ लगा लिया जाय। अब यह शब्द बहुत कुछ निश्चित हो चला है और राजनीतिक जीवन के अध्ययन हेतु इस दृष्टिकोणो के अन्तर्गत समाविष्ट पूर्व धारणाओ, क्रिया-विधियो तकनीकों और लक्षणो को पहचानना सम्भव है।

व्यवहारवाद का उदय और विकास

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे व्यवहारवादी मान्यताओं के कुछ बिखरे रूप में प्रसग प्लेटो और अरस्तू के समय से ही उपलब्ध हैं, लेकिन एक सिद्धान्त के रूप में व्यवहारवाद वर्तमान शताब्दी की उपज है। पिछले कुछ दशको मे, विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद, 'सरकार तथा राजनीति' के अध्ययन में व्यवहारवादी अध्ययन-पद्धति को अधिक महत्त्व दिया गया है। यह अध्ययन-पद्धति वर्तमान शताब्दी की एक बहुत महत्त्वपूर्ण देन है जिसे विकसित करने का श्रेय अमेरिकी राजनीति वैज्ञानिको को है। आधुनिक रूप मे व्यवहारवाद के उदय और विकास के मूल मे अनेक कारण निहित रहे हैं जिनमे कुछ प्रमुख ये हैं—

1 अनेक राजनीतिशास्त्रियो को परम्परागत राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के परिणामो से निराशा हुई। परिणाम निराशापूर्ण इस अर्थ मे समझे गए कि वे जीवन की वास्तविकताओ का स्पष्ट और न्यायसगत चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत नही कर पाते।

2 जब अन्य सामाजिक विज्ञानो मे अध्ययन की नवीन विधियो और उपकरणो के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला तो राजनीति शास्त्र का इससे अछूता रहना सम्भव न था। सन् 1925 मे चार्ल्स मेरियम ने अमेरिकन पालिटिकल साइंस एसोसियेशन की बैठक मे अपने अध्यक्षीय भाषण द्वारा विश्वास प्रकट किया कि किसी दिन राजनीतिक व्यवहार राजनीतिक गवेषण का आवश्यक विषय बन सकता है। चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व मे शिकागो विश्वविद्यालय अनुभववादी आन्दोलन का केन्द्र बन गया।

3 सन् 1930 के दशक मे अनेक यूरोपीय छात्रो ने अमेरिका मे समाज शास्त्रीय विधियो द्वारा राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन प्रारम्भ किया तो व्यवहारवाद की लोकप्रियता मे वृद्धि हुई। मैक्सवेबर आदि समाजशास्त्री पहले से ही व्यवहारवादी पद्धति का प्रयोग कर रहे थे।

4 अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र के अध्यक्ष पद पर आसीन कुछ व्यक्तियो ने राजनीतिक समस्याओ के समाधान के लिए समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो पर विशेष बल दिया।

5 द्वितीय महायुद्ध ने व्यवहारवाद को गति प्रदान की। युद्धकालीन घटनाओ ने राजनीतिशास्त्रियो के मस्तिष्क मे यह बात बैठा दी कि राजनीतिक जीवन की जटिलताओ को पूरी तरह समझने के लिए सस्थाओ और उनकी सरचनाओ के अध्ययन की सीमा से आगे बढकर उन सस्थाओ और उनमें काय करने वाले व्यक्तियो के व्यवहार का अध्ययन करना होगा।

6 द्वितीय महायुद्ध के बाद के दशको में राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अधिकाधिक विस्तार के साथ यह विचार बल पकडता गया कि राजनीति शास्त्र म नवीन अध्ययन पद्धतियो को स्थान देना होगा। इसका दूसरा अथ यह था कि व्यवहारवाद का पृष्ठ पोषण किया जाय।

वतमान शताब्दी मे राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवादी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का प्राथमिक श्रेय आर्थर एफ० बेंटले और ग्राहम वलास को प्राप्त है। इस दिशा मे प्रगति की रफ्तार तब तेज हुई जब चार्ल्स मेरियम ने सन 1925 मे 'न्यू आसपेक्टस ऑफ पॉलिटिक्स' पुस्तक लिखकर शिकागो स्कूल का उद्घाटन किया। शिकागो स्कूल अ तर विषय अध्ययन पद्धति और अनुभवजन्य अध्ययन का समथक है। शिकागो स्कूल व्यवहारवाद का प्रमुख गढ बन गया और इसके बाद अनेक निजी सस्थाओ ने सामाजिक विज्ञानो के विकास पर करोडो डॉलर व्यय करके व्यवहारवादी दृष्टिकोण को भारी लोकप्रियता प्राप्त करायी। लॉसवेल, गोसनेल, पेडलटन हेरिंग आदि ने व्यवहारवादी पद्धति के साहित्य मे उल्लेखनीय वृद्धि की। डेविड ईस्टन का योगदान महत्त्वपूर्ण था और आगे चलकर व्यवहारवाद मे अभिनव क्रान्ति—'उत्तर व्यवहारवाद' का भी उद्घोषक वही बना। व्यवहारवादियो मे हाल ही के वर्षों मे एक नए गुट का उदय हुआ है जिनका तक है कि व्यवहारवाद के अन्तगत शोध परिणाम प्राय बहुत विलम्ब से प्राप्त होते हैं और जब तक प्राप्त होते हैं तब तक उनका महत्त्व बहुत कुछ समाप्त हो चुका होता है, अत इस स्थिति में परिवर्तन लाया जाना चाहिए। 'उत्तर व्यवहारवाद' के नाम से विख्यात यह आन्दोलन व्यवहारवादी कट्टरवाद पर सीधा प्रहार है।

व्यवहारवाद की मूल मान्यताएं

व्यवहारवाद केवल एक दृष्टि ही नहीं बल्कि एक समग्र क्रान्ति कहा जाता है। व्यवहारवादी दृष्टि की मूल मान्यताएँ चार हैं जिनका ईस्टन, डहाल, कैटलिन आदि राजनीतिशास्त्रियो ने विस्तार से विवेचन किया है।

प्रथम, व्यवहारवादी यह मानते हैं कि अध्ययन की इकाई (Unit of Study) जब तक बहुत 'बृहद्' (Macro) है तब तक अध्ययन गहन नही बन सकेंगे। अत इस विशालता को विशेषीकरण की दृष्टि से तोडकर लघु' (Micro) की इकाइयो मे परिवर्तित कर दिया जाय। हम किसी भीमकाय प्रशासनिक सगठन का वर्णन

करने के साथ-साथ यदि गहराई से यह अध्ययन करें कि सगठन में यह पयवेक्षण प्रक्रिया किन किन तत्वो से बोधित होती है तो अध्ययन अधिक सार्थक और उपयोगी होगा। व्यवहारवादी दृष्टिकोण छोटे छोटे विषयों के गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण को प्राथमिकता देता है।

द्वितीय व्यवहारवादी दृष्टि अध्ययन की वज्ञानिकता की बहुत बडी पक्षधर है। व्यवहारवादियो की मान्यता है कि तुलनात्मक राजनीति, लोक प्रशासन आदि का गहन अध्ययन और विश्लेषण एक वैज्ञानिक बौद्धिक प्रयास है और उसकी अध्ययन विधियो मे यह अपेक्षित है कि अवधारणाएँ और निष्कष स्थायी, निश्चित तथा सावदेशिक बन सकेंगे। व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री अधिकांशत निरीक्षणवादी, अनुभववादी एव प्रयोगवादी शोधकर्ता हैं।

तृतीय, व्यवहारवादी सहिता यह चाहती है कि ज्ञान के क्षेत्र मे वज्ञानिक विधि से वचित एव सुरक्षित यह ज्ञान भण्डार एक विशेष सन्दभ मे आगे बढ़ाये जायें। दूसरे शब्दों मे, इस ज्ञान की समग्रता एव सच्चाई इस पर निभर करेगी कि वह ज्ञान के अन्य पहलुओ से कितना सम्बधित है।

चतुथ, व्यवहारवाद एक अनुभवपरक सिद्धान्त का प्रणयन करना चाहता है। अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग, सन्दभ ज्ञान परिस्थिति, विवेचन आदि के आधार पर सम्पूर्णता का गहनता से विश्लेषण करने वाले व्यवहारवादी यह मानकर चलते हैं कि तुलनात्मक राजनीति एक अध्ययन विज्ञान के रूप मे अपनी स्वतन्त्र विचारधाराएँ आविष्कृत कर सकती हैं।

व्यवहारवाद अध्ययन बिन्दु तथा कार्यक्षेत्र

हीज यूलाउ (Heinz Eulau) ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अध्ययन-बिन्दुओ और कायक्षेत्र को इन बिन्दुओ मे समाविष्ट किया है—(1) व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध, (2) समूहो समुदायो और सगठन के लघु तथा वृहद रूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध, (3) स्वय से अधिक व्यापक व्यवस्थाओ से सम्बन्ध (4) राजनीतिक दलो, दबाव समूहो, कायपालिका आदि के परस्पर सम्बन्ध, (5) विविध अवधारणाएँ, निणय समूह, सरचनाएँ, शक्ति नियन्त्रण आदि, (6) राजनीतिक सिद्धान्त एव दृष्टिकोण आदि (7) नीतिया नीति निर्माण, प्रक्रिया और निणय प्रक्रिया आदि, (8) तुलनात्मक राजनीति, (9) नवीन उपकरण और प्रविधियाँ, (10) प्रक्रियाएँ तथा (11) नवीन कायविधियाँ। सक्षेप में, राजनीतिक व्यवहार से अभिप्राय केवल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पयवेक्षणीय राजनीतिक क्रियाओ से ही नही है वरन् इसका सम्बन्ध व्यवहार के उन बोधात्मक, अभिप्रेरणात्मक और अभिवृत्तात्मक (Perceptional, Motivational and Attitudinal) घटकों से भी है जिनसे हमारी राजनीतिक माँगो आशाओ, विश्वासो, मूल्यो, लक्ष्यो की व्यवस्था आदि का ताना बाना बुना जाता है। व्यवहारवाद का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाह्य कार्यों से ही नहीं है बल्कि उसकी

भावात्मक, ज्ञानात्मक और मूल्यांकनात्मक प्रक्रियाओं से भी है। व्यक्ति की राजनीतिक मांगो, अभिलाषाओं और लक्ष्यो, मूल्यो तथा राजनीतिक विश्वासो की व्यवस्थाओं आदि का निर्माण करने वाली जो भी व्यवहारात्मक प्रक्रियाएँ हैं उन सभी को राजनीतिक व्यवहारवाद की अध्ययन सामग्री माना जाता है। व्यवहारवादी अध्ययन वैयक्तिक सांस्कृतिक, समाज-व्यवस्थात्मक आदि विभिन्न स्तरो पर किये जा सकते हैं।

डेविड ईस्टन के अनुसार व्यवहारवाद की विशेषताएँ

डेविड ईस्टन ने चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Contemporary Political Analysis' मे अपने एक निबन्ध 'The Current Meaning of Behaviouralism' मे व्यवहारवादी आधारो, विशेषताओं आदि को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

1 नियमितताएँ (Regularities)—राजनीतिक व्यवहार मे कुछ महत्त्वपूर्ण और अन्वेषणात्मक समानताएँ पायी जाती हैं जिन्हें व्याख्यात्मक तथा पूर्व कथनीय मूल्य के लिए सामान्यीकरणों अथवा सिद्धान्तो के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

2 सत्यापन (Verification)—सामान्यत सम्बद्ध व्यवहार के सन्दर्भ मे ऐसे सामान्यीकरणो की प्रामाणिकता परीक्षणीय होनी चाहिए।

3 प्रविधियाँ (Techniques)—अध्ययन सामग्री (Data) को प्राप्त करने और उनकी व्याख्या करने के साधनो को स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता। वे समस्यामूलक होते हैं जिन्हें सावधानीपूर्वक शुद्ध और परीक्षित किया जाना आवश्यक है। उन्हें प्रमाणित किया जाना चाहिए ताकि व्यवहार के पर्यवेक्षण, अभिलेखन और विश्लेषण के लिए परिशुद्ध साधनों की खोज की जा सके।

4 परिमाणन (Quantification)—जहाँ कहीं लक्ष्यो को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो वहाँ आँकडो के संग्रह, शोध में परिणामो और कथनो की अभिव्यक्ति के लिए मापन तथा परिमाणन की प्रक्रियाओं को अपनाया जाना उचित है।

5 मूल्य (Values) स्पष्टता की दृष्टि से यद्यपि नैतिक मूल्यांकन और अनुभववादी स्पष्टीकरण को अलग रखना चाहिए तथापि राजनीतिक व्यवहार के अध्येता के लिए इन्हें अलग रखना आवश्यक नहीं है। अध्येता इन्हें पृथक् भी रख सकते हैं और मिला भी सकते हैं, लेकिन इन्हें समरूप मानने से उन्हे बचना चाहिए अथवा इस बारे मे सजगता और सावधानी बरतनी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि अध्येता निजी मूल्यो को अध्ययन से दूर रखें।

6 क्रमबद्धीकरण (Systematization)—शोध या अनुसन्धान कार्य क्रमबद्ध और व्यवस्थित होना चाहिए अर्थात् सिद्धान्त और अनुसन्धान को ज्ञान के एक सम्पूर्ण और व्यवस्थित समूह के घनिष्ठ रूप से अन्तग्र थित भागों के रूप मे देखना चाहिए। सिद्धान्तहीन शोध महत्त्वहीन होता है और इसी प्रकार तथ्यहीन निस्सार होते हैं।

7 विशुद्ध विज्ञान (Pure Science)—सैद्धांतिक स्पष्टीकरण तथा वैज्ञानिक प्रयास के लिए ज्ञान का उपयोग आवश्यक है। यदि राजनीतिक ज्ञान का प्रयोग राजनीतिक समस्याओं के निदान में करना है तो यह आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवहार को उसका आधार बनाया जाय।

8 एकीकरण (Integration)—चूँकि सभी सामाजिक विज्ञान समग्र मानवीय परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, अत कोई भी राजनीतिक शोध दूसरे शास्त्रों के शोधों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसी उपेक्षा का अर्थ होगा—अपने स्वयं के परिणामों की प्रामाणिकता और सामान्यता को कम करने या दुर्बल बनाने का खतरा मोल लेना। यदि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की इस अन्त सम्बद्धता को ध्यान में रखा जाय तो इससे राजनीति विज्ञान को प्रारम्भिक शताब्दियों वाला स्तर दिलाने में और उसे सामाजिक विज्ञानों के मुख्य समुदाय में पुन ले आने में सहायता मिलेगी। अभिप्राय यह है कि राज्य विज्ञान और राजनीतिक अनुसन्धान को अन्य सामाजिक विज्ञानों के शोधों के प्रति तटस्थ नहीं रहना चाहिए अथवा उनमें दूरी या अलगाव नहीं रखना चाहिए।

व्यवहारवाद की सीमाएं

व्यवहारवादी दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है और हीज यूलाऊ ने इसे राजनीतिक व्यवहार के सभी क्षेत्रों के अध्ययन के योग्य माना है तथापि इस दृष्टिकोण की अपनी सीमाएं हैं जिनका उल्लेख हीज यूलाऊ ने स्वयं किया है। हीज यूलाऊ के अनुसार समय, अवसर, पूर्व धारणाएं, भय, संकीर्ण दृष्टि, त्रुटिपूर्ण प्रारम्भ गलत कदम और गलत कार्य, प्रविधियों तथा पद्धतियों की अपूर्णता आदि वे सीमाएं हैं जो व्यवहारवाद की सफलता में बाधा डालती हैं तथा उसे मर्यादित व सीमित बना देती हैं। मलफोर्ड सिबले ने व्यवहारवाद की सीमाओं का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। तदनुसार राजनीतिक व्यवहारवाद की निम्नलिखित सीमाएं और प्रतिबन्ध हैं

1 व्यवहारवादी अपने आपको मूल्य निरपेक्ष मानता है जबकि शोध विषयों का चयन करते समय वह मूल्यों से अप्रभावित नहीं रह पाता। स्वयं व्यवहारवादी का व्यक्तित्व, उसका आचरण, उसके ज्ञान की सीमाएं साधन, झुकाव, राग-द्वेष पक्षपात आदि वे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्य (Variable) हैं जो उसके व्यवहारात्मक अध्ययन को प्रभावित करते हैं।

2 समस्या के चयन में महत्त्व रखने वाले मूल्य शोधकर्त्ता के लक्ष्यों और उसके अपने जीवन अनुभव से प्रभावित रहते हैं।

3 अनुसंधान और प्रयोग प्रारम्भ कर देने के बाद भी अनुसंधानकर्त्ता की सभी आशाएं पूरी नहीं हो पातीं और उपलब्धियाँ सीमित रहती हैं अध्ययनकर्त्ता यह स्पष्ट अनुभव करता है कि नियन्त्रित परिस्थितियों और विशिष्ट मान्यताओं के अन्तर्गत ही मानव के राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या सम्भव है।

4 व्यवहारवादी अध्ययन शोधकर्त्ता को सामयिक राजनीतिक सामग्री स

वंचित कर देता है और इसका सम्बन्ध यदि रहता भी है तो प्राय ऐसे साधनो से जिन्हें व्यवहारवादी कहना कठिन है।

5 नीति निर्माण के क्षेत्र मे व्यवहारवाद का उपयोग सीमित है। इस क्षेत्र में व्यवहारवाद से प्राप्त निष्कर्षों के अलावा और भी अनेक तत्त्व महत्त्वपूर्ण होते हैं।

6 कोई भी व्यवहारवादी अध्ययन सभी परिस्थितियो के लिए अन्तिम मूल्य प्रस्तुत नही कर सकता।

व्यवहारवाद की आलोचना एव मूल्यांकन

विश्लेषण गहनता, वज्ञानिक विधि और अन्तर्सम्बन्धो को प्रयोग मे लाने वाली व्यावहारवादी दृष्टि 1960 के आस पास अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अमेरिकी राजनीति, सस्कृति, जीवन प्रणाली तथा विज्ञान बनने के सम्मान ने इसे विकसित होने में सहायता की। राजनीति के क्षेत्र में अनेक अध्ययनो को इसने मैक्रो से माइक्रो, वैचारिक से व्यावहारिक, एकाग्रता तथा वर्णन से विश्लेषण की ओर मोडा। जैसे जसे इन अध्ययनो का जोर बढा इसकी दुबलताएँ भी सामने आने लगीं। व्यवहारवादी दृष्टि पर अनेक आरोप लगाए जाने लगे कि—

1 यह मूल्य तटस्थ (Value Neutral) नही है, अत वज्ञानिक नही हो सकता।

2 इसके प्रयोग व परीक्षणो में इतनी सीमाएँ हैं कि ज्ञान की गहराई और उसके निष्कर्ष की सावभान्यता असम्भव है।

3 स्वय व्यवहारवादियो का व्यवहार और आचरण आलोचना से परे नही रहा है। उनमे मतैक्य का अभाव है।

4 व्यवहारवादी अपने दृष्टिकोण में मर्यादित भी हैं और अहकारी भी। एक ओर तो वे अपनी मान्यताओ को सापेक्ष कहते हैं और दूसरी ओर वे किसी भी अन्य अध्ययन सामग्री के अस्तित्व को तब तक महत्त्व नही देना चाहते जब तक कि उसका मापन अथवा परिमग्णन न किया जा सके। यह कट्टरतावादी दृष्टि व्यवहारवाद को एक मर्यादित और लोचहीन बना देती है।

5 स्वय अमेरिका में, जहाँ व्यवहारवाद का ताना-बना बुना गया और विकास हुआ, व्यवहारवादी अनुसधान अति व्ययसाध्य प्रमाणित हुआ और करोडो डालरो के व्यय के उपरान्त भी एक विश्वस्त, प्रामाणिक और सन्तोषप्रद धरातल उत्पन्न नहीं कर सका

6 व्यवहारवादी प्राकृतिक और राजनीति विज्ञानो के अन्तर की उपेक्षा कर देते हैं और यह स्वीकार नहीं करते कि दोनो विज्ञानों की प्रविधियो और मूल्यांकन तकनीको मे अन्तर होना चाहिए। अपनी प्रकृति से राजनीति शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो पूर्णत प्राकृतिक विज्ञान नहीं बन सकता। यही नहीं, उसे प्राकृतिक विज्ञान के समकक्ष भी नही बनाया जा सकता।

7 व्यवहारवादी तथ्यो और आँकडो को एकत्रित करने मे इतने उलझे रहते हैं कि कितनी ही बार व्यावहारिक और महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भुला देते हैं। केवल पद्धतियो पर आवश्यकता से अधिक बल देना उनकी एक बडी कमजोरी है।

व्यवहारवादी अथवा व्यवहारपरक दृष्टिकोण का कतिपय दुर्बलताओं के बावजूद विशेष महत्त्व और उपयोगिता है क्योंकि इसमें किसी नीति अथवा अध्ययन के सांस्कृतिक भावात्मक आदि पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है और यह समझा जाता है कि विभिन्न परिस्थितियों में राज्य तथा राजनीतिक संस्थाओं का व्यवहार उपर्युक्त तत्वों से प्रभावित होता है। राजनीति विज्ञान में शक्ति और सत्ता के मध्य सम्बन्ध रहता है, अतः व्यवहारवादी वैज्ञानिक यह मानते हैं कि राजनीति को मानवीय सम्बन्धों की दृष्टि से देखना चाहिए जिनमें शक्ति और सत्ता का वास होता है। लासवेल के अनुसार, "राजनीति विज्ञान एक अनुभवपरक अध्ययन (Empirical Study) के रूप में सत्ता के स्वरूप निर्धारण और परस्पर विभाजन (Shaping and Sharing of Power) का अध्ययन है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण संस्थाओं के यथार्थ क्रिया कलापों के अध्ययन के सम्बन्ध में केवल ढाँचे तथा औपचारिक संगठन के अध्ययन की अपेक्षा मानव स्वभाव और अध्ययन पर बल देता है। इसमें तुलनात्मक विश्लेषण पर ध्यान दिया जाता है। यह दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं में शक्ति, प्रभाव, औचित्य जैसे नवीन तत्वों के अध्ययन को महत्त्व प्रदान करता है।

उत्तर व्यवहारवाद
(Post-Behaviouralism)

व्यवहारवादी दृष्टिकोण जब अपनी सफलता की चरम सीमा पर था तभी अमेरिकी राजनीति विज्ञान में एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिसे 'उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति' (Post Behavioural Revolution) कहा जाता है। यह नवीनतम चुनौती व्यवहारवादी कट्टरता पर एक सीधा प्रहार है।

उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति की प्रकृति

डेविड ईस्टन ने, जिसे उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति का उद्घोषक कहा जाता है, उसे एक सकारात्मक आन्दोलन माना है। उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति राजनीति विज्ञान के उस अध्ययन और शोध-कार्य के प्रति गहरा असन्तोष व्यक्त करती है जिसका सारा प्रयास राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों में ढालकर एक कठोर वैज्ञानिक विषय बनाना है। यह क्रान्ति भविष्यगामी है। 'यह न तो राजनीतिक शोध के किसी स्वर्ण युग की ओर लौटने का प्रयास है और न ही इसका मन्तव्य किसी पद्धतीय दृष्टिकोण विशेष का विनाश करना है। इस ऐसे समर्थकों की आवश्यकता नहीं है जो मानव आचरण के सम्बन्ध में परीक्षण योग्य समानताएँ खोजने की सम्भावनाओं को नकारते हों।' उत्तर व्यवहारवाद एक नया विकास है यह एक प्रतिक्रिया न होकर वास्तविक क्रान्ति है तथा प्रतिसुधारात्मक न होकर सुधारात्मक है। उत्तर व्यवहारवाद एक ऐसा आन्दोलन है जो व्यक्ति-समूह और बौद्धिक प्रवृत्ति दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें कठोर विज्ञानवादियों से लेकर नवीन परम्परावादी तक भाग ले रहे हैं। इस आन्दोलन की किसी पद्धति विशेष में कोई विशेष निष्ठा नहीं है तथा इसकी जड़ में मुख्यतः केवल एक ही तथ्य है और वह है—"समकालीन राजनीतिक अनुसंधान की दिशा से गहरा असन्तोष।"

उत्तर-व्यवहारवाद चाहे कितना ही नया हो, इसके मूल सिद्धांत इतने अवश्य उभर चुके हैं कि उन्हें पहचाना जा सकता है। डेविड ईस्टन के अनुसार इन्हें कभी कभी 'संगति धर्म' (Credo of Relevance) भी कहा जाता है। ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद की संगति धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

1 तथ्य तकनीक से पहले आने चाहिए। यदि एक के लिए दूसरे का परित्याग करना ही है (और यह सदैव आवश्यक नहीं है) तो यह अधिक महत्वपूर्ण है कि समकालीन आवश्यक सामाजिक समस्याओं के साथ एक सप्रयोज्य संगति स्थापित की जाय, बजाय इसके कि अनुसंधान के यन्त्रों को तीक्ष्ण बनाने में शक्ति व्यय की जाए। विज्ञान जगत् की यह लोकोक्ति कि अस्पष्ट होने से गलत होना अधिक अच्छा है की अपेक्षा असंगत रूप से निश्चित होने की अपेक्षा अस्पष्ट होना कहीं श्रेयस्कर है।'

2 व्यवहारवादी विज्ञान एक निरीक्षणात्मक अनुदारवाद लेकर चलता है। तथ्यों के केवल वर्णन और विश्लेषण मात्र को लेकर चलना उन्हीं तथ्यों का उनके व्यापक सन्दर्भ में समझने से इनकार करना है। अतः प्रयोगात्मक राजनीति विज्ञान को चाहिए कि वह उन तथ्यात्मक स्थितियों को सुरक्षित रखे जिन्हें वह स्वयं खोजना चाहता है। जाने अनजाने वह उस सामाजिक अनुदारवाद को लेकर चलता है जिसमें साधारण सा विकासवादी परिवर्तन भी सम्मिलित है।

3 व्यवहारवादी शोध को यथार्थताओं से बच कर चलना चाहिए। व्यवहारवादी अन्वेषण की मूल बात यह है कि वह अमूर्तता और विश्लेषण के प्रपंच में राजनीति की पाशविक यथार्थताओं को छिपा लेती है। उत्तर व्यवहारवाद मौन के इन्हीं अवरोधों को ढहाना चाहता है जो व्यवहारवादी शब्दावली ने अपने चारों ओर खड़े कर लिए हैं। इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान को वह सहायता प्रदान करना है जिससे वह संकट के क्षणों में मानव मात्र की वास्तविक आवश्यकताओं तक पहुँच सके।

4 मूल्यों का सृजनशील विकास एवं उनके विषय में शाश्वत् शोध राजनीति विज्ञान के अध्ययन का ज्वलन्त पहलू है। विरोधी प्रतिक्रियाओं के बावजूद भी मूल्यात्मक दृष्टि से न यह कभी तटस्थ रहा है और न रह सकता है। अतः अपने ज्ञान की सीमाएँ पहचानने के लिए हमें उन मूल आधारों को जानना होगा जिन पर वह ज्ञान आधारित है और उन विकल्पों को भी ढूँढना होगा जिनके लिए इस ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है।

5 किसी भी विषय के विद्वान् लोग बुद्धिजीवियों का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। एक बुद्धिजीवी की ऐतिहासिक भूमिका यही है और यह होनी भी चाहिए कि वह सभ्यता के मानवीय मूल्यों की रक्षा करे। इसके अभाव में बुद्धिजीवी केवल ऐसे तकनीकी और मशीनी व्यक्ति बन कर रह जाएँगे जो समाज के साथ व्यर्थ की खिलवाड़ करते हैं। ऐसा करने से वे उन सभी विशेष सुविधाओं को गवाँ बैठेंगे जो उन्हें विचार-जगत के सदस्य होने के नाते उपलब्ध है, जैसे अन्वेषण की स्वतन्त्रता तथा समाज के आघातों से सुरक्षित रहने के लिए गैर-सरकारी सुरक्षा, आदि

6 ज्ञान का अर्थ क्रियाशीलता के उत्तरदायित्व को वहन करना है और क्रियाशीलता का दूसरा अर्थ है समाज को बदलना। एक वैज्ञानिक के रूप मे बुद्धिजीवी का यह विशेष दायित्व है कि वह अपने ज्ञान को क्रियाशीलता म सलग्न करे। चिन्तनात्मक विज्ञान उस उन्नीसवीं शताब्दी की देन था जब नतिक प्रश्नो पर एक आम राय थी। आवश्यकता का क्रियाशील विज्ञान समकालीन सघर्षों को प्रतिबिम्बित करता है और आदर्शों के इस युद्ध को चाहिए कि वह हमारे शोध प्रयास मे नए रग भरे।

7 यदि एक बुद्धिजीवी का दायित्व अपने ज्ञान को क्रियान्वित रूप देना है तो बुद्धिजीवियो के सगठनो, विशेषकर विश्वविद्यालयो को चाहिए कि वे अपने समय के सघर्षों से तटस्थ न रहे। व्यवसायो का राजनीतिकरण आज केवल वांछनीय ही नही बल्कि एसी स्थिति है जिससे बचा भी नही जा सकता।

डेविड ईस्टन का कथन है कि "कोई भी उत्तर व्यवहारवादी इन सब विचारो से एक साथ सहमत नहीं हो सकता। मैंने तो उनकी अधिकतम प्रतिभा को सूक्ष्म रूप मे प्रस्तुत किया है।" ईस्टन ने आगे लिखा है कि आज की दुनिया तीव्र गति से बदल रही है और राजनीति विज्ञान यह दावा नही कर सकता कि उसका सम्पूर्ण विकास हो चुका है। यह मानना भ्रामक होगा कि व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे अपने अंतिम शब्द कह चुका है। यद्यपि काफी लम्बे समय से राजनीति विज्ञान ऐसे प्रतिमान (मॉडल) बनाता रहा है जो एक अच्छे शास्त्र और समुचित शोध के लिए आवश्यक हैं तथा व्यवहारवादी मॉडल इस शताब्दी की लम्बी शृंखला का अंतिम मॉडल है तथापि आधुनिक विश्व की नयी परिस्थितियाँ हमें विवश करती हैं कि हम अपनी भावी और वांछनीय प्रतिमान पर पुनर्विचार करें। अनेक ऐसी स्थितियाँ घटित हुई हैं जिनकी राजनीति विज्ञान ने व्यवहारवादी या गर-व्यवहारवादी कोई भविष्यवाणी नहीं की थी। वस्तुत राजनीति वज्ञानिको ने सन् 1960 की दुनिया को पहचानने मे जो प्रभावहीनता प्रदर्शित की, उसने उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति को जन्म दिया जो अब विकसित हो रही है। समय की माँग है कि हम परिवतनशील परिस्थितियो को पहचानने तथा व्यवहारवादी या गर-व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के प्रति शाश्वत रूप से निष्ठावान बने रहने के स्थान पर, अपने पुराने प्रतिमानों को आवश्यकतानुसार बदलने को उद्यत रहें। हमें आशा करनी चाहिए कि वह दिन आएगा जब राजनीतिक प्रक्रियाओ को समझने का एक अधिक विश्वसनीय मॉडल प्रस्तुत हो सकेगा। उत्तर व्यवहारवादी आन्दोलन हमारे सामने एक नया मॉडल प्रस्तुत कर रहा है। इस आन्दोलन का कहना है कि शोध-काय मे सगति (Relevanco) होनी चाहिए। उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति की मान्यता है—"ससार इस प्रकार से रचा जाना चाहिए कि राजनीति-वैज्ञानिक अपने व्यवसाय की दृष्टि से इतने सक्षम हो कि वे एसे उपचार बतला सकें और ऐसे कार्य कर सकें जिससे राजनीतिक जीवन मानवता की कसौटी पर खरा उतर सके।" उत्तर-व्यवहारवाद शोध-तकनीकों की प्रति का आलोचक है। आज का व्यवहारवादी शोध यथार्थता से इतना दूर है कि

हमारे अध्ययन शास्त्र की मांगा को पूरा नहीं कर पाता। व्यवहारवाद पर विज्ञानवाद एक भार बन गया है। इस सम्बन्ध म उत्तर-व्यवहारवादी भी दो खेमो मे विभाजित हैं। विद्वानो के एक पक्ष ने विज्ञान को तिलांजलि दे दी है तो दूसरा पक्ष व्यवहारवादी विज्ञान में कुछ न कुछ आस्था रखते हुए अपनी शोध को अधिक सगत बनाने के पक्ष में है।

उत्तर-व्यवहारवाद आज की एक व्यापक बौद्धिक प्रवृत्ति है। यह व्यवहारवादी पद्धतियो और तकनीको का समर्थन और विस्तार चाहती हुई हमारे युग की समस्याओं को अधिक स्पष्ट करती है। उत्तर व्यवहारवादी की दृष्टि मे विशुद्ध और सेवा-काय के बीच विभाजन रेखा नहीं है। इस दृष्टिकोण की मांग है कि सामाजिक सुधारो के लिए विशिष्ट ज्ञान का प्रयोग और ज्ञान के लिए ज्ञान प्राप्ति' के विचारो में एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिए। सुधार ज्ञान का एक अविभाज्य अग है और ऐसा ही माना भी जाना चाहिए।



6

राज्य की परिभाषा एवं प्रकृति, राज्य एक संघ के रूप मे, राज्य सम्प्रभुता के सन्दर्भ मे, राज्य विधि के सन्दर्भ मे, राज्य की प्रकृति का सावयव सिद्धान्त एव राज्य की प्रकृति का आदर्शवादी सिद्धान्त

(DEFINITION AND NATURE OF STATE STATE AS AN ASSOCIATION, STATE IN TERMS OF SOVEREIGNTY, STATE IN TERMS OF LAW, ORGANIC THEORY OF THE LAW, NATURE OF STATE THE IDEALISTIC THEORY OF THE NATURE OF STATE)

राज्य की परिभाषा एव प्रकृति
(Definition and Nature of State)

राज्य जो राजनीति शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, राजनीति शास्त्रियो द्वारा विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। राज्य क्या है यह राजनीति शास्त्रियो के लिए बडा जटिल प्रश्न रहा है और उन्होने समय, दृष्टिकोण तथा परिस्थितियो के प्रभाव से उसे विभिन्न रूपो में समझा है। उदाहरणार्थ काल मार्क्स ओपिनहेमर आदि ने राज्य को एक वर्गीय संस्था माना है तथा उपयोगितावादी लेखको ने राज्य का विश्लेषण आर्थिक एव भौतिक सन्तुष्टि के लिए साधन के रूप मे किया है। विनोग्रेडाफ ने राज्य के कानूनी स्वरूप पर बल दिया है तो आस्टिन जैसे विचारको ने राज्य का विश्लेषण एक सम्प्रभुतासम्पन्न संस्था के रूप मे किया है। कुछ दार्शनिको ने राज्य को शक्ति की व्यवस्था माना है तो कुछ ने उसे लोककल्याण की व्यवस्था कहा है। बहुसमुदायवादी विचारको ने राज्य को समाज के अन्य समुदायो के समान ही एक समुदाय माना है। प्रकट है कि राज्य के विश्लेषण के सम्बन्ध में इतने विचार प्रस्तुत किये गये है कि कोई स्पष्ट मार्ग चुनना

अथवा निर्दिष्ट करना बहुत कठिन है, तथापि विभिन्न दृष्टिकोणों के अध्ययन से यह सम्भव है कि हम राज्य का विश्लेषण और उसकी परिभाषा निम्नांकित आधारों पर कर सकें—

(1) शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर
(2) उत्पत्ति के आधार पर,
(3) कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर,
(4) बहुसमुदायवाद के आधार पर,
(5) उद्देश्य एव काय के आधार पर, तथा
(6) तत्त्वो के आधार पर।

शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर

अंग्रेजी शब्द 'स्टेट' (राज्य) लेटिन भाषा के शब्द 'स्टेटस' (Status) से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर। यूनानियो ने इसका प्रयोग लोकहितकारी सगठन के रूप मे भी किया था। समय के साथ साथ अर्थ सशोधित होता गया और सिसरो के समय से इसका अभिप्राय सम्पूर्ण समाज का स्तर हो गया। इस सन्दभ मे 'राज्य' (State) शब्द के उद्गम के आधार पर राज्य की कल्पना हम एक श्रेष्ठ एव सम्प्रभुतासम्पन्न समाज व्यवस्था के रूप में कर सकते हैं। ईसा की मृत्यु के पाच शताब्दियो बाद रोमवासियो ने राजनीतिक सगठन के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया वह 'आधुनिक राज्य' के अनुकूल ही था। 'राज्य' शब्द का सवप्रथम प्रयोग सम्भवत मकियावली ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'प्रिंस' मे किया था। 16वी शताब्दी मे इन शब्दो का प्रयोग इगलण्ड मे हुआ। उस समय तक राज्य का स्वरूप प्रभुतासम्पन्न सस्था के रूप मे काफी निखर चुका था। बाकर के अनुसार 'राज्य शब्द जब 16वी शताब्दी मे इगलण्ड मे प्रयुक्त हुआ तो इटली अपने साथ महान राज्य अथवा किसी व्यक्ति अथवा समुदाय विशेष में निहित महानता का विचार लाया।'' 17वी शताब्दी मे 'राज्य' शब्द का प्रयोग जमन भाषा मे हुआ।

उपर्युक्त वणन से प्रकट होता है कि महानता के प्रतीक राज्य के इस अर्थ मे और राज्य की सम्प्रभुता (Sovereignty) मे कोई अन्तर नही है क्योकि सावरेण्टी' शब्द का विकास भी लेटिन भाषा के शब्द 'सुपरेनस' से हुआ है जिसका अर्थ सर्वोच्च शक्ति (Super=Supreme+oanus=Power=Supreme Power) होता है तथापि हम केवल प्रभुसत्ता के आधार पर ही राज्य का विश्लेषण नही कर सकते। आज यह एक सुस्थापित तथ्य है कि सम्प्रभुता तो राज्य के अनेक तत्त्वों म से एक है।

उत्पत्ति के आधार पर

उत्पत्ति के आधार पर भी 'राज्य' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। उदाहरणाथ दवी सिद्धान्त के अनुसार मानव-इतिहास मे एक लम्बे समय तक राज्य को ईश्वर कृत अथवा दवी समझा जाता रहा है और इस प्रकार

का स्वरूप धार्मिक मना गया है । शक्ति सिद्धान्त के अनुसार कुछ लेखकों ने 'शक्ति' को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना । मेकियावली, गमप्लाउज, ओपिनहेमर आदि विद्वानों ने शक्ति को राज्य का मुख्य तत्त्व मानते हुए उसी के आधार पर 'राज्य' की व्याख्या की है । उदाहरणार्थ, वान ट्रीटस्की ने अपने ग्रंथ 'पोलिटिक' (Politik) में लिखा है कि, "राज्य एक शक्ति है राज्य के समक्ष हमें नतमस्तक होना चाहिए और उसकी उपासना करनी चाहिए।" इसी प्रकार सामाजिक अनुबन्धवादियों ने राज्य को सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम-मात्र बतलाया है तो मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य को परिवार का विस्तृत रूप माना है । ये सभी परम्पराएँ आज पुरानी पड चुकी हैं और इनके आंशिक सत्य को ही स्वीकार किया जाता है । विकासवादी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार राज्य मनुष्य के समुदाय बनाकर रहने की मूल प्रवृत्ति के विकास का प्रतीक है तथापि यह सिद्धान्त भी 'राज्य' शब्द का विश्लेषण नही करता । उत्पत्ति सम्बन्धी सभी सिद्धान्त राज्य के यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश नही डालते वरन् केवल यह बतलाते हैं कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई होगी ।

कानून के आधार पर

ऐसे भी दार्शनिक हैं जिन्होंने राज्य के विश्लेषण को कानूनी ढाँचे (Legal Structure) के रूप मे प्रस्तुत किया है । ये लेखक राज्य को कानून का मूल स्रोत मानते हुए उसे एक व्यक्तित्व सम्पन्न संस्था स्वीकार करते हैं । वर्तमानयुगीन विख्यात विद्वान् विलोबी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए लिखा है कि "राज्य सुसंगठित सामूहिक जाति के रूप में व्यक्तियों का वह समुदाय है जिस पर एक ऐसी शासन-शक्ति का अस्तित्व होता है जो कानूनी तथा सामान्यत नैतिक रूप में जाति के व्यक्तियों पर अनिवार्यत लागू होने वाले आदेशों का उद्गम-स्थान मानी जाती है।" विलोबी की मान्यता है कि "राज्य वह राजनीतिक व्यक्ति अथवा इकाई है जिसे विधि-निर्माण का अधिकार हो।" संयुक्तराज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विल्सन ने भी राज्य के कानूनी स्वरूप पर बल देते हुए कहा था कि "किसी निश्चित भूखण्ड पर कानून द्वारा संगठित जाति ही राज्य है।" जैलिनेक भी राज्य के कानूनी स्वरूप का ही समर्थक है । आशय यह है कि कानूनी व्यवस्था के रूप में राज्य की व्याख्या करने वाले दार्शनिक राज्य को कानूनी रूप से सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न संस्था मानते हैं । राज्य की व्याख्या अथवा परिभाषा सम्बन्धी यह दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी एकांगी है । कानून को ही हम राज्य का एकमात्र तत्त्व नहीं मान सकते ।

बहुसमुदायवाद के आधार पर

जहाँ एक समुदायवादियों (Monists) ने राज्य को समाज में सर्वोपरि स्थान देते हुए अन्य समुदायों को उसके अधीनस्थ माना है वहाँ वर्तमानयुगीन बहुसमुदायवादियों (Pluralists) के अनुसार राज्य अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है जिसका सर्वश्रेष्ठ कार्य केवल छोटे समुदायों में समन्वय स्थापित करना

है। अरस्तू से लेकर बेन्थम तक समुदायवादियो का ही प्राधान्य था। अरस्तू ने कहा था कि 'राज्य अथवा राजनीतिक समुदाय जो समस्त समुदायों मे श्रेष्ठतम है और जिसके अन्तर्गत अन्य सब आ जाते हैं, का लक्ष्य अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा अधिक मात्रा में सर्वोच्च शक्ति की प्राप्ति है।" बोदाँ (Fodin) ने भी राज्य को सर्वसत्तात्मक समुदाय के रूप मे प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि, 'राज्य कुटुम्बो और उनकी सामूहिक अधिकार की वस्तुओ का एक ऐसा समुदाय है जो सर्वश्रेष्ठ शक्ति एव तार्किक विवेक द्वारा शासित होता है।" पर आधुनिक बहुसमुदायवादी राज्य इस श्रेष्ठतम स्वरूप को स्वीकार नही करते।

आधुनिक बहुसमुदायवादियो के अनुसार मानव व्यक्तित्व के सभी पहलुओ का विकास राज्य द्वारा नही हो सकता। मानव व्यक्तित्व के विकास मे अन्य समुदाय उतने ही उपयोगी हैं जितना राज्य। राज्य मुख्य रूप से एक कानूनी समुदाय है जिसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण जीवन तक व्यापक न होकर कानूनी कार्यों तक ही प्रधानत सीमित है। मेकाइवर की दृष्टि मे 'राज्य समाज के व्यक्तियो के विशिष्ट बाह्य सम्बन्धो का सचालन करता है।" उसने पुन लिखा है कि, 'राज्य को चाहिए कि विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक सगठनो में अपने अधिकारो को कायम रखते हुए वह गैर राजनीतिक सगठन मे एक स्थान अपने लिए प्राप्त कर ले।" बहुसमुदायवादियो के अनुसार, "राज्य सार्वभौमिक सत्ता का एक मात्र प्रतीक नही है। राज्य की सम्प्रभुता के रूप मे कोई परिभाषा नही होती क्योकि वह अपने अधिकारो का *अनुष्ठान निरकुश रूप मे नही करता बल्कि ऐसा करते समय अन्य* सामाजिक सस्थाओं के साथ मिलकर ही वह अपनी नीति निर्धारित करता है।" डिग्वोई (Duguit) के अनुसार "सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य मर चुका है अथवा मृत्यु के समीप है।" लास्की ने राज्य को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उसे निरकुश अधिकार देने का विरोध किया है और लिण्डसे की दृष्टि मे, "राज्य केवल समुदायो का एक समुदाय है।"

वास्तव मे राज्य के विषय मे एक समुदायवादी और बहुसमुदायवादी दोनो ही विचार अतिशयोक्तिपूर्ण तथा एकागी हैं। एक समुदायवादी राज्य के पूर्ण प्रभुतासम्पन्न और निरकुश स्वरूप पर बल देते हुए उसे इतना शक्तिसम्पन्न बना देते हैं कि उसके वर्तमान कल्याणकारी और प्रजातान्त्रिक स्वरूप का कोई महत्त्व नही रहता। दूसरी ओर बहुसमुदायवादी राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायो को भी इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि सभी राज्यो के निरकुश बन जाने और इस प्रकार समाज मे अराजकता फैल जाने का खतरा है। इस प्रकार तार्किक निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त समुदायवादी विचारधाराओ के आधार पर राज्य की समुचित व्याख्या नही की जा सकती।

उद्देश्य एव कार्य के आधार पर

व्यक्तिवादियो, उपयोगितावादियो आदर्शवादियो, समाजवादियों साम्यवादियो आदि ने उद्देश्य तथा कार्य के आधार पर राज्य की व्याख्या अपने अपने ढग से की

है। व्यक्तिवादी राज्य को मानव की अपूर्णता का द्योतक मानते हुए उसे आवश्यक दुर्गुण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आदर्शवादी लेखकों ने राज्य का विश्लेषण एक आदर्श या नैतिक विचार के रूप में किया है। उदाहरणार्थ, बोसांके के अनुसार, 'राज्य विश्वव्यापी संगठन का एक अंग न होकर सम्पूर्ण नैतिक संसार का अभिभावक है।'' उपयोगितावादी विचारधारा के अनुसार राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख पहुँचाना है। राज्य का निर्माण ही मानव सुरक्षा, सुविधा और हित के लिए किया गया है। समाजवादियों की दृष्टि में राज्य सामूहिक हित साधन करने वाली संस्था है। साम्यवादी दर्शन ने राज्य की व्याख्या एक वर्ग के रूप में की है जिसका कार्य पूँजीपतियों के पक्ष में श्रमिकों का शोषण है। मार्क्स के शब्दों में, "राज्य एक ऐसी मशीन मात्र है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग को पीस डालता है।"

उद्देश्य एवं कार्य के आधार पर भी राज्य के स्वरूप का यथार्थ विवेचन नहीं किया जा सकता। व्यक्तिवादियों ने राज्य को आवश्यक दुर्गुण बतलाया है जिसके द्वारा स्वतन्त्रता एवं नैतिक मूल्यों पर आघात पहुँचता है। किन्तु यह तर्क भ्रामक है। वास्तविकता यह है कि राज्य के माध्यम से ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो सकती है। उपयोगितावादियों का दृष्टिकोण भी अपूर्ण है कि राज्य का एक मात्र लक्ष्य भौतिक सुख की सृष्टि ही है। सुख जैसी व्यक्तिगत वस्तु को सार्वभौमिक स्वरूप देना उचित नहीं कहा जा सकता। आदर्शवादियों का दृष्टिकोण भी मान्य नहीं है, क्योंकि वे राज्य को साध्य बनाकर व्यक्ति को उसके साधन अथवा दास की स्थिति में ला देते हैं। साम्यवादियों का विचार भ्रामक है कि राज्य एक वर्गीय संगठन है। वास्तव में राज्य तो मानव हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है जिसको किसी प्रकार के शोषण से कोई मतलब नहीं। जहाँ तक समाजवादी विचारधारा का प्रश्न है, इसके इतने स्वरूप विकसित हो चुके हैं कि उनके प्रकाश में राज्य की परिभाषा निश्चित करना ही कठिन है।

तत्वों के आधार पर

राज्य की सर्वाधिक उपयुक्त और वैज्ञानिक ढंग की व्याख्या तत्वों के आधार पर की जा सकती है। इस पर विस्तार से प्रकाश अग्रिम पृष्ठों में डाला जायेगा। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि आज राज्य के सर्वमान्य तत्व चार हैं—जनता (Po ulation) भूमि (Territory), सरकार (Government), एवं सम्प्रभुता (Sovereignty)। इनके आधार पर राज्य की बहुत ही उपयुक्त परिभाषा डॉ० गार्नर ने इन शब्दों में की है—"राज्य अल्पसंख्यक अथवा बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के एक निश्चित भू भाग में स्थायी रूप से निवास करता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से मुक्त अथवा लगभग मुक्त हो, जिसका एक संगठित शासन हो और जिसके आदेश का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो।" गार्नर की परिभाषा में राज्य के चारों तत्वों का स्पष्ट उल्लेख है। जनसंख्या को उसने 'व्यक्तियों का समूह' (A community of

persons), भूमि को एव निश्चित भू भाग (Occupying a definite portion of territory), सरकार को एक 'सुसगठित सरकार' (Organized Government) एव सम्प्रभुता को बाह्य नियन्त्रण से मुक्त (Independent or freely from external control) तथा विशाल प्रजा वग द्वारा स्वभावत आज्ञा पालन (The great body of inhabitants render habitual obedience) के रूप मे व्यक्त किया है।

विभिन्न लेखक समयानुसार राज्य के निर्माणक तत्त्वो का विभिन्न रूपो मे उल्लेख करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, विलोबी के अनुसार राज्य के आवश्यक तत्त्व तीन हैं—जनता, शासन तन्त्र तथा सविधान। सिजविक की दृष्टि मे राज्य के तत्त्व हैं—जनता, सरकार तथा भूखण्ड। ब्लशली के अनुसार राज्य के तत्त्व हैं—जनता, भूखण्ड, एकता एव सगठन। इन सभी विद्वानो ने जनता, भूखण्ड और सरकार या शासन तन्त्र को तो आवश्यक तत्त्वो म गिनाया है पर सम्प्रभुता की उपक्षा कर दी है। गानर, गटिल आदि विद्वानो का यही मत आज सवमान्य है कि जनता, भूखण्ड, सरकार और सम्प्रभुता चारो को ही राज्य के आवश्यक तत्त्व माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से फिलिमोर की परिभाषा भी काफी सन्तोषजनक है। उसने लिखा है कि, "राज्य मनुष्यो का वह समुदाय है जो पृथ्वी के एक निश्चित भू भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो जो कानून आदेशो और रीति-रिवाजो द्वारा बँधा हुआ हो, जो एक सगठित सरकार द्वारा अपनी सीमाओ के अन्तगत सब व्यक्तियो और वस्तुओ पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का प्रयोग और नियन्त्रण करता हो तथा जिसे ससार के अन्य समुदायो के साथ मैत्री एव सधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।' फिलिमोर की इस परिभाषा मे एक मुख्य दोष है। इसमे इस बात पर बल दिया गया है कि राज्य की जनता एक से कानूनो, आदतो और परम्पराओ द्वारा एक सगठन में गुथी हो। राज्य के लिए इस शत का होना आवश्यक नही है। एक राज्य मे विभिन्न कानूनो और परम्पराओ के मनुष्य निवास कर सकते हैं। व्यवहार म भी ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है।

निष्कष यह निकला कि राज्य की वही परिभाषा सवश्रेष्ठ है जिसम चारों तत्त्व जनसख्या, भूमि, सरकार तथा सम्प्रभुता का उल्लेख हो। जनता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। जनता के निवास के लिए आवश्यक है कि राज्य नामक व्यक्ति समूह के अधिकार में एक निश्चित भू प्रदेश हो, जनता का सगठन सुचारु रूप से चलता रहे और राज्य जनता की सामूहिक इच्छा की कार्यान्विति करता रहे, इसके लिए एक शासन-तन्त्र का होना जरूरी है, जिसे हम सरकार कहते हैं। राज्य अपने कत्तव्यो को भली प्रकार सम्पन्न कर सके इसके लिए आवश्यक है कि इसे सम्प्रभुता प्राप्त हो अर्थात् वह आन्तरिक और बाह्य दोनो ही दृष्टियों से सर्वोच्च एव स्वतन्त्र हो। सम्प्रभुता मे आन्तरिक सम्प्रभुता और बाह्य सम्प्रभुता सम्मिलित है। गानर की परिभाषा मे राज्य के सभी आवश्यक तत्त्वो का उचित ढग से समावेश है।

राज्य के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of the State)

परिभाषा के अनुसार राज्य के निर्माणक तत्त्व चार हैं –

(1) जनसंख्या (Population),
(2) प्रदेश अथवा भूमि (Territory),
(3) सरकार (Government), एव
(4) सम्प्रभुता (Sovereignty) ।

जनसंख्या (Population)

राज्य एक मानव समुदाय है । व्यक्तियो अथवा जनसंख्या के अभाव मे राज्य की कल्पना भी नही की जा सकती । राज्य' शब्द मे सगठन निहित है जिसका अस्तित्व मानव तत्व के अस्तित्व पर ही आश्रित है । ब्लशली के शब्दो मे, ' राज्य के व्यक्तित्व का आधार जनता मे निहित है ।"

राज्य के तत्त्व के रूप मे जनसंख्या की व्याख्या के लिए हमे मुख्यत दो बातो पर विचार करना है । प्रथम, जनसंख्या कितनी होनी चाहिए, एव द्वितीय, जनसंख्या कैसी होनी चाहिए । अन्य विचारणीय प्रश्न यह है कि कानूनी दृष्टि से जनसंख्या के कितने वर्ग होते हैं और राज्य के सन्दर्भ मे जनसंख्या सम्बन्धी क्या समस्याएँ उठती रहती हैं ।

राज्य के निर्माण के लिए कितनी जनसंख्या होनी चाहिए इसका कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता । प्राचीन विचारक इस बात को विशेष महत्त्व देते थे । प्लेटो ने एक आदर्श राज्य की जनसंख्या 5040 निर्धारित की थी तो अरस्तू ने कहा था कि जनसंख्या न बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम । जनसंख्या का आकार कुछ ऐसा होना चाहिए कि वह आत्मनिर्भर रहने के साथ ही भली प्रकार शासित भी हो सके । फ्रेंच दार्शनिक रूसो ने राज्य की आदर्श जनसंख्या 10 हजार निश्चित की थी ।

वास्तव मे इन सभी विचारको के आदर्श प्राचीन नगर राज्य थे जबकि आज के वैज्ञानिक युग की परिस्थितियाँ इतनी बदल गयी हैं कि जनसंख्या के आकार का महत्त्व राज्य के जीवन मे नगण्य है । फिर भी गार्नर का कथन वजन रखता है कि "जनसंख्या इतनी ही होनी चाहिए जितनी राज्य के निर्वाह के लिए आवश्यक हो तथा वह इतनी अधिक भी नहीं होनी चाहिए कि उसके लिए भूखण्ड तथा राज्य के साधन अपर्याप्त हो जाय ।" सोल्टाऊ का भी कुछ ऐसा ही विचार है । उसके अनुसार 'जनता की संख्या का सम्बन्ध प्रयोग की वस्तुओ की उपलब्धि, वांछित जीवन स्तर तथा सुरक्षा एव उत्पादन की आवश्यकता से होनी चाहिए ।"

जनसंख्या का आकार राज्य का मापदण्ड भी नही माना जा सकता । नेपाल और भारत राज्यो के रूप मे समान हैं यद्यपि उनकी जनसंख्या में आकाश-पाताल का अन्तर है । हम कह सकते हैं कि राज्य की जनसंख्या उसकी प्रभुता में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं करती । सत्य तो यह है कि राज्य के सगठन का स्तर बनाए रखने के

लिए जनसंख्या पर्याप्त होनी चाहिए। आधुनिक प्रवृत्ति विशाल जनसंख्या वाले राज्यों के पक्ष में है। आज प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली के माध्यम से विशाल जनसंख्या वाले देशों का शासन भी उतना ही सरल और कुशल हो गया है जितना प्राचीन काल में नगर राज्यों का होता था। जनसंख्या के आकार की दृष्टि से गटिल के विचारों का निष्कर्ष रूप में उद्धृत करना समीचीन होगा कि 'राज्य के निर्माण के लिए व्यक्तियों की आवश्यक संख्या की निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। जनसंख्या इतनी ही होनी चाहिए कि जो राज्य में संगठन कायम रखने के लिए पर्याप्त हो और जिसके शासन में सार्वजनिक एवं वैयक्तिक कार्यों की विभिन्नता झलकती हो। जनसंख्या किसी भी हालत में राज्य की प्रादेशिक सीमा और भरण पोषण करने की शक्ति से अधिक न हो।'

आकार के अतिरिक्त जनसंख्या का दूसरा पहलू उसका गुण (Quality) है अर्थात् राज्य की जनसंख्या कैसी हो। जनता की कार्य क्षमता, योग्यता, चारित्रिक स्तर आदि पर ही किसी राज्य की उन्नति और अवनति निर्भर करती है। अतः यह सर्वथा अपेक्षित है कि राज्य की जनसंख्या विचारशील प्रतिभावान और कर्मठ हो। वास्तव में जब हम राज्य की संस्कृति अथवा शक्ति की बात करते हैं तो उसका आशय जनता की संस्कृति अथवा शक्ति से होता है। आज के लोकतन्त्रवाद में तो जनता ही शासक और शासित दोनों है, अतः जनता की साँस्कृतिक सम्प्रभुता पर ही राज्य की सुस्थिरता निर्भर रहती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर राज्य की जनसंख्या दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है—(क) शासक और शासित एवं (ख) नागरिक तथा अनागरिक। आज के लोकतान्त्रिक युग में यह मत सही नहीं है कि जो लोग 'राज्य की नीति' का निर्धारण करें वे शासक होते हैं और जो इस नीति का अनुपालन करें वे शासित कहे जाते हैं। आज आए दिन शासक और शासित में परिवर्तन होता रहता है। एक लेखक ने इस तथ्य को दो रूपों में प्रकट करते हुए कहा है कि नागरिक जब अपने अधिकारों का प्रयोग करते है तो शासक हैं और जब अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तो शासित। गटिल के अनुसार नागरिक वे है जिनके अधिकार और कर्त्तव्य दोनों होते हैं और जो शासन प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेते हैं। अनागरिकों को राज्य की ओर से कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता और न वे राज्य प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका ही अदा करते है जैसे बालक, विदेशी आदि।

जहाँ तक जनसंख्या सम्बन्धी समस्या का प्रश्न है, आधुनिक राज्यों में वह अगणित है। अधिक जनसंख्या, प्रतिनिधित्व, रंगभेद, अल्पसंख्यक वर्ग आदि की राजनीतिक समस्याएँ आम बात हैं पर ये समस्याएँ व्यावहारिक राजनीति की हैं।

भूमि अथवा प्रदेश (Territory)

राज्य का दूसरा अनिवार्य तत्त्व भूमि है। राज्य की स्थापना के लिए उसके पास एक निश्चित भू भाग होना अनिवार्य है, शून्य में राज्य स्थापित नहीं हो सकता।

एक घूमने-फिरने वाला कबीला शासन-व्यवस्था रखते हुए भी राज्य नहीं कहला सकता, जब तक कि वह किसी निश्चित प्रदेश अथवा भू भाग पर स्थायी रूप से बस न जाय। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व संसार के विभिन्न वर्गों मे बिखरे हुए यहूदियो के पास कोई निश्चित भू-भाग नही था, अत अपने रीति रिवाज, धर्म, नियमो आदि के बावजूद उनका कोई राज्य भी नही था। किन्तु अब इजराइल देश की स्थापना द्वारा उन्हे एक निश्चित भू-प्रदेश प्राप्त हो गया है और इस प्रकार उनके अपने राज्य का अस्तित्व है।

अधिकाश आधुनिक राज्य शासन-नेताओ ने भूमि की अनिवार्यता पर बल दिया है, तथापि कुछ विचारक यह मानते हैं कि भू प्रदेश राज्य के लिए आवश्यक तत्त्व नही है। ड्यूगी, सीले, सैलमण्ड आदि इसी मत के प्रतिपादक हैं। इन लेखको के विचार कोरी कल्पनाएँ है। अन्यथा वास्तविकता यही है कि निश्चित भूमि के अभाव मे राज्य का अस्तित्व अपूर्ण है। ड्यूगी ने स्वय स्वीकार किया है कि "आधुनिक सभ्य समुदाय वस्तुत निश्चित भूखण्ड पर ही स्थायी रूप से बसा हुआ है।" सैलमड न भी माना है कि भूमि तत्त्व का न होना केवल असाधारण स्थिति मे ही सम्भव हो सकता है। भूमि को राज्य का आवश्यक तत्त्व न मानने वाले *विद्वान हाल (Hall) ने भी स्वीकार किया है कि 'आधुनिक सभ्यता की परिस्थितिया* जिनके अनुसार भूमि सम्प्रभुता के साथ सम्बन्धित है एक निश्चित भूमि के अधिकार को एक राज्य की व्यावहारिक आवश्यकता बना देती है।"

वास्तव में भूमि वह तत्त्व है जो राज्य को अन्य समुदायो से भिन्न और विशिष्ट बनाती है। मनुष्यो के अन्य समुदायो का कार्यक्षेत्र किसी भूखण्ड तक सीमित नही होता अर्थात् वे अन्तर्देशीय, देशीय, स्थानीय प्रान्तीय हो सकते हैं जबकि राज्य का सम्बन्ध और अधिकार निश्चित भू प्रदेश से ही होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ अन्य समुदाय एक ही भू प्रदेश में अनेक हो सकते हैं वहाँ राज्य एक भू प्रदेश मे एक ही हो सकता है, अधिक नही। सुनिश्चित भूखण्ड राज्य का अनिवार्य तत्त्व है।

राज्य के एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में भूमि का अभिप्राय केवल स्थलीय धरातल से नहीं है। किसी राज्य के भूखण्ड मे निम्नलिखित बातो का समावेश होता है—

(1) राज्य सीमा के अन्तर्गत भू प्रदेश जिसम सतह की नीचे की भूमि भी अनिश्चित गहराई तक सम्मिलित होती है।

(2) भू प्रदेश का जल भाग जैसे भील, नहरें, नदियाँ आदि।

(3) प्रादेशिक जल क्षेत्र, जैसे किसी राज्य के समुद्र तट के आस पास के तीन या चार या बारह मील का समुद्र। भारत के समुद्री प्रदेश की सीमा तट से चार मील दूर तक है। कोई विदेशी जहाज राज्य की अनुमति के बिना उसकी प्रादेशिक जल सीमा म प्रवेश नहीं कर सकता।

(4) सीमा के अन्तर्गत आनेवाले प्रदेश के ऊपर का समस्त आकाश। वर्तमान युग में भूमि के ऊपर के वायुमण्डल पर निश्चित-दूरी तक राज्य का नियन्त्रण और प्रभुत्व माना जाता है तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर एक देश दूसरे देश के उन वायुयानों को मार गिराता है जो उसके वायुमण्डल में बिना अनुमति के प्रवेश करते हैं।

राज्य की भूमि की स्थिति, आकार और स्वरूप के सम्बन्ध में भी राजनीति शास्त्रियों ने विचार किया है। अरस्तु और प्लेटो ने यूनान के तत्कालीन राज्यों के विस्तार को ध्यान में रखते हुए यह मत व्यक्त किया था कि राज्य की भूमि का विस्तार न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होना चाहिए। 18 वीं शताब्दी में रूसो ने भी इसी तरह का मत प्रकट करते हुए कहा था कि स्वस्थ राज्य का निर्माण केवल सीमित प्रादेशिक क्षेत्र में ही सम्भव है। उसने तो यहां तक प्रतिपादित किया था कि राज्य की भूमि के विस्तार और शासन तन्त्र के स्वरूप में परस्पर सम्बन्ध है। उसका कहना था—"छोटे आकार के राज्यों में लोकतन्त्र, बीच के आकार के राज्यों में श्रेणीतन्त्र और विशाल आकार के राज्यों में राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती।" इसी तरह का मत प्रकट करते हुए बाद में माण्टेस्क्यू ने लिखा कि—'छोटे आकार वाले राज्यों के लिए जनतन्त्र, सामान्य आकार वाले राज्यों के लिए राजतन्त्र और विशाल आकार वाले राज्यों के लिए निरंकुश शासन व्यवस्था उपयुक्त है।'

जिन परिस्थितियों में और जिस समय उक्त लेखकों ने अपने विचार व्यक्त किये थे, वे सम्भवतः उचित ही थे। लेकिन आज का युग पूरी तरह बदल चुका है। आज राज्य के विस्तार और आकार के सम्बन्ध में उक्त विचार मान्य नहीं रह गये हैं। शासन का स्वरूप आज राज्य के आकार पर निर्भर नहीं करता वरन् प्रायः राज्य विशेष की जनता की विचारधारा के अनुरूप निर्धारित होता है। आज हम देखते हैं कि राज्य का आकार चाहे कुछ भी हो, लगभग सभी जगह लोकतन्त्र अपनाया जा रहा है। यह दूसरी बात है कि आर्थिक आधार पर भिन्न भिन्न देशों में उसका स्वरूप भिन्न भिन्न है। आधुनिक राज्य ऐतिहासिक विकास और पारस्परिक संघर्षों के फलस्वरूप बने हैं, अतः उनके आकार को किन्हीं नियमों के अनुसार निर्धारित नहीं किया जा सकता। यहां तक कि राज्यों के आकार और जनसंख्या के बीच भी कोई समुचित अनुपात देखने को नहीं मिलता।

इस प्रसंग में राज्य की भूमि की सीमाओं के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। जिन राज्यों को पहाड़, नदियों और समुद्र आदि के रूप में प्राकृतिक सीमाएँ उपलब्ध हैं, उन्हें बड़ी सुविधा रहती है। कुछ समय पहले तक तो प्रतिरक्षा की दृष्टि से इन प्राकृतिक सीमाओं का अत्यधिक महत्त्व था, पर अब वायुयानों और अन्तर्महाद्वीपीय राकेटों आदि के आविष्कारों ने प्राकृतिक सीमाओं के सैनिक महत्त्व को समाप्त सा कर दिया है। फिर भी इस प्रकार की सीमाएँ उपयोगी हैं इनसे तस्कर व्यापार को रोकने तथा पड़ोसी राज्यों के नागरिकों के अनधिकृत

पर अंकुश रखने मे सहायता मिलती है। कृत्रिम सीमाओं के होने से पड़ोसी राज्यों के बीच सीमा विवाद और छोटे मोटे झगड़े चलते रहते हैं। राज्य की दृष्टि से इस बात का विशेष महत्त्व है कि सीमाएँ चाहे प्राकृतिक हों या कृत्रिम, वे सुनिश्चित तथा औपचारिक रूप मे अंकित होनी चाहिए, अन्यथा झगड़ों को रोकना असम्भव हो जायगा।

अन्त मे भूमि तत्त्व के सम्बन्ध मे एक बात और उल्लेखनीय है। यद्यपि राज्य का अपनी सम्पूर्ण भूमि पर प्रभुत्व होना है फिर भी प्राय प्रत्येक राज्य मे, पारस्परिक सदाचार एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के नाते, कुछ ऐसे भूखण्ड होते हैं जो उस राज्य के अधिकार क्षेत्र के बाहर माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, विदेशी राजदूतों के निवास स्थान व कार्यालय और वह समुद्री प्रदेश जिसमें कोई विदेशी जहाज ठहरा हो। ऐसे स्थान पर उस राज्य के कानून लागू नहीं होते। कभी कभी कोई राज्य सन्धियों द्वारा विदेशियों को अपनी भूमि पर ऐसे अधिकार प्रदान कर देता है उस राज्य मे निवास करने पर भी अपने अपने राज्यों के कानून के अधीन ही रहें। पर इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि यह सब कुछ राज्यों की स्वेच्छा से होता है, अन्यथा कानूनी रूप से अपनी सीमा के अन्तर्गत के भू खण्ड पर उसका निर्बाध स्वामित्व माना जाता है।

सरकार (Government)

राज्य का तीसरा तत्त्व शासन-व्यवस्था या सरकार है। डॉ० गार्नर ने इसे ऐसा "अभिकरण कहा है जिसके द्वारा सार्वजनिक नीतियाँ तय होती हैं, सार्वजनिक मामलों का नियमन होता है एवं सार्वजनिक हितों की अभिवृद्धि होती है। शासन व्यवस्था के बिना जनता एक असंगठित, असम्बद्ध, अराजक भीड़ जैसी हो जाएगी और उसके पास सामूहिक कार्य के लिए कोई साधन नहीं रहेगा।"

शासन व्यवस्था या सरकार राज्य का व्यावहारिक पहलू है। यह राज्य की इच्छा को कार्य रूप देता है। राज्य एक अमूर्त संस्था है और सरकार इसका मूर्त रूप है। सरकार के माध्यम से ही हम राज्य से सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं या राज्य तक पहुँच सकते हैं। सरकार के अन्तर्गत सामान्यतया वे सभी संस्थाएँ और व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो राज्य के लिए कानून बनाते हैं, उन्हें क्रियान्वित करते हैं तथा न्यायिक कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में, सरकार के मुख्यत तीन अंग होते हैं—विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका।

सरकार के विभिन्न रूप हो सकते हैं, जैसे—राजतन्त्र (Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy), जनतन्त्र (Democracy), निरंकुशतन्त्र (Tyranny) आदि। इस तरह शासन-व्यवस्था की कोई विशेष पद्धति अनिवार्य नहीं होती। किन्तु फिर भी, चाहे जिस प्रकार की शासन व्यवस्था हो, यह आवश्यक है कि वह शासन व्यवस्था या सरकार "इस प्रकार संगठित हो और उसके पास वे शक्तियाँ तथा साधन हों जो उसको यह शासन-क्षमता प्रदान कर सकें कि वह सामान्य तौर पर जनता आदर्शों का पालन करा सके तथा अपनी सत्ता के प्रति आदर के लिए

जनता का विश्वास प्राप्त कर सके। यदि ऐसा न हुआ तो न तो आन्तरिक शांति और व्यवस्था की रक्षा हो सकेगी और न वे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वपूर्ण हो सकेंगे जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि किसी राज्य पर संसार के राष्ट्र परिवार का सदस्य बनने की अनिवार्य शर्त के रूप में आरोपित करती है।"

पुनश्च, यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक सरकार अथवा शासन-व्यवस्था के अनेक लाभ और हानियाँ हैं। यह राज्य की भूमि, जनसंख्या और नागरिकों की आवश्यकता तथा परम्पराओं पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार की सरकार को अपने लिए स्वीकार करें। आज जैसे जैसे राज्य का आकार और नागरिकों की समस्याएँ तथा चेतना बढ़ रही हैं, उसी अनुपात में सरकार का संगठन भी जटिल बनता जा रहा है, उसके कार्य भी बढ़ते जा रहे हैं।

चूँकि सरकार राज्य की इच्छा और शक्ति की प्रतिनिधि होती है अतः इन दोनों के अन्तर पर आगे एक पृथक शीर्षक 'राज्य और सरकार' में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

सम्प्रभुता (Sovereignty)

राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व सम्प्रभुता है। जनता, प्रदेश और सरकार के अतिरिक्त राज्य में प्रभुता का होना अनिवार्य है। प्रभुता को राज्य की आत्मा कहा जाता है। बिना इसके यह सिद्ध करना असम्भव है कि राज्य परिवार या किसी ऐच्छिक क्लब (Club) से किस प्रकार भिन्न है। सिजविक (Sidgwick) के अनुसार, "राज्य की आज्ञा सभी को सर्वथा मान्य होती है।' एस्मीन के अनुसार, "समस्त प्रदेश पर राज्य शासन का पूर्ण अधिकार होना ही चाहिए।" डॉ० फाइनर के शब्दों में, 'राज्य का मूल तत्त्व उसकी बलवती शक्ति में ही निवास करता है" इस प्रकार राज्य की प्रभुता को सभी विद्वानों ने राज्य का केन्द्र बिन्दु माना है।

कोई भी शासन तब तक राज्य नहीं कहला सकता जब तक कि वह आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र न हो। राज्य के पास आदेश देने की और उनको पालन करवाने की सम्पूर्ण शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार राज्य की प्रभुता के दो रूप हो सकते हैं—

(1) आन्तरिक सम्प्रभुता (Internal Sovereignty)

(2) बाह्य सम्प्रभुता (External Sovereignty)

आन्तरिक सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत सर्वोच्च है और उसे नागरिकों एवं समुदायों पर सर्वोच्च कानूनी अधिकार प्राप्त हैं। आन्तरिक सर्वोच्चता का यह स्पष्ट आशय है कि सबको राज्य की आज्ञा अनिवार्यतः माननी होगी। बाह्य सम्प्रभुता से अभिप्राय यह है कि राज्य पर किसी प्रकार का बाह्य नियन्त्रण नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों युद्ध, सन्धि आदि में वह स्वतन्त्र है। अपनी विदेश नीति का निश्चय करने में उसे किसी अन्य देश से आदेश नहीं लेना पड़ता। यदि कोई दूसरा देश उस राज्य के विदेशी मामलों पर अपनी इच्छानुकूल प्रभाव डाल सकता है और उस राज्य को अनिवार्यतः उसे मानना होता है तो इसका

अभिप्राय है कि वह राज्य बाह्य सम्प्रभुता का अधिकारी नहीं है और इसीलिए राज्य भी नही है।

स्पष्ट है कि सम्प्रभुता का गुण राज्य का प्राण है जिसके अभाव मे राज्य का अस्तित्व कायम नही रह सकता। उदाहरणस्वरूप 15 अगस्त 1947 से पूर्व भारत एक राज्य नही था क्योंकि जनसख्या, निश्चित भू भाग और सरकार के होते हुए भी वह सम्प्रभुता सम्पन्न नही था। इसी कारण बिहार बगाल, पजाब आदि राज्य नही हैं क्योंकि अन्य तत्वो के होने के बावजूद उनमे सम्प्रभुता नही है। प्राय यह प्रश्न किया जाता है कि क्या सयुक्त राष्ट्रसघ एक राज्य है। यह ठीक है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के अनेक अग हैं और उसके पास भूमि या निश्चित क्षेत्र भी है, तथापि हम उसे किसी भी प्रकार राज्य नहीं कह सकते क्योंकि उसके पास न तो अपनी जनसख्या है और न ही राज्य सत्ता। सयुक्त राष्ट्रसघ एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य भी नही है क्योंकि इसकी कार्यकारिणी एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की भाति कार्य नही करती। सयुक्त राष्ट्रसघ तो स्वय राज्यो का एक ऐच्छिक सघ है। यह सदस्य राज्यो की इच्छा पर निर्भर है कि वे इसके आदेशो का पालन करें, न करें क्योंकि राजसत्ता या सम्प्रभुता सदस्य-राज्यों के पास है न कि सयुक्त राष्ट्रसघ के पास।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि जनसख्या, निश्चित भू भाग सरकार और सम्प्रभुता—ये चार राज्य के अनिवार्य तत्त्व है। किसी भी एक तत्त्व के अभाव म राज्य की स्थापना नही हो सकती। इन तत्वो के अतिरिक्त कुछ लेखको ने अन्य तत्वों का भी उल्लेख किया है जसे आज्ञाकारिता, अन्य राज्यो द्वारा मान्यता, राज्यो मे सह जीवन (Co living), आदि लेकिन उक्त चार मुख्य तत्वो म य अन्य सभी तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ये आध्यात्मिक तत्त्व हैं जिनके अभाव मे भी राज्य का अस्तित्व रह सकता है।

राज्य और सरकार
(State and Government)

राज्य और समाज की तरह राज्य और सरकारें भी बहुधा एक ही समझे जाते हैं। इगलण्ड के स्टुअर्ट शासकों के लिए कहा जाता है कि व अपनी निरकुश सत्ता को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए दोनो मे कोई अन्तर नही मानते थे। फ्रास का लुई चौदहवां कहा करता था कि 'मैं राज्य हूँ' (I am the State)। हाब्स ने भी सरकार और राज्य म कोई भेद नही माना है। वास्तव मे यह विचारधारा आज अनुपयुक्त है। सरकार और राज्य एक नहीं हैं।

अपने साधारण वार्तालाप में हम राज्य और सरकार शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ मे अदल-बदल कर लिया करते हैं। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि पोस्ट ऑफिस का कार्य राज्य करता है। लेकिन वस्तुत हमे कहना यह चाहिए कि पोस्ट आफिस का कार्य सरकार करती है। राज्य और सरकार मे मौलिक भेद है और थोडा-सा विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि य दोनों एक नहीं हैं।

राज्य और सरकार दो अलग-अलग शब्द हैं, जिनके अलग-अलग अर्थ हैं। सरकार राज्य का यन्त्र या साधन है। "राज्य स्वय एक आदर्श व्यक्ति है जो अदृश्य, स्पष्ट और स्थिर है। सरकार एजेण्ट है, सीमा के भीतर यह राज्य की प्रतिनिधि है, सीमा के बाहर हो जाने पर यह अवैध है।

राज्य और सरकार के अन्तर को हम निम्नानुसार व्यक्त कर सकते हैं—

1 सरकार राज्य का तत्त्व है—राज्य प्रभुत्व सम्पन्न होता है। वह राजनीतिक रूप से सगठित जनसमूह है, जिसके पास एक निश्चित भू भाग होता है। सरकार राज्य का यन्त्र अथवा साधन है। राज्य सरकार के द्वारा अपना ध्येय प्राप्त करना चाहता है। गार्नर के अनुसार, "सरकार उस सगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अपने आदेश जारी करता है और अपने कार्यों का सम्पादन करता है।"

2 सरकार राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने वाली एजेंसी है—रूसो के शब्दो मे सरकार राज्य का जीवित यन्त्र' है। सरकार राज्य का व्यावहारिक सगठन है जो राज्य की इच्छा निर्धारित करता है, उसका प्रकाशन करता है और उसे पूरा करता है। प्रो० लास्की सरकार को राज्य का एजेंट कहते हैं। 'उसका अस्तित्व राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए होता है। सरकार स्वत दबाव डालने वाली सर्वोपरि सत्ता नही है, वह तो केवल शासन मात्र है जो इस सत्ता के उद्देश्यो को कार्य रूप देता है।"

3 राज्य स्थायी है किन्तु सरकार परिवतनशील है—राज्य स्थायी और स्थिर है जबकि सरकार अस्थायी और परिवतनशील है। सरकारें बदलती रहती हैं, परन्तु इससे राज्य क स्थायित्व मे कोई अन्तर नही आता। राज्य का अस्तित्व कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही समाप्त हो सकता है जिनमे से प्रमुख ये हैं—

(क) पराजय के बाद विजयी राज्य मे मिला लिया जाना—सन् 1866 में पराजित होने पर हनोवर राज्य प्रशा के राज्य मे मिला लिया गया था और उसका अस्तित्व समाप्त हो गया था।

(ख) स्वेच्छापूर्वक दूसरे राज्य मे मिल जाना—इटली के छोटे-छोटे राज्यो ने मिलकर इटालियन राज्य का निर्माण किया था। सन् 1958 मे मिस्र और सीरिया द्वारा सयुक्त अरब गणराज्य का निमाण किया गया। एसी स्थिति मे इन राज्यो का पृथक् इकाईयो के रूप मे अस्तित्व समाप्त हो गया।

(ग) राज्य की धरती या निवासियों का विनाश—विलियम ऑफ आरेंज (William of Orange) की यह धमकी थी कि वह नीदरलण्ड्स (Netherlands) के बाँधो को ताडकर राज्य को विनाश कर देगा, पर उसे स्पन से पराजित न होने दगा। आज क युग म एटम, अणु और उद्जन बम से ध्वस्त होने पर किसी भी राज्य का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो सकता है।

4 राज्य सरकार की अपेक्षा अधिक व्यापक—राज्य एक व्यापक शब्द है जबकि सरकार एक सीमित शब्द है। राज्य में देश की सम्पूर्ण जनसख्या शामिल

होती है राज्य मे शासन चलाने वाली सरकार के अधिकारी और जनता दोनो ही सम्मिलित होते हैं जबकि सरकार में केवल उन्हीं व्यक्तियो की गणना होती है जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से शासन सूत्र से होता है। संक्षेप म, राज्य मे सभी नागरिक सम्मिलित होते हैं लेकिन सरकार राज्य का एक अवयवी सगठन है जिसमें शासक वग को सम्मिलित किया जाता है, शासित वग को नहीं।

5 राज्य अमूर्त, सरकार मूर्त —राज्य एक अमूर्त (Abstract) सस्था है परन्तु सरकार इस अमूर्त सस्था का एक मूर्त (Concrete) अग है राज्य का कोई भौतिक अथवा साकार रूप नही होता किन्तु सरकार एक साकार, स्पष्ट और व्यक्त वस्तु है। सरकार व्यक्तियो का वह निश्चित समूह है जिसके हाथ मे शासन की बागडोर होती है। यही कारण है कि राज्य अच्छा या बुरा नही होता, अपितु सरकार अच्छी या बुरी होती है। सरकार की आलोचना हो सकती है किन्तु राज्य की नहीं।

6 राज्य का सवत्र एक रूप सरकार के अनेक रूप—राज्य का स्वरूप सदव एकसा रहता है जबकि सरकार का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है। सभी राज्य एक ही प्रकार क होते हैं सभी राज्यो में जनसख्या भूमि, सरकार और सावभौमिकता के चारो तत्व होते हैं। लेकिन सरकार का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है कहीं पर राजतन्त्रीय सरकार हो सकती है तो कहीं प्रजातन्त्रीय अथवा तानाशाहीपूर्ण। इसी तरह कुछ देशो मे सघात्मक व्यवस्था है। कहने का अभिप्राय है कि सरकार के स्वरूपो मे भिन्नता की सभावना है जबकि राज्य के स्वरूप मे नहीं। वह तो सदव एक ही स्वरूप का होता है।

7 राज्य सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न, सरकार नहीं —राज्य प्रभुत्व सम्पन्न होता है। यह राजनीतिक रूप से सगठित जनसमूह है जिसके पास एक निश्चित प्रदेश होता है। सावभौम होने के कारण राज्य असीमित शक्तियो का स्वामी है। किन्तु सरकार राज्य द्वारा निर्मित जीवन यन्त्र है जिसे सीमित शक्तियाँ राज्य से प्राप्त होती हैं। सरकार की स्थिति एक ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी के डाइरेक्टर की तरह होती है। कम्पनी के शेयर होल्डर ही कम्पनी के मालिक होते हैं। कम्पनी के डायरेक्टर केवल उन्ही अधिकारो का उपभोग करते हैं जो उन्हे कम्पनी के शेयर होल्डरा की आम सभा द्वारा प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार 'सरकार को कोई प्रभुसत्ता प्राप्त नही होती। उसके पास कोई मौलिक असीमित अधिकार नही होता। उसके पास तो केवल राज्य द्वारा अपने सविधान द्वारा दिए गए अधिकार होते हैं।''

8 राज्य का विरोध असम्भव, सरकार का सम्भव—सरकार के विरुद्ध लोगो को विरोध का अधिकार होता है परन्तु राज्य के विरुद्ध नहीं। चूँकि राज्य ही अधिकारो का स्रोत है। इसके अलावा राज्य एक विचार मात्र है, वह अदृश्य है जबकि सरकार एक स्थूल सस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य और सरकार अपने उद्देश्य, सदस्यता, प्रकृति और सगठन म एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। पारिभाषिक दृष्टि से राज्य

एक विचार-मात्र है जबकि सरकार एक यन्त्र है। पर इन स्थूल अन्तरो के बावजूद राज्य और सरकार एक दूसरे से इतने सम्बद्ध और संयुक्त हैं कि राज्यो का वर्गीकरण करते समय हमें सरकारो की प्रकृति का ही सहारा लेना पड़ता है।

राज्य और सघ
(State and Association)
अथवा
क्या राज्य एक सघ है ?
(Is State an Association ?)

मनुष्य की अगणित आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति वह स्वय नही कर सकता। उनकी पूर्ति के लिए उसे दूसरे सामाजिक प्राणियो का सहयोग लेना पड़ता है। इसी आवश्यकता से सामाजिक समुदायो की रचना होती है। आज का समाज विभिन्न समुदाया का एक जटिल जाल है।

मनुष्य का स्वाभाविक विकास ऐच्छिक सघो द्वारा होता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य एक समुदाय निर्माण करने वाला प्राणी है। पुरान जमाने मे मानव जीवन सरल था, इसलिए उस समय समुदायो की सख्या भी बहुत कम थी। परन्तु आधुनिक काल मे इन समुदायो की संख्या बहुत बढ़ गई है। इसका मुख्य कारण जीवन की वे जटिलताएँ हैं जो दिनोदिन औद्योगीकरण और वैज्ञानिकता के कारण बढ़ती जा रही हैं।

किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाया गया मनुष्यो का सगठन ही सघ कहलाता है। मेकाइवर के शब्दो में "सघ ऐसे व्यक्तियो तथा सदस्यो का समूह है जिनकी एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के सम्बन्ध मे एक सी राय होती है तथा जो आपस मे सयुक्त और सगठित होता है।" कोल (Cole) के अनुसार भी संघ एस व्यक्तियो का समूह है जिनके एक या अनेक समान उद्देश्य होते हैं। वे इन उद्देश्यो की पूर्ति अपने सहयोगी कार्यों द्वारा करना चाहते हैं।

क्या राज्य एक सघ है ?

आधुनिक युग मे बहुसत्तावादियों (Pluralists) का कहना है कि राज्य और अन्य सघो मे कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। बहुसत्तावादियो के अनुसार राज्य भी अन्य ऐच्छिक सघो की भाँति एक सघ है। राज्य को सर्वशक्तिमान, सर्वोपरि एव सर्वव्यापक संस्था मानना एक अनिष्टकारी धारणा है। मानव के व्यक्तित्व के अनेक पहलू होते हैं। कोई एक संघ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। यदि राज्य व्यक्ति के राजनीतिक पक्ष का विकास करता है, तो धार्मिक संघ जैसे चर्च, उसके आध्यात्मिक पक्ष का और आर्थिक सांस्कृतिक एवं अन्य संघ उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षो का विकास करते हैं। मनुष्य की अनेक ऐसी सामाजिक आवश्यकताएँ एव इच्छाएँ होती हैं जिनकी पूर्ति राज्य नहीं कर सकता। अपनी विभिन्न आवश्यकताओ एव इच्छाओ की सन्तुष्टि के लिए व्यक्ति को विभिन्न समुदाया

निर्माण करना पडता है । अत मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास मे अन्य सघो क योग राज्य के योग से किसी भी प्रकार हीन नहीं ठहराया जा सकता। इसी तथ्य को सामने रखकर यह कहा गया है कि— 'राज्य तथा चच और मजदूर सघ जसे अन्य समुदायो मे कोई आधारभूत अन्तर नही है।" प्रो० लॉस्की भी राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि राज्य और एक विशेष सघ मे सघष हो जाये तो यह निश्चयात्मक रूप से नही कहा जा सकता कि व्यक्ति उस सघ विशेष से पूर्णतया विमुख होकर राज्य का पूण पक्ष लेगा। इस सम्बन्ध मे मेकाइवर का कहना है कि—

"आज विशाल सस्थाएँ या सघ न तो राज्य के भाग हैं और न ही उसकी प्रजा मात्र हैं। वे अपने स्वन अधिकार के आधार पर विकसित होते हैं और इस अधिकार से भी कम नही होते । वे अपने अधिकारा का प्रयाग उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार राज्य करता है। कुटुम्ब इस अधिकार को कि उसका बच्चा राज्य की सतति है, अस्वीकार कर देता है। व्यावसायिक सघ के सद य राज्य की अपेक्षा व्यावसायिक सघ को अधिक भक्ति प्रदर्शित करते हैं। वित्त और उद्योग, वाणिज्य और कृषि सबधी सघ स्वय को राज्य के नागरिक न समझ कर उसके मालिक बनने की खोज मे रहते है। सास्कृतिक सगठनो ने अपने अधिकारो को कायम रखते हुए बिना राजनतिक निर्देशन के अपने निकट के हितो को पूरा किया है। विश्व क अनेक हितवादी संगठनो मे से एक स्थान राज्य को भी प्राप्त करना चाहिए।"

उक्त आधारो पर ही यह कहा जाता है कि राज्य को सघो पर अपनी नतिक श्रेष्ठता का अधिकार छोड देना चाहिए। राज्य को सव शक्तिमान और एकाकी सस्थान नही माना जाना चाहिए। राज्य भी एक सघ है (State is an association) और इस नाते व्यक्ति की भक्ति का वह निरकुश अधिष्ठाता नही हो सकता।

पर वास्तव मे उपयु क्त धारणा अनुचित है। राज्य निश्चित रूप स अन्य सघो या समुदायो से उच्च और श्रेष्ठ है क्योकि वही यह दायित्व सम्भालता है कि अन्य समुदाय जिन उद्देश्यो को लेकर चलत हैं व समाज के लिए उपयोगी हैं तथा उनम एसी कोई बात नही है जो समाज में कलह पैदा कर दे। स्वयम मेकाइवर ने स्वीकार किया है कि, "समाज की व्यवस्था को सुरक्षित रखना एसा काय है जो राज्य के लिए महत्वपूण है तथा यही उस अन्य समुदायो से भिन्न कर देता है।" राज्य ही वह सस्था है जो व्यक्तियो तथा व्यक्ति समूहों के मध्य व्यवस्था स्थापित करती है तथा शान्ति को आश्रय देती है।

राज्य तथा सघ मे अन्तर

उपर्यु क्त विवेचन के प्रकाश में हमें देखना चाहिए कि राज्य और अन्य संघों में क्या अन्तर है—

1 राज्य की निश्चित सीमा सघ की नहीं—निश्चित भू भाग राज्य का

अनिवाय तत्त्व है, सघ का नही। सघ की सीमा को भौगोलिक दृष्टिकोण से सीमित नही किया जा सकता। उदाहरणाथ, रामकृष्ण मिशन, रेडक्रास सोसाइटी आदि ऐसे सघ हैं जिनकी शाखाएँ विश्व भर मे फैली हुई हैं। इसके अतिरिक्त एक ही राज्य में भी अनेक सघ हो सकते हैं। आशय यह है कि सीमा की दृष्टि से सघ राज्य की अपेक्षा व्यापक भी हो सकता है और सीमित भी।

2 राज्य की सदस्यता अनिवार्य, सघ की ऐच्छिक—राज्य और सघो की सदस्यता की प्रकृति मे भी अन्तर है। राज्य की सदस्यता अनिवाय है। परिवार की भाँति व्यक्ति राज्य का सदस्य स्वाभाविक रूप से होता है। राज्य विशेष की नागरिकता का त्याग हो सकता है पर राज्य का नही। इसके विपरीत सघों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार सघो की सदस्यता को ग्रहण और उसका परित्याग कर सकता है। साथ ही वह एक ही समय अनेक सघो का सदस्य बन सकता है।

3 राज्य स्थायी सघ अस्थायी—राज्य लगभग स्थायी सगठन है जबकि अन्य सघ अस्थायी हैं। परिवतन राज्य के स्वरूप मे नही, सरकार के स्वरूप मे होता है। किसी राज्य मे परिवतन अथवा विलय तभी सम्भव है। जब एक राज्य दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त कर ले अथवा राज्य किसी सघ राज्य मे विलीन होने की इच्छा से अपनी सावभौमिकता का परित्याग करदे। पर इस स्थिति म भी राज्य की सीमा और शासन-व्यवस्था में ही परिवतन होता है, अन्यथा राज्य का स्थायित्व बना रहता है। इसके विपरीत सघो का अस्तित्व प्राय अस्थायी होता है। कुछ सघ तो कवल किसी काय विशेष के लिए ही पदा होते हैं और उद्देश्यो की प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं। सघ समय-समय पर आवश्यकतानुसार बनत और भग होते रहत हैं। हम प्रतिदिन सघो को बनते बिगडते देखते हैं राज्य को नही।

4 राज्य का उद्देश्य व्यापक सघ का सीमित—राज्य के उद्देश्य बहुमुखी और व्यापक होते हैं जो नागरिक जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पश करते हैं। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का निरन्तर विकास है। विकास का माग निस्सीम होता है। इसक विपरीत सघ विशिष्ट और सीमित उद्देश्य लिए होते हैं। वे नागरिक जीवन के किसी विशेष पहलू अथवा उद्देश्य से ही सम्बन्धित रहते हैं। सघो के विपरीत राज्य का एक मुख्य काय व्यवस्था स्थापित करना है, अत वह जीवन की उन समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति में सलग्न रहता है जिनके लिए इस व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

5 राज्य सावभौम है, सघ नहीं—राज्य के पास सम्प्रभु सत्ता होती है, सघ के पास नही। राज्य अपने निणयो को बलपूवक लागू कर सकता है सघ नही। सघ के पास राज्य की भाँति दमन की अथवा दण्डित करने की कानूनी शक्ति नही होती। सघ राज्य की भाँति अपने सदस्यो को शारीरिक दण्ड नही दे सकता। सघ अपने निणयो का उल्लघन करने पर दड के रूप मे किसी सदस्य की सदस्यता छीन

सकता है, पर राज्य की भाँति उसे कठघरे मे खडा नही कर सकता और न ही फाँसी जैसा दण्ड दे सकता है।

6 राज्य को कर लगाने का अधिकार, सघ को नहीं—राज्य को नागरिको पर करारोपण का अधिकार है। कर न चुकाने पर राजकीय न्यायालय व्यक्ति को दण्डित कर सकते हैं। सघो को ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। वह केवल सदस्यों से चन्दा वसूल कर सकता है जो ऐच्छिक होता है।

7 राज्य सघ पर नियन्त्रण करता है, सघ राज्य पर नहीं - अन्त में सभी सघ राज्य द्वारा नियन्त्रित और नियमित होते हैं। राज्य को अधिकार होता है कि वह किसी भी सघ को भग कर दे, सघो के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं होती।

स्पष्ट है कि राज्य सघो के समकक्ष नहीं बल्कि सर्वोपरि और सब-सत्तावान है जो अन्य समुदायो व सघो को नियन्त्रित करता है। वास्तव में "राज्य सघो का सघ (An association of associations) है।" इस तथ्य को लगभग सभी बहुसमुदायवादियो ने स्वीकार किया है। फिगिस के शब्दो मे, 'विभिन्न सघो के कार्यों पर नियन्त्रण करने तथा उन्हें परस्पर एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने से रोकने के लिए राज्य जैसे एक शक्ति-सम्पन्न सघ की आवश्यकता है जो सभी सघो को आदेश पालन के लिए बाध्य कर सके।" व्यक्तियो और व्यक्ति समूहो के मध्य व्यवस्था और सामजस्य स्थापित करने, उनके अधिकारों तथा कार्यक्षेत्र को परिभाषित करने और व्यक्ति समाज तथा देश की सर्वांगीण उन्नति का जितना दायित्व राज्य वहन करता है उतना अन्य सघ अथवा सब सघ मिलकर भी नही करते।

अत निष्कर्ष रूप में यही कहा जाना चाहिए कि सघो का राज्य का पूरक बन कर रहना ही उचित है। यदि वे राज्य के पूरक हैं तो वे बहुत उपयोगी होगे। "जीवन और विकसित राजनीतिक सगठन सम्प्रभु राज्य की उपस्थिति में ही क्रियाशील रह सकते हैं। राज्य जब अपने उच्चतम प्रतिष्ठा बिन्दु से पदच्युत हो जाता है तो इस बात का पूरा खतरा रहता है कि समाज उसी आदिम अवस्था को लौट जायग तथा जिसकी लाठी उसकी भैस वाली कहावत चरितार्थ होन लगेगी। यह वाछनीय है कि राज्य निरकुश आचरण न करके, अपने कल्याणकारी स्वरूप को कायम रखे।

राज्य की सम्प्रभुता और सामूहिक स्वायत्तता
(State Sovereignty and Group Autonomy)

सम्प्रभुता राज्य का अनिवार्य तत्त्व है जो राज्य को समाज व अन्य समुदायो की अपेक्षा श्रेष्ठता प्रदान करती है और उसके हाथ म एक व्यापक नियमनकारी, निरीक्षणात्मक और नियन्त्रणकारी सत्ता दे देती है।

राज्य की सम्प्रभुता की सीमा क्या है अथवा क्या होनी चाहिए या दूसरे शब्दो मे सम्प्रभुता के सदर्भ मे राज्य को किस स्थिति का स्वामी होना चाहिए और

इस रूप मे उसकी प्रकृति क्या होनी चाहिए—ये विषय सदा से अत्यधिक विवादास्पद और महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

हीगलवादी धारणा

हीगलवादी विचार राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' (God on Earth) के रूप मे मानता है। हीगलवाद के अनुसार राज्य को महान् व अधिक अधिकार ही नही, बडे से बडे नैतिक अधिकार भी प्राप्त हैं। राज्य व्यक्ति के ऊपर है और सर्वोच्च नैतिक समुदाय है। समस्त नैतिकता कानून आदि उसी के अन्तर्गत हैं। उसके ऊपर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियमन नही हो सकता। नैतिकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य मे ही होती है और राज्य ही नैतिक मापदण्ड का संरक्षक है। वह स्वतन्त्र है प्रतिबन्धो से पूर्णतया मुक्त है और स्वय अपना नियामक है। वह अपने नागरिको की सामाजिक नैतिकता को अपने में समेटे हुए है और उनका प्रतिनिधित्व करता है। वह दूसरो के लिए नैतिकता के मापदण्ड स्थापित करता है स्वय उसके कार्य उन मापदण्डो से नही नापे जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वय अपना मापदण्ड है अर्थात् वह सदाचार के अपने ही आदर्श का पालन करता है। श्रेष्ठ या निकृष्ट- इन नैतिक शब्दो का प्रयोग साधारण अर्थ मे राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नही किया जा सकता। हीगल के शब्दो मे राज्य "आध्यात्मिक और भौतिक दोनो ही जगतो का केन्द्र है।"

बहुलवादी धारणा

लेकिन राज्य की इतनी सब महत्त्वपूर्ण स्थिति बहुलवादियो को मान्य नही है। बहुलवाद वास्तव मे हीगलवादी विचार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। इसके अनुसार समाज मे अनेक सघ या समुदाय होते हैं जिनमे से हर एक की क्षमता और उसके अधिकार सीमित होते हैं। राज्य भी ऐसे सघो या समुदायो में से एक है, इससे अधिक और कुछ नही है। बहुलवादी विचारको को इस बात मे बल मिला है कि अत्यधिक कार्यभार से दबे होने के कारण वर्तमान राज्य-व्यवस्था अपने सब कार्य ठीक ढग से नही कर पाती। वार्ड के कथनानुसार, एक ओर तो केन्द्र को इतने अधिक कार्य करने होते हैं कि काम ठीक ढग से नही हो पाता और दूसरी ओर ग्राम या नगर स्तर पर करने के कोई कार्य ही नही होते। केन्द्र के इस कार्यभार को कम करने के लिए और समाज के कार्य लक्ष्य मे वृद्धि के लिए बहुलवादी विकेन्द्रीकृत राज्य (Decentralised State) का समर्थन करते हैं। मेकाइवर के अनुसार 'सर्व शक्तिमत्ता' (Omnipotence) का मतलब अक्षमता और असामर्थ्य है।

अराजकतावादी और श्रमिक सघवादी राज्य का उन्मूलन चाहते हैं जबकि बहुलवादी राज्य का अस्तित्व बनाये रखते हुए उससे उसकी सम्प्रभुता छीन लेना चाहते हैं। इनका विश्वास है कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त यूरोपीय देशों के गृह-युद्ध का तर्क संगत परिणाम था और इसलिए सम्प्रभुता राज्य के विकास की दिशा मे स्वाभाविक मांग थी, लेकिन आज राज्य गृह-युद्ध से मुक्त है और

पर बल दिया जा रहा है, अत अब एकात्मक (Monistic) सिद्धान्त की अपेक्षा बहुलवादी (Pluralistic) सिद्धान्त अधिक उपयुक्त है।

डा० आशीर्वादम का कथन है कि राज्य की सम्प्रभुता पर निम्नलिखित तीन तरह से आक्रमण किया जाता है—

1 राज्य समाज के दूसरे जरूरी सघो से न तो अच्छा है और न उनसे पहले का है, इसलिए सम्प्रभुता का विभाजन होना चाहिए और सत्ता सघो में बट जानी चाहिए।

2 जहा तक एक राज्य का दूसरे राज्य से सम्बन्ध है वह न तो स्वतन्त्र है और न ही उसे स्वतन्त्र होना चाहिए।

3 राज्य विधि के ऊपर नही है विधि राज्य के ऊपर और राज्य से करीब करीब स्वतन्त्र है।

राज्य की सम्प्रभुता और सघ की स्वतन्त्रता—बहुलवाद राज्य की परम निरकुशता अथवा उसके सवव्यापी दावो के विरुद्ध विद्रोह है। बहुलवादी विचार से राज्य न तो सबको अपने अन्दर समेट लेने वाला है और न सब शक्तिमान् तथा सब व्यापी ही है। गीयर्क और मेटलण्ड के अनुसार समाज के स्थायी सघो की अपनी चेतना और इच्छा होती है। प्रत्येक सामुदायिक सघ का अपना व्यक्तित्व होता है और विधियो के निर्माण तथा विस्तार मे उनका हाथ रहता है। यद्यपि विधि निर्माण में राज्य का हाथ प्रमुख है तथापि राज्य अकेले ही विधि निर्माण नहीं करता। ये दोनो ही लेखक यद्यपि राज्य की चरम सम्प्रभुता को स्वीकार नही करते तथापि इतना मानते हैं कि राज्य की वैधानिक स्थिति उच्चतम होती है और समाज के विभिन्न सघो मे समन्वय एव सन्तुलन कायम करने के लिए वह बहुत ही महत्वपूर्ण है।

सघो के उक्त 'वास्तविक व्यक्तित्व' (Real Personality) के सिद्धान्त का समर्थन फिग्गिस ने धर्म सघ (चर्च) के बारे मे किया है। फिगिस के अनुसार धर्म सघ का अस्तित्व राज्य की दया पर निर्भर नही करता। धर्म सघ मे व्यक्ति की ही तरह आत्म विकास की शक्ति होती है। 'इसका निगमित व्यक्तित्व न तो राज्य द्वारा प्रदान किया जाता है और न राज्य द्वारा छीना ही जा सकता है। राज्य तो केवल इस व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान करता है।' फिगिस का मत है कि सप्रभुता का परम्परागत सिद्धान्त 'एक सम्माननीय अधविश्वास'' है। समाज के विभिन्न कार्य-कलाप और कार्य क्षेत्र होते हैं। इनमे विभिन्न सघो को स्वतन्त्र रूप से काम करते रहना चाहिए। राज्य का इनमे हस्तक्षेप नही होना चाहिए। फिगिस की ही तरह के दावे पालबोकूर और डर्कहाइम ने समाज के व्यावसायिक और आर्थिक सघो की ओर से किये हैं।

हाल ही में लॉस्की ने एक ऐसी व्यवस्था का समर्थन किया है जिसमे "ऐसे सघों को स्वायत्त शासन के पूर्ण अधिकार प्राप्त हो और राज्य को एकमात्र अनिवार्य तथा मनुष्य के सार्वजनिक हितो का एकमात्र प्रतिनिधि न माना जाय।"

लॉस्की के अनुसार "असीमित और अनुत्तरदायी राज्य का सिद्धान्त मानवता क हितो से मेल नही खाता।" राज्य की सम्प्रभुता का भी इसी तरह लोप हो जायेगा जिस तरह राजाओ के दवी अधिकार का हो गया है। लॉस्की राज्य की चरम सम्प्रभुता को अर्थहीन मानता है। वह यद्यपि राज्य को श्रमिक सघ के स्तर पर तो नही उतारता, यह अवश्य कहता है कि सम्प्रभुता को अनेक सघों मे बँट जाना चाहिए, राज्य को विभिन्न सघो में समन्वय स्थापित करने का काय करना चाहिए, उसे सर्वाधिकारी बनने का कोई हक नही है। लॉस्की के अनुसार शक्तियो का सम वय होना चाहिए तथा अधिकार सत्ता को सघात्मक हो जाना चाहिए।

जी० डी० एच० कोल और अन्य श्रेणी समाजवादियो के मतानुसार समाज का विभाजन उपभोक्ताओ और उत्पादको म हो जाना चाहिए। उनके मत को साराश मे प्रस्तुत करते हुए डॉ० आशीर्वादम ने लिखा है—"वे इन दोनो की सह-सम्प्रभुता (Co Sovereignty) का समथन करते हैं। उत्पादको को राष्ट्रीय सघो मे सगठित होना चाहिए और इन सघो को न केवल प्रशासकीय बल्कि विधायी अधिकार भी प्राप्त होने चाहिए। इस अवस्था मे न्यायपालिका का कर्त्तव्य यह होगा कि वह राज्य विधि की और सघो की उन विधियो की व्याख्या करे जिन्हे उपभोक्ताओ और उत्पादको की ससदें क्रमश बनायगी। इन दोनो के बीच होने वाले सघर्षों को एक समन्वय सस्था (Co-o dinating agency) तय करेगी। इस सस्था मे सभी अनिवाय सघो के प्रतिनिधि शामिल होगे। इसका स्वरूप ससद् के दोना सदनों की एक सयुक्त समिति के समान होगा। इस समन्वय सस्था को दबाव डालने की शक्ति और न्यायपालिका तथा विधि व पुलिस के सब अधिकार प्राप्त होगे।" डॉ० आशीर्वादम् का कहना है कि "यह अवस्था उस व्यक्ति के लिए तकसगत नहीं जान पडती जो राज्य की सम्प्रभुता को बिलकुल ही नामजूर करता है।" वाकर का यह मत उपयुक्त है कि "य श्रेणी समाजवादी भी फिगिस की भाँति राज्य सत्ता का अस्वीकार नही करते। य तो सत्ता के उस विभाजन को नामजूर करते हैं जिसके कारण उन सघो को असुविधा होती ह जिनमे उसकी रुचि होती ह।"

राज्य की सर्वोच्च सम्प्रभुता पर किये गये आक्रमण को मेकाइवर जसे समकालीन विचारको का भी समथन प्राप्त ह। मेकाइवर के अनुसार राज्य समाज की विभिन्न सस्थाओ मे से केवल एक है यद्यपि इसके काय कुछ अनूठे हैं। समाज के अन्य सघ भी समाज के लिए उतने ही स्वाभाविक हैं जितना कि स्वय राज्य, अत राज्य को अन्य सघो का निर्माता नही कहा जा सकता मेकाइवर की दृष्टि मे यद्यपि राज्य का अस्तित्व व्यक्तियो और सघो के सावजनिक कल्याण के लिए है तथापि सभी सावजनिक हित राज्य की सीमा के अन्तगत नही आते। हजारो सांस्कृतिक एव आर्थिक सघो के आंशिक हित भी सावजनिक हित के अग हैं। अत राज्य का असली काय तो यही ह कि वह सामाजिक सम्बन्धो की सम्पूण व्यवस्था म एकता कायम रख। मेकाइवर राज्य की सम्प्रभुता की वधिक धारणा को अनुपयुक्त और राज्य की प्रकृति की व्याख्या करने मे असमर्थ बतलाता ह।

बहुलवादियो के तक मे सत्य का पर्याप्त अश है, तथापि उन्होने अपने तर्कों को बहुत बढा चढा कर प्रस्तुत किया है। यह सही है कि राज्य की अत्यधिक प्रशसा के विरुद्ध यह एक उचित प्रतिक्रिया है, क्योकि राज्य की अधिक प्रधानता चाहे जितनी हो, उस पर नतिक प्रतिबन्ध होना ही चाहिए, परन्तु फिर भी बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता को व्यथ सिद्ध करने मे सफल नही हुए हैं। उनकी इस बात म कि समूहों तथा सस्थाओ का आधुनिक समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो एव नतिकता आदि का राज्य की सम्प्रभुता पर प्रभाव पडता है, काफी सच्चाई है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राज्य सम्प्रभु नही है।

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि विभिन्न समुदायो के पारस्परिक झगडा और विवादो को शान्ति या शक्ति से सुलझाने का सामथ्य राज्य मे ही है। वही उनके अनुचित कार्यो और गतिविधियो पर नियन्त्रण रख सकता है। समन्वय और सन्तुलन का काय सन्तोषजनक ढग से करने के लिए राज्य को अधिक प्रधानता होनी चाहिए। सर्वोच्च नियन्त्रण शक्ति के बिना राज्य अपने और अन्य सघो के सम्बन्धो को सघो के पारस्परिक सम्बन्धो को तथा सघो और उनके सदस्यो के सम्बन्धो को ठीक नहीं रख सकता।

बहुलवादी यह मान लेते हैं कि समाज के अन्तगत विभिन्न सघ अथवा वग आपस मे समानान्तर होते हैं तथा उनके काय परस्पर नही टकराते, लेकिन यह मान्यता सही नही है। यदि ऐसा होता तो सम्प्रभु राज्य की जरूरत ही नही रह जाती। वास्तविकता यह है कि सामाजिक जीवन मे स्वार्थों और निष्ठाओ म सदव सघर्ष चलता रहता है और इस परिस्थिति को ठीक करने के लिए एव शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य की जरूरत होती है।

आज हीगल के निरकुशतावाद का समर्थन करने वाले इने गिने व्यक्ति ही हैं और वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य की वास्तविक शक्ति सफल अवज्ञा की सम्भावनाओ से तथा नैतिक और बौद्धिक प्रतिबन्धो से सीमित है। पर इससे बहुलवादियो का यह सोचना भ्रामक है कि राज्य सम्प्रभुतासम्पन्न नही है तथा व्यक्ति की निष्ठा पर उसका उच्चतर अधिकार नहीं है। गटिल ने ठीक ही कहा है कि राज्य अपनी चरम वैधिक सम्प्रभुता का बलिदान किए बिना भी नतिक उत्तरदायित्वो को स्वीकार कर सकता है अपने काय-क्षेत्र को सीमित कर सकता है एव स्थानीय विकेन्द्रीकरण तथा वग हितो के प्रतिनिधित्व के अवसर प्रदान करता है।

अन्त में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि नतिकता रीति रिवाज आदि स सम्बन्धित आपत्तियो का राज्य के प्रभुत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये आपत्तियाँ तो शासन के स्वेच्छाचार के विरुद्ध हैं। राज्य और शासन के भेद के सम्बन्ध म भ्रान्ति मे पडकर य आपत्तियाँ की गई हैं। फिर यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारों, सन्धियों और नियमों आदि को मानना-न-मानना भी राज्य की इच्छा पर निभर करता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय आचरण का राज्य को ध्यान रखना चाहिए, पर यदि

राज्य विरोध करने की ही ठान ले तो ऐसी कोई सत्ता नही है जो राज्य को ऐसा करने से रोक सके।

स्पष्ट है कि सम्प्रभुता के सन्दर्भ मे राज्य की सर्वोच्चता पर वैधानिक रूप से आपत्ति नही की जा सकती। एक सर्वोपरि और सब प्रभुत्व सम्पन्न शक्ति के अभाव मे अन्य समुदाय राज्य मे अराजकता पैदा कर सकते हैं। राज्य को समुदायो के बराबर धरातल पर ला खडा करना अनुचित है। समाज मे शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने की विशेष शक्ति राज्य के ही पास है और इसी शक्ति का नाम सम्प्रभुता है। अवश्य ही यह माना जा सकता है कि यद्यपि राज्य के प्रभुत्व पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नही हो सकता तथापि इसे नैतिक मर्यादाओ का पालन अवश्य करना चाहिए और यथा सम्भव प्रभुत्व सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे बहिष्कार होना चाहिए।

राज्य की सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीयता
(State Sovereignty and Internationalism)

सम्प्रभुता के सन्दर्भ मे राज्य की सर्वोच्चता पर पिछले कुछ समय से अन्तर्राष्ट्रीय वकील तथा विश्व शान्ति के प्रेमी प्रहार करते रहे हैं। उनकी आलोचना मुख्यत राज्य की बाह्य सम्प्रभुता (External Sovereignty) पर है। उनका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य को मनमानी करने की छूट नहीं होनी चाहिए क्योंकि इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को प्रोत्साहन देना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय वकीलो के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए डा० आशीर्वादम् ने लिखा है कि, "यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अभी तक वास्तविक विधि का पद नही मिल पाया है और इसमे किसी प्रकार की दण्ड व्यवस्था भी नही है पर उसमे जन मत की बहुत बडी शक्ति है। उनका (अन्तर्राष्ट्रीय वकीलो का) यह भी कहना है कि अब इस बात की कोशिश हो रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे दण्ड की व्यवस्था कर उसे वास्तविक विधि बना दिया जाय। वे बाह्य सम्प्रभुता के अपेक्षित स्वरूप पर जोर देते हैं और धर्म-सम्प्रभु राज्यो की चर्चा करते हैं। उनका कहना है कि राज्य को आन्तरिक मामलो मे अवश्य ही सम्प्रभुतासम्पन्न होना चाहिए, पर बाहरी मामलो मे राज्य को मनमानी करने की छूट नही होनी चाहिए। वे इस वर्तमान अवस्था को कायम रखना बिलकुल मूर्खतापूर्ण समझते है कि कोई भी राज्य जब चाहता है तब अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के अधिकार को मानने से इनकार कर बैठता है और अन्तर्राष्ट्रीय करारो को भग कर देता है।"

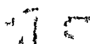
डॉ० आशीर्वादम् ने राज्य की सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीयता पर विचार प्रकट करते हुए आगे लिखा है कि यह एक रोचक बात है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद नूरेम्बर्ग के मुकदमे मे यह स्वीकार नही किया गया कि राज्यों की सम्प्रभुता को आक्रामक युद्ध छेड़ने का अधिकार है। उस समय कामनवील ने लिखा था, 'हमने जर्मन सम्प्रभुता को भी भग कर दिया (लेकिन ऐसा करने मे) विजयी राष्ट्रो ने अपनी पूर्ण सम्प्रभुता को भी भग कर दिया है।' इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ के

घोषणा-पत्र की दूसरी धारा के चौथे और सातवें अनुच्छेदों तथा चौबीसवी धारा के पहले अनुच्छेद द्वारा सम्प्रभुता को प्रतिबन्धित कर दिया गया है।"

राज्य की बाह्य सम्प्रभुता पर अंकुश लगाने की वकालत विश्व के जाने माने राजनीतिशास्त्री करते रहे हैं और वास्तव मे मानवता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार व शान्ति का भी यह तकाजा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य को अपनी सम्प्रभुता की शक्ति का मनमाना प्रयोग नहीं करना चाहिए। आज के आणविक युग में इस प्रकार का आचरण इतना भयावह हो सकता है कि सम्पूर्ण मानवता ही खतरे मे पड सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के प्रबल समर्थक लॉस्की ने सम्प्रभुता पर की जाने वाली आधुनिक आपत्तियो का समर्थन किया है। उन्होने असीमित बाह्य सम्प्रभुता बनाए रखने का विरोध करते हुए कहा कि, 'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य का विचार मानव कल्याण के लिए घातक है। एक राज्य अन्य राज्यो के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे इसका फैसला करने का अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नही दिया जा सकता।' वस्तुत नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीयता की माँग है कि राज्यो को अपना पारस्परिक जीवन व्यवहार समझौतावादी प्रवृत्ति से चलाना चाहिए। उदाहरणार्थ किसी एक राष्ट्र को अकेले ही इस बात का निर्णय नही करना चाहिए कि वह किस प्रकार के शस्त्रास्त्र बनाएगा अथवा दूसरे देशो से किन लोगों को अपने यहाँ आने देगा। लॉस्की के अनुसार, 'इन विषयों का प्रभाव सर्व-साधारण के जीवन पर पडता है। इनकी व्यवस्था के लिए इस बात की आवश्यकता है कि एक सुसंगठित विश्व संगठन हो। यदि मनुष्य इस महान् मानव-समाज में रहना चाहते हैं तो उन्हें परस्पर सहयोग करना सीखना होगा। एक विश्व राज्य में वह चाहे जिस तरह बने और उसमें चाहे जिस मात्रा में विकेन्द्रीकरण हो, पृथक् सम्प्रभुता के लिए कोई स्थान नहीं है।"

निष्कर्षत इस बात पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि संसार और मानवता की दृष्टि से राज्य की सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध होना चाहिए। आज के युग में बाह्य सम्प्रभुता पर उतना बल नहीं दिया जाना चाहिए जितना आन्तरिक सम्प्रभुता पर। आज संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था विश्व-सहयोग और शान्ति का प्रभावशाली साधन बन सकती है, लेकिन ऐसा होना सही रूप में तभी सम्भव है जब संसार के राष्ट्र अपनी परम सम्प्रभुता की धारणा में आवश्यक सुधार करलें।

यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य अपनी सम्प्रभुता पर पूर्ण अथवा आंशिक अंकुश लगाले या उसका पूर्ण अथवा आंशिक परित्याग करदे तो सम्प्रभुता के सिद्धान्त का क्या होगा क्योंकि सम् [illegible] तो सम्प्रभुता को पूर्ण असीमित तथा अविभाज्य [illegible] करता है। [illegible] आज के युग में जब संसार बारूद के ढेर पर [illegible] सम्प्र[illegible] कायम रखने के लिए हठ करना उचित नहीं [illegible] [illegible] सिद्धान्त के साथ संसार की [illegible] की अपेक्षा मानवता का कल्याण कहीं अधिक



सम्प्रभुता का निवास
(Location of Sovereignty)

विद्वान सम्प्रभुता के केन्द्र बिन्दु के बारे मे एक मत नही हैं। सम्प्रभुता के केन्द्र बिन्दुओ के प्राय तीन वर्ग किए जाते हैं—

(क) राज्य की जनता,
(ख) सविधान बनाने एव उसमे सशोधन करने वाली शक्ति; तथा
(ग) सरकार के वे अग जिन्हे कानून बनाने का अधिकार है।

(क) लोकतन्त्रवादी विचारको के अनुसार राज्य की सम्प्रभुता जनता मे निवास करती है, पर जनता के रूप के सम्बन्ध मे मतक्य नही है। कुछ लोगों का कहना है कि जनता के अन्तगत सम्पूर्ण जन समूह अर्थात् सभी बच्चे-बूढे, नर-नारी सम्मिलित हैं। अन्य मत के अनुसार जनता के अन्तगत केवल निर्वाचको और मतदाताओ को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस विचार का आधार राजनतिक एव लौकिक सम्प्रभुता है।

(ख) सविधान एव कानून के आधार पर सम्प्रभुता का निवास-स्थल ढूँढने के लिए विभिन्न देशो की शासन प्रणालियो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। ब्रिटेन में प्रथम तो सविधान अधिकांशत अलिखित है और दूसरे वहाँ सवधानिक कानून तथा सामान्य कानून मे कोई अन्तर नही है, अत वहा ससद् सहित राजा (King-in Parliament) कानूनी सम्प्रभु है। इसके विपरीत सोवियत रूस मे सविधान लिखित है तथा उसमे ससद् के दोनो सदन सयुक्त रूप मे सशोधन कर सकते हैं, अत वहाँ ससद में कानूनी सम्प्रभुता निवास करती है। स्विट्जरलण्ड मे स्थिति दूसरी ही है। वहाँ ससद् के दोनो सदनो के अतिरिक्त जनता का भी सशोधन मे हाथ रहता है। अत वहाँ कानूनी सम्प्रभुता का निवास सयुक्त रूप से जनता एव ससद् मे माना जाता है।

स्मरणीय है कि सघात्मक राज्यो मे सम्प्रभुता के निवास के प्रश्न का समाधान पाना एक कठिन समस्या है। कुछ लोगो की मान्यता है कि सघात्मक राज्य मे सम्प्रभुता द्विमुखी होती है। सघ तथा राज्य में दो सरकारें होती हैं—केन्द्र की एव राज्य की। शासन सत्ता इन्हीं दोनो सरकारो के मध्य विभाजित होती है और अपने अपने क्षेत्र मे ये दोनो सरकारें सम्प्रभु होती हैं। स्पष्ट है कि इस विचार धारा के अनुसार सम्प्रभुता विभाज्य है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में अमेरिकी सविधान निर्माता हैमिल्टन तथा मडिसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चिसहाम बनाम जार्जिया के मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने भी कहा था कि "राज्यो द्वारा सरकार को जो सम्पूर्ण शक्तियाँ सौंपी गयी हैं उस रूप में सयुक्त राज्य अमेरिका प्रभु है, जब कि सघ के अन्तगत प्रत्येक राज्य सब सुरक्षित शक्तियों के रूप में प्रभु है।" सम्प्रभुता के इस द्विमुखी अथवा दोहरे सिद्धान्त के अन्य समथको के कूले, स्टोरी हर्ड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

किन्तु सम्प्रभुता सम्बन्धी उक्त विचार उपयुक्त नही है क्योकि सम्प्रभुता का विभाजन नही हो सकता । सघ सरकार मे वस्तुत राज्य की सम्प्रभुता को नही वरन् सरकार व *अधिकारो को दोनो सरकारो के मध्य विभाजित किया जाता है* । सघ की इकाइया राज्य नही हैं अपितु कानून बनाने वाली सहायक सस्था मात्र हैं । वे सम्प्रभु नही है वरन् अपने अपने अधिकार क्षेत्रो के अन्तगत उन्ह स्वायत्तता भर मिली हुई है । आज सवमान्य धारणा यही है कि सघ शासन मे सम्प्रभुता उस शासन अथवा सगठन मे निवास करती है जिसे सविधान बनाने और उसमे परिवतन करने का अधिकार होता है । इस तरह सविधान का सशोधनकारी निकाय सर्वोच्च प्रभुसत्ता है । पर वास्तव मे इस धारणा मे भी जटिलता और कठिनाइयाँ हैं । एक तो सशोधनकारी सत्ता बहुधा निष्क्रिय अवस्था मे रहती है और कभी-कभी ही क्रियाशील होती है। दूसर सशोधनकारी शक्ति व्यवहारत सरकार के नियन्त्रण म रहती है और उसी के सकेत पर काय करती है । इसीलिए लॉस्की ने लिखा है कि, 'सघ और राज्य मे सम्प्रभुता का के द्र बि दु या निश्चित स्थान ढू ढ निकालना एक असम्भव सा काय है ।'

(ग) सम्प्रभुता का निवास कानून बनाने वाली सस्थाओ म मानने वालो म वुड्रो विल्सन, गटिल आदि अग्रणी हैं । कानून निर्मात्री सस्थाओ म विधान मण्डल, न्यायालय, कायपालिका अधिकारी निर्वाचक आदि की गणना होती है । विधि निर्मात्री सस्थाओ के सकलित रूप मे सम्प्रभुता के निवास को मानने वाला का दृष्टिकोण है कि सम्प्रभुता मे "सरकार के उन अगो को छोडकर जो शुद्ध प्रशासन से ही सम्बन्धित हैं शेप सभी अग सम्मिलित हैं ।' डॉ आशीर्वादम् के शब्दो में ' गटिल के अनुसार इस दृष्टिकोण की सबसे बडी विशेपता यह है कि इसमे सवधानिक विधि (Constitutional Law) और अधिनियमित विधि (Statute Law) के बीच तथा सरकार के विभिन्न अगो के बीच कोई भेद न ी किया गया है । इसके अलावा लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त के समान ही इसम यह स्वीकार किया गया है कि आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्या मे सम्प्रभुता की शक्तियाँ राज्य के नागरिको मे विभाजित हैं और उनके द्वारा उनका उपयोग होता है । सविधान निर्माण सिद्धान्त (Constitution making Theory) की भाँति इसमे यह स्वीकार किया *गया है कि* सम्प्रभुता का प्रयोग एक वैधिक ढग स तथा वधिक प्रणाली स ही किया जा सकता है । पहले दृष्टिकोण मे जो अस्पष्टता और विचार शथिल्य है वह इसमें नही है । साथ ही दूसरे दृष्टिकोण मे जो वधिक भाव-सूक्ष्मता है जिसने सम्प्रभुता को बहुत पीछे घसीटकर उसके अस्तित्व को ही नष्ट प्राय कर दिया है, उसम भी यह दृष्टिकोण साफ बच जाता है ।"

डॉ० आशीवादम् न उक्त मत पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि गैटिल द्वारा उल्लिखित विशेषताओ के बावजूद य सिद्धान्त सन्तोषप्रद नहीं जान पडता । इसक मूल म ही राज्य और सरकार को समझने न बडा भारी भ्रम है । विधि निर्मात्री विभिन्न सस्थाएँ राज्य की प्रतीय एकता की प्रतीक हैं । व राज्य की सम्प्रभुता क

विभाग नही हैं। विधि निर्माण के जो अधिकार उन्हे प्राप्त हैं वे प्रदत्त अधिकार हैं, इसलिए सम्प्रभुता की स्थिति उनमें नही है। सम्प्रभुता उस सस्था मे है जो सविधान को बना सकती है, उसमे सशोधन कर सकती है और अपनी शक्तियों का उन विभिन्न अगों को सौंप सकती है जो उसकी इच्छा को प्रकट करते हैं।

राज्य का कानूनी सिद्धान्त (Legal Theory of State)

राज्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। यदि समाज शास्त्रियो ने राज्य को समाज का ही एक रूप माना है, नीति शास्त्रियो ने राज्य का स्वरूप एक नैतिक सस्था का माना है, ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य मानव इतिहास की कृति है तो विधि शास्त्रीय दृष्टिकोण से राज्य का स्वरूप कानूनी सस्था का है, जिसका कार्य कानून के अनुसार शासन करते हुए मनुष्य के कानूनी अधिकारों की रक्षा करना है।

अभिप्राय

कानून वेत्ता राज्य को एक कानूनी व्यक्ति' (Legal Person) मानते हैं। कानून की दृष्टि मे राज्य एक व्यक्ति के समान है। यह एक वैधानिक सगठन है। यह एक ऐसा सघ है जो कानून के अनुसार अपने समस्त कार्यों का सम्पादन करता है।

विधि-शास्त्री राज्य को कानून का एकमात्र स्रोत मानते हैं। उनके अनुसार राज्य ही कानूनो को बनाता है, उनकी व्याख्या करता है और उन्हें क्रियान्वित करता है। जिन कानूनो को राज्य नहीं बनाता अथवा जिन पर वह अपनी स्वीकृति नही देता, उन्हें किसी भी न्यायिक निकाय द्वारा लागू नही किया जा सकता। विधि शास्त्रियों का कहना है कि कानून के निर्माण मे राज्य की शक्ति असीम और उसका क्षेत्र सर्व-व्यापक है। कानूनो को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए राज्य को यह अधिकार होता है कि वह कानून के उल्लघन कर्ताओं को दण्डित करे। ससार मे केवल वे ही कार्य किए जा सकते हैं जो राज्य के कानून द्वारा मान्य हो। दूसरे शब्दों में, ससार की दृष्टि मे केवल उन्ही बातो को वैध माना जा सकता है जो कानून सम्मत हों और जिनके सम्बन्ध में राज्य के न्यायालय आवश्यक कार्यवाही कर सकते हों।

सक्षेप मे विधि शास्त्रीय सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(1) विधि निर्माण में विधि की शक्ति अपरिमित है, (2) व्यवस्था सम्बन्धी विधि का अधिकार 'एकाकी' है, (3) राज्य द्वारा ही विधि की व्याख्या और क्रियान्विति होती है, एव (4) राज्य के आदेश ही विधि हैं वह विधि का साधन और साध्य दोनों है।

विधि-शास्त्रीय सिद्धान्त के समर्थकों मे कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो राज्य को कानून का एकमात्र स्रोत नहीं मानते। कानून के स्रोत के विषय में व

एतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय विचारधारा के समथक हैं। उनकी यह मान्यता है कि कानून विकसित होता है तथा उसका स्रोत राज्य नही है बल्कि वे प्रथाएँ, परम्पराएँ और मानव व्यवहार हैं जो दीघकाल मे समाज म प्रचलित हैं। इन विचारको के अनुसार राज्य कानून की उत्पत्ति नहीं करता वरन् वह इन प्रथाओं, परम्पराओ और व्यवहारो को केवल स्वीकार कर उन्हें कानून का रूप दे देता है। इन विचारको का यह भी मत है कि राज्य द्वारा निर्मित कानूनो का आधार भी समाज मे विद्यमान विचार होते हैं। उनस भिन्न कोई कानून राज्य द्वारा नही बनाए जा सकते। इस सम्बन्ध म ड्यूग्वी जैसे विधि-शास्त्रियो ने तो यहाँ तक कहा है कि कानून की सत्ता राज्य के अस्तित्व से पहले भी विद्यमान थी। जब राज्य बना तो उसके द्वारा पहले स प्रचलित प्रथाओ व परम्पराओ को स्वीकार कर लिया गया, अत यह नही माना जाना चाहिए कि राज्य ही कानून का स्रोत है।

वास्तव मे यह विवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कानून का स्रोत राज्य है अथवा सामाजिक प्रथाएँ एव परम्पराएँ। फिर भी लगभग सभी विधि शास्त्री इस बात को अवश्य स्वीकार करते हैं कि राज्य ही कानून का सरक्षक है और उसका स्वय का स्वरूप कानूनी होता है। राज्य ही प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओ व मानव व्यवहारो को कानून का रूप देकर उन्ह राज्यीय स्वीकृति प्रदान करता है, उनका निवचन (व्याख्या) करता है तथा उन्हे क्रियान्वित करता है।

विधि शास्त्री, राज्य के स्वरूप को कानूनी मानने के कारण यह विचार प्रकट करते हैं कि राज्य का व्यक्तित्व (Personality of the State) कानूनी होता है। राज्य का उसी प्रकार पृथक् व्यक्तित्व चेतना और इच्छा होती है जिस प्रकार किसी देहधारी व्यक्ति की। यद्यपि राज्य व्यक्तियो के मेल से बनता है, तथापि उसे केवल व्यक्तियो का पुज मात्र नही कहा जा सकता। राज्य का व्यक्तित्व अपने सदस्यो के वैयक्तिक अथवा समूह व्यक्तित्व से पृथक होता है। राज्य के अपने अधिकार हित एव उन हितों को पूरा करने के साधन होते हैं राज्य किसी देहधारी व्यक्ति के समान ही सम्पत्ति धारण करता है सम्पत्ति खरीदता और बेचता है, उद्यम चलाता है और व्यावहारिक तथा अपराधिक मुकदमो मे वादी और प्रतिवादी के रूप मे प्रस्तुत होता है। अन्य व्यक्तियो की तुलना मे राज्य की विशेषता यह है कि वह स्थायी होता है। राज्य केवल उन्ही व्यक्तियो के हितो का सरक्षक नही होता जो आज उसके सदस्य हैं, बल्कि वह तो भविष्य मे भावी पीढियो और स्वार्थों का सरक्षण भी करता है। इस तरह राज्य के हित स्थायी और किसी विशेष समय के लोगो के तात्कालिक हितो से भिन्न होते हैं। इसीलिए राज्य अनेक ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिन्हें वतमान पीढी के मनुष्य अपने लिए अहितकर समझ सकते हैं लेकिन जो भावी पीढी की दृष्टि से हितकर होते हैं। सक्षेप मे, राज्य के समक्ष उन सब व्यक्तियो का हित होता है जो उसम पहले से रह रहे हो या अब रह रहे हैं अथवा भविष्य में रहेंगे।

विधि शास्त्रियों का यह भी कहना है कि व्यक्तियों के हितों का पता लगाना कठिन है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अपने-अपने हितों के बारे में अपनी अपनी धारणा होती है। इस तरह विभिन्न लोगों के हित प्राय परस्पर विरोधी होते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य के सामूहिक स्वार्थ ही ऐसे होते हैं जिनका पता निश्चित रूप से लगाया जा सकता है। गियर्के जैसे जर्मन विचारकों की मान्यता है कि राज्य का व्यक्तित्व काल्पनिक या कृत्रिम नहीं है बल्कि उतना ही वास्तविक है जितना किसी मनुष्य का व्यक्तित्व होता है। प्रसिद्ध विद्वान् रेम के शब्दों में, 'राज्य एक कल्पना नहीं है, वह एक विविक्ति है। कल्पना के पीछे वास्तविकता नहीं होती इसके विपरीत विविक्ति में वास्तविकता के दर्शन होते हैं, किन्तु वह वास्तविकता जैसी होती है उससे भिन्न दिखायी देती है।"

सिद्धान्त की समीक्षा

कुछ विद्वानों द्वारा राज्य के विधिशास्त्रीय सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। ड्युग्वी के अनुसार राज्य के व्यक्तित्व की धारणा कोरी कल्पना है, उसमें भावात्मक वास्तविकता का लेश भी नहीं है। इसका आधार वे शास्त्रीय विचार हैं जो किसी काम के नहीं हैं। लेफर के मत में यह सिद्धान्त असंगतियों से परिपूर्ण है। राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की बात केवल कल्पना है और उस कोई वास्तविक शक्ति या अधिकार देने की बात करना अनुचित है। लेफर ने आगे लिखा है कि राज्य एक कल्पना नहीं है, वह वास्तव में एक तथ्य है, किन्तु उसको व्यक्तित्व प्रदान करना भ्रम है। उल्लेखनीय है कि लेफर की यह आलोचना उन्हीं विधि-शास्त्रियों के सम्बन्ध में उपयुक्त हो सकती है जो राज्य के व्यक्तित्व को काल्पनिक मानते हैं, चूँकि अनेक विधि शास्त्री ऐसे हैं जो राज्य के व्यक्तित्व को काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक समझते हैं। आलोचकों का यह भी तर्क है कि राज्य में मानवीय गुणों की विशेषताओं को खोजना और फिर उसके अस्तित्व तथा अधिकारों को व्यक्ति से पृथक् बतलाना असंगत और अनुचित है।

यद्यपि राज्य के विधि शास्त्रीय सिद्धान्तों में अनेक दोष है, फिर भी विद्वानों ने इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। उन्होंने यह माना है कि इस सिद्धान्त से राज्य का स्वरूप समझने में सहायता मिलती है। यह ठीक है कि राज्य का कोई वास्तविक व्यक्तित्व नहीं है और न ही उसकी अपनी कोई चेतना या इच्छा हो सकती है, लेकिन यह भी सही है कि कानून की दृष्टि से उसका एक कृत्रिम व्यक्तित्व अवश्य होता है जैसे कि सभी निगमों का होता है और विधिक व्यक्ति के रूप में उसके अधिकार भी होते हैं एवं उसकी इच्छा भी विधिक क्षेत्र में ही राज्य को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है और इस रूप में ही राज्य के अधिकार और दायित्व मान्य होते हैं। विचारपूर्वक देखने से राज्य का स्वरूप वस्तुतः अनेक बातों में व्यक्ति जैसा ही दिखायी देता है उदाहरणार्थ, राज्य के अपने ध्येय और प्रयोजन होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह निश्चित नीति पर चलता है। राज्य की सम्पत्ति

भी होती है जिसका उस पर पूर्ण अधिकार होता है। इसी तरह राज्य स्वयं दूसरों पर अभियोग चलाता है और दूसरे उस पर चलाते हैं। राज्य की ये सब विशेषताएं व्यक्ति जैसी हैं और इसलिए विधि शास्त्रीय सिद्धान्त यदि राज्य को व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है तो उसके द्वारा हमें राज्य के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से राज्य का ही क्या, अन्य मानव समुदायों और संस्थाओं का भी व्यक्तित्व कानून की दृष्टि में पृथक् पृथक् होता है। केवल मुख्य अन्तर यह होता है कि राज्य का व्यक्तित्व सर्वोच्च और सम्प्रभुता सम्पन्न होता है, जबकि अन्य सघों और संस्थाओं के बारे में यह बात नहीं है।

राज्य का सावयव (आंगिक) सिद्धान्त
(The Organic Theory of State)

राज्य का स्वरूप निर्धारण सदैव से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। राज्य और व्यक्ति एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से इस तरह संयुक्त हैं कि राज्य के कार्यक्षेत्र के सारे सिद्धान्त राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध के चारों ओर बुने गए प्रतीत होते हैं। राजनीति दर्शन के इतिहास में राज्य के इस स्वरूप के विषय में चार प्रमुख सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हैं—

1 अद्वैतवादी (Monistic) सिद्धान्त,
2 शुद्ध व्यक्तिवादी (Individualistic) सिद्धान्त,
3 द्वैतवादी (Dualistic) सिद्धान्त तथा
4 सावयव या आंगिक (Organic) सिद्धान्त।

अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic Theory) के अनुसार जो व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं, उनका प्रत्यक्ष कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जो कुछ भी उनके पास है अथवा हो सकता है वह समाज की देन है। समाज ही सर्वेसर्वा है जिसके समक्ष अथवा विरोध में व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता कोई महत्त्व नहीं रखती। शुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Individualistic Theory) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक आत्मनिर्भर इकाई है, अतः बिना राज्य की सहायता के भी वह जीवित रह सकता है। बलवान के हमले के विरुद्ध कमजोर की रक्षा करने के लिए राज्य की आवश्यकता महसूस हुई, अतः राज्य केवल पुलिस राज्य है जो सिर्फ रक्षा करने के लिए होता है न कि व्यक्ति के पोषण और उसकी समृद्धि के लिए। द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic Theory) उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्तों के बीच का रास्ता है इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राज्य में रहते हुए अपना निजी जीवन व्यतीत करता है किन्तु इसके साथ साथ वह अपने कल्याण के लिए दूसरों पर निर्भर भी रहता है। वास्तव में व्यक्ति का अस्तित्व न तो उस सम्पूर्ण में विलय होता है, न ही वह अपने सामाजिक वातावरण से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। व्यक्ति राज्य की उपज भी है और उसका निर्माता भी। दोनों का चोली-दामन का सम्बन्ध है जिसमें एक दूसरे की स्वाभाविक परस्पर निर्भरता, स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है।

सावयव सिद्धान्त का अर्थ

राज्य का सावयव सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। समय समय पर राजनीति विज्ञान के विशारदो ने राज्य की तुलना मानव शरीर से की है। उन्होने राज्य को एक जीवधारी प्राणी के रूप म माना है तथा यह प्रतिपादित किया है कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक सगठन की भाँति है। राज्य की प्रकृति मानव शरीर की तरह है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग पारस्परिक निभरता तथा सहयोग के साथ काय करते रहते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी पारस्परिक निभरता तथा सहयोग के साथ काय करते हैं। सावयव सिद्धान्त के अनुसार जिस तरह मनुष्य का शरीर जीवित कोशिकाओ से बना है, उसी तरह राज्य भी व्यक्ति रूपी जीवित प्राणियो से बनता है। सावयव एकता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर भिन्न भिन्न अवयवो का एक सुसगठित सघ है अर्थात् शरीर के सब अवयवो म घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठीक उसी तरह व्यक्ति राज्य रूपी शरीर के अग हैं जिनका राज्य से पृथक कोई अस्तित्व नही है। सक्षेप म व्यक्तियो और राज्य के बीच वही आत्मीय सम्बन्ध है जो जीवधारी और उसके अग प्रत्यगो मे है। जिस तरह कोइ अवयव अथवा घटक शरीर से अलग होकर जीवित नही रह सकता और न उसकी सत्ता ही रह सकती है, उसी तरह समाज अथवा राज्य से विलग होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता और न उसकी सत्ता की कल्पना ही की जा सकती है। जीवधारी सिद्धान्त को जोरदार शब्दो म व्यक्त करते हुए गानर ने ठीक ही लिखा है कि "यह सिद्धान्त राज्य और व्यक्तियो के बीच ठीक उसी प्रकार के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की व्याख्या करता है जैसा शरीर और उसके अगो के बीच होता है। शरीर के साथ अग का और पेड के साथ पत्ती का जो परस्पर निभरता का सम्बन्ध है, वही समाज के साथ मनुष्य का होता है।' व्यक्ति समाज मे निहित होता है और समाज व्यक्ति मे। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य जीवधारी के समान ही एकता सम्पन्न होता है।

सावयव सिद्धान्त का इतिहास

यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन ह जो राज्य एव शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए यह प्रतिपादित करता ह कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक गठन की भाति ह। राज्य की प्रकृति मानव शरीर की भाँति है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग परस्पर निभरता एव सहयोग के साथ काय करते हैं, ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी परस्पर निभरता एव सहयोग के साथ कार्य करते हैं। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध म यह सिद्धान्त मौन है। वस्तुत यह सिद्धान्त अपने आप में इतना ही पुराना है जितना कि राजनीति-दशन।

इस सिद्धान्त का उल्लेख प्लेटो के लेखो मे मिलता है जहाँ वह कहता है कि "राज्य एक विस्तृत अर्थात् बडे डील-डौल वाले व्यक्ति के समान है।' उसने गणतन्त्र की तुलना एक महान् मानव से की थी और बतलाया था कि राज्य एव व्यक्ति के काय समानान्तर होते हैं। उसने इस विभाजन का आधार मनुष्य की

भी होती है जिसका उस पर पूर्ण अधिकार होता है। इसी तरह राज्य स्वय दूसरो पर अभियोग चलाता है और दूसरे उस पर चलाते हैं। राज्य की ये सब विशेषताएं व्यक्ति जसी हैं और इसलिए विधि शास्त्रीय सिद्धात यदि राज्य को व्यक्ति के रूप म प्रस्तुत करता है तो उसके द्वारा हमे राज्य के स्वरूप को समझने म सहायता मिलती है। इस दृष्टि से राज्य का ही क्या, अन्य मानव समुदायो और सस्थाओ का भी व्यक्तित्व कानून की दृष्टि मे पृथक पृथक् होता है। केवल मुख्य अन्तर यह होता है कि राज्य का व्यक्तित्व सर्वोच्च और सम्प्रभुता सम्पन्न होता है, जबकि अन्य सघो और सस्थाओ के बारे मे यह बात नही है।

राज्य का सावयव (आगिक) सिद्धान्त
(The Organic Theory of State)

राज्य का स्वरूप निर्धारण सदैव से एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। राज्य और व्यक्ति एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से इस तरह सयुक्त हैं कि राज्य के कायक्षेत्र के सारे सिद्धात राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध के चारो ओर बुने गए प्रतीत होते हैं। राजनीति दर्शन के इतिहास मे राज्य के इस स्वरूप के विषय मे चार प्रमुख सिद्धात प्रतिपादित किए जाते हैं—

1 अद्वैतवादी (Monistic) सिद्धान्त,
2 शुद्ध व्यक्तिवादी (Individualistic) सिद्धात,
3 द्वैतवादी (Dualistic) सिद्धात तथा
4 सावयव या आगिक (Organic) सिद्धात।

अद्वैतवादी सिद्धात (Monistic Theory) के अनुसार जो व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं उनका प्रत्यक्ष कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। जो कुछ भी उनके पास है अथवा हो सकता है वह समाज की देन है। समाज ही सर्वेसर्वा है जिसके समक्ष अथवा विरोध मे व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता कोई महत्व नही रखती। शुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धात (Individualistic Theory) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक आत्मनिर्भर इकाई है, अत विना राज्य की सहायता के भी वह जीवित रह सकता है। बलवान के हमले के विरुद्ध कमजोर की रक्षा करने के लिए राज्य की आवश्यकता महसूस हुई, अत राज्य केवल पुलिस राज्य है जो सिर्फ रक्षा करने के लिए होता है न कि व्यक्ति के पोषण और उसकी समृद्धि के लिए। द्वैतवादी सिद्धात (Dualistic Theory) उपर्युक्त दोनो ही सिद्धातो के बीच का रास्ता है इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राज्य मे रहते हुए अपना निजी जीवन व्यतीत करता है किन्तु इसके साथ साथ वह अपने कल्याण के लिए दूसरो पर निर्भर भी रहता है। वास्तव मे व्यक्ति का अस्तित्व न तो उस सम्पूर्ण म विलय होता है, न ही वह अपने सामाजिक वातावरण से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। व्यक्ति राज्य की उपज भी है और उसका निर्माता भी। दोनो का चोली-दामन का सम्बन्ध है जिसमें एक दूसरे की स्वाभाविक परस्पर निर्भरता, स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होती है।

सावयव सिद्धान्त का अर्थ

राज्य का सावयव सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। समय समय पर राजनीति विज्ञान के विशारदों ने राज्य की तुलना मानव शरीर से की है। उन्होंने राज्य को एक जीवधारी प्राणी के रूप म माना है तथा यह प्रतिपादित किया है कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक सगठन की भाँति है। राज्य की प्रकृति मानव शरीर की तरह है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग पारस्परिक निभरता तथा सहयोग के साथ काय करते रहते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी पारस्परिक निभरता तथा सहयोग के साथ काय करत हैं। सावयव सिद्धान्त के अनुसार जिस तरह मनुष्य का शरीर जीवित कोशिकाओं से बना है, उसी तरह राज्य भी व्यक्ति रूपी जीवित प्राणियों स बनता है। सावयव एकता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर भिन्न भिन्न अवयवों का एक सुसगठित सघ है अर्थात् शरीर के सब अवयवों म घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठीक उसी तरह व्यक्ति राज्य रूपी शरीर के अग हैं जिनका राज्य से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। सक्षेप में व्यक्तियों और राज्य के बीच वही आत्मीय सम्बन्ध है जो जीवधारी और उसके अग-प्रत्यगो म है। जिस तरह कोई अवयव अथवा घटक शरीर से अलग होकर जीवित नहीं रह सकता और न उसकी सत्ता ही रह सकती है, उसी तरह समाज अथवा राज्य से विलग होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता और न उसकी सत्ता की कल्पना ही की जा सकती है। जीवधारी सिद्धान्त को जोरदार शब्दों म व्यक्त करते हुए गानर ने ठीक ही लिखा है कि "यह सिद्धान्त राज्य और व्यक्तियों के बीच ठीक उसी प्रकार के अन्योन्याश्रित सम्बन्धो की व्याख्या करता है जसा शरीर और उसके अगो के बीच होता है। शरीर के साथ अग का और पेड के साथ पत्ती का जो परस्पर निभरता का सम्बन्ध है, वही समाज के साथ मनुष्य का होता है।' व्यक्ति समाज मे निहित होता है और समाज व्यक्ति में। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य जीवधारी के समान ही एकता सम्पन्न होता है।

सावयव सिद्धान्त का इतिहास

यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन ह जो राज्य एव शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक व्यक्ति के शारीरिक गठन की भाँति है। राज्य की प्रकृति मानव शरीर की भाँति ह और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग परस्पर निभरता एव सहयोग के साथ काय करते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अग भी परस्पर निभरता एव सहयोग के साथ काय करते हैं। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त मौन है। वस्तुत यह सिद्धान्त अपने आप मे इतना ही पुराना है जितना कि राजनीति-दशन।

इस सिद्धान्त का उल्लेख प्लेटो के लेखों में मिलता है जहाँ वह कहता है कि "राज्य एक विस्तृत अर्थात् बडे डील-डौल वाले व्यक्ति के समान है।' उसने गणतन्त्र की तुलना एक महान् मानव से की थी और बतलाया था कि राज्य एव व्यक्ति के काय समानान्तर होते हैं। उसने इस विभाजन का आधार मनुष्य की

आत्मा के तीन नियमो— बुद्धिमत्ता (Wisdom), साहस (Courage), और इच्छा (Appetite) को बतलाया था। उसने व्यक्ति को राज्य का सूक्ष्म स्वरूप माना था—"यदि राज्य समस्त विश्व है तो व्यक्ति उसका सूक्ष्म अणु है।" अरस्तू ने भी राज्य और मानव-शरीर मे समानता का प्रतिपादन किया था। उसका दृढ़ विश्वास था कि व्यक्ति वास्तव में समाज का एक स्वाभाविक अंग है। रोमन विद्वान् सिसरो के अनुसार— "राज्य के मुखिया को राज्य मे वही स्थान प्राप्त है जो शरीर म आत्मा का होता है।' ईसाई धम के प्रसार के प्रारम्भिक दिनो मे सन्त पाल चच को ईसा मसीह का जीवित शरीर मानता था। आधुनिक युग में हॉब्स और रूसो ने भी राज्य के सावयवी स्वरूप (Organic nature) पर बहुत बल दिया था। हाब्स ने राज्य की तुलना किसी कल्पित महा मानव या दत्य (Leviathan) से की है। उसने राज्य की कमजोरियो की तुलना मानव शरीर की बीमारियों के साथ बहुत बारीकी से की है। रूसो न विधान मण्डल को राज्य का हृदय तथा कार्यपालिका को राज्य का मस्तिष्क बतलाया है। 19वी शताब्दी मे राज्य का सावयवी सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हो गया। महान जमन दार्शनिक ब्लशली (Bluntschli) ने कहा कि ' राज्य की व्यवस्था प्राणी-शरीर की व्यवस्था का प्रतिनिधि मात्र है।" उसका यहा तक कहना था कि, "राज्य नर है और चच मादा।" इसी प्रकार और भी अनेक विद्वानो ने राज्य और मानव शरीर के इस सिद्धान्त का समथन किया।

स्पेंसर के सावयव सिद्धान्त की व्याख्या

सावयव सिद्धान्त का सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रतिपादन जिस व्यक्ति ने किया, वह हबर्ट स्पेंसर था। सामाजिक सावयव की धारणा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को उसकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। स्पेंसर की सावयव की धारणा उसकी पुस्तक Social Statics' और उसके निबन्ध 'Social Organism' मे प्रमुख रूप मे पायी जाती है। प्लेटो, अरस्तू और हाब्स आदि मे से किसी ने भी राज्य को एक पूर्ण सावयव नही बताया था। उनके लिए केवल राज्य का स्वरूप सावयवी था, अर्थात् उनका कहना था कि राज्य जीव की तरह है (The State is like an organism)। किन्तु स्पेंसर ने राज्य को एक वास्तविक सावयव का स्वरूप दिया। उसने कहा कि 'राज्य स्वय एक जीवधारी है' (The State is itself an organism)। स्पेंसर ने बहुत विस्तार से राज्य एव शरीर मे समानता स्थापित करने की चेष्टा की। उसने राज्य और जीवधारी शरीर मे जो समानताएँ प्रकट की, वे इस प्रकार हैं—

1 विकास—प्राणी शरीर और समाज शरीर दोनो का आरम्भ पहले पहल कीटाणुओ (Germs) के रूप में हुआ। इन दोनों म समान रूप से निरन्तर वृद्धि-क्रिया होती है। ज्यो ज्यो इनके अगो का विकास होता है, त्यो त्यो इनका असादृश्य बढ़ता जाता है और इनकी बनावट मे विशेष जटिलता आती जाती है। सब से क्षुद्र प्राणी के शरीर की बनावट बिलकुल साधारण होती है। उसम पेट, श्वास नली अथवा पसली के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार समाज अपनी अमुन्नत

दशा म केवल बहादुरो, शिकारियो और भद्दे औजार बनाने वालो का एक समुदाय था । लेकिन कालान्तर मे समाज का विकास होता गया और उसम जटिलता बढती गयी । तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी साधारण प्रारम्भिक अवस्था से शन शन विकसित होकर ही आधुनिक जटिल सगठन के रूप मे प्राप्त कर सका है । राज्य के विकास और ह्रास में भी वही नियम लागू होते है जो एक सावयव के विकास मे । सावयव की भाँति ही राज्य को भी किशोर, तरुण एव वृद्धावस्था होती है और अन्त मे सावयव की भाति ही वह भी एक दिन अपनी मृत्यु को प्राप्त होता है ।

2 रचना – शरीर अवयवो से बना होता है जो उसे जीवन प्रदान करते है तो राज्य का निर्माण भी व्यक्तियो से होता है जिनसे उसे जीवन मिलता है ।

3 परस्पर निर्भरता—शारीरिक स्वास्थ्य शरीर के अवयवो पर निभर होता है । यदि कोई भी अवयव रोग ग्रस्त हो जाता है तो सारे शरीर को कष्ट उठाना पडता है । इसी भाँति राज्य का स्वास्थ्य नागरिको के स्वास्थ्य पर निभर है । नागरिको द्वारा कत्तव्य पालन के अभाव मे सम्पूण राज्य की हानि होती है । किसी अग के निबल या बीमार हो जाने से उसका प्रभाव सम्पूण शरीर पर पडता है ठीक इसी प्रकार यदि राज्य के नागरिक अस्वस्थ, अशिक्षित एव व्यक्तिगत स्वार्थों से पूण होते हैं तो राज्य के हितो पर उसका बहुत प्रभाव पडता है ।

4 परिवतनशीलता एव विनाश क्रम—शरीर म भौतिक परिवतन होते रहते हैं । जीण शीर्ण अगो को पौष्टिक भोजन द्वारा नवीन तथा पुष्ट बनाया जाता है । इसी प्रकार राज्य मे भी परिवतन होते रहते हैं । जिस प्रकार शरीर के स्नायु नष्ट होते रहते हैं और उनके स्थान पर नए स्नायु उत्पन्न होते रहते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य मे भी निबल, रोगी एव वृद्ध मनुष्य नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नवीन व्यक्ति लेते रहते हैं ।

5 सगठन एव काय प्रणाली शरीर के मुख्य तीन काय होते हैं—पोषण, वितरण एव सुसचालन । मुख, पेट एव आँतें पोषण का काम करती हैं । ये अग भोजन को पचाकर शरीर की रक्षा करते हैं । रक्त नाडियाँ शिराएँ, हृदय, नसें आदि भोजन के वितरण का काम करती हैं और मस्तिष्क तथा स्नायुतन्त्र सुसचालन का काम करते हैं । ठीक इसी प्रकार का सगठन और कार्य प्रणाली राज्य मे विद्यमान है । उद्योग एव कृषि राज्य के पोषक अग हैं यातायात एव सचार-साधन वितरक अग हैं और सरकार रूपी मस्तिष्क राज्य मे सुसचालन का काय करता है ।

6 अन्त में एक शरीर की भाँति समाज के किसी एक अग की अधिक वृद्धि का अथ होता है दूसरे अगो की वृद्धि मे अवरोध । बडे-बडे भू-स्वामी और उद्योगपति श्रमिकों के शोषण के आधार पर ही तो खडे हुए हैं ।

स्पेंसर ने समाज तथा सावयव मे जो समानताएँ पायी हैं वे डॉ एच आर मुरे (H R Murray) के अनुसार सक्षेप मे ये हैं—

(i) दोनो ही लघु स्वरूप से आरम्भ होकर आकार मे बढते हैं।

(ii) जैसे-जैसे वे बढते जाते हैं उनकी प्रारम्भिक सरलता मे जटिलता आती जाती है।

(iii) बढती हुई विभिन्नता के साथ उन दोनो के निर्णायक अगो मे पारस्परिक निभरता बढती है। प्र येक अग का जीवन तथा साधारण काय-कलाप सम्पूण जीवन पर निर्भर हो जाता है।

(iv) सम्पूण का जीवन अगो के जीवन की अपक्षा पहले से कही अधिक स्वत त्र हो जाता है।

प्राणी और राज्य मे विभिन्नताएँ

हबट स्पेंसर ने दोनो में असमानता (भेद) की बातो पर भी विचार किया है और स्वीकार किया है कि दोना के बीच की समानता प्रत्येक दृष्टि से पूण नहीं है। इन दोनो मे दो महत्वपूण अ तर हैं।

(1) पशु अथवा मानव जीवधारी रचना का आकार ठोस है और उसकी इकाइयाँ परस्पर जुडी हुई हैं। इसके विपरीत सामाजिक शरीर खण्डित है। उसकी इकाइयो मे पारस्परिक सम्पक तो होता है पर उतना घनिष्ठ सम्ब ध नहीं। वे यूनाधिक छितरी हुई हैं।

(2) एक जीवित शरीर मे चेतना शरीर के एक विशिष्ट भाग मे केन्द्रीभूत होती है। शरीर के विभिन्न अगो की अपनी कोई पृथक पृथक चेतना नही होती पर तु समाज में चेतना का कोई एक के द्र नही होता। वह समाज में व्यापक रूप से फली हुई होती है। समाज में प्रत्येक सदस्य की अपनी निजी चेतना होती है। वह मनमाना काय करने के लिए स्वत त्र है जबकि जीव के अग इस दृष्टि से पूरी तरह मस्तिष्क के अ ीन होत हैं।

उपरोक्त भेदों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी स्पेंसर की यही मा यता है कि राज्य एक जीवधारी रचना है। इन भेदो के आधार पर ही उसने अपने व्यक्तिवा ी सिद्धा त की रचना की है। उसके मतानुसार चूँकि राज्य में जीवधारी के समान चेतना का एक के द्र नहीं होता, अत राज्य को चाहिए कि वह व्यक्तियो को अपने हित साधन के लिए पूण स्वत त्रता प्रदान करे। समाज का अस्तित्व सदस्यो के लिए है, सदस्य समाज क लिए नहीं है।

जीवधारी सिद्धान्त के अन्य समथक

स्पेंसर के बाद भी कुछ अ य लेखकों ने जीवधारी सिद्धा त की व्याख्या की है। आस्ट्रियन लेखक एलबट शाफ्ल (Albert Schaffle) ने बतलाया कि समाज और जीवधारी के बीच शरीर सम्बन्धी, प्राणिशास्त्र सम्बन्धी तथा दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक समानताएँ हैं। 'समाज एक जीवधारी रचना है जिसका जीवन-तत्त्व मनुष्य है जो एक मत में तो राज्य या सरकार है और दूसरे के अनुसार मस्तिष्क'। फ्रांसीसी लेखक ऑगस्ट कॉमटे (Auguste Comte), फ्उली (Fouillee),

रैने वॉर्म्स (Rene Worms) आदि ने तथा रूस के पॉल लिलिनफील्ड ने भी इस सिद्धान्त को सविस्तार वर्णित किया है। वतमान काल मे समाज और जीवधारी की समानताओ पर बल देने वाली प्रवृत्तियाँ राजदशन मे कुछ शिथिल पड गई हैं।

सावयव सिद्धान्त की आलोचना

कतिपय गुणो के बावजूद अपने निम्नांकित घातक, कुतकसगत और भ्रामक निष्कर्षों के कारण यह सिद्धान्त अपना महत्त्व खो चुका है —

(1) स्थूल रूप से जीवित शरीर के साथ राज्य की तुलना करना भले ही आपत्तिजनक न हो तथापि शरीर के अग प्रत्यग की राज्य सम्बन्धी बातो से तुलना करने पर कठिनाई उपस्थित हो जाती है। शरीर एक ठोस वस्तु है जबकि राज्य एक भावात्मक सस्था है। एक शरीर का जन्म, वृद्धि, क्षय और मृत्यु चक्र से गुजरना अनिवार्य है किन्तु राज्य का नही। वृद्धि अवनति और मृत्यु राज्य के जीवन की आवश्यक क्रियाएँ नही हैं। शरीर में बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापे तक का क्रम स्वाभाविक रूप से चलता रहता है, किन्तु राज्य के विकास और उसकी रूपरेखा में परिवतन सम्भव है।

(2) प्राणी शरीर में कोष्ठ पदार्थ के यान्त्रिक भाग होते हैं जबकि राज्य की रचना करने वाले व्यक्ति विचारवान् तथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण वाले होते हैं। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता होता है। शरीर के किन्ही भी अगो की अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं होती और न ही उनका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है जबकि राज्य के व्यक्तियो की अपनी इच्छा शक्ति होती है।

(3) शरीर के अग और जीवकोष सम्पूर्ण शरीर पर निभर रहते हैं। यदि उन्हें शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो वे मर जाते हैं। किन्तु राज्य के अग व्यक्ति राज्य से पृथक् रह कर भी जीवित रह सकते हैं और अपना काय कर सकते हैं।

(4) शरीर मे चेतना का एक केन्द्र होता है जो राज्य में नहीं होता। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र मे चेतना सभी व्यक्तियो मे निहित होती है। पुन जीवांग का विकास स्वय होता है किन्तु राज्य की वृद्धि को क्रियान्वित और निर्देशित किया जा सकता है। राज्य एक मानव सस्था है जिसका विकास मानव इच्छा एव क्रियाओं पर निभर करता है।

(5) जीवित जीवांग से जीव-कोषों के विपरीत राज्य के सदस्यों का काय क्षेत्र राज्य के क्षेत्र के अलावा भी है। वे और भी कई प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हैं जिनसे राज्यों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक जीव को तो जीवांग के जीवन को बनाए रखने के लिए स्वय को खपा देना होता है।

(6) शरीर अथवा जीवांग का ज्यो-ज्यो विकास होता है त्यो-त्यों अगो को नियन्त्रित करने की उसकी शक्ति बढती जाती है। बच्चे का अपने अगो पर इतना

नियन्त्रण नही होता जितना बडे व्यक्तियो का लेकिन राज्य के विकास की स्थिति दूसरी है । राज्य क विकास का अर्थ है व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे वृद्धि ।

(7) जीवांगो के पास प्रजनन शक्ति होती है किन्तु राज्य क पास ऐसी कोई शक्ति नही होती ।

(8) सावयव सिद्धान्त राज्य की निरकुशता को जन्म देने वाला है । यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय कि राज्य एक पूर्ण अग और व्यक्ति इसम जीव कोष के समान है तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि व्यक्ति राज्य क लिए है न कि राज्य व्यक्ति क लिए । हिटलर और मुसोलिनी ने इसी आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया था ।

(9) जीवधारी के शरीर म हजारो जीवित कोष (Living cells) होते हैं । इन जीवित कोषो को एक ही समय म दो विभिन्न जीवधारियो का अग नही बनाया जा सकता । यह बात समाज क सदस्यो पर लागू नहीं होती । व एक ही समय म अनेक सस्थाओ के सदस्य बन सक्त हैं ।

(10) सावयव सिद्धान्त से हमे राज्य की वास्तविक स्थिति का बोध नही होता । यह राज्य के कार्यों का समुचित ज्ञान नही कराता । यह सिद्धान्त तो समाज और जीवधारी के बीच कोरी समानताओ का समूह है । लीकाक का यह विचार ठीक ही है कि, "सावयव सिद्धान्त हम यह बतलान मे कि सस्थाएँ विकसित होती और बनायी जाती हैं मुश्किल से राजनीतिक आचरण का सच्चा प्रदर्शन करता है ।

स्पेंसर के सावयवी सिद्धान्त की बहुत आलोचना की गई है किन्तु वह अपने आप म इतना महत्त्वहीन एव अनुपयोगी नही है जितना उसे आलोचको ने बताया है । राज्य का सावयवी सिद्धान्त राज्य के ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त क महत्त्व पर प्रकाश डालता है राज्य सस्था पर पडने वाले प्राकृतिक एव सामाजिक व्यवसाय के प्रभाव को प्रकट करता है राजनीतिक सस्थाओ और नागरिको की परस्पर निर्भरता पर बल दता है । सामाजिक जीवन और इसके समस्त अगों के जटिल सम्बन्धो के आवश्यक ताल-मेल पर जोर देता है और यह बतलाता है कि समाज व्यक्तियो क समूह से कहीं अधिक है । यह सिद्धान्त व्यक्तियो की भलाइ के नैतिक कर्त्तव्य की ओर सकेत करता है और इस बात पर बल दता है कि राज्य तथा समाज के अन्दर व्यक्ति का कल्याण पूरे समाज के कल्याण पर निर्भर करता है ।

राज्य की प्रकृति का आदर्शवादी सिद्धान्त
(The Idealistic Theory of the Nature of State)

राजनीति के इतिहास म आदर्शवादी सिद्धान्त अनेक नामो से जाना जाता है । चरमतावादी अथवा निरकुशतावादी सिद्धान्त (Absolutist Theory), दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), तात्त्विक सिद्धान्त (Metaphysical

Theory) रहस्यवादी सिद्धान्त (Mystical Theory) आदि इसके विभिन्न नाम हैं। यथाथ मे ये अनेक नाम आदशवादी विचार की उग्र, मध्यमार्गी आदि धाराओ की ओर सकेत करते हैं। उग्र विचारधारा के समथको मे हीगल और काण्ट मुख्य हैं तो मध्यमार्गी विचारधारा के प्रतिनिधि ग्रीन, बोसांके, ब्रैडले आदि अग्रेज विद्वान हैं।

राज्य का आदशवादी सिद्धात राज्य और समाज का एक आदश चित्र प्रस्तुत करता है। व्यवहारत अनेक कठिनाइयो से पूण होते हुए भी दाशनिक दृष्टि से यह अधिक महत्त्वपूण है। राज्य को एक वास्तविक तथ्य न मानकर यह उसे एक आदश अथवा पूण वस्तु मानकर आगे बढता है। आदशवादियो को इस बात की चिन्ता नही है कि वतमान राज्य का स्वरूप क्या है ? व उसे उसकी यथाथताओ से अलग रखकर, केवल इस बात पर विचार करते हैं कि एक आदश राज्य को कसा होना चाहिए ? इसलिए आदशवादी दशन मे राज्य का ध्यान दविक महत्त्व तक पहुँच गया है और व्यक्ति तथा उसकी स्वत त्रता की घोर उपक्षा की गयी है।

आदशवादी सिद्धान्त का इतिहास

राजनीतिक आदशवादी परम्पराओ का इतिहास कही कही पर खण्डित होते हुए भी बहुत प्राचीन लम्बा और शृ खलाबद्ध है। राजनीतिक आदशवाद की अनेक बातें अरस्तू और प्लेटो के दशनों मे प्राप्त होती हैं। अरस्तू का यह सूत्र कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी हैं', आदशवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त है। अरस्तू ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नतिक विषय के लिए स्वीकार की है। अरस्तू की भाति ही प्लेटो ने भी नतिक प्रणाली मे विश्वास व्यक्त किया है।

प्राचीन यूनानी दाशनिको की राज्य सम्बन्धी नैतिक पुरुष की धारणा मध्ययुग मे चच और राज्य सघष के फलस्वरूप लम्बे समय तक सोयी पडी रही, 17वी शताब्दी के पुनर्जागरण काल में पुन यूनानी दशन के प्रति विद्वानो मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई। थामस मूर ने प्लेटो के आदशवादी राज्य की कल्पना से प्रभावित होकर अपने विख्यात ग्रन्थ 'यूटोपिया' (Utopia) की रचना की।

आधुनिक युग में यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो द्वारा किया गया। उसकी सामान्य इच्छा' (General Will) आदशवाद पर ही आधारित है। रूसो के उपरान्त जमनी आदशवाद का घर बन गया जहाँ इस दशन का विकास प्रधानत 19वीं शताब्दी के आरम्भ मे हुआ। जमनी के आदशवादी लेखकों मे कॉण्ट (Kant) फिक्टे (Fichte) तथा हीगल (Hegel) के नाम प्रसिद्ध है। कॉण्ट को इस दशन का वतमानयुगीन जनक कहा जा सकता है। उसका आदशवाद उदारवादी था। यही उदारवादी तत्त्व फिक्टे मे कम होकर हीगल मे पूणतया समाप्त हो गया। आदशवादी जमन स्कूल के साथ इगलण्ड में भी आदशवादी विचारधारा विकसित हुई। इगलण्ड के आदशवादी लेखको मे ग्रीन, ब्रैडले, बोसांके आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। यदि जर्मनी का आदशवाद उग्र था तो इगलैण्ड का उदारवादी।

आदर्शवादी सिद्धान्त की व्याख्या

जैसा कि कहा जा चुका है आदर्शवाद के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व दो विचारधाराएँ करती हैं—उग्र एवं मध्यमार्गी। उग्र विचारधारा के समर्थक हीगल, कॉण्ट आदि राज्य को सर्वशक्तिमान तथा एक पवित्र संस्था मानते हैं। उग्र आदर्शवाद के अनुसार राज्य के कानून और स्वतन्त्रता एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। राज्य में कानून स्वतन्त्रता के पोषक और रक्षक हैं तथा मनुष्य की सामान्य इच्छाओं का प्रतीक होने के कारण न तो विवेकहीन होते हैं और न न्याय विरुद्ध। राज्य ही सामाजिक नैतिकता का स्रोत है तथा व्यक्ति के लिए असम्भव है कि वह राज्य की इच्छाओं का विरोध करे। राज्य साध्य है व्यक्ति इस साध्य के लिए साधन। मध्यमार्गी विचारधारा के अनुसार, राज्य एक नैसर्गिक संस्था है। मनुष्य समाज की रचना करता है। राज्य उसी का सर्वोत्कृष्ट रूप है। राज्य एक नैतिक संस्था है जो व्यक्ति को नैतिक बनाती है। राज्य सामाजिक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है तथा व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन अपनी स्वाभाविक प्रकृति के कारण करता है। राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध नहीं है।

उग्र और मध्यमार्गी आदर्शवादी विचारकों ने राज्य की प्रकृति, लक्ष्य आदि के बारे में अपने अपने मत प्रस्तुत किए हैं, तथापि इन सभी में कुछ सामान्य मान्यताएं अवश्य हैं। कुल मिलाकर राज्य के आदर्शवाद के सिद्धान्त की मान्यताओं को निम्नांकित रूप में प्रकट किया जा सकता है—

(1) आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था (An ethical institution) है और राजकीय संगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकशील तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। राज्य का उद्देश्य सुख-वृद्धि न होकर उन परिस्थितियों को कायम रखना होना है जिनका अस्तित्व नागरिकों के श्रेष्ठतम जीवन के लिए नैतिक है। बोसांके राज्य को 'एक नैतिक विचार का मूर्त रूप' (An embodiment of ethical idea) मानता है। आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य का जन्म कहीं बाहर से नहीं हुआ है बल्कि वह तो हमारे नैतिक विचार का ही प्रत्यक्षीकरण है जो हमारे पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है। हीगल के शब्दों में 'सामाजिक आधार की उच्चतम कला राज्य में व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थता का सरंक्षक है।'

(2) नैतिक संस्था होने के कारण राज्य का समाज में अस्तित्व अनिवार्य है। मनुष्य समाज अथवा राज्य से पृथक रह कर कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। राज्यविहीन अवस्था में न केवल समाज अव्यवस्थित एवं कानूनहीन होगा बल्कि राज्यहीन समुदाय के लोग वह चरित्रहीन एवं जघन्य आचरण करने वाले होंगे। अतः "एक सभ्य, सुसंस्कृत नैतिक एवं पूर्णरूप से विकसित समाज की सद्भावना के बिना राज्य एक विचारशून्य कल्पना है।

(3) राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादियों की कल्पना सर्वसत्तावादी है। उग्र आदर्शवादी हीगल का कथन है राज्य स्वयं ईश्वर है। वह पृथ्वी पर स्थित दैवी

विचार (Divine Idea) है जिसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता।" ग्रीन जसे उदार आदर्शवादी ने व्यक्तियो को कुछ परिस्थितियो मे राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रदान किया है।

(4) आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य म कोई विरोध नही मानता। राज्य का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है अत राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारो और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार का ही परित्याग कर देना चाहिए। राज्य की सच्ची जडे व्यक्ति के हृदय मे हैं और एक असभ्य, बबर एव मूख पशुवत् आचरण करने वाले मनुष्य को सुसस्कृत मानव एव दिव्य बनाने वाली यह सस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है।

(5) व्यक्तिवादियो के विपरीत आदशवादियो की मान्यता है कि राज्य का अपना पृथक् एव स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। राज्य के सदस्यो से पृथक राज्य की अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिकों की सामूहिक इच्छा से स्वतन्त्र होते हुए भी उससे भिन्न नहीं होती। हीगल राज्य को 'एक आत्म-चेतन नतिक तत्त्व, एक आत्मज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति मानता ह।

(6) रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आदर्शवादी दशन का केन्द्र बिन्दु है। विभिन्न सघ, सस्थान एव सस्थाएँ समूह-मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु इन सब के बीच सामजस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी अन्तर्चेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। राज्य वही काय करता है जो हमारा पवित्र अन्त करण चाहता है अथवा जो हमें सामाजिक प्राणी होने के नाते करने चाहिए।

(7) आदशवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नही। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा बल प्रयोग का पूर्ण निषेध नहीं है। इसका अथ यह है कि केवल शक्ति प्रयोग करने का अधिकार राज्य का मौलिक गुण नहीं है। यदि राज्य भय उत्पन्न करके अपनी आज्ञाओं का पालन करवाता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नही हो सकता। राज्य को सेवा करने से हम अपनी उच्चतर आत्मा के आदेश का ही पालन करते हैं। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि राज्य हमारी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है।

(8) आदशवादी स्वतन्त्रता का रूप सकारात्मक है। राज्य के सभी कानून व्यक्ति को पूर्णता दिलाने के लिए एक वातावरण का सृजन करते हैं। राज्य के किसी भी कानून की अवज्ञा करना अपनी ही स्वतन्त्रता के मार्ग को अवरुद्ध करना है। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वाधीनता का निषेध (Negation of Liberty) मानते हैं। बन्धनों की अनुपस्थिति मे स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का ही विशेषाधिकार रह जाती है। बाकर के मतानुसार, 'चेतना से स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है, स्वतन्त्रता अपने उपभोग के लिए कुछ अधिकार चाहती है और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"

4 यह सिद्धान्त अत्यन्त सकीर्ण और अपरिवर्तनीय है। इससे राज्य और समाज का अन्तर स्पष्ट नही होता। आदर्शवादी राज्य और समाज दोनो को एक ही मानते हैं। राज्य और समाज को एक समझकर व सब शक्तियाँ राज्य के हाथो मे देने के पक्ष मे हैं। राज्य और समाज की एकरूपता की कल्पना जिस पर आदर्शवाद आधारित है सवथा भ्रांतिपूर्ण है।

5 यह सिद्धान्त राज्य को अत्यन्त महत्त्व देता है और व्यक्ति को राज्य के आश्रित बना रखता है। राज्य को असीमित शक्तियाँ देकर यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत छोटा कर देता है। ड्युग्वी (Duguit) और मेकाइवर (MacIver) इसे काल्पनिक मानते हैं क्योकि यह राज्य का सवशक्तिमान, स्वेच्छाचारी और देवता तक की सीमा पर ले जाकर उसकी पूजा का उपदेश देता है। व्यक्ति को राज्य की सवतोमुखी शक्ति के अधीन कर यह सिद्धान्त उसकी स्वतन्त्रता की बलि दे देता है। मेकाइवर के अनुसार जिस प्रकार विद्यार्थियो के समूह से किसी नए विद्यार्थी की सृष्टि नही हो पाती या जिस तरह पशुओ का रेवड स्वय अपने में पशु नही हो जाता, ठीक वसे ही राज्य व्यक्तियो का समूह अवश्य है, परन्तु वह स्वय व्यक्तित्वसम्पन्न नही कहा जा सकता। समाज शास्त्री गिसबग की भी मान्यता है कि वैयक्तिक उद्देश्य तथा आदर्शों की पूर्ति व्यक्तियो मे ही सम्भव है, राज्य के तथाकथित व्यक्तित्व मे नहीं।

6. यह सिद्धान्त राज्य को एक साध्य एव व्यक्ति को साधन मानता है परन्तु यह भ्रमपूर्ण है। राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। व्यक्ति का कल्याण ही राज्य का लक्ष्य है और राज्य उसी लक्ष्य का साधन माना जाता है।

7 बोसाँके, हीगल तथा उसके जमन अनुयायी ट्रीटश्के और बनहार्डी ने जिस उग्र राष्ट्रवादी आदशवाद का समथन किया है वह युद्ध का जनक तथा विश्व-शान्ति का परम शत्रु है। हिटलर तथा मुसोलिनी ने आदशवादी राष्ट्रवाद को अपनाकर उसे व्यावहारिक स्वरूप दिया। प्रो० हाबहाऊस की मान्यता है कि राज्य का यह आदशवादी पूजापूरक सिद्धान्त ही आधुनिक युद्धों का सबसे बडा कारण रहा है।

8 मेकाइवर के अनुसार राज्य का अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं होता। राज्य व्यक्तियो से बनता है। इसका तात्पय यह है कि राज्य स्वय एक व्यक्ति है। पेडो के बगीचे को पेड और जानवरो की बस्ती को जानवर नही कहा जा सकता है।

9 यह सोचना गलत है कि राज्य दोषशून्य एव त्रुटिहीन है। राज्य का पक्ष सदा सवदा सही होगा ऐसा विचार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है।

10 राज्य को ही एकमात्र ऐसी सस्था मानना जिसमे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है, नितान्त असत्य है। राज्य के अतिरिक्त मनुष्य अन्य

(9) आदर्शवादी किन्ही प्राकृतिक प्राक राजनीतिक (*Pre political*) अधिकारो में विश्वास नही करते। उनकी परिभाषा के अनुसार, "अधिकार कुछ ऐसी बाह्य परिस्थितियां हैं जो मनुष्य के आंतरिक विकास के लिए आवश्यक हैं।" राज्य ही व्यक्ति के अधिकारो का नैतिक अभिभावक और संरक्षक है।

(10) आदर्शवादी राज्य को साध्य मानते हैं। सावयवी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वे व्यक्ति और राज्य की परस्पर निर्भरता पर बल देते हैं। वे राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र नही मानते। "व्यक्ति राज्य के लिए है, – व्यक्ति के लिए । राज्य व्यक्ति की नैतिक संस्था है। राज्य से ... भावात्मक वस्तु है।"

(11) आदर्शवादी राज्य और समाज में कोई भेद नही कर्त्तव्यों को सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रो के अन्तर्गत वि... राज्य एवं समाज के कार्य क्षेत्रो मे अनुरूपता स्वीकार करते हुए राज्य सामाजिक अस्तित्व का आधार है। सामाजिक और ... अभिन्न हैं। राज्य एवं समाज दोनों का ही लक्ष्य मनुष्य के ... करना है।

आदर्शवादी अंग्रेज विचारक मानते हैं कि नैतिकता जिसे राज्य न लागू करता है और न उसे कभी लागू करना ... राज्य मे व्यक्ति एक साथ ही अधिपति भी है और प्रजा भी ... साधारण इच्छा की अवहेलना कर पूर्ण जीवन के मार्ग को ... करता तो व्यक्ति को अधिकार है कि अपने व्यक्तिगत क्षेत्र का ... उसके विरुद्ध विद्रोह करे। जर्मन दार्शनिक हीगल आदि व्यक्ति ... देते। जो भी हो, इस विषय मे सभी आदर्शवादी एक मत हैं ... कर्त्तव्य नागरिक के जीवन को सुलभ कर उसे पूर्ण बनाना है

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना

आदर्शवादी सिद्धान्त की अनेक आधारो पर कटु ...

1 यह सिद्धान्त भ्रमात्मक तथा वास्तविकता से परे ... शब्दो में—"यह एक तर्क-संगत विचारधारा है जिसे धार्मिक ... इसका जीवन के दुःख-सुख और वास्तविकता से कोई सम्बन्ध ...

2 हॉब्स ने इसे अनुदार लोगों की चाल कहा है। ... सिद्धान्त की संज्ञा दी गई है। आदर्श को वास्तविक बनाने ... वास्तविकता को आदर्श बना देता है।

3 कुछ विद्वान् इसे गलत तथा खतरनाक बताते हैं। ... और भावात्मक कह कर त्याग दिया है। सी० ई० एम० जोड ... सिद्धान्त न तो सिद्धान्त की दृष्टि से सही है और न ही तथ्यों के ... वर्तमान राज्यों की विदेश नीति के क्षेत्र मे अविवेकपूर्ण कार्यों का ... प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है।"

4 यह सिद्धान्त अत्यन्त संकीर्ण और अपरिवर्तनीय है। इससे राज्य और समाज का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। आदर्शवादी राज्य और समाज दोनों को एक ही मानते हैं। राज्य और समाज को एक समझकर वे सब शक्तियाँ राज्य के हाथों में देने के पक्ष में हैं। राज्य और समाज की एकरूपता की कल्पना जिस पर आदर्शवाद आधारित है सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है।

5 यह सिद्धान्त राज्य को अत्यन्त महत्त्व देता है और व्यक्ति को राज्य के आश्रित बना देता है। राज्य को असीमित शक्तियाँ देकर यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत छोटा कर देता है। ड्यूग्वी (Duguit) और मेकाइवर (MacIver) इसे काल्पनिक मानते हैं क्योंकि यह राज्य का सर्वशक्तिमान, स्वेच्छाचारी और देवता तक की सीमा पर ले जाकर उसकी पूजा का उपदेश देता है। व्यक्ति को राज्य की सर्वतोमुखी शक्ति के अधीन कर यह सिद्धान्त उसकी स्वतन्त्रता की बलि दे देता है। मेकाइवर के अनुसार जिस प्रकार विद्यार्थियों के समूह से किसी नए विद्यार्थी की सृष्टि नहीं हो पाती या जिस तरह पशुओं का रेवड़ स्वयं अपने में पशु नहीं हो जाता, ठीक वैसे ही राज्य व्यक्तियों का समूह अवश्य है, परन्तु वह स्वयं व्यक्तित्वसम्पन्न नहीं कहा जा सकता। समाज शास्त्री गिसबर्ग की भी मान्यता है कि वैयक्तिक उद्देश्य तथा आदर्शों की पूर्ति व्यक्तियों में ही सम्भव है राज्य के तथाकथित व्यक्तित्व में नहीं।

6. यह सिद्धान्त राज्य को एक साध्य एवं व्यक्ति को साधन मानता है परन्तु यह भ्रमपूर्ण है। राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। व्यक्ति का कल्याण ही राज्य का लक्ष्य है और राज्य उसी लक्ष्य का साधन माना जाता है।

7 बोसांके, हीगल तथा उसके जर्मन अनुयायी ट्रीटश्के और बर्नहार्डी ने जिस उग्र राष्ट्रवादी आदर्शवाद का समर्थन किया है वह युद्ध का जनक तथा विश्व-शान्ति का परम शत्रु है। हिटलर तथा मुसोलिनी ने आदर्शवादी राष्ट्रवाद को अपनाकर उसे व्यावहारिक स्वरूप दिया। प्रो० हाबहाऊस की मान्यता है कि राज्य का यह आदर्शवादी पूजापूरक सिद्धान्त ही आधुनिक युद्धों का सबसे बड़ा कारण रहा है।

8 मेकाइवर के अनुसार राज्य का अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं होता। राज्य व्यक्तियों से बनता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य स्वयं एक व्यक्ति है। पेड़ों के बगीचे को पेड़ और जानवरों की बस्ती को जानवर नहीं कहा जा सकता है।

9 यह सोचना गलत है कि राज्य दोष-शून्य एवं त्रुटिहीन है। राज्य का पक्ष सदा सर्वदा सही होगा ऐसा विचार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है।

10 राज्य को ही एकमात्र ऐसी संस्था मानना जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है, नितान्त असत्य है। राज्य के अतिरिक्त मनुष्य अन्य

संस्थाओं के प्रति भी सहानुभूति रखता है और उनके द्वारा उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं का विकास होता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं से प्रकट है कि यह सिद्धान्त राज्य को सम्पूर्ण नैतिक कर्त्तव्य से ऊपर रख कर उसे निरंकुश बना देता है जो अनुचित है।

सिद्धान्त का औचित्य

इस सिद्धान्त मे राजनीति और नीतिशास्त्र दोनो को मिश्रित कर राजनैतिक जीवन में भी नैतिकता को स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव मे नैतिकता से रहित राजनीति हानिकारक ही है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त मे समाज की अवयवी एकता को महत्त्व दिया गया है। यह प्रकट करता है कि समाज पर राज्य का अधिकार है। यह सच ही है क्योंकि कोई भी व्यक्ति यथार्थत अपने जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति राज्य के बाहर नहीं कर सकता। अन्त मे, आदर्शवादी सिद्धान्त हमारे सम्मुख राज्य के आदर्श स्वरूप की व्याख्या करता है, पर कुछ बढ़ा चढाकर।



7

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त और आधुनिक राज्य का ऐतिहासिक विकास

(THEORIES OF THE ORIGIN OF STATE AND HISTORICAL DEVELOPMENT OF THE MODERN STATE)

राज्य की उत्पत्ति की गुत्थी को सुलझाने के लिए इतिहास और कल्पना का आश्रय लेते हुए समय समय पर विद्वानों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए, उसमे मुख्य निम्नलिखित हैं—

(1) दवी उत्पत्ति का सिद्धान्त,
(2) शक्ति सिद्धान्त,
(3) पैतृक तथा मातृ सिद्धान्त,
(4) सामाजिक समझौता सिद्धान्त, एव
(5) विकासवादी सिद्धान्त।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
(The Divine Origin Theory)

राज्य की उत्पत्ति के इस सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त में एकमात्र ईश्वरीय शक्ति और धर्म पर बल दिया गया है। मानव प्रारम्भ में ईश्वरीय सत्ता और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों में इतना अधिक विश्वास करता था कि उसके जीवन के सभी क्षेत्र इससे प्रभावित थे, अत यह अस्वाभाविक नहीं था कि उसकी राजनीतिक सगठन की आधारशिला भी ईश्वरीय (दैवी) बन गयी। लोग यह विश्वास करने लगे कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर अथवा किसी दवी शक्ति द्वारा हुई है। यह विश्वास समय के साथ बल पकडता गया।

दैवी सिद्धान्त के अनुसार, राज्य की स्थापना ईश्वरीय इच्छा से हुई और उसी इच्छा से वह सचालित है। ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर स्वय शासन करता है

तथा पृथ्वी पर शासन करने के लिए उसने अपने प्रतिनिधि को भेजा है। इस प्रकार राजा ईश्वर का दूत है जो अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। राजा की आज्ञा का पालन करना धार्मिक कर्त्तव्य और उसका विरोध करना पाप है। ईश्वरीय प्रतिनिधि के रूप में इस धरती पर राजा सर्वोच्च है जिसकी इच्छा और शक्ति पर हम कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते। राज सिंहासन वंशानुगत है जिसे कोई चुनौती देना ईश्वरीय आदेश का निषेध करना है।

सिद्धान्त का विकास

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के समर्थकों में सम्भवतः यहूदी सर्वप्रथम थे। उनका विश्वास था कि ईश्वर ही राजा को नियुक्त और पदच्युत करता है तथा वही उसे मार सकता है। जनता का शासन में कोई हाथ नहीं हो सकता। उसका कर्त्तव्य तो ईश्वर के प्रतिनिधि राजा की आज्ञा का पालन करना मात्र है। यूनान और रोम भी दैवी सिद्धान्त को मान्यता देते थे। कुछ यूनानी दार्शनिकों ने राज्य को स्वाभाविक और साथ ही दैवी संस्था माना। रोमन विचारकों ने भी विश्वास प्रकट किया कि ईश्वर अप्रकट रूप से राज्य का संचालन करता है। प्लूटार्क (Plutarch) ने कहा कि, "ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" मिस्रवासियों ने राजा को सूर्यपुत्र के रूप में स्वीकार किया और चीन में भी दीर्घकाल तक राजा ईश्वर का प्रतिनिधि, अवतार अथवा देवता का वंशज समझा जाता रहा। जापान में आज भी राजा मिकाडो को सूर्यपुत्र माना जाता है।

यूरोप में ईसाई धर्म के प्रसार के साथ ही इस विचार को प्रोत्साहन मिला कि ईश्वर ही राज्य का उत्पत्तिकर्त्ता है। मनुष्य पहले स्वर्ग में था किन्तु पापों के कारण उसे पृथ्वी पर भेज दिया गया और तब ईश्वर ने पृथ्वी पर शासन के लिए राज्य को जन्म दिया तथा राजा की नियुक्ति की। पादरियों ने अपने प्रभुत्व के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त का आश्रय लिया। सेण्ट पाल ने उपदेश दिया—"प्रत्येक आत्मी को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भी शक्ति नहीं है तथा जो शक्तियाँ हैं वे ईश्वरीय हैं। जो कोई भी उनकी अवज्ञा करता है वह ईश्वर की अवज्ञा करता है और उस पर ईश्वरीय शाप लगेगा।" सन्त आगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी ने अपने तर्कों द्वारा इस सिद्धान्त को शक्तिशाली और विश्वसनीय बनाया। उन्होंने यह कह कर कि अच्छे लोगों को अच्छा राजा और बुरे लोगों को बुरा राजा मिलता है राज्य के उस दैवी सिद्धान्त की ही पुष्टि की जिसके अनुसार राज्य प्रभुता का सार ईश्वरीय है। मध्ययुग में दैवी सिद्धान्त के आधार पर ही पोपशाही तथा पवित्र रोमन साम्राज्य के बीच महान् विवाद उपस्थित हुआ जिसमें पोप समर्थकों ने कहा कि "पोप को सम्पूर्ण शक्ति ईश्वर से और राजा को पोप से मिलती है।' दूसरी ओर राजा के समर्थकों ने तर्क दिया कि राजा सीधे ईश्वर का प्रतिनिधि है जिसे शासन-कार्य के लिए नियुक्त किया गया है। इस प्रकार विवाद चाहे जो भी रहा हो, दोनों पक्षों ने इस बात से सहमति प्रकट की कि शक्ति का सर्वोच्च एवं वास्तविक स्थान ईश्वरीय है।

भारत मे हिन्दू धर्मशास्त्रो और ग्रन्थो मे प्रतिपादित किया गया कि ईश्वर ने राज्य की रचना की है और राजा तथा राज्य दोनो ही दैवी हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति मे लिखा है कि राजा देवताओ के अश मे उत्पन्न हुआ है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है–"मैं मनुष्यों मे राजा हूँ।" शुक्राचार्य और चाणक्य ने भी दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया तथा इस्लाम भी राज्य को ईश्वरीय सस्था के रूप मे मानने से पीछे नही रहा। यूरोप के धर्म सुधार आन्दोलन के समय लूथर, काल्विन आदि ने भी यह विचार व्यक्त किए कि राजा ईश्वर की रचना है तथा राजाज्ञा पालन करना प्रजा का धर्म है। सन 1530 के आग्सबर्ग स्वीकरण (Augsburg confession) मे कहा गया –"विश्व के शासन विधान तथा उनकी व्यवस्था सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्ता इन दोनो ही की उत्पत्ति और स्थापना ईश्वर द्वारा हुई है।"

राजाओ का दैवी अधिकार

दैवी सिद्धान्त के आधार पर ही मध्ययुग में राजाओ ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त (Divine Right Theory) का प्रतिपादन किया। प्रजातान्त्रिक विकास के कारण जब प्रजा राजा में न्यायोचित और प्राकृतिक अधिकारो की माँग करने लगी तो राजाओ ने अपने अधिकारो को दैवी बतलाते हुए प्रजा को अधिकार विहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया। 17वीं शताब्दी मे ब्रिटेन के जेम्स ने कहा, "राजा लोग पृथ्वी पर भगवान का श्वाँस लेते हुए मिलते हैं जिनके आदेश की अवज्ञा भगवान की अवज्ञा है।" उसने स्पष्ट रूप से लिखा कि इस धरती पर राजतन्त्र सुरक्षित है तथा राजाओ को देवता कहना ठीक है क्योंकि पृथ्वी पर वह ईश्वरीय शक्ति के अनुरूप ही व्यवहार करता है। इङ्गलण्ड मे सर रॉबर्ट फिल्मर तथा फ्रास के बूसे (Bousset) ने दैवी सिद्धान्त का पुरजोर समर्थन किया। 16वी शताब्दी तक अधिकाँशत यही धारणा बल पकडे रही कि राजा दैवी अधिकारो से शासन करते हैं और प्रजा-जन उनका विरोध नही कर सकते।

सिद्धान्त की विशेषताएँ

दैवी सिद्धान्त के प्राकृतिक विश्लेषण से इसकी विशेषताएँ स्वत स्पष्ट हैं। जी पी गूच ने सार रूप मे इस सिद्धान्त की निम्नाकित चार विशेषताओ का उल्लेख किया है—

(क) राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है और वह अपनी सत्ता ईश्वर से ही प्राप्त करता है।

(ख) राजतन्त्र पैतृक है। यह पिता से पुत्र को प्राप्त होता है।

(ग) राजा अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है और न ही संसार के किसी अन्य अधिकारी के प्रति। वह केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है।

(घ) राजा के आदेशो का विरोध या उसके कार्य की आलोचना करना महान् पाप है।

सिद्धान्त का ह्रास

मध्ययुग मे सवत्र इस सिद्धांत का बोलबाला रहा। आधुनिक युग म धम सुधार आन्दोलन के साथ इस सिद्धान्त का पतन आरम्भ हुआ और आज कोई भी विवेकशील नागरिक इसे स्वीकार करने को तयार नही । गिलक्राइस्ट के अनुसार इस सिद्धान्त के पतन के कारण निम्नलिखित हैं—

(क) सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उदय, जिसने अनुमति (Consent) या जन सहमति पर अधिक जोर दिया।

(ख) चच और राज्य का पृथक्करण जिसके फलस्वरूप धम शक्ति (Sacredotum) के स्थान पर सासारिक शक्ति (Imperium) प्रमुख मानी जाने लगी।

(ग) प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो के प्रचार द्वारा निरकुश शासन के सिद्धान्त का विरोध।

फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद से विश्व म राष्ट्रवाद जनतत्र और स्वतन्त्रता की जो बाढ आई उसके सामने दवी सिद्धान्त का गढ ढहने लगा। धीरे धीरे जनता के दिलो मे भी यह भावना बढने लगी कि शक्ति का स्रोत जनता ह और राज्य भी एक मानव सस्था है। इस विचारधारा के साथ दैवी सिद्धान्त का छिन्न भिन्न हो जाना स्वाभाविक था।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना।

प्राचीन काल मे राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दवी सिद्धान्त का जो भी महत्त्व रहा हो, आज यह मान्य नही ह। इसके विरुद्ध निम्नलिखित सबल आलोचनाओ का अम्बार खडा कर दिया गया है—

(1) दवी सिद्धान्त मानव प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। एक समुदाय या सगठन के अन्तगत रहना उसकी प्रकृति म निहित है और राज्य उसकी इसी प्रकृति का परिणाम है। अत यह कहना कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय इच्छा से हुई ह मानव प्रकृति के विरुद्ध है।

(2) यह सिद्धान्त राज्य को ईश्वर की रचना मानता है जबकि राज्य एक मानव सस्था है जिसका निर्माण मनुष्य ने किया है। इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जिसके आधार पर हम कह सकें कि ईश्वर ने राज्य का निर्माण किया। वास्तव मे राज्य के सभी नियम मनुष्यो द्वारा बनाये जाते हैं और वे ही उन्हें लागू भी करते हैं। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि 'आज तक कोई भी निरकुश राजा, जो ईश्वर का प्रतिनिधि होन का दावा करता है, ईश्वर प्रदत्त कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नही कर सका है जिससे यह सिद्ध हो सके कि वह वास्तव मे ईश्वर का प्रतिनिधि ह।"

(3) राज्य को ईश्वर की रचना स्वीकार कर लेना, उसको आलोचना और परिवतन की स्थिति से ऊपर उठा देना है। इस दृष्टि से दवी सिद्धान्त एक भयकर भूल है जो राजा को सर्वेसर्वा बना देता है। वह राजा को निरकुशवाद

की ओर धकेलता है और इस तरह राजा द्वारा जनता की भावनाओं और इच्छाओं को कुचलने के लिए प्रोत्साहित करता है।

(4) यह सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी है। इसके अनुसार राज्य और राजा परमेश्वर की रचना है अतः पूर्ण है और प्रजा को उनमें किसी भी प्रकार का सुधार करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार के विचार पूर्णतः प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी हैं। इस सिद्धान्त की रूढ़िवादी भावना व्यक्ति के 'अहं' पर कठोर प्रहार करती है और प्रगति के मार्ग अवरोधन का काम करती है।

(5) दैवी सिद्धान्त प्रजातन्त्र का पूर्ण विरोधी है। इसके अतिरिक्त यदि मान भी लिया जाए कि ईश्वर की इच्छा से ही राज्य का उदय हुआ है तो भी यह समस्या रह जाती है कि ईश्वर की इच्छा की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में 'आधुनिक राष्ट्रपति के लिए जो जनता द्वारा चुना जाता है, इस दावे की स्थापना करना कठिन है कि उसके अधिकार दैवी पुरुषों से मिले हैं।'

(6) डार्विन ने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि संसार की कोई भी वस्तु ईश्वर द्वारा नहीं रची गई है, बल्कि सब ऐतिहासिक विकास का परिणाम है।

(7) धर्म ग्रन्थों में भी अनेक ऐसी बातें मिलती हैं जो दैवी सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित नहीं करती। उदाहरणार्थ 'न्यूटेस्टामेंट' (New Testament) में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें राज्य को एक मानवीय संस्था बताया गया है। क्राइस्ट ने एक स्थल पर कहा है 'जार की वस्तुएँ जार को सौंप दो और परमात्मा की वस्तुएँ परमात्मा को।'

(8) दैवी सिद्धान्त नास्तिकों के लिए महत्त्वहीन है क्योंकि वे तो परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते। उन्हें यह विश्वास दिलाना असम्भव है कि राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार भी हो सकती है।

दैवी सिद्धान्त का औचित्य

दैवी सिद्धान्त आज मृतप्राय हो चुका है, फिर भी इसका कुछ दृष्टियों से महत्त्व है—

प्रथम यह सिद्धान्त राजनीति में नैतिकता को स्थान देता है, राज्य को ईश्वर की कृति मानने का अर्थ उसे एक उच्च नैतिक स्तर प्रदान करना है और इस तरह नागरिकों के हृदय में राज्य के प्रति श्रद्धा का भाव भरना है। यह सिद्धान्त शासकों को भी इस भावना से ओतप्रोत करता है कि वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के लिए नैतिक आधार पर ईश्वर के समक्ष उत्तरदायी हैं।

द्वितीय यह सिद्धान्त प्रजा वर्ग में आज्ञाकारिता की भावना की वकालत करता है। अतीत में इसने प्रजावर्ग में आज्ञापालन की भावना को जन्म दिया, अराजकता की स्थिति को दूर किया और राज्य को स्थिरता प्रदान की।

शक्ति सिद्धान्त
(The Force Theory)

सिद्धान्त की व्याख्या

इस सिद्धा त के अनुसार राज्य शक्ति का प्रतिफल है और उसका प्रतीक भी। प्राकृतिक नियमो के अनुसार एक विशिष्ट शारीरिक शक्ति न राज्य का ज म दिया है। इस सिद्धा त की मा यता है कि प्रत्येक समाज म कमजोर तथा बलवान व्यक्ति होते हैं। बलवान व्यक्ति कमजोरो को दबाकर उन पर शासन कायम कर लेते हैं और उ हें अपने आदेश पालन करने के लिए विवश करते हैं। वह बलवान व्यक्ति जो इस प्रकार शासन स्थापित कर लेता है जन नायक बन जाता है। एक कबीले पर अपना शासन कायम करने के बाद, वह दूसरे कबीलों पर अपने शासन प्रसार की कोशिश करता है। चूँकि मनुष्य मे सत्ता प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा होती है, अत अधिकार प्राप्ति की लालसा मे वह अपने शासन के क्षेत्र को व्यापक बनाता चला जाता है। शक्ति सिद्धा त के अनुसार जब एक शक्तिशाली कबीला दूसरे कबीलो को अपने अधीन कर लेता है और एक निश्चित प्रदेश पर बस जाता है तो राज्य का ज म हो जाता है। इस सम्ब ध मे ह्यूम (Hume) ने लिखा है कि राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी मानव समूह के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली बनकर अपने अनुयायियो को अधीन बना कर उन पर अपनी हुकूमत लाद दी होगी।"

शक्ति सिद्धा त के अनुसार "युद्ध राजा को उत्पन्न करता है।" सनिक बल ही राज्यो की स्थापना मे प्रधान तत्त्व रहा है। वह देश जीवित नहीं रह सकता जिसके पास सनिक बल का अभाव है। लीकॉक के मत मे 'एतिहासिक दृष्टि से इसका अथ यह है कि सरकार मानव अशान्ति का परिणाम है। राज्य का प्रारम्भ आदमी द्वारा आदमी को पकड कर दास बनाने, अपेक्षाकृत दुबल कबीलो को विजयी तथा अधिकृत करने और श्रेष्ठ शारीरिक बल प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करने से ही हुआ है। कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य की प्रगति इसी विधि का केवल क्रम मात्र है।" ब्लशली के मतानुसार शक्ति राज्य सगठन का एक आवश्यक तत्त्व है।

दैवी सिद्धान्त की तरह शक्ति सिद्धा त भी बहुत प्राचीन है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थो मे हमें इस सिद्धा त का वणन मिलता है। प्राचीन भारत मे मगध, कोशल और वत्स जसे शक्तिशाली जनपदा ने अ य बहुत से जनपदो का जीतकर 'महाजनपद' का रूप लिया। सिक दर और च द्रगुप्त ने जो अपने विशाल साम्राज्य स्थापित किए उनका मूल कारण शक्ति ही थी। यूनान के सोफिस्ट विचारकों का कथन था कि 'न्याय शक्तिशाली के हितो के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।'

यूरोप में मध्यकालीन युग मे जब चच और राज्य में सघर्ष हुआ तो धार्मिक अधिकारियों ने राज्य को बदनाम करने के लिए शक्ति सिद्धा त का एक विशिष्ट रूप में प्रयोग किया। उनका कहना था कि राज्य का आधार क्रूर बल

प्रयोग है और चच ईश्वर की आध्यात्मिक रचना है। इसलिए चर्च राज्य से श्रेष्ठ है।

आज भी शक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति ही केवल शक्ति के आधार पर नहीं हुई है, बल्कि आधुनिक राज्य का सचालन भी शक्ति ही करती है। आज के राज्य की शासन व्यवस्था पुलिस और सेना की शक्ति के बल पर ही टिकी हुई है। व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार भी राज्य का आधार शक्ति है। राज्य की शक्ति व्यक्ति के हित मे नहीं है क्योंकि वह उसकी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करती है तथापि उसके पास शक्ति का होना आवश्यक है। उन्होंने सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बल प्रयोग के सिद्धान्त को अपनाया है। समाजवादी और अराजकतावादी विचारधारा के समर्थकों ने भी राज्य को शक्ति मूलक सस्था माना है।

जेंक्स (Jenks) ने 'हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स' मे लिखा है कि यह सिद्ध करना तनिक भी कठिन नहीं कि आधुनिक राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्धों मे है। शक्ति सिद्धान्त के विचारक मानते हैं कि युद्धों से ही राज्य ने जन्म लिया है और युद्ध से ही राज्य की प्राप्ति होती आयी है।

मेकाइवर ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राज्य' मे लिखा है कि "राज्य सदव असाधारण रूप से शक्ति सम्पन्न रहा है। उसकी उत्पत्ति मे, उसके विकास में, उसके अपने सदस्यों पर वतमान नियन्त्रण मे और अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों मे शक्ति केवल उसका अखण्ड अग ही नहीं, बल्कि उसका प्राथमिक आधार है, न केवल उसका विशेष अस्त्र है बल्कि उसकी उत्पत्ति का प्रमुख कारण मानी जाती है । राज्य का यदि उत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाए तो वह शक्ति ही उसकी उत्पत्ति का कारण थी।" इस से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि राज्य मानवीय सघर्ष का प्रतिफल है।

वतमान काल मे, कुछ समय पहले तक शक्ति सिद्धान्त जर्मन लेखकों के लिए राजनीतिक दर्शन का प्रिय विषय रहा था। नीत्से के अनुसार "राज्य आक्रमण और प्रतिरक्षा की सावजनिक शक्ति है जिसका मुख्य कार्य युद्ध करना और न्याय की व्यवस्था करना है।" उनकी यह भी मान्यता थी कि "युद्ध लोगों को एक सूत्र में बाँधता है, प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी सापेक्ष महत्वहीनता प्रकट करता है, सापेक्ष विरोधों को समाप्त करता है और देश में शक्ति और राष्ट्रीय आदर्शवाद की वृद्धि करता है। इतिहास का महत्व राष्ट्रों के निरन्तर सघर्ष में निहित है" और हथियारों के प्रति प्रेम इतिहास के अन्त तक बँधा रहेगा।" जनरल वान बर्नहार्ट के अनुसार "शक्ति ही सर्वोच्च सत्य है और इस बात का निर्णय कि सत्य क्या है, युद्ध द्वारा ही होगा। युद्ध सही निर्णय प्रदान करता है क्योंकि युद्ध का निर्णय वास्तविक तथ्यों पर आधारित होता है।" एक अन्य जर्मन लेखक नीत्से (Nietzsche) ने कहा है कि सच्चे नैतिक व्यक्ति में, "नम्रता, आत्म-त्याग, दया और कोमलता के

एव दासतापूण गुणो को कोई स्थान नही।" इन लेखको की विचारधाराओं को व्यावहारिक रूप मे हिटलर और मुसोलिनी ने क्रियान्वित किया।

ओपनहीम आदि मार्क्स के अनुयायियों ने भी शक्ति सिद्धान्त की व्याख्या वग सघष के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए की है। उनकी मान्यता है कि राज्य एक शक्ति-यन्त्र है और उसकी शक्ति शोषण के साधन के रूप म पूजीपति वग द्वारा सवहारा वग के दमन के लिए प्रयुक्त की जाती है।

इस तरह स्पष्ट है कि शक्ति सिद्धान्त मे विश्वास करने वालो की आज भी कमी नही है। द्वितीय महायुद्ध के बाद का इतिहास साक्षी है कि मिस्र पाकिस्तान, वर्मा, ईराक, सीरिया, टर्की, दक्षिण वियतनाम आदि मे सैनिक क्रान्तियाँ हुई हैं और वहा की कानूनी सरकारो को शक्ति के बल पर पलट दिया गया है तथा सनिक दृष्टि से शक्तिशाली नेताओं ने शासन-सूत्र सम्भाला है। आज का साम्यवादी चीन तो खुले आम युद्ध को और शक्ति को अपनी नीति का अनिवाय तत्त्व घोषित कर रहा है। माओ शक्ति और युद्ध का उपासक था और 'जिसकी लाठी उसकी भस' वाले सिद्धान्त मे पूण आस्था रखता था।

शक्ति सिद्धान्त का मूल तत्त्व

शक्ति सिद्धान्त और उसके विकास की जो व्याख्या की गई है, उसके आधार पर इस सिद्धान्त के कुछ मूल तत्त्व इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

(क) राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण शक्ति ही है। राज्य बलवानो द्वारा निर्बलो पर अधिकार और प्रभुत्व का परिणाम है।

(ख) प्रकृति का नियम है कि शक्ति ही न्याय है।

(ग) आज भी केवल बल प्रयोग द्वारा ही राज्यो म आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा कायम रखी जाती है।

(घ) बल प्रयोग का सिद्धान्त विजय के फलस्वरूप राज्य की प्रकृति को प्रकट करता है और जिसकी लाठी उसकी भस के अनुसार राज्य के अधिकार को न्याय ठहराता है।

साराश यह है कि शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य मानव युद्धो का परिणाम है और बल प्रयोग ने उसकी प्रगति तथा स्थिरता म महत्त्वपूण भाग लिया है।

शक्ति सिद्धान्त की आलोचना

1 राज्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी अनेक तत्त्वो में शक्ति के विशेष महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला शक्ति-सिद्धान्त यद्यपि बहुत कुछ सही है, तथापि उसे पूण सत्य नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि राज्य के विकास मे शक्ति का बहुत बड़ा हाथ रहा है कुछ बड़े राज्यो की स्थापना शक्ति द्वारा ही हुई है, आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा के लिए राज्य शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तथा राज्य के अस्तित्व के लिए भी शक्ति का अस्तित्व आवश्यक है तथापि केवल मात्र शक्ति को राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता और

इसे ही राज्य का एकमात्र आधार नही माना जा सकता । अत इस सिद्धान्त की निम्नाकित आधारों पर कटु आलोचना की गई है—

(1) 'राज्य का आधार इच्छा है शक्ति नही' । शक्ति आवश्यक है परन्तु उसका प्रयोग औषधि के रूप मे किया जाना चाहिए, नित्य आचार के रूप मे नही । यदि शक्ति को ही एकमात्र मापदण्ड बना दिया जाय तो वह राज्य तभी तक चल सकेगा जब तक वह सबल है । ऐसा राज्य स्थायी और सुखी नही हो सकता । शक्ति का अनुचित और अवाछित प्रयोग क्रान्तिया का कारण बन जाता है ।

ग्रीन का मत है कि प्रत्येक मनुष्य की नतिक चेतना अपने विकास के लिए स्वतन्त्रता की माँग करती है । स्वतन्त्रता का अर्थ उन अधिकारो एव अवसरो की प्राप्ति से है जो मनुष्य की नतिक चेतना के लिए आवश्यक है जिनको राज्य ने स्वीकार कर लिया है । दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि राज्य का जन्म मानव की नतिक चेतनाओ के कारण हुआ और राज्य का आधार शक्ति नही है । राज्य किसी भी व्यक्ति को नतिक नही बना सकता । उसका काय नतिक चेतना के विकास मे आने वाली बाधाओ को दूर करना है । व्यक्ति की चेतना स्वतन्त्र है । यदि वह अनतिक है तो शक्ति प्रयोग द्वारा राज्य उसे नतिक नहीं बना सकता । राज्य का आधार शक्ति न होकर इच्छा है क्योकि व्यक्ति की नतिक चेतना ने ही राज्य को जन्म दिया है ।

स्पष्ट है कि केवल शक्ति को ही राज्य का आधार मानना सकीर्ण दृष्टिकोण है । शक्ति के साथ इच्छा भी राज्य को सुदृढ़ बनाती है । शक्ति-सिद्धान्त इच्छा के तत्त्व को बिलकुल दूर फेंक देता है । वह सहयोग-तत्त्व के महत्त्व पर बल नही देता, प्रत्येक कानून के पीछे जनता की राय होनी चाहिए । प्रत्येक व्यवस्था के पीछे एक नतिक बल वाछनीय है । गिलक्राइस्ट के शब्दों मे "शारीरिक दबाव की शक्ति राज्य का एक सिद्धान्त है, परन्तु उसका सार नहीं ।" "न्याय और औचित्य से विहीन अपने सर्वोत्तम रूप मे भी शक्ति अस्थायी ही होती है । न्याययुक्त शक्ति ही राज्य का स्थायी आधार बन सकती है ।"

इतिहास भी साक्षी है कि राज्य का आधार केवल पाशविक शक्ति नही हो सकती । जहाँ जहाँ राज्य का आधार केवल पाशविक शक्ति रही है, वहाँ राज्य शीघ्र नष्ट हो गए । हिटलर और मुसोलिनी के राज्यो का आधार केवल पाशविक शक्ति था, अत वे राज्य अधिक नही टिक सके । भारत में ब्रिटिश सत्ता का आधार केवल शक्ति था, अत भारतीयो के निरन्तर सघर्ष के परिणामस्वरूप उन्हे अन्त म अपनी सत्ता का परित्याग करना पडा । फ्रांस ने अल्जीरिया पर काफी समय तक केवल शक्ति के आधार पर ही राज्य किया, लेकिन अन्त मे उसे अल्जीरिया को छोडना पडा । अग्रेजो ने आयरलण्ड पर शक्ति द्वारा कुछ समय तक राज्य किया पर आखिर आयरलण्ड को स्वतन्त्रता देनी ही पडी । इंगलण्ड, जर्मनी, फ्रांस बेल्जियम आदि देशो ने अफ्रीका और एशिया के कुछ भागो मे शक्ति के बल पर अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए पर अन्त मे उन्हें वहाँ से हटना पडा । नपोलियन

बोनापार्ट ने शक्ति द्वारा यूरोप के अनेक देशों को विजय कर लिया, लेकिन अन्त में उसके विशाल साम्राज्य का भी पराभव हो गया। टर्की ने पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों पर तथा सऊदी अरब, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि पर अधिकार जमाया, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद उसे इन सब देशों को स्वतन्त्र करना पड़ा। रूस में जार सम्राट शक्ति के बल पर अपना अत्याचारी शासन नहीं चला सके और सन् 1917 की क्रान्ति द्वारा वे हमेशा के लिए दफना दिए गए। इसी तरह फ्रांस में लुई चौदहवें व लुई पन्द्रहवें ने शक्ति के मद में चूर होकर अत्याचारी शासन स्थापित किया पर आखिर में 1789 की क्रान्ति द्वारा उसका अन्त हो गया। अतः यह स्पष्ट है कि केवल शक्ति के आधार पर राज्य का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता।

(2) आधुनिक लेखक नैतिक बल को कोरी शक्ति से भिन्न मानते हैं। ग्रीन के शब्दों में 'राज्य का निर्माण साधारण बल प्रयोग द्वारा नहीं वरन् उस बल प्रयोग द्वारा होता है जो लिखित अथवा अलिखित कानून के अनुसार, आन्तरिक तथा बाह्य आक्रमणों से नागरिक के अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता है।" अतः नैतिक बल ही राज्य की स्थायी आधारशिला हो सकती है। इसके अभाव में शक्ति होते हुए भी एक राज्य का पतन संभव है।

(3) युद्ध और शक्ति की प्रशंसा करना उचित नहीं क्योंकि इस प्रकार की विचारधारा निरंकुशता एवं मानव-संहार का ही दूसरा नाम है। शक्ति सिद्धान्त चारित्रिक बल की अपेक्षा पशु बल को प्रोत्साहन देता है। यदि शक्ति को ही सर्वोच्च मानकर समस्याओं के निर्णय बल प्रयोग द्वारा ही किए जाएँ तो शान्ति नाम की कोई चीज इस धरती पर नहीं रहेगी और संसार एक शाश्वत युद्ध क्षेत्र बन जायगा। यह सिद्धान्त 'मनमाने व्यवहार' और जीवन के लिए संघर्ष' में विश्वास रखता है, जो जंगल का कानून है, सभ्य समाज का नहीं।

(4) गिलक्राइस्ट ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में मानव चेतना के तत्त्व पर बल दिया है। उसके अनुसार है– "राज्य, सरकार और वास्तव में सभी संस्थाएं मानव-चेतना के परिणाम हैं और वे ऐसी कृतियाँ हैं जो मानव के नैतिक उद्देश्य को समझने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं।" यदि गिलक्राइस्ट के कथन को महत्त्व दिया जाए तो मानना होगा कि शक्ति सिद्धान्त में कोई विशेष सच्चाई नहीं है। राज्य केवल शक्ति का परिणाम नहीं है। उसकी उत्पत्ति सहयोगी भावना से होती है। राज्य की उत्पत्ति में परिवार, धर्म एवं राजनीतिक चेतना आदि ने भी पर्याप्त योग दिया है। अमेरिकी रूसी एवं भारतीय संघों की स्थापना यह सिद्ध करती है कि राज्यों का विस्तार सहयोग भावना से भी होता है।

(5) शक्ति राज्य का केवल एक तत्त्व है। शक्ति के सहारे आन्तरिक और बाहरी शत्रुओं का सामना करना राज्य का एक आवश्यक कार्य है, किन्तु यही उसका एकमात्र कार्य नहीं। शक्तिशाली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों को जीतकर भी सच्चे अर्थों में राज्य नहीं है क्योंकि "अधिकार रहित बल अधिक से अधिक केवल अस्थायी हो

सकता है। शक्ति के साथ अधिकार ही राज्य का स्थायी आधार होता है।" रूसो के अनुसार भी "शक्ति के आगे झुकना एक लाचारी है न कि इच्छा। शक्तिशाली मनुष्य तब तक शक्तिशाली नहीं बना रह सकता जब तक वह बल को अधिकार मे और आज्ञापालन को कर्त्तव्य में परिणत नही कर देता।"

(6) शक्ति सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक परम्परा और बन्धुत्व की भावना के प्रतिकूल है। प्रजातन्त्र मे सभी व्यक्तियो की समानता पर बल दिया जाता है जब कि शक्ति सिद्धान्त सबल और निबल के बीच भेद भाव उत्पन्न करता है।

(7) गांधीवादी मान्यता के अनुसार समाज का प्रभावपूर्ण निर्माण पवित्र अहिंसा के आधार पर ही हो सकता है जिसम शक्ति के लिए कोई स्थान नही है।

अन्त मे, यदि सभ्यता का विकास सघर्ष (Struggle) मे ही निहित है तो आज 'सघर्ष' शब्द का अर्थ 'बल' बन गया है। आधुनिक विचारक हक्सले और मार्शल का कथन है कि सघर्ष का अर्थ परिस्थितियो पर विजय पाना है जिसके लिए वास्तव म शारीरिक बल की नही, बुद्धि-बल की आवश्यकता होती है। आज प्रकृति पर मनुष्य की विजय बुद्धि-बल का ही परिणाम है। इसके अतिरिक्त सभ्यता और सस्कृति के विकास के कारण नियन्त्रण का जोर कम होता जा रहा है। आज शक्ति के स्थान पर सामूहिक जीवन म कानून, व्यवस्था और जनता की सामान्य इच्छा का स्थान सवमान्य होता जा रहा है।

शक्ति सिद्धान्त का औचित्य

राज्य की उत्पत्ति के बारे मे यद्यपि शक्ति सिद्धान्त पूर्णत सत्य नही है, फिर भी इसमे आंशिक सत्य और औचित्य है। इस बात मे इनकार करना कठिन है कि शक्ति ने राज्य के विकास म काफी कुछ हाथ बँटाया है। यह भी स्वीकार करना होगा कि किसी राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति का उपयोग आवश्यक है। राज्य के विकास मे अन्य तत्वो के साथ शक्ति भी सदव से एक सक्रिय तत्व रही है। राज्य के साथ शक्ति का सयोग नकारा नहीं जा सकता। राज्य के अस्तित्व के लिए आज भी सनिक शक्ति आवश्यक है और उसे सार्वभौमिकता क रूप मे प्रत्येक राज्य का आवश्यक तत्व माना जाता है। राज्य को सुव्यवस्था और शाति के लिए तथा विदेशी आक्रान्ताओ से देश की रक्षा के लिए सना और पुलिस का प्रयाग करना ही पडता है। शक्ति ने राज्य की उत्पत्ति और प्रगति म महत्वपूण योग दिया है। शक्ति के कारण ही रूस और अमेरिका आज विश्व मे सर्वाधिक सबल, सम्पन्न और अग्रणी राष्ट्र माने जाते हैं। शक्ति ने ही अनेक राज्यो और साम्राज्यो को जन्म दिया है। इस तरह शक्ति सिद्धान्त का महत्व और अस्तित्व है। पर यह नही माना जा सकता कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति ही एकमात्र निर्णायक तत्व रहा है। वास्तविकता यह है कि राज्य की उत्पत्ति और विकास मे अनेक तत्वों न महत्वपूर्ण योग दिया है जिनम से शक्ति भी एक सक्रिय और महत्वपूर्ण तत्व रहा है तथा आज भी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि राज्य के विकास और सचालन मे शक्ति का प्रयोग जनसाधारण के हित मे उचित ढग से किया जाना चाहिए।

पैतृक एव मातृक सिद्धान्त
(The Patriarchal and Matriarchal Theories)

पैतृक सिद्धान्त

पैतृक सिद्धा त राज्य की उत्पत्ति का एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है जो राज्य को मानवकृत मानता है। इसके अनुसार राज्य परिवार का ही एक विस्तृत स्वरूप है। सभ्यता के आदिकाल मे परिवार का सगठन केवल एक पुरुष, उसकी पत्नी और उनके बच्चा से होता था। ऐसे परिवार का मुखिया पिता कहलाता था। परिवार क सब सदस्यो पर इस मुखिया का पूर्ण अधिकार होता था। जनसख्या की वृद्धि के साथ परिवार के सदस्यो की सख्या भी बढी। नए परिवारो की स्थापना हुई। किन्तु मूल परिवार के पिता का नियन्त्रण सभी सदस्यो पर कायम रहा। इससे पितृ प्रधान परिवारो ने एक कुल (Clan) का रूप धारण किया। कुल के सदस्य मूल परिवार क पिता की प्रधानता को ही मानते थे। कुल के सदस्यो मे रक्त सम्बन्धी एकता विद्यमान रहती थी। धीरे धीरे यह कुल बढकर एक बडा कबीला (Tribe) बन गया। समय बीतने पर कबीले के कुछ सदस्य अपने कुल-कबीले (Parent Tribe) से बाहर निकल गए और नए प्रदेशो में जाकर बस गए। यह काल-क्रम इसी प्रकार चलता गया। सकट के समय ये कबीले एक दूसरे की सहायता भी करते थे क्योंकि उन सबका रक्त सम्बन्ध था। जब अन्य कबीलो के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए किसी कबीले के सदस्य एकत्रित होते, तो इस काय के लिए एक सवमान्य अधिकारी की आवश्यकता पडी जिसकी आज्ञाओं का वे सब पालन करें। इस प्रकार राज्य का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में लीकॉक का कथन है कि - "पहले एक गृहस्थी, उसके बाद एक पितृ-प्रधान परिवार, इसके बाद एक वश के लोगो का कबीला और अन्तत एक राष्ट्र—इस आधार पर सामाजिक क्रमो की उत्पत्ति हुई है।"

सक्षेप मे, इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन समाज की इकाई कुटुम्ब था। कुटुम्ब पिता की प्रधानता पर आधारित था। कुटुम्ब बढकर कुल के रूप मे परिवर्तित हो गया। कुल से समुदाय और समुदाय से समाज का निर्माण हुआ। धीरे धीरे इसी समाज ने राज्य का रूप ग्रहण किया।

अरस्तू का कथन है कि राज्य परिवार का ही विस्तृत रूप है। उसके अनुसार —"बहुत से परिवारो के समाज को गाँव कहते हैं। गाँव मे प्राय एक ही वश के वशज रहते थे। वशजो से तात्पय है एक ही मूल परिवार की सन्तानो की सन्तानो की सन्तानें। प्रारम्भिक काल में राज्यो के स्वामी राजा ठीक इसी प्रकार होते थे जिस प्रकार आजकल भी जगली जातियो मे मुखिया या राजा पाए जाते हैं। वास्तव मे राजा नामक सस्था के उदय के मूल में यही रहस्य था कि सभी लोगो ने अपने परिवार के बुजुग को अपना मुखिया मान लिया होगा।' इस प्रकार परिवार से ग्राम और ग्राम से राज्य की उत्पत्ति हुई है। ब्लन्शली के शब्दो में "एक परिवार और कुल (Clan) व केन्द्र बिन्दु हैं जिसके चारों तरफ, समय से

साथ-साथ राज्य का निर्माण हो सका है, परन्तु केवल परिवार और केवल कबीले को हम 'राज्य' नही कह सकते ।"

सर हेनरी मेन का पितृ प्रधान सिद्धान्त—पैतृक सिद्धान्त के सबसे प्रबल समथक सर हेनरी मेन हैं। उन्होंने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तको मे जिनके नाम 'Ancient Law' और 'Early History of Institutions' हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मेन के अनुसार प्राथमिक समुदाय कुटुम्ब अपने मुखिया के नियन्त्रण मे रहता था। कुटुम्बो से समुदाय, समुदायो से कबीले बने और कबीलो के समूह मे जन-जाति तथा जनजातियो के समूह से राष्ट्र का निर्माण हुआ सर हेनरी मेन ने विकास की इस प्रक्रिया का इन शब्दो में वणन किया है, "प्रथम समूह परिवार है जो सवमान्य वयोवृद्ध पुरुप की अधीनता के कारण सम्बद्ध है। कई परिवारो के मिल जाने मे गण या वश का निर्माण होता है। वशो के मिल जाने से कबीला बनता है और कबीलो के योग्य से राज्य का निर्माण होता है।"

सर हेनरी मेन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि यहूदियो, यूनानवासियो, रोमवासियो तथा भारतीय परिवारो के उदाहरण द्वारा की है। इन सभी देशो मे ऐसे परिवार पाए जाते हैं जो वतमान काल में एक परिवार न कहलाकर परिवारो के समूह ही कहलाए जाएँगे। पुराने बाइबिल के कुलपतियो की तुलना भी पतृक सिद्धान्त के मुखियाओ से की जा सकती है। भारत की सयुक्त कुटुम्ब प्रथा इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। "कुछ असभ्य जन जातियो और आज के तथाकथित कुटुम्बो मे बहुत से व्यक्ति पाए जाते हैं, जिनमे से प्रत्येक व्यक्ति के बहुत से भाई पुत्र या भतीजे होते हैं। पतृक सिद्धान्त इसको सत्य मानकर कि मुखिया का पद एक दूसरे को सरलता से प्राप्त होता है पिता को मुखिया या राजा और कुटुम्ब को प्रजा में परिवर्तित कर देता है।"

सर हेनरी मेन के पैतृक सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—

(क) पितृ प्रधान परिवार में पतृकता मुख्य तथ्य है।

(ख) वशावली केवल पुरुषो और समान पुरखाओ में खोजी जाती है। स्त्री पक्ष का कोई भी उत्तराधिकारी पारिवारिक सम्बन्ध के प्राथमिक भाग में शामिल नही किया जाता।

(ग) समस्त अधिकारो का आधार और सारी शक्ति का मुख्य स्रोत परिवार का मुखिया होता है।

वुडरो विलसन के अनुसार भी प्रारम्भिक काल में परिवार ही सरकार का आदि मूल थे।

सिद्धान्त की आलोचना

इस सिद्धान्त की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है—

(क) पैतृक सिद्धान्त राज्य और समाज को एक सरल इकाई के रूप म देखता है। प्राचीन सामाजिक समुदाय अपने सगठन मे इतना सरल नहीं था जितना इस सिद्धान्त के समथक भ्रम से मान बठे हैं।

पुरुष स्वाभाविक प्रकृति के वशीभूत हो समागम करते थे। बच्चे अपने पिता को नही जानते थे और माता के परिवार मे ही रहते थे।

जेंक्स (Jenks) — जेंक्स ने अपनी पुस्तक (History of Politics) मे मातृ प्रधान सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या की है। उसका कहना है कि प्राचीन कुटुम्ब में कोई पुरुष मुखिया नही था। वह इस सिद्धान्त का प्रमाणित करने के लिए आस्ट्रेलिया तथा मलय द्वीप समूह के उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उसका कथन है, "ऑस्ट्रेलियनो तथा अन्य जगली जातियो मे, जो कबीलो में रहते है, यह एक प्रथा है। वस्तुत इसे एक मण्डली (Pack) कहना अधिक ठीक होगा, क्योकि सामाजिक सगठन की अपेक्षा इसका रूप शिकारी सगठन से अधिक मिलता जुलता है। दिन भर की दौड धूप से जो सग्रह हो पाता है, उसमे सारे सदस्यो का मिला जुला भाग होता है। वे शिविर लगाते है और मिलकर रहते हैं। किन्तु आस्ट्रेलियना की वास्तविक सामाजिक इकाई कबीला नही है बल्कि एक चिह्नित दल (Token Group) है। चिह्नित दल मुख्यत ऐसे व्यक्तियो की एक मण्डली होती है जिसे किसी प्राकृतिक चिह्न से अकित करके भिन्न दिखाया जाता है, जैसे किसी पशु या पेड का चिह्न गोद दिया जाता है जिससे वह परस्पर विवाह न कर सकें। सप चिह्न वाले का सप के साथ विवाह नही हो सकता। चिडिया का चिडिया के साथ विवाह नही हो सकता। यह जगली सामाजिक सगठन का पहला नियम है। इस नियम का दूसरा पक्ष भी इसी के समान आश्चयजनक है। जगली अपनी चिह्नित जाति के अन्तगत तो विवाह नही कर सकता किन्तु उसे अन्य उस जाति मे विवाह करना ही होगा जो विशेष रूप से उसके लिए निश्चित की गई है। इससे भी अधिक महत्त्वपूण बात यह है कि वह न केवल विशिष्ट जाति में ही विवाह करता है अपितु उसे उस जाति की स्त्रियो का विवाह भी अपनी निजी सन्तति में ही करना पडता है।"

जेंक्स के मातृ प्रधान सिद्धान्त का विकास क्रम इस प्रकार है—"

(क) प्राथमिक समाज की इकाई परिवार नही है।

(ख) प्राथमिक समाज की इकाई एक कबीला है जो सबसे पुराना दल है।

(ग) धीर धीर बढकर कबीला कुलो मे बँट जाता है।

(घ) कुल गृहस्थी का निर्माण करते हैं।

(ङ) इस प्रकार विकास के क्रम मे अन्त मे उनका एक परिवार बन जाता है।

मातृक सिद्धान्त के मूल तत्त्व—प्राचीन समाज में बहु-पति प्रथा मातृक सिद्धान्त का प्रमाण है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में गिलक्राइस्ट मलाबार की रानियो और मराठा राजकुमारियों के अधिकारो का उदाहरण देता है। "मातृत्व पैतृकता की अपेक्षा अधिक प्रधान था। उसे दृढ़ मत्य का बल मिला हुआ था कि बालक पर पैतृकता की अपेक्षा मातृत्व का प्रभाव अधिक गहरा पडता है जिसके अनुसार किसी

भी व्यक्ति का सम्बन्ध स्त्री पक्ष के द्वारा ही निश्चित किया जाता था।" जे० जे० बैशोफन (J J Bachofen) का मत है कि "प्रारम्भिक समाज म न केवल वश परम्परा माता से चलती थी और सम्पत्ति का अधिकार स्त्री को मिलता था, बल्कि समाज में स्त्रियो की स्थिति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी।"

मातृक सिद्धान्त के मूल तत्त्व इस प्रकार हैं—

(1) प्राचीन काल मे वैवाहिक सम्बन्ध पूर्ण अस्थिर थे।

(2) वशावली माता के नाम से ही जानी जाती थी।

(3) माता ही परिवार की मुखिया होती थी।

(4) सम्पत्ति केवल स्त्रियो को ही उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त होती थी।

आलोचना– आधुनिक समाजशास्त्रियो की महत्त्वपूर्ण खोजो ने मातृक सिद्धान्त को निम्न आधारो पर चुनौती दी है –

(1) मातृक सिद्धान्त भी पतृक सिद्धान्त की तरह प्राचीन सामाजिक जीवन का एक सरल चित्र उपस्थित करता है। प्राचीन जीवन काफी जटिल था और उस जटिलता को समझने में मातृक सिद्धान्त के समर्थकों का ध्यान बहुत कम गया है।

(2) मातृक सिद्धान्त भी वास्तव मे राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं है। यह सिद्धान्त भी हमें प्राचीन समाज की शुरूआतों का परिचय मात्र कराता है। प्राचीन राजनीतिक सस्थाओ की उत्पत्ति जानने मे यह कोई विशेष सहायक नहीं हो सकता, चूँकि सामाजिक सस्थाओं और राजनीतिक सस्थाओ के जन्म और विकास में अन्तर है। ये दोनो ही सिद्धान्त समाजशास्त्र के सिद्धान्त हैं न कि राजनीति शास्त्र के। दोनो ही सिद्धान्त प्रारम्भिक मानव जीवन का खोजने का प्रयास मात्र करते हैं।

(3) मातृक सिद्धान्त सर्वव्यापी नहीं है। इसके पक्ष मे इतिहास मे अभी तक मिलने वाले प्रमाण थोडे हैं और विश्वसनीय कम हैं।

सिद्धान्त का महत्व—कुछ भी हो, मातृक सिद्धान्त मे सत्य का अश जरूर है। हम यह जानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति मे अनेक तत्व शामिल थे। राज्य की उत्पत्ति परिवार से अवश्य हुए होगी पर वह परिवार मातृ प्रधान था या पितृ प्रधान यह कहना कठिन है। हम लीकॉक के इस कथन से सहमत हो सकते है कि 'कहीं तो मातृ प्रधान सिद्धान्त और कहीं पितृ प्रधान सिद्धान्त शासन का नियम अवश्य दिखाई दता है—पर दोनो में से कोई भी सम्भवत एक दूसरे द्वारा स्थानान्तरित किया जा सकता है।" जो भी हो, दोनो सिद्धान्तो से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि परिवार राज्य का मूल आधार है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त
(The Social Contract Theory)

राज्य की उत्पत्ति में सामाजिक समझौता सिद्धान्त ने राजनीति शास्त्र के विभिन्न पहलुओं को गम्भीर रूप में प्रभावित किया है। राज्य की सामाजिक उत्पत्ति

के समझौते के साथ ही साथ शासक और शासन के सम्बन्धों की विवेचना के लिए भी इस सिद्धान्त का व्यापक प्रयोग हुआ है। मूल रूप में यह सिद्धान्त राज्य की दैवी दृष्टिकोण के प्रति एक सामाजिक प्रतिक्रिया थी। इसके प्रतिपादक यह सिद्ध करना चाहते थे कि राज्य का स्रोत कोई अमानवीय सत्ता न होकर उनकी अनुमति है जिन पर राज्य अपनी सार्वभौमिकता का प्रयोग करता है।

समझौता सिद्धान्त की व्याख्या

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य कोई ईश्वरीय रचना (Divine) तथा स्वाभाविक (Natural) संस्था न होकर एक कृत्रिम (Artificial) संस्था है जिसका जन्म व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्यों ने, अपनी परेशानियों से मुक्त होने के लिए जान बूझ कर ऐच्छिक रूप से राज्य को स्थापित किया है। राज्य के अस्तित्व से पहले मनुष्य प्राकृतिक (Natural) अर्थात् अराजनैतिक (Non Political) अवस्था में रहते थे और इस अवस्था की असुविधाओं से छुटकारा पाने के लिए ही उन्होंने राज्य का निर्माण किया।

स्पष्ट है कि सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार, मानव समाज के इतिहास के दो प्रमुख भाग हैं—राज्य की स्थापना से पूर्व का भाग अर्थात् प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) तथा बाद की अवस्था अर्थात् नागरिक समाज (Civil Society) का भाग। इन दोनों दशाओं के बीच की अवस्था को समझौते (Contract) की अवस्था का नाम दिया गया। समझौते द्वारा ही सभ्य समाज अर्थात् राज्य का जन्म हुआ। इन तीनों ही तत्वों को अधिक स्पष्ट रूप से निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है—

(क) प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य की स्थापना से पूर्व का जो काल था, वह प्राकृतिक अवस्था का था। प्राकृतिक अवस्था के बारे में समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक एकमत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि इस समय मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं था। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का शत्रु था। यह 'अन्धकारपूर्ण और कपटपूर्ण' स्थिति थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती थी। संक्षेप में यह अवस्था निरन्तर युद्ध की अवस्था थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन हर समय संकट में रहता था। इस तरह मनुष्य का जीवन एकाकी, पाशविक और पतित था। दूसरी ओर कुछ विचारकों का मत है कि प्राकृतिक अवस्था "आदर्श सरलता और परम सुख की अवस्था थी जिसमें लोग स्वर्गिक आनन्द का उपभोग करते थे।" इन विचारकों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शान्ति तथा मैत्री पूर्ण थी। यह मानव जीवन का स्वर्णिम काल था।

प्राकृतिक अवस्था में किसी प्रकार का राजनीतिक संगठन नहीं था और न ही मानव निर्मित किसी कानून का अस्तित्व था। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन अस्पष्ट प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) द्वारा होता था।

(ख) समझौता (Contract)—प्राकृतिक अवस्था में अन्त के विभिन्न कारणों

से अनेक असुविधाएँ पदा हो गयीं और मनुष्यो ने समझौते द्वारा समाज या राज्य की स्थापना की। समझौता क्यो हुआ और समझौते की प्रकृति क्या थी, इस पर विचारको मे मतभेद है। हॉब्स के अनुसार मनुष्यों ने जीवन की रक्षा के लिए, लाक के अनुसार मनुष्यो ने प्राकृतिक अवस्था की सुविधाओ को दूर करने के लिए और रूसो के अनुसार मनुष्यों ने सभ्यता की बढती हुई पेचिदगी के कारण विकृत प्राकृतिक दशा को छोडने के लिए आपस मे समझौता कर राजनीतिक सगठन का निर्माण किया। कुछ विचारको के अनुसार समझौता केवल एक हुआ और इसी से समाज और राज्य दोनो की एक साथ स्थापना हुई। परन्तु अन्य विचारको के अनुसार समझौते दो हुए जिनमें से एक से समाज और दूसरे से समाज की स्थापना हुई। आज जो विचारक सामाजिक समझौते में विश्वास करते हैं उनके मतानुसार यह समझौता व्यक्तियो ने आपस मे एक दूसरे से किया। राजा का कोई पक्ष नहीं था। लेकिन जो विचारक सरकारी समझौते मे विश्वास करते हैं उनके अनुसार इस समझौते मे एक पक्ष मे जनता थी और दूसरे पक्ष म कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति थे।

(ग) नागरिक समाज (Civil Society)—समझौते के फलस्वरूप प्राकृतिक अवस्था का अन्त हो गया और राजनतिक सगठन की स्थापना हुई, अर्थात् मानव समाज व राज्य का जन्म हुआ। इस अवस्था म मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार व प्राकृतिक कानून हमेशा के लिए समाप्त हो गये और उनका स्थान मनुष्य के नागरिक अधिकारो तथा राज्य के कानूनो ने प्राप्त कर लिया।

साराश मे उक्त सामाजिक समझौता सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि प्राकृतिक अवस्था म मनुष्य का न ता कोई राजनीतिक सगठन था, न कोई सामाजिक नियम या कानून। इस समय मनुष्य अनियमित जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक अवस्था मनुष्य की वह आदिम अवस्था थी जब वह जगल म रहता था एव पूर्ण स्वच्छाचारी था। कुछ के अनुसार यह अवस्था बडी असुविधाजनक एव दुदशापूर्ण थी तथा 'जिसकी लाठी उसकी भैस' के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था तो कुछ के अनुसार यह दशा परमसुखदायी एव आदर्श थी। प्राकृतिक अवस्था मे लोगो की दशा जो भी रही हो, परन्तु कालान्तर मे मानव का यह जीवन अत्यन्त असुविधाजनक एव असहनीय हो गया और तब लोग जीवन की अपनी इस अवस्था को बदलने को उद्यत हो गये। उन्होने अपना उच्छृखल जीवन त्याग कर एक राजनीतिक समाज की स्थापना के लिए समझौता किया। इस तरह मानव जाति के जीवन मे एक ऐसी अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ जब 'प्राकृतिक अवस्था' नागरिक समाज मे परिणत हो गई और लोगों ने एक राजनीतिक सत्ता के अधीन नियमित रूप से जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। अब प्राकृतिक नियम का स्थान मानवीय नियमो ने ले लिया।

समझौते के स्वरूप के विषय मे भी विद्वानो मे बहुत मतभेद है। कुछ सिद्धान्तो के अनुसार लोगो को अपने समस्त अधिकार त्याग देने पडे तो अन्य विद्वानों के

विचार से लोगों को केवल कुछ ही अधिकारों का परित्याग करना पड़ा। कुछ विद्वानों के विचार से केवल एक ही समझौता हुआ तो कुछ के अनुसार दो समझौते हुए। लेकिन इस बात से सभी सहमत हैं कि प्राकृतिक अवस्था के स्थान पर लोगों को सुरक्षा प्राप्त हुई और समझौते द्वारा राज्य का निर्माण हो गया। समझौता सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति समझौते से हुई, मानव के सामाजिक स्वभाव के कारण नहीं और न ही शक्ति या ईश्वर द्वारा।

समझौता सिद्धान्त का विकास एवं ह्रास

इस अति प्राचीन सिद्धान्त का उल्लेख हमें पूर्व और पश्चिम के राजनीतिक विचारों में सर्वत्र मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व में तथा जैन एवं बौद्ध साहित्य में इसका उल्लेख है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुसार भी राजा को उसके अधिकार समझौते द्वारा प्राप्त हुए। पश्चिम के यूनानी सोफिस्ट विचारकों की रचनाओं में भी इस प्रकार का उल्लेख है कि राज्य मानव प्रकृति के विरुद्ध है, यह प्राकृतिक न होकर कृत्रिम है तथा समझौते का परिणाम है। प्लेटो तथा अरस्तू ने इस सिद्धान्त को ठुकराते हुए राज्य को एक प्राकृतिक एवं आवश्यक संस्था बतलाया जबकि बाद के एपीक्यूरियन विचारकों ने समझौता सिद्धान्त से सहमति प्रकट की। उन्होंने कहा कि राज्य मानव की स्वार्थपरता पर आधारित संस्था है और व्यक्ति कानून का पालन दूसरों की हिंसात्मक प्रवृत्तियों से रक्षा के लिए करता है। रोमन चिन्तन में समझौता सिद्धान्त का सैद्धान्तिक रूप से कोई वर्णन नहीं मिलता, किन्तु इसका व्यावहारिक वर्णन इस सिद्धान्त के बहुत कुछ समीप माना जा सकता है। उसका वर्णन सरकारी समझौते का संकेत देता है। उनका कहना था कि जनता राजनीतिक सत्ता का स्रोत है राज्य का ढाँचा जनता की सहमति पर स्थित है तथा समझौता शासक और शासित के सम्बन्धों पर आधारित है, किन्तु समझौते को वे राज्य की उत्पत्ति का कारण नहीं मानते।

ग्यारहवीं शताब्दी में मेनगोल्ड ने समझौता सिद्धान्त का उल्लेख राज्य की उत्पत्ति के आधार के रूप में तो नहीं किया पर यह अवश्य कहा कि राजा यदि उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है। 13वीं शताब्दी में टामस एक्वीनास ने भी इसी मत का समर्थन किया।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की लोकप्रियता में 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी में बाद वृद्धि हुई। विभिन्न लेखकों ने अपने विचारों को सामाजिक समझौते के आधार पर सही ठहराने का प्रयत्न किया। कुछ ने इसके आधार पर निरंकुशवाद को ठीक बतलाया तो दूसरों ने इसकी सहायता से नागरिक अधिकारों की आवाज बुलन्द की। फिर भी ऐसे विचारक इने गिने ही हुए जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति के आधार के रूप में इस सिद्धान्त को मान्यता दी। समझौते के आधार पर समाज के निर्माण मानने वाले लेखकों में सर्वप्रथम इंगलैण्ड के रिचर्ड हूकर का नाम आता है जिन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से बतलाया कि आदिम अवस्था के संघर्षपूर्ण और

हो जाने से लोगों ने समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। अलथ्यूसियस, ह्यूगो, ग्रेशियस सेम्युअल, प्यूफेंडाफ, स्पिनोजा आदि ने भी समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की बात कही, लेकिन इस सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रचार एव समर्थन हाब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा हुआ। वास्तव मे ये तीनो ही इस बात के प्रमुख प्रणेता माने जाते हैं जिन्होंने इसको एक नया रूप दिया तथा बडे तार्किक ढग स इसको प्रस्तुत किया। यदि राजनीतिक दर्शन के इतिहास से इसे निकाल दिया जाय तो सम्पूर्ण सामाजिक समझौता सिद्धान्त ही छिन्न भिन्न हो जायगा। रूसो के बाद कांट तथा उसके अनुयायी फिक्टे ने समझौता सिद्धान्त का उपयोग किया।

वास्तव में रूसो के बाद ही समझौता सिद्धान्त का ह्रास शुरू हो गया। 18वीं शताब्दी में ही माण्टेस्क्यू, ह्यूम तथा बर्क ने इस पर प्रहार किये। अब एतिहासिक आधार पर यह कहा जाने लगा कि राज्य विकास का फल है। शनै शनै समझौता सिद्धान्त का स्थान विकासवादी सिद्धान्त ने ले लिया और आज समझौता सिद्धान्त पूर्णत काल्पनिक, अनैतिहासिक तथा अवैज्ञानिक माना जाता है।

समझौता सिद्धान्त की सामान्य आलोचना

17वीं व 18वीं शताब्दी में सामाजिक समझौता सिद्धान्त बहुत ही लोकप्रिय हुआ और राजनीतिक कल्पना का मुख्य विषय बना रहा। हूकर (Hooker), मिल्टन (Milton), ग्रोशियस (Grotius), वुल्फ (Wolff), कांट (Kant) ब्लैकस्टोन (Blackstone) स्पिनाजा (Spinoga) आदि अनेक विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। परन्तु 18 वी शताब्दी के अन्त में और 19 वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारकों ने इसकी कड़ी आलोचना की। ह्यूम (Hume), जेरेमी बेंथम (Jeremy Bentham) ब्लन्शली (Bluntschli), बर्क (Burke), ऑस्टिन (Austin), ग्रीन (Green), पोलक (Pollo k) आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त पर एक के बाद एक अनेक दृष्टियों से कठोर प्रहार किया। ह्यूम ने कहा कि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल नहीं खाता। बेंथम ने लिखा है कि "मैं मौलिक अनुबन्ध को अभिवादन के साथ विदा करता हूँ, और मैं इसे उन लोगों के मनोरंजन के लिए छोड़ता हूँ जो यह सोचते हैं कि उन्हें इसकी आवश्यकता है।" सर हेनरी मेन के शब्दों में 'हॉब्स ने समाज और सरकार की उत्पत्ति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उससे बढ़कर अर्थहीन बात और कुछ नहीं हो सकती।' ब्लन्शली ने इस सिद्धान्त को 'अत्यधिक भयंकर' बतलाया है। ग्रीन इसे एक कहानी (Fiction) के रूप में देखते हैं। पोलक ने यह घोषणा की है कि 'यह सिद्धान्त [illegible] हुआ है।' इस प्रकार राजनीति शास्त्र के अनेक विद्वानों ने इसे निकम्मा, निरर्थक और सारहीन सिद्ध करने की चेष्टा की है।

आलोचकों के अनुसार इस प्रकार से राज्य की उत्पत्ति के बारे में सामाजिक समझौता सिद्धान्त एकदम बिल्कुल निराधार हो जाता है और ऐतिहासिक दृष्टि [illegible] से इस सिद्धान्त को काल्पनिक एवं अनैतिहासिक, तार्किक दृष्टिकोण से [illegible]

कानूनी दृष्टिकोण से व्यर्थ एव अशक्त कहा गया है। इन तीनो ही दृष्टिकोणो से इस सिद्धान्त की जो आलोचना की गई है, उसे हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

(क) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आलोचना—1 समझौता सिद्धान्त मानव इतिहास को दो भागो मे बाँटता है—प्राकृतिक और सामाजिक अवस्था। लेकिन इस प्रकार का विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य है। इतिहास किसी ऐसे युग के अस्तित्व का प्रमाण नही देता जिसमे मनुष्य पूर्णत सगठन-विहीन रहा हो। समुदाय ब कर सगठन मे रहना मनुष्य का ही नहीं पशु-पक्षियो तक का स्वभाव है।

2 यदि मान भी लिया जाए कि मानव इतिहास मे अराजकता अथवा प्राकृतिक अवस्था का कोई युग था, तो भी उस समय के लोगो मे इस प्रकार की राजनीतिक चेतना की उत्पत्ति स्वीकार करना सम्भव नही है जिसके कारण राज्य सस्था से सम्बन्धित समझौता हुआ। समझौते की सम्भावना तो केवल राजनीतिक अथवा सामाजिक चेतना से सम्पन्न लोगो मे ही हो सकती है। यह एक पूण रूप से असत्य, असगत और अतर्कसम्मत बात प्रतीत होती है कि अराजकता अथवा प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य अकस्मात ही सामाजिक या राजनीतिक अवस्था को जन्म दे बैठा।

3 इतिहास यह सिद्ध करता है कि मानव सस्थाओ का विकास शनै शनै हुआ है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य सबसे पहले परिवारो म, फिर कुलो मे तब कबीलो मे और इसके बाद जनपदो अथवा राज्यों में सगठित हुआ। अत यह प्रतिपादन करना कि अराजकता की अवस्था से उठकर मनुष्य एकाएक ही राज्य रूपी विकसित सगठन मे सगठित हो गया, एतिहासिक दृष्टि से असगत है।

4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ मे सभी व्यक्ति स्वतन्त्र और समान थे, अत उन्होने परस्पर समझौता कर समाज की नीव डाली, लेकिन यह तक अनतिहासिक है। सर हैनरी मैन न खोजो द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रारम्भिक अथवा आदिम अवस्था मे व्यक्ति स्वतन्त्र नही था बल्कि समाज के नियमो और प्रतिबन्धों से जकडा हुआ था। समाज मे उनकी एक निश्चित स्थिति थी, अत इस दिशा मे समझौते की कल्पना व्यर्थ है। वास्तविकता यह है कि समाज का विकास स्थिति से सविदा की ओर हुआ है, सविदा से स्थिति की ओर नहीं।

5 समझौता सिद्धान्त जिस समझौते या जिन समझौतो का उल्लेख करता है, उनका उदाहरण इतिहास में कही नही मिलता। ब्लशली का कहना है कि "यह सच है कि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ दो या दो से अधिक राज्यो ने परस्पर समझौता कर नये राज्य को जन्म दिया, ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं जहाँ राज्यो ने विशेष वर्गों के साथ समझौता कर नये विधानो को लागू किया परन्तु एसा एक भी उदाहरण नहीं है जहाँ एक व्यावहारिक सस्था की भाँति समान नागरिको ने एक राज्य की स्थापना की हो।' ग्रीन का मत है कि समझौते द्वारा समाज की स्थापना का विचार

केवल एक कल्पना है। कुछ लोगो का कहना है कि सन 1620 का मेफ्लावर समझौता (Mayflower Contract of 1620) इस प्रकार के सामाजिक या राजनीतिक समझौते के उदाहरण हैं, लेकिन हमे यह नही भूलना चाहिए कि इस समझौते को करने वालो को राजनीति का पूर्ण ज्ञान था। य किसी प्राकृतिक अवस्था के वासी नही थे जिसे छोडने के लिए उन्होने समझौता किया हो। उन्हें राजनीतिक सस्थाओ और सगठनो का अच्छा ज्ञान था। वे केवल एक देश की सस्थाएँ दूसरे देश मे स्थापित कर रहे थे। इतिहास में राजनीतिक समझौतो के जो भी उदाहरण उपलब्ध हैं, वे सभ्य लोगो द्वारा किये गये थे।

(ख) दार्शनिक दृष्टिकोण से आलोचना—समझौता सिद्धान्त के अनेक अनुयायियो का तर्क है कि चाहे उनके सिद्धान्त को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से असत्य ठहरा दिया जाय, लेकिन दार्शनिक दृष्टिकोण से उसके सत्य मे कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उनका मत है कि समझौता सिद्धान्त द्वारा राज्य के स्वरूप और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो की उचित व्याख्या होती है। व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी स्वतन्त्रता राज्य को सौंपता है, उसके आदेशो का पालन करने का इकरार करता है और राज्य बदले में उसकी रक्षा करता है तथा उसकी स्वतन्त्रता कायम रखता है। इस तरह समझौता सिद्धान्त राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्ध की उचित व्याख्या है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से समझौता सिद्धान्त को चाहे उपयोगी ठहराने का प्रयत्न किया जाय, लेकिन इस दृष्टि मे भी यह सिद्धान्त निम्न आधारो पर ठुकराया गया है—

(1) राज्य की सदस्यता और उसके आदेशो को मानना व्यक्ति के लिए मात्र ऐच्छिक बात नही है बल्कि उसके लिए तो यह अनिवार्य है क्योंकि व्यक्ति राज्य के अग के रूप में जन्म लेता है, राज्य के अग के रूप मे ही अपना सम्पूर्ण जीवन बिताता है और राज्य के अग के रूप मे ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। बर्क के शब्दो मे "राज्य एक शाश्वत संस्था है जो केवल वर्तमान तक ही सीमित नही है वरन् भूत और भविष्य भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। इसका क्षेत्र अत्यन्त बृहत् और व्यापक है तथा मानव का नैतिक जीवन राज्य मे ही पूर्ण हो सकता है। राज्य की सदस्यता उसी प्रकार मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं हो सकती जिस प्रकार बच्चे की परिवार की सदस्यता उसकी निजी इच्छा पर निर्भर नहीं होती।"

(2) समझौता सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति की राजभक्ति और राज्य का व्यक्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व उसके द्वारा प्रतिपादित समझौते का परिणाम है लेकिन यह तर्क युक्तिसगत नही है। परिवार के व्यक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और उनके ये सम्बन्ध किसी समझौते पर आधारित नही होते वरन स्वाभाविक होते हैं। इसी तरह व्यक्ति की राज्यभक्ति और राज्य का व्यक्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व किसी समझौते पर आधारित नही है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि यह राज्य रूपी समुदाय मे संगठित होकर रहता है। राज्य

जन-कल्याण के विविध कार्य करता है, व्यक्ति को हर प्रकार से सुरक्षा प्रदान करता है और व्यक्ति राज्य भक्ति से स्वत बँधा रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण देकर भी राज्य की रक्षा करता है। इन सब बातो के मूल में किसी समझौते की कल्पना करना पूर्णत असगत है।

(3) समझौता सिद्धान्त के अनुसार राज्य मनुष्य की कृति है अर्थात् दूसरे शब्दो मे राज्य एक कृत्रिम सस्था है। परन्तु ऐसा मानना भूल है और वास्तविकता के विपरीत है। राज्य मानव निर्मित कोई कृत्रिम सस्था नही है अपितु वह तो मानव की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। राज्य मानव प्रकृति का परिणाम है, किसी समझौते का नही।

(4) ग्रीन के मतानुसार समझौता सिद्धान्त की वास्तविक त्रुटि इसकी अनैतिहासिकता नही है बल्कि इसके द्वारा समाज से परे अधिकारो और कर्त्तव्यो की कल्पना है। अधिकार एव कर्त्तव्य दोनो समाज के बिना असम्भव हैं। अधिकारों का जन्म समाज में सम्भव है, समाज से बाहर नही। अत जैसा कि ग्रीन ने कहा है— प्राकृतिक अवस्था मे, जब समाज नही था, प्राकृतिक अधिकार का विचार होना एक विरोधाभास है।"

(5) समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक मानव स्वभाव का बहुत गलत चित्र प्रस्तुत करते हैं। हॉब्स मनुष्य को नीच पाशविक, बुरा और स्वार्थी बताता है, जबकि रूसो उसे बहुत उच्च और दैविक मानता है। लेकिन ये दोनो ही धारणाएँ अतिरंजित हैं। मनुष्य न तो बहुत बुरा है और न बहुत अच्छा। मनुष्य का स्वभाव परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुरूप निरन्तर ढलता रहता है। उसकी मौलिक प्रवृत्ति अच्छाई की ओर ही होती है, बुराई की ओर नही।

(6) जर्मन न्यायविद् फोनहोलर का कहना है कि समझौतावादियो का यह कथन भ्रमपूर्ण है कि प्राकृतिक अवस्था में सब लोग समान थे। फोनहोलर के अनुसार समानता नही बल्कि असमानता प्राकृतिक है।

(ग) कानूनी दृष्टिकोण से आलोचना—इस दृष्टि से समझौता सिद्धान्त की निम्न आधारो पर आलोचना की गई है—

(1) प्रत्येक समझौते के लिए उसे पालन करने वाली एक सत्ता आवश्यक होती है, पर इस व्यवस्था की समझौता सिद्धान्त मे कोई चर्चा नही है। चूँकि व्यक्ति और राज्य नामक दो पक्षो के अतिरिक्त सिद्धान्त मे अन्य किसी पक्ष का उल्लेख नही है, अत सिद्धान्त कानूनी दृष्टि से अपूर्ण है।

(2) इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जब मौलिक समझौता ही अवैध है तो उसके आधार पर और उसके बाद किये गये अन्य सब समझौते अवैधानिक और अमान्य हैं। इन समझौतो से जिन अधिकारो का निर्माण हुआ है, उन्हे कोई कानूनी मान्यता प्राप्त नही है।

(3) कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगो के मध्य होता है उन्हीं पर लागू हो सकता है। उनकी सन्तान और आगे की पीढ़ियाँ उस समझौते को मानने

के लिए बाध्य नही हैं। नयी पीढियो को नया समझौता करना चाहिए। अत हर पीढ़ी मे पुराने राज्य की समाप्ति होनी चाहिए और राज्य की स्थापना होनी चाहिए। लेकिन ऐसा न हुआ है और न हो रहा है। इसलिए किसी अनात समय पर अज्ञात व्यक्तियो के बीच समझौते से बाद के लोग और अब के लोग बँधे रहे यह कानूनी दृष्टि से अन्याय है।

समझौता सिद्धान्त का औचित्य अथवा मूल्यांकन

समझौता सिद्धान्त की प्रत्येक दृष्टि से आलोचना की गई है, तथापि यह सवथा महत्वहीन नही है। यह सिद्धान्त सहमति और अनुमति को राज्य का आधार मानता है शक्ति अथवा शासन की व्यक्तिगत इच्छा को नहीं। इसीलिए मन का कहना है कि "इसने राज्य को मानवीय सस्था बताकर निरकुश शासन का विरोध किया है और प्रजातन्त्रीय शासन के विकास मे योग दिया है।" दूसरे, इस सिद्धान्त द्वारा प्रभुता सम्बन्धी आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के विकास मे भी सहयोग मिला है। यदि हॉब्स के विचारो के आधार पर आस्टिन के कानूनी प्रभुत्व सिद्धान्त के प्रतिपादन को प्रेरणा मिली है और रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा लोक सम्प्रभुता के विचारो को अपूव बल मिला। इस तरह इस सिद्धान्त ने व्यावहारिक राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। तीसरे इस सिद्धान्त ने दवी अधिकारो के सिद्धान्त को समाप्त करने का महत्त्वपूर्ण काय किया है। इस बात पर बल दिया गया कि राज्य ईश्वरीय इच्छा का फल नही है वरन इसके निर्माण मे मानवीय शक्ति का हाथ है। चौथे इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप इतिहास मे अनेक उथल-पुथल और सामाजिक ढाचे मे महत्त्वपूर्ण परिवतन हुए हैं। बहुत कुछ समझौता सिद्धान्त के आधार पर ही 1689 मे ब्रिटन जनता ने राजा जेम्स द्वितीय को गद्दी से उतार दिया 1776 मे अमेरिका मे क्रान्तिकारियो ने स्वतन्त्रता की घोषणा की और आज के युग मे राजतन्त्र और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक लहर दौड गई। निष्कषत इस सिद्धान्त ने गत दो शताब्दियो मे विश्व इतिहास की धारा को एक नयी दिशा प्रदान की है और मानव समाज के विकास मे महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाया है लेकिन राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त अवश्य असत्य और अमान्य है।

हॉब्स, लॉक तथा रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

(The Social Contract Theory of Hobbes, Locke and Rousseau)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के सामान्य विवेचन के उपरान्त इसके प्रमुखतम प्रतिपादको हाब्स, लाक तथा रूसो के विचारो की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है। इन तीनों ही विद्वानो ने मानव स्वभाव पर अपने विशिष्ट विचार व्यक्त करते हुए अपने राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। अत हमारा वणन क्रम यही होगा कि तीनों विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मानव स्वभाव की व्याख्या सक्षेप मे प्रस्तुत करते हुए प्राकृतिक अवस्था, समझौतो और राज्य की उत्पत्ति आदि पर उनके विचार व्यक्त करें।

टामस हॉब्स (Thomas Hobbes, 1588 1679)

हॉब्स का जन्म 5 अप्रेल, 1588 ई को इंगलण्ड के दक्षिणी तट पर स्थित माम्जबरी (Malmesbury) नामक नगर मे हुआ था। युद्ध और अशान्ति से भयभीत होने वाला हॉब्स गृह-युद्ध के समय इगलण्ड से भाग कर फ्रान्स चला गया जहाँ उसे चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फ्रास में उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ लेवियाथन (Leviathan) की रचना की जो सन् 1651 मे प्रकाशित हुआ। इसमें हॉब्स ने राजा के निरकुश राजतन्त्र को न्यायोचित ठहराने के लिए सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

हॉब्स के अनुसार मानव स्वभाव—हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव-स्वभाव के विश्लेषण स आरम्भ करता है। अरस्तू के विपरीत वह मानता है कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है।" मनुष्य की प्रत्येक इच्छा में उसका स्वार्थ निहित है। वह स्वय की इच्छापूर्ति के लिए दूसरे को हानि पहुचाने से नही हिचकता। एक ही वस्तु को प्राप्त करने के दो अभिलाषी व्यक्ति परस्पर शत्रु बन कर एक दूसरे पर विश्वास नही करते। हॉब्स के ही शब्दों में—"हम मानव-स्वभाव में झगडे के तीन मुख्य कारण देखत हैं—पहला, प्रतिस्पर्द्धा, दूसरा, पारस्परिक अविश्वास, और तीसरा, वैभव। प्रतिस्पर्द्धा के कारण वे लाभ के लिए, विश्वास के अभाव के कारण रक्षा के लिए तथा वैभव प्राप्ति द्वारा प्रसिद्धि के लिए परस्पर सघर्ष करते हैं।" उनको नियन्त्रित रखने वाली किसी शक्ति के अभाव मे मनुष्य स्वभावत निरन्तर सघर्ष मे उलझे रहते हैं।

हॉब्स ने मानव-स्वभाव के दैवी लक्षणो वाले दूसरे पहलुओं की कल्पना भी की है किन्तु प्रधानता उसने पूर्णत आसुरी लक्षणो को ही दी है। मानव-स्वभाव मे यदि सद्गुणों का कभी उदय होता भी है तो वह स्वार्थ की पूर्ति की लालसा से ही होता है, अन्यथा नही। मनुष्य की समस्त भावनाओं का केन्द्र उसका स्वार्थ और अहम् है।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था—राज्य सस्था के अस्तित्व मे आने से पूर्व हॉब्स ने एक अराजकतापूर्ण अथवा प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की कल्पना की है जिसमे मानव-जीवन नारकीय, असह्य तथा दुर्वह भार-स्वरूप था। प्राकृतिक दशा का जीवन हिंसा प्रधान था। आसुरी गुणो की प्रधानता के कारण मानव-जीवन भयकर और अव्यवस्थित था। राज्य की अनुपस्थिति में जो अराजकता की अवस्था थी उसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अथवा 'चाहे जो छीनो या चाहे जिसे मार डालो' का सिद्धान्त प्रभावशील था। कोई किसी का अभिभावक, मित्र और रक्षक नही था। सब एक दूसरे के विरोध में युद्धरत थे। जीवन अवसादपूर्ण, अवरुद्ध और निस्सार था। हर क्षण कच्चे धागे से लटकती तलवार सिर पर नाचती रहती थी। उचित-अनुचित और न्याय अन्याय का कोई भेद नहीं था। शक्ति और धोखा मनुष्य के प्रधान गुण थे। सामान्य विधि अथवा राजकीय

ब्रिटेन की संसद् राजा की निरंकुशता के विरुद्ध विजयी हो चुकी थी। लॉक ने 1688 की गौरवशाली क्रान्ति (Glorious Revolution) को और उसके फलस्वरूप जेम्स द्वितीय (James II) के राजगद्दी पर से उतारे जाने को उचित बतलाया। लॉक का उद्देश्य 1688 की इस रक्तहीन क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करना था। यदि हॉब्स ने सम्प्रभु की निरंकुश सत्ता का समर्थन किया है तो लॉक ने जनता के इस अधिकार की पुष्टि की है कि वह उस शासक को अपने पद से हटा सकती है जो अपने उत्तरदायित्व को ठीक तरह से नहीं निभा सकता। लॉक ने अपने दर्शन में सीमित राजतन्त्र का पक्ष प्रतिपादित किया है। 'Two Treatises on Civil Government' (1690) नामक अपनी पुस्तक में लॉक ने इस दर्शन की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इसके प्रथम खण्ड में लॉक ने राजा के दैवी अधिकारों का खण्डन किया है तथा दूसरे खण्ड में सरकार की उत्पत्ति, स्वभाव और कार्यक्षेत्र की विवेचना की है। लॉक हॉब्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक संविदा के सिद्धान्त से सहमत था लेकिन उसके दर्शन के लगभग प्रत्येक मूल सिद्धान्त का विरोधी था।

लॉक के अनुसार मानव स्वभाव—लॉक का दर्शन भी उसके मानव-स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है, पर हॉब्स एवं लॉक के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों के आकाश पाताल का अन्तर है। हॉब्स ने मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों के दर्शन किए जबकि लॉक ने उसके मानव गुणों पर बल दिया। लॉक ने मनुष्य की इस विशेषता को स्वीकार किया कि वह विवेकशील (Rational) एवं विचारशील प्राणी है और बतलाया कि मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार कर उसके अनुसार काम करना अपना कर्त्तव्य समझता है। मनुष्य सहयोगी तथा सामाजिक होता है, शान्तिप्रियता और नैतिकता में उसकी आस्था होती है तथा एकता और अच्छाई में वह विश्वास करता है। चूँकि सभी व्यक्ति मनुष्य हैं, अतः नैतिक दृष्टि से वे परस्पर समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं।

यद्यपि हॉब्स के समान लॉक भी यह स्वीकार करता था कि सम्पूर्ण मानव क्रियाओं का स्रोत इच्छा है और इच्छा की सन्तुष्टि से सुख एवं इच्छा-पूर्ति में बाधा से दुःख की अनुभूति होती है एवं मानवीय कर्म का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है तथापि वह हॉब्स की इस मौलिक धारणा से बहुत दूर था कि मनुष्य संघर्षशील, अहंकारवादी और आक्रामक है। लॉक यह मानता था कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, सदैव सत्य नहीं बोलते, पड़ोसियों की हत्या भी करते हैं, लेकिन उसकी दृष्टि में मूल रूप से वे सौजन्यपूर्ण, शान्तिप्रिय एवं सामाजिक हैं तथा उनमें स्वशासन की सामर्थ्य होती है। विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में 'प्रत्येक को सबके विरुद्ध युद्धरत' की अवस्था थी। इसके विपरीत लॉक का विचार था कि

2 सामाजिक समझौते की बात तो मनुष्य के अपेक्षाकृत विकसित होने पर ही समझ में आ सकती है। जब मनुष्य पूर्णत असामाजिक, स्वार्थी झगड़ालू और हिंसक है तो उनमें समझौते की सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गई और वे कानूनप्रिय एव विनम्र नागरिक कैसे बन गए? वास्तव में दानवो को एक ही क्षण म देवताओ के कायाकल्प करने की कपोल-कल्पना तो पौराणिक साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होती।

3 राजसत्ता को निरकुश एव असीमित रूप से शक्तिशाली बनाए रखने के लिए हॉब्स न उसे समझौते में सम्मिलित पक्षो से अलग रखा है। तार्किक दृष्टि से ऐसा एक-पक्षीय समझौता असगत है। समझौता तो सदव दो पक्षो मे होता है। फिर यह समझौता भग भी नहीं किया जा सकता यह बात युक्तियुक्त नहीं है। हॉब्स ने इस बात पर भी कोई विचार नही किया कि प्राचीन जीवन की इकाई व्यक्ति न होकर कुटुम्ब थे।

4 हॉब्स राज्य और सरकार के बीच कोई भेद नहीं करता जबकि ये दो भिन्न सत्ताएँ हैं। हॉब्स राज्य की स्वेच्छाचारिता और सरकार की स्वेच्छाचारिता में कोई अन्तर नहीं देखता।

5 हाब्स के अनुसार राज्य-सत्ता की स्थापना एक अनुचित भय के आधार पर और एक अनतिक उद्देश्य—मानव-स्वार्थ की पूर्ति के लिए हुई। भय एव स्वार्थ जैसी हेय भावनाओ पर राज्यरूपी कल्याणकारी सस्था की नींव खडी करना उचित नही कहा जा सकता। वास्तव मे राज्य अथवा समाज भय एव स्वार्थ पर नही बल्कि अनुमति, सद्भावना, सहयोग एव सामाजिक हित की भावना पर आधारित है।

6 हॉब्स के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था मे प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग करता था, किन्तु समाज तथा समुदाय के अभाव में अधिकार और कर्त्तव्य का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

नि सन्देह हॉब्स का सिद्धान्त अमान्य है तथापि राजशास्त्र की विचारधारा मे कुछ दृष्टियो से इसका विशेष महत्त्व है। प्रथम, हॉब्स ने तार्किक ढग से यह सिद्ध किया है कि राज्य दवी सस्था न होकर एक मानवीय सस्था है। दूसरे, हॉब्स का यह विचार सत्य है कि राज्य में शान्ति और सुरक्षा के लिए, शक्तिशाली शासन होना चाहिए। तीसरे, हॉब्स ने कानून और व्यवस्था पर बल देकर सभ्यता और सस्कृति की बडी सेवा की है। चौथे, हॉब्स ने प्राकृतिक और नागरिक कानून में अन्तर न बतलाकर विश्लेषणात्मक विधि शास्त्र की नीव रखी है। पाँचवें, सम्प्रभुता सिद्धान्त के विकास मे हॉब्स का अत्यधिक योग है। उसने सम्प्रभुता को आधारभूत और सर्वोच्च बतलाया है।

जान लॉक (John Locke, 1632-1704)

हॉब्स की भाँति लॉक भी एक अग्रेज दार्शनिक था किन्तु उसकी परिस्थितियाँ हॉब्स से भिन्न थीं। हाब्स ने ब्रिटेन का गृहयुद्ध देखा था, किन्तु लॉक के समय तक

ब्रिटेन की ससद् राजा की निरकुशता के विरुद्ध विजयी हो चुकी थी। लॉक ने 1688 की गौरवशाली क्रान्ति (Glorious Revolution) को और उसके फलस्वरूप जेम्स द्वितीय (James II) के राजगद्दी पर से उतारे जाने को उचित बतलाया। लॉक का उद्देश्य 1688 की इस रक्तहीन क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करना था। यदि हॉब्स ने सम्प्रभु की निरकुश सत्ता का समर्थन किया है तो लॉक ने जनता के इस अधिकार की पुष्टि की है कि वह उस शासक को अपने पद से हटा सकती है जो अपने उत्तरदायित्व को ठीक तरह से नहीं निभा सकता। लॉक ने अपने दर्शन में सीमित राजतन्त्र का पक्ष प्रतिपादित किया है। 'Two Treatises on Civil Government' (1690) नामक अपनी पुस्तक में लॉक ने इस दर्शन की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इसके प्रथम खण्ड में लॉक ने राजा के दैवी अधिकारों का खण्डन किया है तथा दूसरे खण्ड मे सरकार की उत्पत्ति, स्वभाव और कार्यक्षेत्र की विवेचना की है। लॉक हॉब्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक सविदा के सिद्धान्त से सहमत था लेकिन उसके दर्शन के लगभग प्रत्येक मूल सिद्धान्त का विरोधी था।

लॉक के अनुसार मानव स्वभाव—लॉक का दर्शन भी उसके मानव-स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है, पर हॉब्स एव लॉक के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारो के आकाश पाताल का अन्तर है। हॉब्स ने मनुष्य मे केवल पाशविक प्रवृत्तियो के दर्शन किए जबकि लॉक ने उसके मानव-गुणो पर बल दिया। लॉक ने मनुष्य की इस विशेषता को स्वीकार किया कि वह विवेकशील (Rational) एव विचारशील प्राणी है और बतलाया कि मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक *व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार कर उसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य* समझता है। मनुष्य सहयोगी तथा सामाजिक होता है, शान्तिप्रियता और नैतिकता में उसकी आस्था होती है तथा एकता और अच्छाई मे वह विश्वास करता है। चूँकि सभी व्यक्ति मनुष्य हैं अत नैतिक दृष्टि से वे परस्पर समान हैं और उन्हे समान अधिकार प्राप्त हैं।

यद्यपि हॉब्स के समान लॉक भी यह स्वीकार करता था कि सम्पूर्ण मानव क्रियाओ का स्रोत इच्छा है और इच्छा की सन्तुष्टि से सुख एव इच्छा-पूर्ति मे बाधा से दुःख की अनुभूति होती है एव मानवीय कर्म का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है तथापि वह हॉब्स की इस मौलिक धारणा से बहुत दूर था कि मनुष्य सघर्षशील, अहकारवादी और आक्राता है। लॉक यह मानता था कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यो का पालन नहीं करते, सदैव सत्य नही बोलते, पडोसियो की हत्या भी करते हैं, लेकिन उसकी दृष्टि में मूल रूप से वे सौजन्यपूर्ण, शान्तिप्रिय एव सामाजिक हैं तथा उनमें स्वशासन की सामर्थ्य होती है। विवेक और ज्ञान ही उन्हे पशुओ से भिन्न बनाता है।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था मे 'प्रत्येक की सबके विरुद्ध युद्धरत' की अवस्था थी। इसके विपरीत लॉक का विचार था कि

सब व्यक्तियों के साथ किया गया। इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक था। अपनी बाधाओं से सम्बन्धित कुछ अधिकार व्यक्तियों ने समाज को इसलिए अर्पित कर दिए ताकि उनकी सामूहिक सन्तुलित बुद्धि से स्थिति सुविधाजनक बन जाय। समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से रक्षा करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जिन प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग किया गया, वे थे—स्वयमेव प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने उसे क्रियान्वित करने तथा इसके उल्लंघनकारी को दण्ड देने का अधिकार। व्यक्तियों ने कुछ अधिकार, जो अन्य थे अपने पास ही रखे, तथा—जीवनाधिकार व स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि।

लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते के विश्लेषण से विदित होता है कि—

(1) समझौता दो प्रकार का था। पहला समझौता वह जो व्यक्तियों में आपस में हुआ है और जिसके फलस्वरूप राजनीतिक समाज की स्थापना हुई। दूसरा समझौता वह जो सामूहिक रूप से व्यक्तियों तथा शासनकर्त्ताओं में हुआ और जिसके फलस्वरूप सरकार की स्थापना हुई।

(2) व्यक्ति हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारों का त्याग नहीं करता। वह केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने और भंग करने वालों को दण्ड देने के अधिकारों का परित्याग करता है और शेष सब अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता है जिनका राजनीतिक नियन्त्रण मर्यादित रहता है। समझौते द्वारा कोई भी व्यक्ति स्वयं की स्वतन्त्रता पर केवल वही बन्धन स्वीकार करता है जो दूसरों के आक्रमण से सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

(3) हॉब्स के समान व्यक्तियों द्वारा अपने अधिकार 'लेवियाथन' जैसे व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह को न दिए जाकर सम्पूर्ण समुदाय (Community) को समष्टि रूप से प्रदान किए गए हैं।

(4) लॉक के समझौते से उत्पन्न समाज अथवा राज्य में हॉब्स के 'लेवियाथन' के समान कोई असीम अधिकारसम्पन्न, सर्वशक्तिमान एवं प्रभुसत्ताधारी नहीं है अपितु वह दोहरे नियन्त्रण से युक्त है। एक तो व्यक्ति अपने पास जो अदेय अधिकार रखता है वे राज्य शक्ति को मर्यादित करते हैं और दूसरे प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने और उसे लागू करने वाला राज्य स्वयं भी उससे बाधित है, ठीक उसी तरह जिस तरह उससे व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में था।

(5) लॉक का समझौता सर्वसम्मति से सम्पन्न हुआ है। वह जन-इच्छा पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति (Consent) के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। 'सहमति' ही विश्व में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।

(6) लॉक का समझौता एक बार हो जाने पर कभी निरस्त न हो सकने वाला (Irrevocable) है। यहाँ वह हॉब्स के समान ही है। इतना अवश्य है कि

निर्मित सरकार यदि किसी सकट के फलस्वरूप नष्ट हो जाए तो उसका पुनर्निर्माण हो सकता है। सर्वसम्मति से निर्मित राजनीतिक समाज (Civil Society) में बहुमत की इच्छा का पालन होना ही चाहिए।

डनिंग के अनुसार लॉक की महान् विशेषता यही है कि उसने सामाजिक समझौता सिद्धात को सुनिश्चितता प्रदान की और व्यक्तिवादी बनाया। उसने सरकार की सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाकर उसके प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारो की सुरक्षा स्वीकार की।

लॉक के सिद्धात का मूल्यांकन—आलोचको ने लॉक के सिद्धान्त में निम्नांकित त्रुटियो की ओर सकेत किया है—

(1) लॉक भी हाब्स के समान ही मानव-स्वभाव के एक पक्ष को ही प्रधानता देता है। लॉक ने मनुष्य मे केवल अच्छाइयो को ही देखा है जबकि वह अच्छाइयो और बुराइयो दोनो का सम्मिश्रण है। मानव स्वभाव के जिस भ्रात एव एकपक्षीय दृष्टिकोण के आधार पर लॉक ने प्राकृतिक दशा का चित्रण किया है वह एक काल्पनिक अवस्था ही प्रतीत होती है।

(2) लॉक का प्राकृतिक अवस्था का चित्रण हॉब्स के चित्रण से भी अधिक अवास्तविक है जिसका इतिहास मे कही प्रमाण नहीं मिलता। यदि प्राकतिक दशा उतनी ही आदश थी और लोग उतने ही शात और नतिक थे, जसा कि लॉक ने बतलाया है तो समाज स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी ?

(3) लॉक राजनीतिक प्रभुसत्ता तो स्वीकार करता है किन्तु वधानिक प्रभुसत्ता को कोई महत्त्व नही दता।

(4) लॉक ने व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति के अधिकारों पर इतना बल दिया है कि उससे राज्य शासन का महत्त्व घट जाता है। लॉक के विचारों से यह निष्कष निकालना अस्वाभाविक नहीं है कि समाज का सम्बन्ध नागरिक के नतिक या मानसिक विकास से न होकर उसके भौतिक विकास से है।

(5) पारस्परिक सहमति के आधार पर राज्य के निर्माण की बात इतिहास के अनुकूल नहीं है। शक्ति तथा अन्य तत्त्वो के आधार पर राज्यों के निर्माण और स्थायित्व के उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं। सहमति के आधार पर राज्य सचालन के महत्त्व से भी इनकार नही किया जा सकता, लेकिन सहमति का सिद्धान्त ही राज्य की उत्पत्ति का कारण हो, यह नहीं माना जा सकता।

(6) लॉक ने सम्प्रभुता के विषय में स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं किए हैं। सम्प्रभुता की प्रकृति और निवास-स्थान के सम्बन्ध में भी वह अस्पष्ट है। कभी तो वह जन-सम्प्रभुता की बात करता है तो कभी व्यवस्थापिका को सर्वोच्च सत्तासपन्न बतलाता है।

(7) लॉक समाज और राज्य के बीच अन्तर स्पष्ट करने में भी असमर्थ है। लॉक के दोनों सामाजिक समझौते अस्पष्ट हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी लॉक के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम, लॉक ने जन सम्प्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर बल देकर आधुनिक लोकतन्त्र के विकास मे महान् योग दिया है। दूसरे, राजनीति शास्त्र के क्षेत्र मे लॉक की एक बडी देन इसके प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारो की पूर्ति के लिए सरकार का निर्माण होता है। लॉक का व्यक्तिवाद उसके दर्शन मे सीमित राजतन्त्र अथवा विभाजित सम्प्रभुता के सिद्धान्त द्वारा प्राकृतिक अधिकारो को प्रतिष्ठित करता है। तीसरे, लाक ने शासन के विभिन्न अगो मे सगठन, अधिकार और सम्बन्धो की चर्चा की है तथा उसके सिद्धान्त का विकास हमे माण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त मे देखने को मिलता है। चौथे, लॉक का प्रभाव व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद पर विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति और अमेरिकी स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को लाक के सिद्धान्त से निश्चित प्रेरणा मिली थी।

रूसो (Rousseau 1712–1778)

प्रख्यात दार्शनिक और क्रान्तिकारी विचारो के प्रणेता रूसो की रचनाओ ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को झकझोर दिया। उसने एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार किया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद तथा अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्तो को उसकी दूसरी रचनाओ से नया समर्थन और दिशा निर्देशन प्राप्त हुआ। रूसो का प्रारम्भिक जीवन एक आवारा और प्रताडित जीवन रहा तथापि उसने जीवन के हर पहलू को बडे करीब से देखा। अनुभवो की बहुमुखी विस्तृत पाठशाला मे उसका अध्ययन चालू रहा तथा स्वाध्याय के बल पर वह विश्व का एक महान् विचारक बन गया। उसने अनेक लेख एव ग्रन्थ लिखे। 1762 मे उसका सुविख्यात ग्रन्थ 'Social Contract' प्रकाशित हुआ जिसमे सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति मे स्थायी सावयवी समाज की कल्पना पर बल दिया।

रूसो के अनुसार मानव-स्वभाव—मानव स्वभाव के सम्बन्ध मे रूसो के विचार प्लेटो तथा लॉक के अधिक निकट हैं। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावत सदाशय और विनम्र होता है। वह मनुष्य को स्वभावत भोला मानता है। ससार मे पाए जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एव भ्रष्ट सामाजिक सस्थाओ की उत्पत्ति हैं। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक सस्थाएँ दोषी हैं।

रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियो का उल्लेख करता है। मानव स्वभाव के निर्माण मे सहायक प्रथम प्रवृत्तियाँ हैं–आत्म प्रेम अथवा आत्म रक्षा की भावना जिसके अभाव मे वह कभी का नष्ट हो गया होता। दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यो मे पायी जाती है और इसके कारण ही जीवन-सग्राम इतना कठिन प्रतीत नही

होता। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

मनुष्य का उपयुक्त दोनो मूलभूत भावनाओं से कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक है। चूंकि ये दोनो भावनाएँ पूर्ण रूप से संतुष्ट नही की जा सकती, अत व्यक्ति इनसे समझौता करने के लिए विवश होता है। इस प्रकार के समझौतो से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्त करण (Conscience) कहते हैं। अन्त करण प्रकृति का उपहार है। यह केवल एक नैतिक शक्ति है नैतिक मार्ग दर्शन नही। मार्ग दर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वय मे विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पडता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए।

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था--रूसो द्वारा चित्रित मानव स्वभाव की व्याख्या के बाद अब उसके द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था को समझना बडा सुगम होगा। उसकी प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य प्रकृति की गोद मे स्वच्छंदतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्राकृतिक अवस्था मे रूसो का मनुष्य 'भला असभ्य जीव (Noble Savage) था जो सरल और सुखपूर्ण जीवन बसर करता था। वह स्वतन्त्र, संतुष्ट आत्मतुष्ट, स्वस्थ एव निर्भय था उसे न तो साथियो की आवश्यकता थी और न वह अन्य व्यक्तियो को दुख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरो के साथ गठबन्धन किया। उसे सही गलत की पहचान नही थी। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओ से अछूता था। उस दशा मे वह केवल नैसर्गिक शक्तियो से युक्त था। बुद्धि एव विवेक का उसमे अभाव था। ऊँच-नीच तथा मेरे तेरे का कोई भेद भाव नही था। व्यक्ति स्वय अपना स्वामी था। सभ्यता का विकास न होने से व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और जो थी वे प्रकृति के माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थी। अत वस्तुओ के प्रति लगाव की भावना या व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय उस समय नही हुआ था। ज्ञान विज्ञान, कला, विद्या आदि का विकास भी नही हो पाया था। मनुष्य अपने वर्तमान से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए संचय की चिन्ता नही थी।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग-सी थी जिसमे बाह्य नियन्त्रणो से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से विचरता रहता था। उसे जगली कहना सुगम था, क्योकि वह पहाडो-जगलो मे ही अधिवास करता था लेकिन जगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नम्र था। वस्तुएँ सर्व-सुलभ थीं और स्पर्धा का नाम भी नहीं था। इसलिए युद्ध की स्थिति नही थी। मनुष्य चरित्रहीन और भ्रष्ट नही था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका स्वभाव।

रूसो के अनुसार समझौता और राज्य की उत्पत्ति--प्राकृतिक अवस्था में उपयुक्त अवस्थाएं चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकीं। धीरे धीरे उसमें परिवर्तन

आने लगे और उसे नष्ट करने के लिए दो तत्व उत्पन्न हुए—जनसंख्या मे वृद्धि और तर्क का उदय। जनसंख्या मे वृद्धि मे आर्थिक विकास होने लगा। सरलता और निर्दोष सुखी के प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। मनुष्य में सम्पत्ति का विचार उत्पन्न हो गया। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। व्यक्ति मे 'मेरे-तेरे' की भावना घर कर गई। रूसो के शब्दो मे '*वह पहला व्यक्ति नागरिक समाज का संस्थापक* था जिसने भूमि के एक टुकडे को घेर लेने के बाद कहा कि यह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हो गया जब अन्य लोगो ने उसकी देखा देखी वस्तुओ को अपना समझना प्रारम्भ कर दिया।" व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण युद्ध, कलह, द्वेष आदि का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य तर्क, वाद विवाद, प्रतिरोध आदि मे निपुण होने लगा। कृषि व्यवस्था, धन आदि मे वृद्धि से ऊँच नीच अमीर गरीब के भेद-भाव बढते गये। मनुष्य सहज सुख और शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो गया।

जब असमानताएँ बढने के साथ साथ दमन और अत्याचार असह्य हो गया तो इस कुचक्र को रोकने के लिए मनुष्य व्याकुल रहने लगा। उन्होने स्वय को एक ऐसी संस्था मे सगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियो की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रहे। अत उन्होने परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एव शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दो मे व्यक्तियो ने समझौते की शर्तों को इस प्रकार व्यक्त किया—"हम सब मनुष्य अपने शरीर और अपनी समूची शक्ति को अन्य सब के साथ सयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन मे रखते हैं और अपने सामूहिक रूप में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते हैं।"

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(1) प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एव शक्तियाँ समाज को समर्पित करता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात् सभी के साथ समान शर्त। अत इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न समाज कभी भी दमनकारी एव स्वतन्त्रता विरोधी नही हो सकता।

(2) *यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारो का पूर्ण समर्पण करते हैं तथापि* जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं, मनुष्य उन्हे अपने पास रख सकते हैं। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नहीं, इसका निर्णय समाज ही करता है।

(3) समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है क्योकि प्रत्येक सबके हाथों मे स्वय को समर्पित करते हुए भी किसी के भी हाथों में समर्पित नहीं करता एव प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण

सामूहिक प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अंग के रूप मे उन्हे प्राप्त कर लेता है। अत समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियो के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है। रूसो के समाज मे किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नही है, सबका स्थान समान है। इस तरह नागरिक राज्य में स्वतन्त्रता ही नही अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

(4) समझौता कोई एसी घटना नही है जो कभी एक बार घटी हो। यह एक निरन्तर चलनेवाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है और इस प्रकार राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

(5) प्रसविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को और अपने अधिकारो तथा शक्तियो को जिस सावजनिक सत्ता को समर्पित करता है वह सब व्यक्तियो स मिल कर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीन काल मे नगर-राज्य कहते थ और अब गणराज्य या राज्य-सस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियो से मिलकर होता है, उन्ही को सामूहिक रूप से 'जनता' कहा जाता है। जब हम उन्हे राजशक्ति की अभिव्यक्ति मे भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हे 'प्रजा' की सज्ञा देते हैं। सक्षेप मे, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता 'राज्य', 'प्रभु शक्ति', 'जनता', 'नागरिक' एव 'प्रजा' सब कुछ है।

(6) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपो के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुतापूर्ण सघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नही रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थितियो के अन्तर्गत उसकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ जाती है तथा सुरक्षित हो जाती है।

(7) समझौते के फल स्वरूप उत्पन्न समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयविक (Organic) होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार पृथक नही हो सकता और न वह राज्य के विरुद्ध आचरण ही कर सकता है।

(8) समझौते द्वारा व्यक्ति समष्टि का और व्यक्ति की इच्छा सामान्य इच्छा का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अग है। यह सामान्य इच्छा सदव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जनता की राय सदव ही सही होती है। मनुष्य का हित यद्यपि सामान्य इच्छा का अनुसरण करने मे ही है, पर सामान्य इच्छा सबकी इच्छा नहीं होती।

(9) सामाजिक समझौते द्वारा उत्पन्न समाज अथवा राज्य ही स्वय सम्प्रभुतासम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया मे समाज स्वय सम्प्रभु बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक

भाग होता है। समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधारित सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस सम्प्रभु समाज द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के समझौते से भिन्न होते हुए भी प्रभावी है। हॉब्स की भाँति रूसो की मान्यता है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियों ने अपने सम्पूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के समर्पित कर दिये यद्यपि हॉब्स के विपरीत ये अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं सौंपे गये। लॉक की भाँति रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण सत्ता समाज में ही निहित रही।

रूसो के सिद्धान्त का मूल्यांकन—रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है—

(1) प्राकृतिक अवस्था का चित्र निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा शांतिमय एवं सुखमय आदर्श जीवनयापन करते थे।

(2) रूसो की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है। यह कहना भ्रामक है कि मनुष्य प्राकृतिक रूप से श्रेष्ठ एवं गुणी है और उसके सम्पूर्ण दोष केवल बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुए हैं। वस्तुत मनुष्य अच्छाई और बुराई दोनों का सम्मिश्रण है। पुनश्च, यदि व्यक्ति मूलत उच्च एवं श्रेष्ठ है तो यह समझ में नहीं आता कि केवल सम्पत्ति के प्रवेश से ही उसके समस्त गुण कैसे लुप्त हो गये।

(3) रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नहीं है। मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अधोगति का नहीं।

(4) रूसो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है। राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है।

(5) रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एवं समाज में हुआ है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम बताया गया है। यह स्पष्टतः एक विरोधाभास है और इस दृष्टिकोण में समझौता असंगत हो जाता है। एक अन्य असंगति यह है कि कहीं तो रूसो समझौते को ऐतिहासिक घटना बताता है और कहीं उसे एक निरन्तर चलने वाला क्रम।

(6) रूसो के अनुसार समझौता हो जाने के बाद व्यक्ति के पास स्वतन्त्रता एवं अन्य अधिकार रह ही नहीं जाते। रूसो इसकी सफाई में यह कहता है कि सामूहिक रूप से व्यक्ति स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त कर लेता है, पर अधिकार और स्वतन्त्रता की यह पुन प्राप्ति एक सैद्धान्तिक कथन मात्र है। वास्तविकता तो यह है कि समझौते से निर्मित राज्य निरंकुश है जिसकी हर आज्ञा का पालन

व्यक्ति का महत्त्व हो जाता है। रूसो व्यक्ति के सुख उसकी कामनाओं और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड में राज्य की इच्छा पर न्यौछावर कर देता है।

(7) रूसो ने व्यक्ति को प्रजा और नागरिक दोनों का स्थान प्रदान किया है। व्यक्ति नागरिक इस दृष्टि से है कि वह राज्य सत्ता का एक भाग है और प्रजा इसलिए है कि वह राज्य की आज्ञाओं का पालन करता है। इस व्यवस्था का व्यावहारिक रूप यह बनता है कि यदि किसी व्यक्ति को फाँसी दी जाती है तो यह कहना चाहिए कि वह व्यक्ति स्वय अपनी ही आज्ञा से फाँसी पर लटकाया जाता है। यह एक हास्यास्पद स्थिति है।

(8) समझौता भी राज्य-संस्था के अभाव मे सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपालन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो। अत राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस में कोई समझौता कर सकते हैं उसके पहले नही।

(9) रूसो ने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है। इसकी आड मे निरकुशता एव अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है।

गम्भीर दोषो के बावजूद रूसो के विचार राजनीतिक दर्शन को अमूल्य देन है। उसने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा हमारे सम्मुख एक ऐसा राजनीतिक आदर्श प्रस्तुत किया है जिसकी प्राप्ति के लिए तत्पर होना चाहिए। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नही, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नीव डाली है। प्रजातन्त्र के विकास मे रूसो का वस्तुत महान योगदान रहा है। राजनीतिक चिन्तन और क्रान्तियो पर रूसो के विचारो का जितना प्रभाव पडा उतना शायद ही किसी राजनीतिक दार्शनिक का पडा हो। फ्रांस और अमरिका के सविधानो मे उसके विचारो की गहरी छाप देखी जा सकती है।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त
(Historical or Evolutionary Theory)

राज्य की उत्पत्ति का कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि "राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है और न उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न वह किसी प्रस्ताव अथवा सम्मेलन द्वारा निर्मित हुआ है और न वह एक परिवार का विस्तार मात्र है।'

राज्य का निर्माण एकाएक नहीं हुआ बल्कि इतिहास के काल चक्र में इसकी रचना बहुत धीरे धीरे और अनेक तत्त्वो के योग से हुई। लीकॉक के शब्दो म 'यह कोई आविष्कार नहीं है। यह एक उपज है, एक विकास है और मानव जाति के ज्ञात इतिहास में चलने वाले क्रमिक विकास का फल है।' राज्य एक सतत् विकासशील संघर्ष का फल है इसीलिए आधुनिक विचार राज्य को इतिहास की

उपज मानते हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे बर्गेस ने उचित ही कहा है कि 'राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अपूरे और विकृत किन्तु उन्नतिशील रूप मे होकर मनुष्यो के एक समग्र एव सार्वभौम सगठन की ओर विकसित हुआ है।"

राज्य की स्थापना में कोई एक तत्त्व उत्तरदायी नही है। विभिन्न तत्त्वो के योग से राज्य का निर्माण हुआ है। राज्य की उत्पत्ति के बारे मे केवल विकासवादी सिद्धान्त ही सन्तोषजनक है। आज के अधिकांश लेखक यही स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति न हो तो किसी निश्चित समय या स्थान पर हुई और न ही किसी निश्चित योजना के अनुसार हुई। विकासवादी सिद्धान्त तो विकास के कुछ उन तत्त्वो पर बल देता है जिन्होने सामूहिक रूप मे राज्य को अपने सांचे मे ढाला। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास धीरे धीरे हुआ, अचानक नही। जब राज्य का जन्म हुआ तो वह प्रारम्भिक अवस्था मे अत्यन्त सरल सगठन था। धीरे धीरे वह जटिलता की ओर अग्रसर होता गया और आज वह एक बहुत ही जटिल संस्था का रूप धारण कर चुका है।

राज्य के इस ऐतिहासिक विकास क्रम में जो मुख्य तत्त्व सहायक सिद्ध हुए वे इस प्रकार हैं—

(1) रक्त-सम्बन्ध (Blood Relationship or Kinship),
(2) धर्म (Religion),
(3) सम्पत्ति और रक्षा (Property and Defence),
(4) शक्ति (Force),
(5) राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)

(1) रक्त सम्बन्ध

प्राचीन मानव-समाज मे रक्त सम्बन्ध का विशेष महत्त्व था। प्राचीन मानव जब टोलियो में भ्रमण करता था तो रक्त सम्बन्ध के कारण ही उनमें एकता की भावना विद्यमान थी। हेनरी के अनुसार "समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएँ इसी निष्कर्ष की ओर सकेत करती हैं कि समूहो को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त-सम्बन्ध था।" कालान्तर मे जब जनसख्या की वृद्धि के कारण कुटुम्ब का विस्तार हुआ और जाति व कुल बने, तब समाज का जन्म हुआ। मैकाइवर के अनुसार "रक्त-सम्बन्ध ने समाज को जन्म दिया और कालान्तर मे समाज ने राज्य को।"

सगठन और सत्ता, ये दोनो राज्य के आवश्यक तत्त्व हैं। दूसरे शब्दो मे आदेश देने और आदेश पालन करने का सम्बन्ध राज्य के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार का सम्बन्ध हम प्राचीन परिवार और कबीलो मे भी दिखाई देता है। प्राचीन परिवार और कबीले रक्त-सम्बन्ध के सूत्र मे बंधे होते थे। चाहे परिवार की उत्पत्ति पहिले हुई हो अथवा कबीले की, परन्तु इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि शासन का अंकुर कबीले के सरदार अथवा परिवार के मुखिया

द्वारा निर्धारित अनुशासन में ही खोजा जा सकता है। परिवार मे पिता और कबीले मे सरदार ही प्रशासनिक, सैनिक और धार्मिक शक्तियो के उपभोग करता होगा। प्रारम्भिक राज्यो को भी इस प्रकार की जो सत्ता प्राप्त हुई, उसका आधार निश्चय ही रक्त सम्बन्ध था। समाजशास्त्री मैकाइवर का इस सम्बन्ध मे मत है कि 'नामो के जादू से, ज्यो ज्यो पीढियो के श्रम द्वारा समूह की वृद्धि हुइ, त्यो-त्यो ही रक्त सम्बन्ध की भावना को इससे और अधिक बल मिला। पुनत्व का रक्त बन्धन अलक्षित रूप मे विस्तृत भाईचार के सामाजिक बन्धन मे परिवर्तित हुआ। पिता का अधिकार मुखिया की शक्ति को मिला। रक्त-सम्बन्ध की रक्षा के अधीन नये स्वरूपो का आविर्भाव हुआ, जो उससे अधिक प्रभावी थे। रक्त सम्बन्ध ने समाज की रचना की और समाज ने अन्तत राज्य की स्थापना की।''

इस प्रकार प्राचीन जन-समुदाय मे रक्त की एकता की भावना ही मुख्य थी। आज की राष्ट्रीयता की भावना के पीछे भी काफी हद तक यही रक्त की एकता की भावना काम करती है। गटिल के अनुसार ''पितृसत्तात्मक परिवारो के लक्षण प्रारम्भिक राज्यो मे भी विद्यमान थे तथा उन्होने अपने राजनतिक जीवन मे पितृसत्तात्मक परिवार के कुछ नियमो तथा सगठनो को ग्रहण कर लिया था। रक्त-सम्बन्ध के बन्धनो से परस्पर अधीनता और एकता (Solidarity) के भाव प्रबल होते रहे हैं जा राजनीतिक जीवन के लिए सदव आवश्यक होते हैं।''

जब प्राचीन समाज विकसित हुआ तो बाद मे उनमे अन्य तत्वों जसे, सामान्य रीति रिवाज, बोलचाल उद्देश्य आदि का भी समावेश हुआ, किन्तु रक्त बन्धन ही उस समाज मे सवप्रथम सगठन का आधार था। अन्य तत्वा के आ जाने के कारण रक्त सम्बन्ध ने सामाजिक सम्बन्धो और उनके द्वारा अन्तत राज्य को जन्म दिया।

(2) धम

राज्य के विकास मे धम दूसरा मुख्य तत्व रहा है। इसका प्रभाव मानव जीवन पर प्राचीन काल में बहुत गहरा था। उस युग में जीवन के हर पहलू पर धर्म की शक्ति महसूस की जाती थी। सस्थाओ मे, झगडो मे, त्यौहारो मे तथा सभी क्षेत्रो मे धम का बोलबाला था। वह एकता का प्रमुख साधन था। उसके कारण कुटुम्ब एकता के सूत्र मे बन्धे हुए थे। जिन लोगो का खून एक होता था, उनके कुल देवता भी एक होत थे। विलसन के शब्दो मे ''रक्त-सम्बन्ध धम का ही एक दूसरा स्वरूप था वह रक्त-सम्बन्ध का चिह्न और उसकी एकता का प्रतीक भी था।'' गिलक्राइस्ट के अनुसार, ''कुटुम्ब उतना ही धार्मिक था जितना कि स्वाभाविक। गटिल ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'रक्त-सम्बन्ध और धम एक ही वस्तु के दो पहलू थे।'

इस प्रकार प्राचीन युग म रक्त सम्बन्ध और धम दोनो मे घनिष्ट सम्बन्ध था। दोनो न परिवारो और कबीलो को जोडन का महत्वपूर्ण काय किया। प्राचीन

समाज मे पितृ की पूजा होती थी, पितृ पूजा की भावना के साथ-साथ वीर पूजा की भावना भी काम करती थी। युद्धो मे वीर गति पाने वाले लोगो की कबीलो द्वारा पूजा की जाती थी। उनकी वीरता की कहानियाँ जातीय धरोहर के रूप मे याद की जाती थी। पितृ पूजा ने लोगो में जातीयता की भावना को पुन जीवित किया। धीरे-धीरे पितृ पूजा का स्थान प्रकृति पूजा ने ले लिया और प्रकृति के शक्ति प्रतीक जसे—सूर्य, जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु इत्यादि की भी पूजा होने लगी। इसके साथ साथ पितृ पूजा भी चालू रही। दूसर धर्मों के लोग शत्रु समझे जाने लगे, जिनमें आपस मे युद्ध भी होते थे। विधर्मी लोग बुरी दृष्टि से देखे जाते थे। इस प्रकार धम के आधार पर प्राचीन मानव में एकता की भावना बलवती हुई।

प्रारम्भिक सामाजिक जीवन में धम ने अनेक प्रकार से सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। एक ओर उसने मानव मे एकता की भावना पदा की तो दूसरी ओर लोगो मे राज्य और शासन के प्रति भक्ति की भावना को जगाया। प्राचीन समय में केवल शक्ति के बल पर ही शासन नही टिक सकता था, अत धम शासन का मुख्य आधार बना। धम के कारण राजा को दवी शक्ति समझा जाने लगा। राजा की आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा के समान होता था, इस प्रकार प्राचीन युग की अराजक स्थिति में धम ने शासन और व्यवस्था कायम रखने में मदद की। गटिल के अनुसार, "प्रारम्भिक धम स्थानीय (Local) और सकीण था। राज्य-विस्तार या विजय के कारण जातियो के प्रसार के साथ साथ रुधिर सम्बन्ध क बन्धन और पूवजो की पूजा भी कम होती गई, यद्यपि आदिम समाज मे बहुधा सामान्य उत्पत्ति की बाधाएँ और गोद लेने की प्रथा भी थी। विस्तृत प्रदेश तथा विभिन्न जातियों एव राज्य के प्रादेशिक आधार के लिए प्रकृति पूजा विशेष उपयोगी थी। इसके विकास ने प्राचीन पारिवारिक पूजा प्रथा के अवशेष तथा जातीय वीरो की गाथाओ के योग से एक सामान्य राष्ट्रीय कम का काम किया जिसने बाद में सरकार और कानून को भी प्रभावित किया।" इस प्रकार राज्य के विकास में धम की प्रमुख भूमिका रही।

(3) सम्पत्ति की रक्षा

रक्त सम्बन्ध और धर्म के अतिरिक्त राज्य के विकास में अन्य तत्त्व सम्पत्ति की लालसा और रक्षा की प्रवृत्ति कहे जा सकते हैं। जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए यह उपयोगी था कि मनुष्य परस्पर सहयोग से काय करें। आखेट युग शिकारियो का समाज था। मनुष्य शिकार द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता था। पशुओ के शिकार से वे अपना पेट भरते थे। शिकार करन के लिए मनुष्य टोलियो मे फिरा करते थे। जिस पशु को वे मारकर लाते, उसे बाँट कर खाते थे। शिकार बाँटते समय कुछ नियमो का पालन करना पडता था। ये नियम कुछ रीति रिवाजो पर आधारित थे। इनका पालन करना सब के लिए आवश्यक था। शिकारी जीवन बहुत कठोर था।

बाद मे मनुष्यो ने पशु पालन शुरू किया। पशु पालने के साथ साथ मनुष्यो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना जाग्रत हुई। मनुष्यो ने पशुओ का अलग अलग बटवारा कर लिया। पशुओ के बटवारे ने अन्य समस्याएँ उत्पन्न कर दीं।

पशु-पालन के बाद मनुष्य ने कृषिकर्म आरम्भ किया। कृषि के लिए उनका एक जगह रहना आवश्यक हो गया। जब वह एक स्थान पर बसकर रहने लगे तो रहने के लिए मकान बनवाने पडे और इस प्रकार धीरे-धीरे बस्तिया बस गई। खेती बाडी की उन्नति हुई। भवन निर्माण का कार्य भी शुरू हुआ। इससे मनुष्यो मे श्रम विभाजन का निरन्तर विकास होता गया और आर्थिक जीवन जटिलताओ की ओर बढता गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति और आर्थिक जीवन की जटिलता ने धीरे धीरे राज्य को जन्म दिया।

राजनीतिक भावनाओ के विकास मे युद्धो का भी हाथ रहा। प्राचीन कबील हमेशा शान्तिमय जीवन व्यतीत नही करते थे। उनका जीवन भ्रमणशील था। जब शिकारियो की एक टोली एक स्थान पर शिकार करती थी तो वह नही चाहती थी कि दूसरी टोली उसी स्थान पर शिकार करे और पशु पालक कबीले भी वहा अपने पशुओ को चरावें। खेती करने वाला मनुष्य यह नही चाहता था कि दूसरे मनुष्य उसके खेत पर अधिकार कर लें। फलस्वरूप उनमे युद्ध होना स्वाभाविक था। युद्ध जीतने के लिए कबीलो के पास एक बलवान नेता का होना जरूरी था। युद्ध मे सफलता की इस आवश्यकता ने एक नेता को जन्म दिया। नेता शारीरिक दृष्टि से सबसे अधिक बलवान व्यक्ति होता था जिसमे युद्ध सचालन की क्षमता होती थी। इस नेता की आज्ञाओ का पालन न केवल युद्ध काल मे बल्कि शान्ति काल मे भी किया जाता था। इसके साथ साथ जब एक कबीला दूसरे को युद्ध में पराजित कर देता था तो पराजित कबील के लोग विजयी कबीले के नेता की आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार समाज के विकास क्रम मे शासक और प्रजा के भाव का विकास हुआ। इसी विकास ने कालान्तर रूपी सस्था को जन्म दिया।

(4) शक्ति

उपर्युक्त तत्वो के साथ साथ राज्य के विकास मे शक्ति भी एक आधारभूत सहायक तत्व था। इतिहास साक्षी है कि शक्ति सदा से राज्य के मूल में एक आवश्यक तत्व रहा है। जो कबीले बलवान होते वे दुर्बल कबीलो को अपने अधीन कर लेते थे और उनके प्रदेशो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया करते थे। ओपेन हीमर की मान्यता है कि 'राज्य की स्थापना के मूल मे चरवाहों और कृषकों का ससर्ग अथवा मजदूरो और लुटेरा का मेल या नीची घाटियो और कृषि योग्य भूमि पर बसने वाले लोगा का एकीकरण रहा होगा।'

मनुष्यो की सम्पत्ति की रक्षा के लिए सनिक सगठन का जन्म हुआ। सनिक नेतृत्व का स्वाभाविक परिणाम निकला राजपद। धीरे धीरे राजा का पद हर समाज मे शक्तिशाली बन गया। जब राजा का पद वशानुगत हुआ तो राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस प्रकार मेकाइवर का यह कथन ठीक ही है कि, "राज्य की उत्पत्ति का मूल

कारण शक्ति नहीं है। यद्यपि यह निश्चय ही सत्य है कि राज्य के विकास के पीछे शक्ति का पर्याप्त हाथ रहा है।"

(5) राजनीतिक चेतना

गिलक्राइस्ट का कथन है कि, 'राज्य निर्माण के सभी तत्त्वों की तह में, जिनमें रक्त सम्बन्ध व धर्म भी सम्मिलित हैं, राजनीतिक चेतना एक प्रमुख तत्त्व है, जो सबसे अधिक मुख्य है।" विल्सन के अनुसार भी, "सगठन की भावना प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभाविक है और वह मनुष्य और परिवार के साथ ही उत्पन्न हुई है।" राज्य के विकास में राजनीतिक चेतना से हमारा आशय उस अनुभूति से है जिसके द्वारा प्राचीन मनुष्य को राज्य की आवश्यकता का ज्ञान हुआ होगा। प्राचीन मानव ने अनुभव किया कि किसी राजनीतिक सगठन के बिना काम नहीं चल सकता। बाह्य आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था और सम्पत्ति जीवन की रक्षा के लिए एक सगठन में शामिल होना प्राचीन मानव के लिए नितान्त आवश्यक हो गया। मनुष्य को इस आवश्यकता का ज्ञान तो हुआ, किन्तु एक लम्बे समय तक यह चेतना हर समाज में अव्यक्त रही। जब से जनता में यह चेतना जाग्रत हुई तभी से इसे कार्य रूप में परिणत करने का प्रयास होने लगा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक राज्यों का राजनीतिक संगठन पर्याप्त सुदृढ बन चुका है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राज्य का विकास बहुत शनै शनै हुआ है। 'वह एक ऐतिहासिक विकास का फल है जिसमें रक्त सम्बन्ध, धर्म और राजनीतिक चेतना प्रमुख तत्त्व रहे हैं। हालाँकि हम यह नहीं कह सकते कि कहाँ कौनसा तत्त्व प्रमुख रहा है या कौनसा तत्त्व कब प्रभावहीन हो गया अथवा कब उभर कर सामने आ गया।" (गिलक्राइस्ट) पर यह सत्य है कि इन सभी तत्त्वों की पारस्परिक प्रतिक्रिया के सामूहिक फलस्वरूप जो स्थिति पैदा हुई उससे राज्य का विकास सुगमता से सम्भव हो सका।

सारांश में कहा जा सकता है कि "अपनी सामुदायिक प्रवृत्ति के कारण मनुष्य ने समूह व समुदाय बनाकर रहना शुरू किया। सजातीयता और धर्म की एकता ने इन समुदायों को सुसगठित होने में सहायता की। राजनीतिक चेतना के कारण ये प्रारम्भिक मानव समुदाय धीरे धीरे सुव्यवस्थित राज्य सस्था के रूप में परिवर्तित होने लगे। ये सब बातें राज्य सस्था के प्रादुर्भाव का कारण सिद्ध हुईं और ऐतिहासिक प्रक्रिया व विकास द्वारा मनुष्य उस सर्वोच्च सगठन में सगठित हुआ, जिसे आज राज्य कहा जाता है।"

राज्य की उत्पत्ति के बारे में ऐतिहासिक सिद्धान्त सबसे उत्तम व सत्य के अधिक निकट है। इस सिद्धान्त के विकास में अनेक तत्त्वों ने अपना योगदान किया है। गिलक्राइस्ट का यह उपसहार सही है कि, 'राज्य एक क्रमिक विकास का फल है जिसकी सही उत्पत्ति समय के अन्धकार में खोई हुई है।"

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
(Rousseau's Doctrine of General Will)

राजनीति दशन मे सामान्य इच्छा का अत्यधिक महत्व है किन्तु महत्वपूण होने के साथ ही यह इतना अधिक अस्पष्ट है कि पर्याप्त सीमा तक निरथक भी हो जाता है। डॉ आशीर्वादम् के अनुसार—"कुछ विचारको की दृष्टि में सामाय इच्छा का सिद्धान्त यदि भयकर नहीं है तो सारहीन अवश्य है, जबकि दूसरे विचारको की दृष्टि में यह सिद्धान्त लोकतन्त्र एव राजनतिक दशन का एक बुनियादी पत्थर है।"

सामान्य इच्छा की व्याख्या

यथार्थ इच्छा एव आदश इच्छा में अतर—रूसो की 'सामाय इच्छा' को समझने के लिए हमें यथाथ इच्छा (Actual will) और आदश इच्छा (Real will) के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—यथार्थ इच्छा तथा आदश इच्छा। यथाथ इच्छा वह इच्छा है जो स्वायपूण, सकीण तथा परिवतनशील होती है। मनुष्य जब केवल अपने ही लिए सोचता है तब वह इसी इच्छा के वशीभूत होता है। इसके विपरीत आदश इच्छा वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एव सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो का कहना है कि यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है तथा यह स्वतत्रता की द्योतक होती है। आदश इच्छा से प्रभावित होकर मनुष्य चिरन्तन सुख का अनुभव करने लगता है और उसके मानसिक विकार स्वत दूर हो जाते हैं। आदश इच्छा स्थायी भी होती है क्योंकि सामाजिक हित स्वय स्थायी आदश होता है।

यथाथ इच्छा एव आदश इच्छा के अतर को डॉ आशीर्वादम् ने बडे सुदर ढग से व्यक्त किया है—

यथाथ इच्छा "मनुष्य की भावुक एव अविचारशील इच्छा होती है। यह जीवन के सब पहलुओ पर सामूहिक रूप से विचार नही करती वरन् व्यक्तिगत स्वाथ पर ध्यान देती है। यह व्यक्ति की समाज विरोधी, क्षणिक तथा तुच्छ इच्छा है। यह सकुचित तथा स्व विरोधी भी है।"

आदश इच्छा "जीवन के समस्त पहलुओ पर व्यापक रूप से दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है तथा यह व्यक्ति और समाज के सामजस्य में प्रकट होती है।"

सामाय इच्छा क्या है ?

यथाथ एव आदश इच्छा का अतर जान लेने पर जिज्ञासा होती है कि सामाय इच्छा क्या है ? उत्तर है कि सारे मनुष्यों की आदर्श इच्छाओ का सगठन एव समवय ही सामाय इच्छा है। सामाय इच्छा उन 'आदश इच्छाओ का सयोग है जिनके द्वारा समाज की स्थापना हुई है। सामाय इच्छा की विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"यह पूर्ण समाज की इच्छा है, अथवा सब व्यक्तियो की इच्छा है यदि इसका ध्येय सामा"य हित हो।" (Bosanqu t)

"सामा"य उद्देश्यो की सामा"य चेतना का नाम ही सामा"य इच्छा है।" (Green)

"सामा"य इच्छा की परिभाषा एक समाज की आदर्श इच्छाओं के योग अथवा इससे भी अधिक उत्तम शब्दो में उनके सगठन या एकीकरण के रूप में की जा सकती है।" (A·hirvatham)

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ, तत्त्व अथवा लक्षण

सामा"य इ छा को उसके अग्रांकित मुख्य लक्षणों अथवा विशेषताओ से अधिक स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है—

1 एकता (Unity)—सामा"य इच्छा अखण्ड होती है। इसके टुकडे नही किए जा सकते और न इसे विभक्त किया जा सकता है। यह राष्ट्रीय चरित्र मे एकता स्थापित करती है और इसमे विरोध का अभाव होता है।

2 स्थायित्व (Permanance)—यह स्थायी होती है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमे स्थिरता आ जाती है।

3 औचित्य (Righteousness)—यह इच्छा सब की श्रेष्ठ इच्छा है, क्योंकि यह सब की आदर्श इच्छाओ का योग है। यह अहितकारी न होकर सदव शुभ, कल्याणकारी एव "यायसगत होती है। यदि 'सामान्य इच्छा' के होते हुए भी कभी कोई गलत कार्य करता है तो यह दोष 'सामा"य इच्छा' का नही वरन् उसके सचालन करने वाले का है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के मतानुसार सामा"य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'Will of all' (सवसाधारण की इच्छा) से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओ को प्रथम स्वय के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमे उनकी यथार्थ एव आदर्श दोनो इच्छाएँ शामिल रहती हैं किन्तु राजनतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओ का अशुद्ध और अनतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल आदर्श इच्छा ही शेष रह जाती है। इच्छाओ का ऐसा शुद्ध सम"वय ही 'सामा"य इच्छा' बन जाती है।

सामान्य इच्छा और जनमत (Public Opinion) का भेद

सामा"य इच्छा जनमत से सवथा भिन्न होती है—

1 सामा"य इच्छा में सामा"य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत मे सख्या पर बल दिया जाता है। सामा"य इच्छा के पीछे जनता का कितना भाग है, इस पर ध्यान नही दिया जाता कि सामा"य इच्छा एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता का कितना समथन प्राप्त है।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
(Rousseau's Doctrine of General Will)

राजनीति दर्शन मे सामान्य इच्छा' का अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही यह इतना अधिक अस्पष्ट है कि पर्याप्त सीमा तक निरर्थक भी हो जाता है। डॉ आशीर्वादम् के अनुसार—"कुछ विचारकों की दृष्टि में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त यदि भयंकर नहीं है तो सारहीन अवश्य है, जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में यह सिद्धान्त लोकतन्त्र एव राजनैतिक दर्शन का एक बुनियादी पत्थर है।"

सामान्य इच्छा की व्याख्या

यथार्थ इच्छा एव आदर्श इच्छा में अन्तर—रूसो की 'सामान्य इच्छा' को समझने के लिए हमे यथार्थ इच्छा (Actual will) और आदर्श इच्छा (Real will) के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा। यथार्थ इच्छा वह इच्छा है जो स्वार्थपूर्ण, संकीर्ण तथा परिवर्तनशील होती है। मनुष्य जब केवल अपने ही लिए सोचता है तब वह इसी इच्छा के वशीभूत होता है। इसके विपरीत आदर्श इच्छा वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एव सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो का कहना है कि यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है तथा यह स्वतन्त्रता की द्योतक होती है। आदर्श इच्छा से प्रभावित होकर मनुष्य चिरन्तन सुख का अनुभव करने लगता है और उसके मानसिक विकार स्वत दूर हो जाते हैं। आदर्श इच्छा स्थायी भी होती है क्योंकि सामाजिक हित स्वय स्थायी आदर्श होता है।

यथार्थ इच्छा एव आदर्श इच्छा के अन्तर को डॉ आशीर्वादम् ने बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

यथार्थ इच्छा "मनुष्य की भावुक एव अविचारशील इच्छा होती है। यह जीवन के सब पहलुओं पर सामूहिक रूप से विचार नहीं करती वरन व्यक्तिगत स्वार्थ पर ध्यान देती है। यह व्यक्ति की समाज विरोधी, क्षणिक तथा तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्व विरोधी भी है।"

आदर्श इच्छा "जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप से दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है तथा यह व्यक्ति और समाज के सामंजस्य में प्रकट होती है।"

सामान्य इच्छा क्या है ?

यथार्थ एव आदर्श इच्छा का अन्तर जान लेने पर जिज्ञासा होती है कि सामान्य इच्छा क्या है ? उत्तर है कि सारे मनुष्यों की आदर्श इच्छाओं का सगठन एव समन्वय ही सामान्य इच्छा है। सामान्य इच्छा उन 'आदर्श इच्छाओं का सयोग है जिनके द्वारा समाज की स्थापना हुई है। सामान्य इच्छा की विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"यह पूर्ण समाज की इच्छा है, अथवा सब व्यक्तियों की इच्छा है, यदि इसका ध्येय सामान्य हित हो।" (Bosanquet)

"सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना का नाम ही सामान्य इच्छा है।" (Green)

"सामान्य इच्छा की परिभाषा एक समाज की आदर्श इच्छाओं के योग अथवा इससे भी अधिक उत्तम शब्दों में उनके सगठन या एकीकरण के रूप में की जा सकती है।" (Ashirvatham)

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ, तत्त्व अथवा लक्षण

सामान्य इच्छा को उसके अग्रांकित मुख्य लक्षणों अथवा विशेषताओं से अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है—

1 एकता (Unity)—सामान्य इच्छा अखण्ड होती है। इसके टुकडे नही किए जा सकते और न इसे विभक्त किया जा सकता है। यह राष्ट्रीय चरित्र मे एकता स्थापित करती है और इसमे विरोध का अभाव होता है।

2 स्थायित्व (Permanance)—यह स्थायी होती है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमें स्थिरता आ जाती है।

3 औचित्य (Righteousness)—यह इच्छा सब की श्रेष्ठ इच्छा है, क्योंकि यह सब की आदर्श इच्छाओं का योग है। यह अहितकारी न होकर सदैव शुभ, कल्याणकारी एव न्यायसगत होती है। यदि 'सामान्य इच्छा' के होते हुए भी कभी कोई गलत कार्य करता है तो यह दोष 'सामान्य इच्छा' का नही वरन् उसके सचालन करने वाले का है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के मतानुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'Will of all' (सर्वसाधारण की इच्छा) से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओं को प्रथम स्वय के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमे उनकी यथार्थ एव आदर्श दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं किन्तु राजनतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओं का अशुद्ध और अनतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल आदर्श इच्छा ही शेष रह जाती है। इच्छाओं का ऐसा शुद्ध समन्वय ही 'सामान्य इच्छा' बन जाती है।

सामान्य इच्छा और जनमत (Public Opinion) का भेद

सामान्य इच्छा जनमत से सर्वथा भिन्न होती है—

1 सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत मे सख्या पर बल दिया जाता है। सामान्य इच्छा के पीछे जनता का कितना भाग है, इस पर ध्यान नही दिया जाता कि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता का कितना समर्थन प्राप्त है।

2 सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है। इस सामान्य हित मे अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक दोनों ही वर्गों के हित सम्मिलित होते हैं। इसके विपरीत जनमत अल्पसंख्यक वर्ग के लिए अहितकारी हो सकता है और बहुसंख्यक वर्ग की स्वार्थ सिद्धि का साधन भी।

सामान्य इच्छा एवं सर्वसम्मति (Will of all) मे भेद

सर्वसम्मति से तात्पर्य है—समाज के सदस्यों की विशिष्ट इच्छाएँ। सर्वसम्मति में समस्त जनता की इच्छाओं में समानता होना अनिवार्य है। यदि एक व्यक्ति भी उससे मत-भेद रखता हो तो उसको सर्वसम्मति नहीं कहा जा सकता। किन्तु सामान्य इच्छा मे यह बात नहीं है। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की भी हो सकती है और अनेक व्यक्तियों की भी। सामान्य इच्छा केवल आदर्श इच्छा का सार है और यह सदैव सामान्य हित की ओर ही संकेत करती है। सामान्य इच्छा में भावना की प्रधानता होती है जबकि सर्वसम्मति मे सम्मति देने वाले व्यक्तियों की संख्या का महत्त्व होता है। सर्वसम्मति मे आदर्श इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित मे भी वृद्धि होगी तथा यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केवल वर्ग विशेष की स्वार्थ सिद्धि होगी, लेकिन सामान्य इच्छा मे अहित के लिए कोई स्थान नहीं होता। वह सदा श्रेष्ठ और शुभ है तथा केवल आदर्श इच्छा का सार होती है।

सामान्य इच्छा की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा की विद्वानों ने निम्न आधारों पर आलोचनाएं की हैं—

1 यह सिद्धान्त अत्यन्त कठिन एवं जटिल है, जिसे समझ पाना सरल नहीं है।

2 सामान्य इच्छा जैसी कोई भी वस्तु हमें व्यावहारिक जगत् में नहीं मिलती। यदि यह बहुसंख्यक मनुष्यों की इच्छा नहीं है तो समालोचकों का कहना है कि यह कुछ भी नहीं है। न यह सामान्य है और न इच्छा।

3 इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्वेच्छाचारी हो सकता है। सामान्य इच्छा के नाम मे भीषण से भीषण अत्याचार किया जा सकता है।

4 सामान्य इच्छा का आधार है पारस्परिक कल्याण, किन्तु पारस्परिक कल्याण की परिभाषा नहीं की जा सकती। क्रूर अत्याचारी भी अपने कार्यों को पारस्परिक कल्याण के नाम पर उचित सिद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम पहले से ही यह नहीं कह सकते कि अमुक सामान्य इच्छा सामान्य हित के लिए ही होगी।

5 सामान्य इच्छा के आदेशों में स्वतन्त्रता की सत्ता को स्वीकार करना पागलपन है।

6 यदि यह मान भी लिया जाय कि सामान्य इच्छा में कोई त्रुटि नही होती तो इस बात की क्या गारण्टी है कि शासन कभी दोषपूर्ण काय करेगा ही नहीं।

7 'यथाथ इच्छा' और 'आदश इच्छा' का भेद केवल शब्दो की जादूगरी है। साधारण व्यक्ति अपनी इच्छा (Actual will) स ही अधिक प्ररित होता है और आदश इच्छा की अधिक चिन्ता नहीं करता। वह दोनो इच्छाओ मे कोई भेद नही समझता।

सामान्य इच्छा का महत्त्व

उपयु क्त दोषो के बावजूद भी सामान्य इच्छा के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता—

1 'सामान्य इच्छा' राजनैतिक कार्यों मे पथप्रदशन का काय करती है।

2 'सामान्य इच्छा' इस बात की प्रतीक है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।

3 इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वाथ की अपेक्षा सामान्य हित को प्रोत्साहन दिया गया है।

4 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एव व्यक्ति मे शरीर तथा उसके अगो का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ करता है।

स्पष्ट है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त गम्भीर आलोचना का विषय होते हुए भी उसका अपना महत्त्व भी है। डॉ आशीर्वादम् का कहना सही है कि—'कुछ विचारको की दृष्टि मे सामान्य इच्छा का सिद्धान्त यदि भयकर नही तो सराहनीय अवश्य है जबकि दूसरे विचारको के लिए यह सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनतिक दशन का एक बुनियादी आधार है।''

आधुनिक राज्य का विकास
(The Evolution of the Modern State)

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी कोई भी सिद्धान्त पूणत सत्य नही है। वास्तव म राज्य की स्थापना किसी एक निश्चित समय मे नही हुई। वह एक लम्बी और धीमी प्रक्रिया का परिणाम है। राज्य के इस विकासकाल मे अनेक तत्वों ने राज्य निर्माण मे योग दिया और सदियो के विकास के अनन्तर अनेक स्थितियो को पार करता हुआ राज्य आज अपनी वतमान स्थिति तक पहुँच सका है।

राज्य एक विकासशील सस्था है। इस तथ्य के बारे में सभी लेखक एकमत हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि राज्य के इस विकास का स्वरूप क्या और किस प्रकार का रहा। विभिन्न स्थितियो व विभिन्न तत्वो ने राज्य के विकास मे अपना योगदान दिया तथापि आज भी राज्य के विकास का एक निश्चित रूप निर्धारित करना कठिन है क्योकि राज्य एक जटिल सस्था है और इसके विकास म एक निश्चित रूपरेखा का अभाव है। यह कहना कठिन है कि सभी राज्यो ने राज विकास

रखा जिसके फलस्वरूप यूनान की इस घाटी मे एक बहुमुखी सभ्यता का विकास हुआ।

प्रकृति की देन से भाग्यशाली तथा आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर यूनान के इन विभिन्न नगर राज्यो मे विविध राजनीतिक सगठनो ने जन्म लिया। इनमे से कुछ नगर राज्यो मे विविध राजनीतिक सगठनो ने जन्म लिया। इनमे से केवल स्पार्टा रूढिवादी शासन का उदाहरण माना जाता है। प्राचीन यूनानी राजनीतिक विचारको ने राज्य और समाज के विविध पहलुओ पर मनन किया और उन्हें नैतिक दृष्टिकोण से देखने के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राज्य और समाज मे कोई अन्तर नही हो सकता। वे व्यक्ति को भी राज्य का ही एक अभिन्न अग मानते थे। उन्होने व्यक्ति और राज्य के अटूट सम्बन्धों पर बल दिया। अधिकतर नगर राज्यो के राजनीतिक जीवन मे नागरिक गण भाग लेते थे और राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा भी निस्सदेह घनिष्ठ तथा असीम थी।

स्वतन्त्रता और आत्म निर्भर नगर जीवन के उपासक होने के साथ-साथ यूनान के इन प्राचीन नगर राज्यो मे कुछ दोष भी थे। इनमें कोई स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था नही थी। दास प्रथा और दास-व्यापार का सवत्र बोलबाला था। नागरिक और अनागरिक (D nizens) के भेद भाव के कारण द्वेष भावना राजनीति में गहराई तक व्याप्त थी। प्रजातन्त्र के कारण भी इन यूनानी नगर राज्यो मे कितने ही स्वाभाविक दोष उत्पन्न हो गए थे। दलबन्दी की प्रथा के कारण जन समूह शत्रु समुदायो मे विभाजित हो गया था। इसके साथ साथ नागरिको में स्थानीय देशभक्ति चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। इस सकीर्णता के कारण नगर राज्य स्वय को एक महान् राष्ट्र के रूप मे सगठित न कर सके। उसके नागरिको का दृष्टिकोण सकुचित होने के कारण राजनीतिक रूप से घातक रहा। धीरे धीरे आन्तरिक युद्धो के कारण उनकी शक्ति का ह्रास हुआ और सनिक दृष्टि से दुबल इन नगर राज्यो पर जब बाहर की जगली जातियो ने आक्रमण किया तो एक धक्के से ही इतिहास के गभ मे सदा के लिए विलीन हो गए।

राज्य और राजनीति दशन के विकास के इतिहास मे इन राज्यो का विशेष महत्त्व है। क्योकि—

(1) इन राज्यो ने राज्य और व्यक्ति के नैतिक पक्ष तथा आदर्शवादी तत्त्व पर बल दिया।

(2) इन राज्यो ने स्वायत्त और स्वावलम्बी शासन के बहुमूल्य सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया।

(3) इन राज्यो ने राजनीतिशास्त्र और दशन को जनतन्त्र तथा शासनतन्त्र के अन्य अमूल्य आदर्शों से परिचित कराया।

(4) इन राज्यो ने आदर्श नागरिकता के सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया और भावी युग के लिए राजनीतिक ज्ञान विरासत में में भेंट किया।

(4) वैदिक युगीन गणराज्य
(Republics of the Vedic Age)

यूनानी नगर-राज्यों के समय ही भारत में भी छोटे छोटे गणराज्यों का अस्तित्व था। यह वैदिक युग था। यद्यपि देश में सर्वत्र राजतन्त्र ही प्रमुख था तथापि कहीं-कहीं गणराज्य भी थे। गणराज्य के प्राय तीन मुख्य अंग होते थे—सभा, समिति और मुखिया। सभा के सदस्य विद्वान होते थे जिन पर मुख्यतः न्याय का दायित्व होता था। समिति के सदस्य गाँवों और नगरों के मुखिया होते थे। गणराज्य का प्रमुख शासक मुखिया कहलाता था जिसका चुनाव सभा और समिति द्वारा किया जाता था। विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिए यदा कदा उपसमिति का निर्माण भी किया जाता था। दुर्भाग्यवश ये गणराज्य सैनिक दृष्टि से दुर्बल थे, अतः शनैः शनैः शक्तिशाली राजाओं ने इन्हें परास्त कर अपने अधीन कर लिया। फिर भी मौर्यकाल के प्रारम्भिक दिनों तक इनके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में मालव शूद्रक आदि गणराज्य थे। मौर्य साम्राज्य के उदय के साथ इनका लोप हो गया और भारत में विशालकाय साम्राज्यों का युग प्रारम्भ हुआ।

(5) रोमन विश्व साम्राज्य
(The Roman World Empire)

यूनान के नगर राज्यों के पतन के बाद यूरोप के राजनीतिक क्षितिज पर रोमन साम्राज्य का उदय हुआ। एथेंस से हटकर राज्य के विकास का केन्द्र अब रोम पहुँच गया। अपने प्रारम्भिक जीवन में रोम इतिहास--पटल पर एक राजतन्त्र के रूप में उदित हुआ। वहां के राजा के पास राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ थी। वह शासक ही नहीं वरन एक न्यायाधीश और पुरोहित भी था। राजा की मृत्यु के पश्चात् सपूर्ण राजनीतिक शक्ति वृद्धों की परिषद् (Council of Elders) में निहित हो जाती थी और प्रजा की स्वीकृति से ही यह परिषद् राजा का चुनाव करती थी। राजा के अधिकार सैद्धान्तिक रूप में यद्यपि असीमित थे, तथापि उसकी शक्ति किसी अंश तक प्रतिबंधित थी।

(1) राजा से यह आशा की जाती थी कि वह वृद्धों की परिषद् के परामर्श से ही सब महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा।

(2) अगर राजा किसी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देता तो उसे उसकी जनमत द्वारा पुष्टि करानी पड़ती थी।

रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी – एक वर्ग कुलीन (Patricians) कहलाता था और दूसरा जनसाधारण वर्ग (Plebians)। इन दोनों वर्गों के बीच महान् अन्तर था। राजनीतिक शक्ति कुलीनों के हाथ में केन्द्रित थी और सब प्रकार के राजनीतिक अधिकार भी उन्हीं को प्राप्त थे, इसलिए जनसाधारण रोमन-साम्राज्य में असन्तुष्ट और अत्यन्त दुःखी वर्ग था।

रखा जिसके फलस्वरूप यूनान की इस घाटी मे एक बहुमुखी सभ्यता का विकास हुआ।

प्रकृति की देन से भाग्यशाली तथा आर्थिक दृष्टि से आत्मनिभर यूनान के इन विभिन्न नगर राज्यो मे विविध राजनीतिक सगठनो ने जन्म लिया। इनमे से कुछ नगर राज्यो मे विविध राजनीनिक सगठनो न जन्म लिया। इनम से केवल स्पार्टा रूढिवादी शासन का उदाहरण माना जाता है। प्राचीन यूनानी राजनीतिक विचारको ने राज्य और समाज के विविध पहलुओ पर मनन किया और उन्ह नैतिक दृष्टिकोण से देखने के कारण वे इस निष्कष पर पहुँचे कि राज्य और समाज म काई अन्तर नही हो सकता। वे व्यक्ति को भी राज्य का ही एक अभिन्न अग मानते थे। उन्होने व्यक्ति और राज्य के अटूट सम्ब धो पर बल दिया। अधिकतर नगर राज्यो क राजनीतिक जीवन मे नागरिक गण भाग लेते थे और राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा भी निस्सदेह घनिष्ठ तथा असीम थी।

स्वतन्त्रता और आत्म-निभर नगर जीवन के उपासक होने के साथ-साथ यूनान के इन प्राचीन नगर राज्यो मे कुछ दोष भी थे। इनमे कोई स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था नही थी। दास प्रथा और दास-व्यापार का सवत्र बोलबाला था। नागरिक और अनागरिक (D nizens) के भेद भाव के कारण द्वेष भावना राजनीति मे गहराई तक व्याप्त थी। प्रजात त्र क कारण भी इन यूनानी नगर राज्यो मे कितने ही स्वाभाविक दोष उत्पन्न हो गए थे। दलब दी की प्रथा के कारण जन समूह शत्रु समुदायो मे विभाजित हो गया था। इसके साथ साथ नागरिको मे स्थानीय देशभक्ति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। इस सकीणता क कारण नगर राज्य स्वय को एक महान् राष्ट्र के रूप मे सगठित न कर सके। उसके नागरिको का दृष्टिकोण सकुचित होने के कारण राजनीतिक रूप से घातक रहा। धीरे धीरे आन्तरिक युद्धो क कारण उनकी शक्ति का ह्रास हुआ और सनिक दृष्टि से दुबल इन नगर राज्यो पर जब बाहर की जगली जातियो ने आक्रमण किया तो एक धक्के से ही इतिहास क गभ मे सदा के लिए विलीन हो गए।

राज्य और राजनीति दशन के विकास के इतिहास मे इन राज्यो का विशेष महत्त्व है। क्योकि—

(1) इन राज्यो ने राज्य और व्यक्ति के तिक पक्ष तथा आदशवादी तत्त्व पर बल दिया।

(2) इन राज्यो ने स्वायत्त और स्वावलम्बी शासन के बहुमूल्य सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया।

(3) इन राज्यो ने राजनीतिशास्त्र और दशन को जनतन्त्र तथा शासनतन्त्र के अन्य अमूल्य आदर्शों से परिचित कराया।

(4) इन राज्यो ने आदश नागरिकता के सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया और भावी युग के लिए महत्त्वपूण राजनीतिक ज्ञान विरासत में में भेंट किया।

(4) वैदिक युगीन गणराज्य
(Republics of the Vedic Age)

यूनानी नगर राज्यों के समय ही भारत मे भी छोटे-छोटे गणराज्यों का अस्तित्व था। यह वैदिक युग था। यद्यपि देश मे सर्वत्र राजतन्त्र ही प्रमुख था तथापि कहीं कहीं गणराज्य भी थे। गणराज्य के प्राय तीन मुख्य अंग होते थे—सभा, समिति और मुखिया। सभा के सदस्य विद्वान् होते थे जिन पर मुख्यत न्याय का दायित्व होता था। समिति मे सदस्य गांवों और नगरों के मुखिया होते थे। गणराज्य का प्रमुख शासक मुखिया कहलाता था जिसका चुनाव सभा और समिति द्वारा किया जाता था। विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिए यदा कदा उपसमिति का निर्माण भी किया जाता था। दुर्भाग्यवश ये गणराज्य सैनिक दृष्टि से दुर्बल थे, अत शनैः शनैः शक्तिशाली राजाओं ने इन्हें परास्त कर अपने अधीन कर लिया। फिर भी मौर्यकाल के प्रारम्भिक दिनों तक इनके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब मे मालव क्षुद्रक आदि गणराज्य थे। मौर्य साम्राज्य के उदय के साथ इनका लोप हो गया और भारत म विशालकाय साम्राज्यों का युग प्रारम्भ हुआ।

(5) रोमन विश्व साम्राज्य
(The Roman World Empire)

यूनान के नगर राज्यों के पतन के बाद यूरोप के राजनीतिक क्षितिज पर रोमन साम्राज्य का उदय हुआ। एथेंस से हटकर राज्य के विकास का केन्द्र अब रोम पहुँच गया। अपने प्रारम्भिक जीवन मे रोम इतिहास-पटल पर एक राजतन्त्र के रूप म उदित हुआ। वहां के राजा के पास राजनीतिक एव धार्मिक दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ थीं। वह शासक ही नहीं वरन् एक न्यायाधीश और पुरोहित भी था। राजा की मृत्यु के पश्चात् सपूर्ण राजनीतिक शक्ति वृद्धों की परिषद् (Council of Elders) मे निहित हो जाती थी और प्रजा की स्वीकृति से ही यह परिषद् राजा का चुनाव करती थी। राजा के अधिकार सैद्धान्तिक रूप मे यद्यपि असीमित थे, तथापि उसकी शक्ति किसी अंश तक प्रतिबंधित थी।

(1) राजा से यह आशा की जाती थी कि वह वृद्धों की परिषद् के परामर्श से ही सब महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा।

(2) अगर राजा किसी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देता तो उसे उसकी जनमत द्वारा पुष्टि करानी पड़ती थी।

रोम की जनता दो वर्गों म बँटी हुई थी—एक वर्ग कुलीन (Patricians) कहलाता था और दूसरा जनसाधारण वर्ग (Plebians)। इन दोनों वर्गों के बीच महान् अन्तर था। राजनीतिक शक्ति कुलीनों के हाथ मे केन्द्रित थी और सब प्रकार के राजनीतिक अधिकार भी उन्हीं को प्राप्त थे, इसलिए जनसाधारण रोमन-साम्राज्य में असन्तुष्ट और अत्यन्त दुखी वर्ग था।

रोमन गणतन्त्र की तीन प्रमुख विशेषताएँ थी—

(1) विभाजित प्रभुता।

(2) राज्याधिकारियो का निश्चित कार्यकाल।

(3) जनता द्वारा विशेष मामलो पर निर्णय।

शीघ्र ही यह रोमन गणराज्य महान रोमन साम्राज्य के रूप म विस्तृत होने लगा। इस विस्तार के साथ साथ स्थिति भी बदली। साम्राज्य के सफल शासन के लिए प्रभावपूर्ण केन्द्रीय शासन व्यवस्था आवश्यक हो गई। फलत धीरे धीरे निरकुश सनिक राज्य की स्थापना हुई और समस्त अधिकार सम्राट के हाथो मे म आ गए। राज्य परिषदो के अधिकार समाप्त कर दिए गए और वे पूरी तरह शक्तिहीन इकाई मात्र रह गई। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा और रोम की प्राचीन व्यक्तिवादी और प्रजातन्त्रीय प्रणाली विलुप्त हो गई। जनतन्त्र के सिद्धान्तो को समाप्त कर साम्राज्यवादी शासको ने स्थानीय स्वशासन के स्थान पर केन्द्रीय सुदृढ शासन व्यवस्था कायम की और रोम का आतङ्क सारे यूरोप मे फल गया। राजनीति शास्त्र को रोम के इस विशाल साम्राज्य की मुख्य देन को साराश मे इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) राजनीतिक विधान और व्यवस्था का सूत्रपात।

(2) नगर-पालिकाओ की शासन व्यवस्था का आदश।

(3) प्रभुता नागरिकता के सिद्धान्त और अनेक जातियो के शासन के लिए शासन-व्यवस्थाओ की स्थापना।

(4) कानून का नियमन और निर्माण जिसे प्राकृतिक कानून (Jus Natural) कहा जाता है।

अनेक कारणो से रोम का यह विशाल साम्राज्य अपनी प्रतिष्ठा की चरम सीमा पर पहुँच कर पतनो मुख हुआ। रोमन साम्राज्य के इस पतन के कई कारण थे जिनमे से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

(1) साम्राज्य में अधिकतर सख्या गुलामो की थी जो शासन के प्रति स्वामिभक्त नही थे।

(2) शक्ति पर आधारित शासन मे लोकप्रिय तत्वो और देशभक्ति की भावना का सवथा अभाव था।

(3) कुलीन वग का नैतिक पतन।

(4) आर्थिक क्षेत्र मे शोषण और शिथिलता।

(5) बबर जातियो के आक्रमण।

(6) घातक रोग।

(7) एकता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विनाश।

(8) साम्राटो के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमो का अभाव।

उक्त कारणो से सातवीं आठवीं शताब्दी के लगभग रोमन साम्राज्य मे दरारें पडने लगी थी। यद्यपि नाम के लिए रोमन सम्राट 15वी शताब्दी तक किसी न किसी रूप म शासक बने रहे पर उनकी सावभौमिक शक्ति व्यावहारिक राजनीति

मे पहले उनके सामन्तो के पास और बाद मे रोम के आर्च बिशप के पास रही। बाद मे राष्ट्रीय राज्यो के जन्म ने इस साम्राज्य की एकतावादी धारणा को छिन्न भिन्न कर डाला।

(6) मगध का सार्वभौम साम्राज्य
(The Magadhian Empire)

रोम साम्राज्य की भाँति भारत मे मगध-साम्राज्य गौरवान्वित हुआ। अजातशत्रु ने अनेक छोटे छोटे गणराज्यो को अपने अधीन कर एक साम्राज्य की स्थापना की जिसका चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने विस्तार किया। इस साम्राज्य मे सम्राट् विपुल एव सर्वोच्च शक्तियो का स्वामी होते हुए भी धर्म और न्याय की मर्यादा का अनुपालन करना अपना कर्त्तव्य समझता था। केन्द्रीय सत्ता की सर्वोपरिता और सर्वव्यापकता के बावजूद स्थानीय स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त क्षेत्र छोडा गया था। इस साम्राज्य ने प्रजा को कुशल शासन और न्याय प्रदान किया। सम्पूर्ण साम्राज्य शासन की दृष्टि से प्रान्तो मे विभक्त था जहाँ परम्परानुसार समितियाँ और सभायें विद्यमान थी और प्राय उन्ही के परामर्श से प्रान्तो के राजकुमार शासक अपना शासन कार्य चलाते थे।

(7) सामन्ती राज्य
(The Feudal States)

आन्तरिक दुर्बलताओ से ग्रस्त रोमन साम्राज्य के भग्नावशेष पर सामन्ती राज्यो का उदय हुआ। बर्बर जातियो के आक्रमण से रोमन साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। ऐसी स्थिति म राजसत्ता का किसी एक व्यक्ति के हाथ में रहना असम्भव था। छोटे छोटे जागीरदारो व सरदारों ने जो रोमन सम्राट के कोसलर थे स्वय को स्वतन्त्र घोषित कर अपने प्रदेशो का शासन अपने हाथ मे ले लिया। वास्तव मे रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के जन्म के समय तक के सक्रमण काल को राज्य के विकासवादी इतिहास मे सामन्तवादी युग की सज्ञा दी जाती है।

रोम के पतन के बाद जब सेनापतियो ने विभिन्न भागो में अपनी सत्ता कायम कर ली तो उन्होंने रोम के सम्राट से अपने सम्बन्ध तोड लिए। इन सेनापतियो ने अपने अपने प्रदेशो को छोटे छोटे टुकडो मे बाँटकर उन्हें अपने साथियो मे बाँट दिया। यही लोग सामन्त या जागीरदार कहलाते थे। सामन्त लोग अपने क्षेत्र के स्वामी होते थे। जब कभी राजा को आवश्यकता होती थी तो ये लोग अपनी सेना की टुकडियाँ भेज दिया करते थे। व्यावहारिक दृष्टि से ये लोग अपनी अपनी जागीरो पर हुकूमत करते थे। कोई सर्वमान्य प्रभुता नही थी और बिना किसी केन्द्रीय सत्ता की मान्यता के ये लोग अपनी अपनी जागीरो म इच्छा अनुसार शासन चलाते थे। रोमन साम्राज्य के पतन और आधुनिक राज्यो के जन्म के बीच का यह काल सामन्ती अराजकता का काल कहलाता है।

सामन्ती-काल की राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ ये थी—

(1) सामन्त के प्रति जनता की व्यक्तिगत भक्ति जो सामन्तवादी व्यवस्था की आधारशिला थी।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और एकता की भावना का अभाव जो साम्राज्य का आधार-स्तम्भ था।

(3) सामन्तवादी शासकों और चर्च के पादरियो के बीच शक्ति के लिए संघर्ष जिसका जन्म केन्द्रीय शक्ति के ह्रास के साथ होना स्वाभाविक था।

सामन्तवादी युग में राजनीतिक सत्ता के विभाजित हो जाने के कारण यूरोप में धार्मिक सत्ता का अभ्युदय हुआ। चर्च की शक्ति का उदय, जो चर्च और राज्य के सहअस्तित्व (Theory of Two Swords) से आरम्भ हुआ, चौदहवी शताब्दी तक चर्च की प्रधानता एवं एकछत्र स्वामित्व में बदल गयी। पोप राजाओं को आदेश देने लगे और चर्च में विलासिता और व्यभिचार घर कर गया जिसके फलस्वरूप दार्शनिकों एवं धार्मिक नेताओं ने चर्च का खण्डन करने के लिए राजा और राज्य की शक्ति का समर्थन करना शुरू किया। धीरे धीरे 16वी शताब्दी में यूरोप में राजा की दैवी शक्ति का सिद्धान्त और राष्ट्रीयता अंगड़ाई लेने लगीं और यूरोप राष्ट्रीय राज्य के युग में प्रवेश करने लगा।

(8) आधुनिक राष्ट्रीय राज्य
(The National State)

वर्तमान युग में यूरोप में दो महान घटनाएँ हुई जिन्होंने इतिहास की काया पलट कर दी। इनमें से प्रथम को सांस्कृतिक पुनरुत्थान (Renaissance) और दूसरी को धर्म-सुधार आन्दोलन (Reformation) की संज्ञा दी जाती है। ये दोनों घटनाएँ अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप यूरोप में न केवल कला, साहित्य और संगीत में क्रान्ति हुई बल्कि दार्शनिक सिद्धान्तो में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। धर्म-सुधार आन्दोलन ने चर्च की शक्ति पर प्रहार किया और उसे नष्ट कर दिया। इससे राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिला। यातायात के साधनों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का विकास हुआ। इसी समय यूरोप में मध्यम वर्ग (Middle Class) का भी उदय हुआ। यह वर्ग सामन्ती प्रथा का घोर विरोधी था। मध्यम वर्ग के साथ-साथ व्यापारी वर्ग भी इस युग में दूसरे देशों के शक्तिशाली राजाओं से गठबन्धन स्थापित कर रहा था क्योंकि दोनों के हित एक दूसरे से काफी मेल खाते थे। फलत फ्रांस, स्पेन, इंगलैण्ड आदि देशों में स्वेच्छाचारी राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु राजाओं की निरकुश सत्ता बहुत अधिक दिनो तक न टिक सकी। राजनीतिक परिस्थितियाँ बदली। सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों ने भी मोड़ खाया। राज्य के दैवी आधार के स्थान पर मानवीय आधार को मान्यता प्राप्त हुई। राजाओं के दैवी अधिकार समय के स्थान पर यूरोप में विशेषकर ब्रिटेन में प्रजातन्त्र का विकास हुआ। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद यहाँ पर भी निरकुश शासन को उखाड़ दिया गया। राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र की यह लहर धीरे धीरे सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में

फैली और राजाओ ने प्रजा के सामने घुटने टेक दिए। उनको अपने अधिकारो को त्याग कर वधानिक स्थिति स्वीकार करनी पडी।

इस प्रकार सामन्तवादी प्रथाएँ यूरोप मे लुप्त हुई और प्रजातन्त्र अनेक रूपो में विकसित हुआ। 19वीं व 20वी शताब्दियो मे धर्मनिरपेक्ष राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। प्रथम महायुद्ध के बाद तो यूरोप मे राष्ट्रीय राज्यो की एक बाढ सी आ गई और राष्ट्रपति विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर बाल्कान प्रदेश में कितने ही नए राष्ट्रीय राज्यो का जन्म हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रीयता का सिद्धात एशिया और अफ्रीका महाद्वीपो मे भी फला और वहाँ पर भी राष्ट्रीय राज्यो का विकास और विस्तार हुआ।

राज्य का भविष्य

इस प्रकार राज्य का यह पहिया धीरे-धीरे प्रगति की ओर बढा और अभी भी बढता जा रहा है। प्राचीन काल में राज्य केवल शांति और सुरक्षा पर बल देता था। आज वह आर्थिक उन्नति पर जोर देता है। आज राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक बन चुका है। व्यक्ति की सम्पूर्ण भलाई आज राज्य के कार्यक्षेत्र मे सम्मिलित है। आज राज्य का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियो की सर्वांगीण उन्नति अर्थात् सामाजिक, आर्थिक एव राजनतिक करना बन गया है।

- राष्ट्रीय राज्य की सीमाएँ भी दिन प्रतिदिन बढती जा रही हैं। विश्व के मानव आज अन्तर्राष्ट्रीय राज्य की कल्पना करने लगे हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशस इस दिशा में एक सक्रिय कदम था। लीग एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन था। अनेक कारणो से यह सगठन सफल न हो सका और दूसरा विश्व-युद्ध रुक न सका। दूसरे महायुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्रसघ का निर्माण किया गया और इस प्रकार मानवता अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य की ओर अधिक सक्रिय हुई। इस उद्देश्य की पूर्ति में आज भी कई बाधाएँ हैं जिनम से नागरिको की राष्ट्रीय भावना को प्रमुख माना जा सकता है। यद्यपि सयुक्त राष्ट्रसघ आज भी उग्र राष्ट्रवाद, शीतयुद्ध, उपनिवेशवाद और निधनता आदि की समस्याओ से जूझ रहा है पर भविष्य मे विज्ञान की प्रगति के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार निश्चित है और अन्य नक्षत्रो की खोज के बाद मनुष्य के लिए यह निश्चय ही सम्भव होगा कि वह विश्व सरकार का निर्माण कर सके।

8

सम्प्रभुता का सिद्धान्त—सम्प्रभुता का एकलवादी और बहुलवादी विश्लेषण, शक्ति की अवधारणा

(THE CONCEPT OF SOVEREIGNTY—MONISTIC AND PLURALISTIC ANALYSIS OF SOVEREIGNTY, CONCEPT OF POWER)

'सम्प्रभुता' अंग्रेजी शब्द 'Sovereignty' का हिन्दी रूपान्तर है। यह शब्द अपने मूल रूप 'सुपरेनस' 'Superenus' से बना है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ या सबसे ऊपर। दूसरे शब्दों मे इसका तात्पर्य राज्य की परम शक्ति अथवा सम्प्रभुता से है। यह सम्प्रभुता राज्य का प्राण है। यह राज्य का ऐसा विशेषतासूचक चिह्न है जिसके आधार पर राज्य को अन्य समुदायो से पृथक् किया जाता है।

सम्प्रभुता का अर्थ और उसकी परिभाषा

'सम्प्रभुता' राज्य की सर्वोच्च इच्छा शक्ति का दूसरा नाम है। राज्य के सभी व्यक्ति, सस्थाएँ और सम्प्रभुता इसके अधीन होते हैं। यह किसी अन्य शक्ति के अधीन नही होती। सम्प्रभुता बाह्य तथा आन्तरिक दोनो मामलो मे परम होती है। सम्प्रभुता को ठीक प्रकार से समझने के लिए हमे इसके दोनो स्वरूपो आन्तरिक सम्प्रभुता (Internal Sovereignty) और बाह्य सम्प्रभुता (External Sovereignty) को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

आन्तरिक सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि आन्तरिक रूप से राज्य परम श्रेष्ठ है। इसके अधीनस्थ प्रदेश मे निवास करने वाले सभी व्यक्तियो और समुदायो के लिए उसके आदेश सर्वथा अनुलघनीय हैं। राज्य के सम्पूर्ण नागरिको और सगठनो पर *राज्य की निर्बाध सत्ता होती है। राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो और व्यक्ति* समूहों को राज्य की इच्छा के अधीन रहना पडता है। राज्य के अन्तर्गत एसी कोई शक्ति नही होती जो राज्य को अपनी आज्ञा मानने के लिए बाधित कर सके।

निष्कर्षत आंतरिक क्षेत्र मे राज्य सर्वोपरि होता है। सम्प्रभुता के आन्तरिक स्वरूप के सम्बन्ध मे गानर का विचार है कि—"प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य मे कोई ऐसा व्यक्ति, सभा अथवा समुदाय होता है जिसे कानून के रूप में सामूहिक इच्छा का निर्माण करने और उसे क्रियान्वित करने की सर्वोच्च सत्ता अर्थात् आज्ञा देने और उसे पालन कराने की अन्तिम शक्ति प्राप्त होती है।"

आंतरिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के समान बाहरी क्षेत्र में भी राज्य को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी है। बाह्य कार्य क्षेत्र की दृष्टि से सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य के बाहर एसी कोई शक्ति नही है जिसके यह आश्रित हो अर्थात् राज्य को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह विदेशो से जसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे—चाहे वह मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखे, चाहे युद्ध की घोषणा करे और चाहे तटस्थ नीति का अनुसरण करे। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो और सन्धियो का भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर कोई प्रभाव नही पडता क्योकि उनको मानना न मानना उस राज्य की इच्छा पर निभर होता है। लास्की के अनुसार, "आधुनिक राज्य प्रभुत्व सम्पन्न राज्य होता है अत यह अन्य राष्ट्रो के समक्ष स्वतन्त्र होता है। वह अपनी तद्विषयक इच्छा को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है कि उस पर किसी बाह्य शक्ति का कोई प्रभाव पडने की आवश्यकता नही होती।"

स्पष्ट है कि आंतरिक और बाह्य दोनो रूपो मे पूर्ण प्रभुता सम्पन्न होने पर ही सम्प्रभुता का सृजन होता है। जलिनेक ने ठीक ही कहा है कि "सम्प्रभुता, राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाहरी शक्ति के आदेशो से बाध्य नहीं है।" पोलक के मतानुसार "सर्वोच्च सत्ता उस शक्ति का नाम है जो अस्थायी न हो, प्रदत्त न हो और ऐसे नियमों के अधीन न हो जिनको वह बदल न सके और विश्व की किसी अन्य शक्ति के सामने वह उत्तरदायी न हो।" विलोबी ने लिखा है कि, 'सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है।" सारांश यह है कि यद्यपि सम्प्रभुता को व्यक्त करने के लिए विभिन्न शब्दावली प्रयुक्त की गई हैं, तथापि वे सब उसकी उसी विशेषता की ओर सकेत करती हैं जिसे सर्वोपरि कहा जाता है। सीधे-सादे शब्दो मे सम्प्रभुता राज्य की सबसे बडी शक्ति का नाम है। इसका अभिप्राय राज्य की आन्तरिक सर्वोपरिता और बाह्य स्वतन्त्रता से है। यह वह शक्ति है जिसे न कोई दबा सकता है और न कोई इससे राज्य को वंचित कर सकता है। यह राज्य का प्राण है जिससे वंचित हो जाने पर राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है।

सम्प्रभुता की विशेषताएं
(Characteristics of Sovereignty)

सम्प्रभुता के मुख्य लक्षणो या उसकी विशेषताओ के विवेचन से हम इसे अधिक सरलता पूर्वक समझ सकते हैं—

(1) असीमता (Absolutism)– सम्प्रभुता असीम होती है । वह राज्य की निरकुश एव सर्वोच्च शक्ति है । उसके निर्णयो के विरुद्ध कही भी अपील नही की जा सकती । उसके आदेश ही नियम और कानून हैं । सम्प्रभुता के निर्णय को कोई नहीं बदल सकता, केवल वह स्वेच्छा से ही अपने निर्णय को बदल सकती है ।

सम्प्रभुता की असीमता दो प्रकार की होती है—(क) आतरिक और (ख) बाह्य । राज्य के आतरिक मामले प्रभुता के निरकुश नियन्त्रण म रहते हैं । राज्य के सभी व्यक्तियो और सस्थाओ पर उसका पूर्ण अधिकार होता है । आन्तरिक क्षेत्र मे वह सर्वसर्वा होती है और उसकी व्यवस्था सवमान्य होती है । प्रभुता बाहरी मामलो म भी स्वतन्त्र होती है । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म वह अपनी इच्छानुसार काय कर सकती है । सम्प्रभु राज्य अपनी इच्छानुसार किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन म शामिल अथवा उससे पृथक हो सकते हैं, वे किसी भी देश के साथ सधि कर सकते हैं अथवा उसे भग कर सकते हैं । इस प्रकार सद्धातिक दृष्टि से निरकुशता या असीमता सम्प्रभुता का पहला आवश्यक तत्त्व है ।

(2) स्थायित्व (Permanence)—प्रभुता स्थायी होती है । जब तक राज्य है तब तक उसका अस्तित्व भी एक अनिवार्यता है । सरकारो मे परिवतन होते रहने पर भी राज्य का अस्तित्व है, अत उनकी प्रभुता भी जारी रहती है । शासक बदलते हैं परन्तु सर्वोच्च शक्ति कायम रहती है । प्रभुता प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य का स्थायी गुण है । 'प्रभुसत्ता विशिष्ट प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति की मृत्यु या कुछ समय के लिए उसकी पदच्युति अथवा राज्य के पुनगठन के साथ भी समाप्त नही होती । होता यह है कि प्रभुसत्ता नए प्रभुसत्ताधारी के पास तुरत ही उसी प्रकार पहुच जाती है, जसे भौतिक शरीर के बाहरी परिवतन के समय आकषण का केन्द्र एक अग से दूसरे अग मे बदल जाता है ।'

(3) अविच्छेद्यता (Inalienability)—सम्प्रभुता का कभी भी विकेन्द्रीकरण नहीं हो सकता, उसे हस्तान्तरित नही किया जा सकता । वह तो राज्य का जीवन है, सार है । लीबर के शब्दो मे 'राजसत्ता की अविच्छेद्यता उसी प्रकार की है जसे एक वृक्ष अपने अकुरित होने के अधिकार को या एक मनुष्य अपने जीवन या व्यक्तित्व के अधिकार को बिना स्वय को नष्ट किए दूसरों को हस्तान्तरित नही कर सकता ।" सम्प्रभुता के विच्छेद से उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । राज्य जब कभी अपने किसी प्रदेश के एक भाग को किसी दूसरे राज्य को सौंप देता है, तो वह उस पर अपने सम्पूर्ण अधिकार खो बठता है, किन्तु अपने प्रदेश में उसकी प्रभुता सवथा सुरक्षित रहती है । इसे "राज्य की सम्प्रभुता की कायकारिता का सर्वोत्तम उदाहरण कह सकते हैं चूँकि विच्छेद्यता के आते ही एक राज्य के स्थान पर दो राज्य बन जाते हैं।"

(4) सर्वव्यापकता (All-comprehensiveness)—प्रभुता अपने प्रदेश म सवव्यापी होती है । राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो एवं समुदायो पर राज्य की

सम्प्रभुता समान, रूप से लागू होती है । राज्य की प्रभुशक्ति उन सब लोगों पर अधिकार एवं नियंत्रण रखती है जो उस प्रदेश की सीमाओं में निवास करते हैं। अपवाद स्वरूप विदेशी दूतावासों, किसी राज्य के भीतर से गुजरती हुई विदेशी सेनाएं, व्यापारिक प्रतिनिधियो आदि को, अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के नाते, प्रभुशक्ति के नियन्त्रण से मुक्त माना जाता है।

(5) अपवर्जितता (Exclusiveness)—प्रभुता अपवर्जित मानी गई है। इसका अर्थ यह है कि राज्य मे केवल एक ही प्रभुशक्ति हो सकती है दो नही। प्रभुता का अपने क्षेत्र में कोई प्रतिद्वन्द्वी नही होता।

(6) एकता अथवा अविभाज्यता (Unity or Indivisibility)—प्रभुता अविभाज्य होती है। प्रभुता के विभाजन का अर्थ उसका विनाश होता है। रूसो के अनुसार प्रभुता का विभाजन केवल एक धोखा है। गेटेल के शब्दो में, "यदि प्रभुता सपूर्ण नही है तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व नही हो सकता। यदि वह विभाजित है तो उस प्रदेश मे एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व पाया जायगा।" यदि हम प्रभुता के विभाजन को मान ले तो अप्रत्यक्ष रूप से हमे उस देश में अनेक सर्वोच्च इच्छाएँ माननी पड़ेंगी जो सम्भव नही है। कॉल्हन के अनुसार "सप्रभुता सपूर्ण है, उसे विभाजित करना उसका नाश कर देना है। वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता है और अर्द्धप्रभुत्व की बात करना ठीक वैसा ही है जैसे कि आधे वर्ग अथवा आधे त्रिभुज की बातें करना।" प्रभुता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अपनी एकता है। विभाजित, खण्डित, क्षीण, सीमित तथा सापेक्ष सप्रभुता प्रभुत्व भावना के सर्वथा विपरीत है।

आधुनिक काल मे कुछ लेखक सम्प्रभुता की अविभाज्यता को स्वीकार नही करते। बहुलवादियो (Pluralists) ने प्रभुता के अविभाज्य सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। वे प्रभुता को निरंकुश नहीं मानते। (बहुलवाद का वर्णन अगले अध्याय मे पृथक् से किया गया है।) मैकाइवर फालेट आदि कुछ अमेरिकी लेखक भी अविभाज्यता के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। लॉवेल के अनुसार "एक ही राज्य में दो प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारी, एक ही प्रजा को भिन्न भिन्न मामलो में आदेश दे सकते हैं।" लॉर्ड ब्राइस के मतानुसार, वैधानिक राजसत्ता या सम्प्रभुता "समान अधिकारियो में विभाजित की जा सकती है।" हैमिल्टन और मेडिसन, जैसे सघवादियों का मत है कि प्रभुशक्ति का स्पष्ट विभाजन हो सकता है, और सघ, राज्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। चिसहाम बनाम ज्योजिया (Chisholm Vs Georgia) के मुकदमे (1792) मे अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि की थी। इस मुकदमे मे यह प्रतिपादित किया गया था कि 'राज्यों ने शासन की जिन शक्तियो को हस्तान्तरित कर दिया है, उनके सम्बन्ध में सयुक्त राज्य अमेरिका सम्प्रभु है किन्तु सरक्षित शक्तियो के सम्बन्ध में सम्प्रभुता अमेरिकी, सघ के प्रत्येक राज्य में निहित है।" राजनीतिशास्त्र के अन्य अनेक विचारक जैसे स्टोरी कूली, हुड,

ह्वीटन तथा डि टाकविल्ले आदि ने भी इसी मत का समर्थन किया है। इन सबके अनुसार प्रभुता का विभाजन हो सकता है। फ्रीमेन की मान्यता है कि "संघात्मक आदर्श की पूर्णता के लिए सम्प्रभुता का विभाजन जरूरी है।"

परन्तु एक संघ राज्य में भी वास्तविक रूप से दो राज्य नहीं हो सकते। संघ केवल एक ही राज्य होता है और इसलिए उसमें सम्प्रभुता भी एक ही होती है। संघ की इकाइयाँ राज्यों के नाम से सम्बोधित नहीं की जा सकतीं। कलहून कहते हैं कि 'यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सम्प्रभुता से सम्बन्धित शक्तियों को किस प्रकार विभाजित किया जा सकता है और अलग अलग अंगों को अपना अपना कार्य करने के लिए किस तरह विभाजित किया जाय। यह भी प्रयोग किया जा सकता है कि सम्प्रभुता कुछ या अनेक भागों में बाँटी जाय, किन्तु बँटने के बाद वह सम्प्रभुता रह सकेगी यह समझ से बाहर है।"

सम्प्रभुता के विभिन्न अर्थ
(Different Meanings of Sovereignty)

सम्प्रभुता के अनेक प्रकार होते हैं। विभिन्न लेखकों ने इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(1) नाममात्र की सम्प्रभुता (Titular Sovereignty),
(2) कानूनी सम्प्रभुता (Legal Sovereignty),
(3) राजनीतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty),
(4) लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular Sovereignty),
(5) यथार्थ एवं वैध सम्प्रभुता (De-facto and De-jure Sovereignty)

(1) नाममात्र की प्रभुता
(Titular Sovereignty)

कुछ देशों में नाम मात्र के सम्प्रभु होते हैं। संसदीय व्यवस्थाओं में वैधानिक रूप से राज्य के सभी अधिकार नामधारी सम्प्रभु में निहित होते हैं। अधिकारों का कार्यान्वयन उसके नाम पर किया जाता है, जैसे इंगलैण्ड में क्राउन। यथार्थ में ये समस्त अधिकारों का उपभोग वास्तविक कार्यकारिणी अथवा मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। *शासक केवल नाममात्र का प्रधान रहता है। उसके हाथ में कोई* वास्तविक शक्ति नहीं होती। वह केवल वैधानिक प्रधान होता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश संविधान के अनुसार ब्रिटेन की सम्प्रभुता राजा या रानी में निहित है, परन्तु व्यावहारिक रूप से इस प्रभुता का वहाँ का मन्त्रिमण्डल उपभोग करता है। वास्तविक प्रभुसत्ता वहाँ कैबिनेट के हाथों में है न कि क्राउन के। इसी प्रकार भारतीय संविधान में भी वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमन्त्री एवं उसके मन्त्रिमण्डल को प्राप्त हैं। भारतीय राष्ट्रपति के पास कुछ अधिकार भले ही हों, किन्तु संविधान निर्माताओं का उद्देश्य उसे संसदीय जनतन्त्र का वैधानिक अध्यक्ष बनाने का था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण और देशों में भी ढूँढे हैं।

(2) कानूनी सम्प्रभुता
(Legal Sovereignty)

राज्य की वह सर्वोच्च सत्ता जिसका निर्णय कानूनी-तौर पर सबके लिए बाध्यकारी हो, कानूनी प्रभुता कही जाती है। इस प्रकार की प्रभुता का आशय उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से है जिसे वैधानिक रूप से अन्तिम आदेश देने की शक्ति प्राप्त हो। कानूनी सम्प्रभु के पास असीम शक्ति होती है और उसकी आज्ञा ही कानूनी होती है। वकील लोग केवल इसी प्रकार की प्रभुता से सम्बन्ध रखते हैं। कानूनी सम्प्रभुता नैतिक सिद्धान्त और जनमत द्वारा सीमित नहीं की जा सकती। कानूनी सम्प्रभुता के आदेश कानून कहलाते हैं और न्यायालय उन्हीं का अनुकरण करते हैं। रिची (Ritchie) के अनुसार *"वह प्रभु कानूनी रूप मे वकील का सम्प्रभु है, और वह एक ऐसा कानूनी सम्प्रभु है जिसके परे वकील और न्यायालय देखने से इनकार करते हैं।"*

ब्रिटेन मे पार्लियामेंट तथा रानी, दोनो मिलकर कानूनी सम्प्रभु हैं। कानूनी दृष्टि से पार्लियामेंट की शक्ति असीमित है। डायसी के अनुसार ' ब्रिटिश पार्लियामेंट कानूनी रूप से एक बच्चे को बालिग घोषित कर सकती है, मृत्यु के बाद भी किसी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराधी ठहरा सकती है, किसी भी अवैध बच्चे को वैध करार दे सकती है, और यदि उचित समझे तो किसी भी व्यक्ति को अपने ही मामले में अपना न्यायाधीश नियुक्त कर सकती है।"

(3) राजनीतिक सम्प्रभुता
(Political Sovereignty)

वर्तमान समय में कानूनी सम्प्रभुता एवं राजनीतिक सम्प्रभुता में अन्तर किया जाता है। कानूनी सम्प्रभुता सैद्धान्तिक रूप में असीम हो सकती है, पर वास्तविक रूप मे प्राय ऐसा नही पाया जाता। कानूनी सम्प्रभुता सदैव निश्चित होती है। कानूनी सम्प्रभु ही कानून की आँखो मे सर्वशक्तिमान है, परन्तु जैसा कि विल्सन ने कहा है, "इस सर्वोच्च शक्ति का व्यवहार में कभी प्रयोग नहीं होता।" डायसी के अनुसार "कानूनी सम्प्रभु के पीछे भी एक दूसरा सम्प्रभु होता है जिसके सम्मुख कानूनी सम्प्रभु को भी झुकना पड़ता है।" यह शक्ति ही राजनीतिक सम्प्रभु है।

गार्नर के अनुसार भी *"कानूनी सम्प्रभु के पीछे एक अन्य शक्ति रहती है जो कानूनी तौर पर अज्ञात, असगठित और कानूनी आज्ञा के रूप में राज्य की इच्छा को प्रदर्शित करने में भले ही असमर्थ हो तथापि उसके पास एक ऐसी शक्ति होती है जिसके शासनादेशो को व्यवहार मे कानूनी सम्प्रभु शिरोधार्य करता है और जिसकी इच्छा ही राज्य में सर्वत्र मान्य होती है। मोटे तौर पर सम्पूर्ण जनता राजनीतिक सम्प्रभुता की सृष्टि करती है।"* यह सम्भव है कि कानूनी सम्प्रभुता और *राजनीतिक सम्प्रभुता मे मतभेद उत्पन्न हो जाय किन्तु इन दोनों के मध्य में कानूनी सम्प्रभु की सत्ता ही मान्य होगी।* इसलिए कानूनी सम्प्रभु की सत्ता सर्वप्रथम है।

राजनीतिक सप्रभु के आदेशो की उच्चता के बावजूद भी न्यायालय केवल कानूनी सप्रभु के आदशो को ही स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक विचारक सम्प्रभुता की अवस्थिति को ही स्वीकार नही करते। गेटेल की मान्यता है कि "कानूनी सप्रभु के पीछे किसी राजनीतिक सप्रभु की खोज का प्रयत्न ही सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा को नष्ट कर देता है और वह अपने ऊपर पडने वाले प्रभावों की एक सूची मात्र बन कर रह जाती है।" इस प्रकार कुछ लेखक राजनीतिक सम्प्रभुता को अनिश्चित मानते हैं। लीकाक भी इसी मत का समर्थक है। उसका कहना है कि "कोई भी व्यक्ति जिस क्षण आस्टिन की वैधानिक धारणा की ठोस निश्चितता को लाँघता है, उसी समय सब कुछ अस्पष्ट हो जाता है। आधुनिक राज्य में व्यक्तियो का एक विशेष समूह जो कानून और विधान सम्बन्धी असीम अधिकारो से सुसज्जित रहता है, एक निश्चित और जानने योग्य समूह है। विशेष व्यक्ति या व्यक्तियो का वह समूह जिसकी इच्छा वास्तव मे सर्वोच्च होती है, विश्लेषण करने पर एक अस्पष्ट जटिलता मे विलीन हो जाता है।"

राजनीतिक सम्प्रभुता की इस आलोचना के बावजूद यह मानना होगा कि राजनीतिक सप्रभु वह शक्ति है जो कानूनी प्रभु का स्वरूप बदल सकता है। दीर्घकाल तक उसकी इच्छा मान्य होती है। अत कानूनी सप्रभु के अतिरिक्त भी एक राजनीतिक सप्रभु सभी राज्यो में सदैव होता है। सिजविक के अनुसार, "एक अर्थ मे किसी भी देश की जनता को राजनीतिक शक्ति का अंतिम आश्रय-स्थल कहा जा सकता है।" कोकर के शब्दो मे "जनता इस अर्थ मे सम्प्रभु है कि अगर वह अपनी यथार्थ शक्ति के दबाव का प्रयोग करे तो वह औपचारिक (Formal) प्रभुसत्ता को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बाध्य कर सकती है।" इस प्रकार जनता की इच्छा सभी अधिकारो की जननी है। लॉस्की के कथनानुसार, "राज्य की इच्छा, वास्तव मे सरकार की इच्छा है क्योंकि जिन नागरिको पर वह शासन करती है व उस इच्छा को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक सरकार को उन लोगो के निर्णय का ध्यान रखना चाहिए जो उसके कार्यों के परिणामो को सहन करेंगे, अत जनता की इच्छा एक ऐसी शक्ति है जिसके विरुद्ध अपील नही हो सकती।"

(4) लोकप्रिय प्रभुता (Popular Sovereignty)

लोकप्रिय या जनप्रिय प्रभुता का विकास 17वी व 18वी शताब्दी मे हुआ है। इसका जन्म राजाओ के दैवी अधिकार के विरुद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप दैवी सिद्धान्त का अन्त हो गया। फ्रांस मे इसके प्रमुख समर्थक रूसो और अमेरिका म जफरसन थे। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे इस जनप्रिय प्रभुता का विकास काफी शीघ्रता से हुआ। आधुनिक युग मे तो लोकप्रिय प्रभुता, लोकतन्त्र का आधार और पर्याय बन चुकी है।

प्राय यह माना जाता है कि लोकप्रिय प्रभुता निर्वाचक मंडल (El ctorate) म निहित होती है। यह सम्प्रभुता चुनाव के समय अपना भाग अदा करती है। यह

अपना भाग तभी प्राप्त कर सकती है जब संविधान के अनुसार नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। प्रजातन्त्र में भी समूची जनता प्रभुशक्ति का उपभोग नहीं करती। वह तो केवल अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। ये प्रतिनिधि राज्य की सम्प्रभुता को, दल अथवा संगठन के आधार पर, क्रियान्वित करते हैं। इसलिए गार्नर ने कहा है कि 'लोकप्रिय प्रभुता का अर्थ निर्वाचन समूह की बहुसंख्या की शक्ति से अधिक कुछ नहीं होता और यह उन्हीं देशों में सम्भव है जिनमें व्यापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित है और वैध रूप से स्थापित उपायों द्वारा उनकी इच्छा को व्यक्त और प्रसारित करने के लिए क्रियान्वित होती है।"

लोकप्रिय सम्प्रभुता का स्वरूप निर्धारण करना कठिन है, किन्तु जनतान्त्रिक व्यवस्थाओं मे जनमत के प्रभाव की अवहेलना सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात मे है कि यह राज्य और उसकी शक्ति को जन सत्तात्मक आधार देता है। डॉ० आशीर्वादम् के अनुसार, इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित सत्यांश है—

1 किसी भी सरकार का अस्तित्व अपने हित के लिए नहीं होता। जनहित ही उसका सच्चा अंतिम उद्देश्य है।

2 जान-बूझ कर जनमत को दबाने या कुचलने से क्रांति की सम्भावनाएँ बलवती हो जाती हैं।

3 जनमत को प्रकट करने के कानूनी किन्तु सरल साधनों की व्यवस्था होना उचित है।

4 जल्दी जल्दी चुनाव द्वारा तथा स्थानीय स्वायत्त शासन, जनमत संग्रह (Referendum) प्रारम्भक (Initiative) और प्रत्याह्वान अर्थात् जन प्रतिनिधि को वापस बुलाने के अधिकार (Recall) द्वारा जनमत के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होना चाहिए।

5 राज सत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा संवैधानिक तरीकों से होना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं।

(5) यथार्थ एवं वैध सम्प्रभुता
(De-facto and De jure Sovereignty)

यथार्थ सम्प्रभुता वह होती है जिसका अनुभव सम्प्रभु, जनता अथवा शासक वास्तव में किया करते हैं। इसके विपरीत वैध सम्प्रभुता वह है जो कानूनी मर्यादा के अन्दर मान्य होती है। सामान्यतः दोनों प्रकार की सम्प्रभुताएँ एक दूसरे मे मिश्रित रहती हैं। वैध सम्प्रभु, यथार्थ सम्प्रभु भी हो सकता है। कई बार कानूनी सम्राट् दूसरा होता है और गद्दी का अधिकारी सम्राट दूसरा। उदाहरण के तौर पर सन् 1935 मे इटली ने अबीसीनिया पर कब्जा करके राजा को राज्यच्युत कर दिया था। लेकिन विश्व के अन्य राष्ट्रों ने अबीसीनिया के पुराने सम्राट हेल सिलासी को ही वहाँ का यथोचित राजा माना। इटली की इस वास्तविक विजय को स्वीकार नहीं किया गया। ऐसी हालत मे राजनीतिक विचारक पदच्युत राजा को

वैध प्रभु (De-jure) और मुसोलिनी को वहाँ का यथार्थ राजा (De facto) मानते रहे।

वह व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह जो वास्तव में शक्ति को क्रियान्वित करता है और अपने आदेशों को दूसरों से मनवा सकता है तथा जिसके आदेशों का बहुसंख्यक लोग स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं, उसे यथार्थ सम्प्रभु कहा जाता है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, 'एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का वह समूह जो अपनी इच्छा अथवा सबकी इच्छा को कार्यान्वित कर सकता है, चाहे वह वैध हो अथवा अवैध, यथार्थ शासक है।" संक्षेप में वास्तविक शासक या प्रभुसत्ताधारी वे ही हैं जिनका वस्तुतः आज्ञापालन किया जाता है।

सच्ची प्रभुता राज्य में सबसे अधिक प्रभावी शक्ति होती है और वही मानी जाती है। यथार्थ प्रभुता और वैध प्रभुता में जब संघर्ष आरम्भ हो जाता है तो वह एक अच्छा लक्षण नहीं माना जाता। गार्नर के अनुसार, "वह प्रभु जो अपनी शक्ति को स्थिर रखने में सफल हो सकता है, समयान्तर से या धीरे धीरे वैध प्रभु बन जाता है। यह क्रिया या तो लोगों की सहमति द्वारा होती है अथवा राज्य के पुनर्गठन द्वारा। वह कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे कि कोई निजी जीवन का वास्तविक अधिकार कालान्तर में वैध स्वामी के रूप में परिणत हो जाय।"

आस्टिन का एकत्ववाद
(Austin's Monism)
अथवा
आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

सम्प्रभुता के सम्बन्ध में 19वीं शताब्दी के विख्यात अंग्रेज दार्शनिक जॉन ऑस्टिन ने विशद् रूप से विचार किया और बतलाया कि कानूनी रूप से सम्प्रभु कौन होता है। जॉन ऑस्टिन को सम्प्रभुता सिद्धान्त का सबसे बड़ा व्याख्याता माना जाता है। ऑस्टिन ने यह मान्यता प्रकट की कि सम्प्रभु अन्य किसी की आज्ञा नहीं मानता। सम्प्रभुता के रहने पर ही कोई समाज एक स्वतन्त्र राज्य बन सकता है। सम्प्रभु एक व्यक्ति भी हो सकता है अथवा एक समूह (Collegiate) भी। आस्टिन के शब्दों में, "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग एक निश्चित मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का स्वभावतः पालन करता है और उस निश्चित मानव-श्रेष्ठ को किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा नहीं माननी पड़ती तो उस समाज में वह व्यक्ति सम्प्रभुता-सम्पन्न होता है और वह समाज उस व्यक्ति के सहित एक स्वतन्त्र राज्य कहलाता है।" ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता की इस मान्यता का विस्तृत विवेचन करने पर उसके निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होते हैं—

(1) प्रत्येक राज्य में एक निश्चित व्यक्ति सर्वोच्च होता है और अधिकांश व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के अभ्यस्त होते हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज में सम्प्रभुता शक्ति का अस्तित्व आवश्यक है।

(2) सम्प्रभुता सदन एक निश्चित मानव श्रेष्ठ अथवा समूह (Determinate Human Superior) होता है। किसी भी अनिश्चयात्मक समूह को सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता।

(3) यह निश्चित मानव श्रेष्ठ किसी अन्य उच्चाधिकारी की आज्ञा का पालन नहीं करता। इसकी इच्छा का सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएँ अनैतिक, अन्यायपूर्ण और अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती हैं और उनका विरोध नहीं किया जा सकता।

(4) सम्प्रभु की आज्ञा को समाज का बहुमत पूर्ण रूप से अनुपालन करता है और यह अनुपालन कभी कभी न होकर एक आदत के रूप में होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाय तो उसे सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता।

(5) सम्प्रभु के आदेश ही कानून होते हैं। इसके बिना किसी कानून का अस्तित्व नहीं रह सकता। सम्प्रभु की आज्ञा नहीं मानने वाले को दण्ड दिया जाता है।

(6) सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। उसका विभाजन करने का मतलब उसे समाप्त करना है। सम्प्रभुता हमेशा निरपेक्ष होती है, उस पर सीमाएँ नहीं होतीं।

स्पष्ट है कि आस्टिन ने सम्प्रभुता को निश्चित, स्वेच्छाचारी, स्थायी, सर्वव्यापी असीमित और अविभाज्य माना है। उसका सम्प्रभुता सिद्धान्त एकाङ्गी हीन में दृष्टिकोण का द्योतक है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

आस्टिन के सम्प्रभुता और विधि सम्बन्धी सिद्धान्तों की बहुत ही तीव्र आलोचना की गई है। आलोचकों में सर हैनरी मैन, क्लाक, सिजविक, लीकाक, ब्लन्शली लॉस्की आदि प्रमुख हैं। आस्टिन की समस्त मान्यताओं को निराधार और अतिशयोक्तिपूर्ण बताया गया है। उसके विचारों का मुख्य विरोध इस प्रकार है—

(1) सर हैनरी मैन के अनुसार इतिहास में शासकों का कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसे आस्टिन का 'निश्चयात्मक' सम्प्रभु कहा जा सके। बड़े-बड़े तानाशाह भी अनेक नैतिक प्रभावों, जनता की परम्पराओं और परम्परागत कानूनों से प्रभावित अथवा प्रतिबन्धित होते थे। परम्पराएँ और रीति रिवाज के युगों के विकास का परिणाम होते हैं जिन्हें किसी भी निश्चयात्मक व्यक्ति या 'निकाय' द्वारा बनाया नहीं जा सकता।

(2) आज जिस सम्प्रभुता में विश्वास किया जाता है वह ऑस्टिन के निश्चयात्मक सम्प्रभु' की धारणा से मेल नहीं खाती। संघात्मक राज्यों में तो यह पता लगाना ही असम्भवसा है कि निश्चयात्मक प्रभुसत्ता कहाँ स्थित है? यदि अमेरिका के संविधान में संशोधन करने वाले निकाय को सम्प्रभु माना जाय तो यह

गलत होगा क्योंकि वह 'निश्चयात्मक' नही होता। अमेरिकी सविधान मे तो ऑस्टिन के निश्चयात्मक प्रभु' को खोज निकालने का प्रयास एक अर्थहीन प्रयास ही है क्योंकि वहा न तो कांग्रेस सर्वोच्च है न कार्यपालिका न न्यायपालिका और न सविधान ही।

(3) ऑस्टिन ने अपने सिद्धान्त मे पूर्ण रूप स अमूर्त और वधानिक दृष्टिकोण अपनाया है तथा सम्प्रभुता के दार्शनिक पहलू की उपेक्षा की है। फिर यह भी विचारणीय है कि यदि सम्प्रभु की आज्ञाओ का पालन केवल 'आदतन' किया जाता है तो उसे असीमित मानना अतार्किक होगा।

(4) *ऑस्टिन की कानूनी धारणा भी आलोचना की पात्र है।* उसके अनुसार कानून प्रभु का आदेश मात्र है। लॉस्की का आरोप है कि कानून को केवल 'आदेश मात्र' मानना तो न्यायवेत्ता तक के लिए बाल की खाल खींचना' है। प्रत्येक समाज मे रीति रिवाजो का महत्व होता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन राज्यो मे तो सामाजिक प्रथाएँ और परम्पराएँ ही कानून का काम करती थी। आज भी यदि हम ब्रिटिश कॉमन लॉ की स्थिति को देखें तो पाएँगे कि यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से ससद् मे राजा द्वारा उसे परिवर्तित किया जा सकता है और इच्छानुसार मोडा जा सकता है, *तथापि व्यवहार मे सम्प्रभु द्वारा अधिकांश* कॉमन-लॉ को स्वय की सुरक्षा को खतरे मे डाले बिना नही बदला जा सकता।

(5) वर्तमान अनुसधानो ने यह निश्चित कर दिया है कि सम्प्रभु कानूनो का एकमात्र निर्माता नहीं होता। कानून सामाजिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं। क्रेब ड्यूग्वी, लॉस्की आदि का तर्क है कि राज्य कानून नहीं बनाता वरन् कानून ही राज्य को बनाता है।

(6) कानून की अवज्ञा करने वाले को दण्डित किए जाने की बात कह कर आस्टिन ने शक्ति के तत्व पर अधिक बल दिया है। पर वास्तविकता यह है कि हम कानून का पालन दण्ड के भय से नही वरन् कानून के अनुरूप आचरण करने की भावना से करते हैं।

(7) ऑस्टिन ने सम्प्रभुता का अविभाज्य माना है। लॉड (Lord) इस मत से सहमत नहीं है। प्रत्येक राजनीतिक समाज मे कार्यों का विभाजन किया जाता है। ऐसे विभाजन के बिना कोई भी सरकार प्रभावशाली रूप से नही चल सकती। सरकार के तीन प्रमुख अग हैं-कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका। इस प्रकार राज्य में केवल एक ही सम्प्रभु मानने की अपेक्षा तीन सम्प्रभु मानने होगे। पुनश्च, प्रत्येक अग भी अनेक इकाइयों से मिल कर बना होता है। सरकार के ये तीन अग भी एक दूसरे स इतने पृथक और स्वतन्त्र होते हैं कि बिना एक दूसरे के हस्तक्षेप के कोई भी अग अपने कार्यों का संचालन कर सकता है। इस स्थिति में यह कसे माना जा सकता है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है। पर ऑस्टिन के समर्थक यह अवश्य कह सकते हैं कि विभाजन कार्यों का

होता है न कि इच्छा का। इच्छा तो एक इकाई के रूप मे रहती है, क्योकि राज्य के विभिन्न अंग परस्पर विरोधी रूप में कार्य नही कर सकते।

(8) ऑस्टिन ने सम्प्रभु शक्ति को निरपेक्ष और असीमित माना है। बहुलवादियो का तर्क है कि चाहे वैधानिक रूप से सम्प्रभुता असीमित मानी जाय किन्तु व्यवहारत उसके प्रत्येक पहलू पर राजनीतिक और ऐतिहासिक सीमाएँ लगी रहती हैं। लेस्ली स्टीफेन का मत है कि सम्प्रभुता आन्तरिक और बाह्य रूप से सीमित है। आन्तरिक रूप से इसलिए कि प्रत्येक व्यवस्थापिका कुछ सामाजिक परिस्थितियो का परिणाम है। उसके स्वरूप का निर्धारण उन तत्वों द्वारा होता है जो समाज के रूप को निर्धारित करते हैं। बाह्य रूप से राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से सीमित है। आज राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधियों द्वारा बँधे हुए होते हैं। विश्व राज्य की कल्पना ने राज्य की सम्प्रभुता को काफी ठेस पहुँचायी है। लॉस्की के अनुसार इतिहास का वास्तविक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि किसी भी सम्प्रभु ने कहीं भी असीमित शक्ति का प्रयोग नहीं किया। जब कभी सम्प्रभु द्वारा शक्तियो का प्रयोग किया जाता है तो वह पहले से ही सुरक्षा की व्यवस्था कर लेता है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त का औचित्य

विविध आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के जिस कानूनी पहलू पर बल दिया है वह बड़े महत्त्व का है। उसके द्वारा सम्प्रभुता के लौकिक और राजनीतिक रूपों की अनिश्चितता निश्चितता का रूप ग्रहण कर लेती है। फिर कानून की दृष्टि से प्रत्येक राज्य मे किसी न किसी व्यक्ति या समुदाय की सर्वोच्च सत्ता विद्यमान रहती है। ऑस्टिन का सिद्धान्त यद्यपि सभी प्रकार के राज्यो पर समान रूप से लागू नहीं होता तथापि आज के राज्यो की शक्ति इतनी समृद्ध है कि वह निश्चय ही हमारे आन्तरिक जीवन का पर्याप्त नियन्त्रण करता है। बाह्य रूप से भी राज्य अन्तिम रूप म स्वेच्छाचारी है, चाहे उसके कार्यों के कुछ भी परिणाम निकलें। वास्तव मे ऑस्टिन मुख्यत विधि-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर विचार कर रहा था उसका क्षेत्र राजनीति दर्शन नही था। ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के क्षेत्र मे वैज्ञानिक शुद्धता, स्पष्टता और सुबोधता लाने का प्रयास किया। डायसी, जेम्स ब्राइस, हालण्ड विलोबी कलहन जैसे विद्वानो ने ऑस्टिन के सिद्धान्त का अनुसरण किया है। मैक्सी का यह कथन सत्य है कि बहुलवादियो की आलोचनाओं के बावजूद ऑस्टिन का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित है। यह सिद्धान्त आज भी राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बना हुआ है।

एकतावादी बनाम बहुलवादी सिद्धान्त
(Monistic V/S Pluralistic Theory)

राज्य सम्प्रभुता के विषय मे दो विचारधाराएँ हैं—दार्शनिक और

विश्लेषणात्मक या एकत्ववादी। दोनो ही विचारधाराओ मे सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोपरि शक्ति और उसे पूर्णत अपरिमित एव अविभाज्य माना गया है। एकतावादी सिद्धा त के अनुसार सम्प्रभुता समस्त राजनीतिक सत्ता का अथवा समस्त वैधानिक सत्ता का मूल स्रोत है। एकत्ववादी सिद्धान्त, राज्य की प्रादेशिक सीमाओ के अ तगत सब सघो को राज्य की उत्पत्ति मानता है और स्वीकार करता है कि वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य की इच्छा पर निभर है। जिन शक्तिया का ये विभिन्न सघ प्रयोग करते हैं, उनकी स्वीकृति उन्हे राज्य द्वारा प्राप्त होती है।

एकतावादी सम्प्रभुता सिद्धान्त पर बहुलवादी आक्रमण

बहुलवाद, सम्प्रभुता के निरकुश, असीमित, अमर्यादित और अविभाज्य सिद्धा त के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह आस्टिन के एकतावाद (Monism) तथा हीगल के आदर्शवाद (Idealism) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। सम्प्र_त के परम्परागत सिद्धान्त के प्रतिपादको ने राज्य के जिस सवग्राही रूप का चित्रित किया है और राज्य को जिस भाति निरकुश तथा असीमित बताया है, उसे सम्प्रभुता का एकत्ववादी या अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic view of Sovereignty) कहते हैं और इसी विचारधारा के विरुद्ध 19वी शताब्दी म बहुलवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जो इस सिद्धान्त पर कठोर प्रहार करती है। बहुलवादी विचारधारा के अनुसार सम्प्रभुता अविभाज्य एव निरकुश नही है। सम्प्रभुता समाज के विभिन्न वर्गों और समूहो में वास करती है। सम्प्रभुता की इस बहुलवादी विचारधारा को द्वैतवाद भी कहते हैं। इसके समथकों म दुर्खीम, ड्यूग्वी लेस्की, बार्कर, लिण्डसे मेकाइवर, मिस फॉलेट आदि उल्लेखनीय हैं।

बहुलवादी विचारक एकत्ववादी निरकुश सम्प्रभुता सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक सकीण और कानूनी मानते हैं। सम्प्रभुता के इस परम्परागत सिद्धान्त को उन्होने हानिकारक, निरथक और त्याज्य ठहराया है। जो दार्शनिक सम्प्रभुता को सर्व शक्तिमान, अविभाज्य, अदेय और सवव्यापक मानते हैं वे बहुसत्तावादियों के मत में मूल रूप से ऐसी बात कह रहे हैं जो सिद्धान्तत सत्य होते हुए भी व्यावहारिक रूप से गलत और असम्भव है। आधुनिक बहुलवादी सम्प्रभुता के प्रतिवादी और राजतन्त्रात्मक स्वरूप पर करारा प्रहार करते हुए वि व के विधानों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सम्प्रभुता एक स्थान पर स्थित न होकर अनेक स्थानों पर स्थित है। सम्प्रभुता विभाज्य और सीमित है, क्योंकि वह आन्तरिक रूप से राज्य के उत्तराधिकारी सघों म आंशिक रूप से निवास करती है और बाह्य रूप से भी उस पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का बन्धन है।

लास्की के अनुसार आज के युग में 'कोई भी राजनैतिक सिद्धान्त इतना अधिक निस्सार और निष्फल सिद्ध नहीं हुआ है, जितना एकत्ववादी सम्प्रभुता सिद्धान्त। ड्यूग्वी की दृष्टि में भी सम्प्रभुता का सिद्धान्त कलात्मक दृष्टि से, निस्सार और मूल्यहीन है अत उस भाव निषेधात्मक साहित्य से निकाल फेंकना ही उचित

श्रेयस्कर है। "सम्प्रभु राज्य मर चुका है अथवा अपनी मौत की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है।"

लास्की बहुसत्तावाद के प्रमुख समर्थक थे। उनका कहना है कि "सम्प्रभुता के वैध सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन के लिए कानूनी बनाना असम्भव है।" वे मानते हैं कि "यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा का अन्त भी कर दिया जाय तो यह राजनीतिक विज्ञान के लिए एक स्थायी लाभ होगा।" इसी प्रकार क्रैब ने भी कहा है कि "सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति दर्शन से निकाल देना चाहिए।" गटेल ने भी इस दर्शन का समर्थन किया है। उसका कहना है कि "अनेकवादी इस बात से इनकार करते हैं कि राज्य असाधारण संगठन है उनका मत है कि अन्य समुदाय भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। वे मानते हैं कि इस प्रकार के समुदाय अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए उसी प्रकार सम्प्रभु हैं जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए है। वे इस बात पर बल देते हैं कि राज्य अपनी सीमाओं में कुछ समूहों के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप नहीं दे सकता। वे इस बात से भी इनकार करते हैं कि राज्य द्वारा बल प्रयोग का अधिकार उसे किसी प्रकार का कोई श्रेष्ठतर अधिकार प्रदान करता है। वे सब समूहों के समान अधिकारों पर समान बल देते हैं, जो अपने सदस्यों की वफादारी के पात्र हैं और जो समाज में बहुमूल्य कार्य सम्पादन करते हैं। फलस्वरूप, सम्प्रभुता बहुत से समुदायों में विभाज्य होनी चाहिए। यह कोई अविभाज्य इकाई नहीं है और राज्य को सर्वोच्च या असीमित नहीं माना जा सकता।"

इस प्रकार बहुसत्तावादियों ने अपने तर्कों का आक्रमण प्रभुता के एकत्व सिद्धान्त पर किया है। उनका कहना है कि वर्तमान राज्य जटिल है और अपने कार्य भार से दबा जा रहा है। इस दबाव के कारण राज्य के कार्यों में ढील आती जा रही है। अधिक कार्य करने से राज्य की कार्यकुशलता दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है। अतः कार्यकुशलता लाने के लिए एक विकेन्द्रीकृत राज्य आवश्यक है। वाड के अनुसार, वर्तमान राज्यों में ऐसा लगता है जैसे—"केन्द्र को पक्षाघात हो गया हो और छोर बिन्दुओं पर रक्तहीनता महसूस होती हो।" मैकाइवर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सर्वसामर्थ्य का अर्थ है अयोग्यता और असामर्थ्य।

अराजकतावादी (Anarchist) और बहुसत्तावादियों में एक मूल अन्तर यह है कि बहुसत्तावादी राज्य को नष्ट नहीं करना चाहते जिस प्रकार कि अराजकतावादी और संघवादी (Syndicalist) करना चाहते हैं। बहुसत्तावादी राज्य को कायम रखना चाहते हैं किन्तु वे राज्य से उसकी सम्प्रभुता छीन लेने के पक्ष में हैं। वे वर्तमान राज्य के एकत्ववादी सम्प्रभुता सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार बहुसत्तावाद की स्थिति उस मध्य मार्ग की है जो एक ओर तो एकत्ववादी सिद्धान्त के महत्त्व पर प्रहार करता है और दूसरी ओर राज्य को बनाए भी रखना चाहता है।

बहुसत्तावाद द्वारा एकत्ववाद पर आक्रमण का विवेचन निम्नांकित दृष्टिकोणों से अधिक उपयुक्त रीति से किया जा सकता है--

(1) विभिन्न सघो का दृष्टिकोण,
(2) अ तर्राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण, एव
(3) कानूनी दृष्टिकोण ।

(1) विभिन्न सघो का दृष्टिकोण

बहुसत्तावादी विचारो का जन्म मध्य युग मे हुआ जबकि यूरोपीय व्यापारियो और शिल्पियो के स्वशासी सघो को काफी अधिकार प्राप्त थे। परन्तु धीरे धीरे राजतन्त्र के उदय के साथ इन सघो का लोप हो गया। बहुसत्तावाद के प्रारम्भिक विचारक गर्क (Gierke) तथा मेटलण्ड (Maitland) थे जिन्होंने मध्यकालीन युग मे इस सिद्धान्त का सूत्रपात किया। उसके अनुसार समाज मे जो विभिन्न समुदाय पाए जाते हैं, वे मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। समुदायो का अपना व्यक्तित्व होता है। कानूनो के निर्माण मे इन समुदायो का अपना योग होता है। प्रत्येक समुदाय की अपनी एक इच्छा होती है तथा उनकी अपनी सामूहिक चेतना होती है। वे राज्य में होते हुए भी राज्य से स्वतन्त्र होते हैं। यद्यपि ये दोनों लेखक राज्य की चरम प्रभुता को नहीं मानते तथापि उसकी उच्चतर वैधानिक स्थिति को स्वीकार करते हैं। वे समाज के अन्तर्गत सघो के सहयोग के लिए एक सयोजक के रूप मे राज्य को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

चर्च के सम्बन्ध मे फिगिस (Figgis) नामक विचारक ने ऐसा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार चर्च का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है जो राज्य की कृपा पर आधारित नहीं है। व्यक्ति की तरह उसमें भी आत्म विकास की शक्ति होती है। फिगिस की मान्यता है कि मानव समाज व्यक्तियो का कोई ऐसा बालू का ढेर नहीं है जो केवल राज्य के माध्यम से ही एक दूसरे से मिले हुए हों, अपितु यह सघो का एक क्रमिक और विकासशील क्रम राज्य है। सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विपरीत उसकी धारणा है कि सघो के विभिन्न कार्यक्षेत्र हैं और उन कार्य क्षेत्रों में सघो को स्वतन्त्र रूप से काम करना चाहिए।

दुर्खीम (Durkhiem) नामक बहुसत्तावादी विचारक प्राचीन व्यावसायिक सघो को पुनर्जीवित करना चाहता था। उसका कहना था कि व्यावसायिक सघों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जाय और उन्हें धार्मिक नियन्त्रण का स्रोत भी माना जाय। मेकाइवर ने भी अपनी पुस्तक 'दी मॉडन स्टेट' में बहुसत्तावाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार समाज के अनेक संघों मे से राज्य भी एक सघ है यद्यपि उसके कर्तव्य कुछ विशिष्ट प्रकार के हैं। सघ राज्य की भाँति समाज के लिए स्वाभाविक हैं। अत राज्य को उनका निर्माण करने वाला नहीं माना जा सकता। मेकाइवर के ही शब्दों में, "आज विशाल संस्थाएँ न राज्य का भाग हैं और न उसकी प्रजामात्र। वे अपने स्वय के अधिकार के आधार पर विकसित होती हैं। वे अपने अधिकारों का प्रयोग उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार

राज्य स्वयं करता है। व्यावसायिक संघ के सदस्य राज्य की अपेक्षा अपने व्यावसायिक संघों के प्रति अधिक भक्ति प्रदर्शित करते हैं। वित्त और उद्योग, वाणिज्य और कृषि के संघ स्वयं को राज्य के दास न समझ कर उसके मालिक बनने की चेष्टा में रहते हैं। अतः राज्य को चाहिए कि सांस्कृतिक संगठनों में अपने अधिकारों को कायम रखते हुए गैर-राजनैतिक संगठनों में से एक स्थान अपने लिए भी प्राप्त कर ले।"

बहुसत्तावादी संस्थाओं और व्यक्तियों को अधिक से अधिक स्वायत्तता दिलाने में इच्छुक हैं। उनकी राय है कि मानव को अकेला नहीं समझना चाहिए। वह समाज की एक या एक से अधिक संस्थाओं का सदस्य है। बार्कर के अनुसार— "यदि हम अभी भी व्यक्तिवादी हैं, तो हमें संगठित व्यक्तिवादी माना जाना चाहिए। हम अब जनसमुदाय बन चुके हैं। अब हम भविष्य में व्यक्ति बनाम राज्य न लिखकर समुदाय बनाम राज्य लिखेंगे।" कुमारी फॉलेट ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू स्टेट' में लिखा है कि "वर्तमान राजनतिक विचारों में बहुसत्तावाद की विचारधारा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और समुदायों की उपेक्षा करना राजनतिक उन्नति को अवरुद्ध करना है।" इसलिए राज्य को समुदायों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तथा अपने कुछ अधिकारों का परित्याग कर देना चाहिए। कोल तथा अन्य संघ समाजवादियों के अनुसार भी समाज को उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच विभाजित किया जाना आवश्यक है। कोल इन दोनों प्रकार के संघों के सह प्रभुत्व (Co sovereignty) में विश्वास करता है जिसका अर्थ है कि सम्प्रभुता इन दोनों प्रकार के संघों के बीच विभाजित होनी चाहिए।

(2) अन्तर्राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण

बहुसत्तावादियों के अनुसार राज्य का एकत्व और निरकुशता सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का मूल कारण है। संसार के सभी राष्ट्र एक दूसरे पर निर्भर हैं। उनके आर्थिक हित एक दूसरे से संयुक्त हैं। इतना होते हुए भी प्रत्येक राज्य को अपनी अपनी सम्प्रभुता पर गर्व है। इसी सम्प्रभुता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े और विश्वयुद्ध होते हैं। कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि दुनिया में कोई ऐसी सार्वभौम प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता नहीं है, जो इन प्रश्नों का समाधान कर सके। केवल एक ही उपाय है कि राष्ट्रीय राज्यों की सम्प्रभुता का उन्मूलन कर दिया जाय। जब तक ऐसा नहीं होगा विश्व शान्ति कायम नहीं हो सकती और संयुक्त राष्ट्र संघ की भी वही दशा हो सकती है जो राष्ट्र संघ की हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के महान् समर्थक लास्की के अनुसार राज्य की बाह्य प्रभुसत्ता पर रोक लगाना आवश्यक है। उनके शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र सर्वप्रभु राज्य की धारणा मानवता के लिए घातक है। एक राज्य को अन्य राज्यों के साथ किस प्रकार रहना चाहिए, इसके निर्णय करने का अधिकार केवल उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता। राज्यों का पारस्परिक जीवन एक ऐसा विषय है जिसमें राज्यों के बीच परस्पर समझौता होना चाहिए। उदाहरण के लिए,

इगलण्ड को अकेले इस बात का निर्णय नहीं करने दिया जा सकता कि वह किस प्रकार के हथियार बनायेगा और दूसरे देशो से किन लोगो को वह अपने प्रदेश में आने देगा। ये विषय ऐसे हैं जिनका प्रभाव सामान्य जनता के जीवन पर पडता है और इनकी व्यवस्था के लिए एक सुसगठित एकीकृत विश्व सगठन की आवश्यकता है। यदि मनुष्यो को विशाल मानव समाज मे रहना है तो उन्हें आपस मे सहयोगपूर्ण व्यवहार सीखना होगा। एक विश्व राज्य में पृथक प्रभुसता के लिए स्थान नही हो सकता चाहे उसका निर्माण किसी भी प्रकार किया जाय और उसमे चाहे कितनी ही मात्रा मे विकेन्द्रीकरण हो।"

(3) कानूनी दृष्टिकोण

डयुग्वी और क्रेब ने बहुसत्तावाद को कानूनी दृष्टि से देखा है। डयुग्वी के अनुसार कानून राज्य मे स्वतन्त्र और राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कानूनी सम्प्रभु को क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, इसका निश्चय वर्तमान समय मे कानून द्वारा किया जाता है। राज्य का कर्त्तव्य इन कानूनो को बल देना है। सच तो यह है कि कानून राज्य को सगठित करते हैं न कि राज्य कानून को। इसी तरह कानून राज्य को सीमित करता है, राज्य कानून को नही। अत इन लेखको की मान्यता है की राज्य के अधिकारो पर बल न देकर उसके कर्त्तव्यो पर बल दिया जाना चाहिए। राज्य राजनैतिक शक्ति के रूप में एक कानून यन्त्र है। वह कानून की सीमाओ मे रहता है और कानून को स्थाई रखने के लिए ही वह जीवित रहता है। उसका उद्देश्य आज्ञा देना न होकर सेवा करना है। उसकी विशेषता सम्प्रभुता में निहित न होकर जनहित मे है। सक्षेप मे सम्प्रभुता अपने आप मे कुछ भी नही है। राज्य मे कोई प्रभुत्व नही होता क्योकि राज्य अपने अधिकारो का अनुष्ठान निरकुश रूप मे नही करता, बल्कि ऐसा करते समय वह अन्य सामाजिक सस्थाओ के साथ मिलकर अपनी नीति निर्धारित करता है।

क्रेब के अनुसार भी कानून राज्य मे स्वतन्त्र तथा उससे श्रेष्ठ व उच्चतर है। उसकी परिभाषा के अनुसार कानून व्यवस्थापिका की आज्ञा न होकर प्रचलित धारणाओ तथा जनमत से प्रभावित होने वाली एक आचार सहिता है। राज्य की मुख्य विशेषता शक्ति नही है। वह एक वैधानिक समाज है और इस कारण एक वैधानिक समाज के अतिरिक्त राज्य को और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। राज्य के विषय में क्रेब का कथन है कि वह "मानव समाज का एक ऐसा भाग है जिसकी अपनी एक स्वतन्त्र वैधानिक सम्बन्ध-व्यवस्था होती है। अत व्यवहार मे राज्य कुछ हितो को कानूनी महत्त्व देने के अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करता।"

बहुलवाद की आलोचना

हमने देखा कि बहुलवादियो ने विभिन्न दृष्टिकोणो से सम्प्रभुता के अद्वैतवाद या एकत्ववादी सिद्धान्त पर प्रहार किया है लेकिन वे इसे निरर्थक सिद्ध करने मे सफल नही हुए हैं। बहुलवादियों के इस कथन में काफी सच्चाई है कि, समूहों और सस्थाओ का आधुनिक समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो,

नैतिकता आदि का राज्य की प्रभुता पर प्रभाव पडता है परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि राज्य की सम्प्रभुता अविभाज्य नही है। बहुसत्तावाद को जिन कारणो से उसके आलोचक स्वीकार नही करते, वे निम्नानुसार हैं—

(1) सम्प्रभुता का विभाजन उसको नष्ट करना है। राज्य से प्रभुत्व-शक्ति को छीनकर भी बहुलवादी चाहते हैं कि राज्य समुदायो के बीच सहयोग और सतुलन रखने का काय करे। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है। राज्य की सर्वोच्च शक्ति को छीन लेन के बाद यह किस प्रकार सम्भव हो सकेगा कि राज्य विभिन्न समुदायो के मध्य सहयोग और सतुलन स्थापित करे। बहुसत्तावादियो के पास इस बात का कोई निश्चित उत्तर नही है।

(2) बहुलवादी सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के भाव को ठीक प्रकार से नही समझ पाए हैं। हीगल और उसके कुछ अनुयायियो को छोडकर सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त के समथको मे से किसी ने राज्य को निरकुश नही बतलाया है। उदाहरणाय बोदा हाब्स, बेन्थम आदि विचारको ने राज्य की वास्तविक शक्ति को सीमित ही माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि राज्य की आलोचना या विरोध करना अनतिक नही है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि राज्य की सम्प्रभुता सीमित और त्याज्य है। गैटल ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि राज्य अपना कत्त य स्वीकार कर सकता है, अपने कार्यों पर स्वय बन्धन लगा सकता है और विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व भी दे सकता है। यह सारा काय वह अपनी कानूनी सम्प्रभुता का परित्याग किए बिना ही कर सकता है। अद्वतवादियो या एकत्ववादियो का केवल इतना ही कहना है कि जब राज्य किसी निश्चित क्षेत्र मे कानूनी सत्ता स्थापित करता है तो उस क्षेत्र म वह अन्य सब सामाजिक सघो से श्रेष्ठ और उच्च होता है। डॉ आशीर्वादम् के अनुसार 'अद्वतवादी शत्रु जिस पर बहुलवादी प्रहार करते हैं, बहुत हद तक एक कल्पनात्मक जीव है।'

(3) बहुसत्तावाद के विरोधियो का कहना है कि राज्य की सम्प्रभुता के बिना समाज का काय ही नही चल सकता। सम्प्रभु राज्य के बिना समुदाय भी सघषरत हो जाएँगे। बहुलवाद का अतिम परिणाम अराजकतावाद में होगा। सम्प्रभुता का विभाजन हो जाने स वह नष्ट हो जाएगी और समाज मे अशान्ति तथा अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ शेष नही रहेगा। इस स्थिति से समाज के समस्त व्यक्तियो और सघो का जीवन सकट में पड जाएगा। प्राकृतिक अवस्था की दशा पुन लौट आएगी। इस तरह सभ्यता और विकास को पीछे धकलने की स्थिति पदा हो जाएगी। अत यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य की सम्प्रभुता अविभाज्य और अखण्ड रह। राज्य ही अपनी सम्प्रभुता के बल पर विभिन्न समुदायो क पारस्परिक विवादो का शान्तिपूर्ण ढग से या शक्ति द्वारा सुलझा सकता है तथा उनके अनुचित कार्यों पर नियन्त्रण रख सकता है।

(4) बहुलवादी सर्व-शक्तिमान राज्य का विरोध करत हुए अन्त मे स्वय राज्य की सर्वोपरिता स्वीकार कर लेत हैं। कोकर का कहना है कि बहुलवादी सभी

आवश्यक सघों का पूण समानता की स्थिति प्रदान करने की इच्छा रखते हुए भी परिस्थितिवश राज्य को प्रधान स्थान देने के लिए विवश हो जाते हैं। गियरके और मेटलण्ड सघो को वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करत हैं कि राज्य अन्य सामाजिक सस्थाओ से ऊपर सर्वोच्च समूह है। पालवाकर भी सभी सघो और सस्थाओ को राज्य के अधीनस्थ मानते हैं। डा० फिगिस ने राज्य को समुदायो का समुदाय माना है। यह राज्य के ऊपर समाज की असमानताओ को दूर कर समन्वय स्थापित करने का काम सौंपते हैं। वाकर, लास्की कुमारी फालेट आदि ने राज्य की सर्वोपरि समन्वयकारी शक्ति और श्रेष्ठता को स्वीकार किया है।

(5) नैतिकता, रीति रिवाज, आदि से सम्बन्धित आपत्तियो का राज्य की सम्प्रभुता से कोई सम्बन्ध नही है। ये आपत्तियाँ तो शासन की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध हैं। राज्य और शासन क भेद के सम्बन्ध मे भ्रान्ति मे पडकर ही ये आपत्तिया उठाई गई हैं।

(6) बहुलवादियो का यह विचार भी भ्रामक है कि समाज के विभिन्न सघ एक समानान्तर रेखा पर चलते हैं, उनके कार्य-क्षेत्र अलग अलग हैं उनमे एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नही है तथा वे एक दूसरे के अधिकारो और कर्त्तव्यो का अतिक्रमण करते हैं। वास्तविकता यह है कि सामाजिक जीवन का प्रत्येक पहलू एक दूसरे से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ, सभी आर्थिक पक्षो का राजनीतिक पहलू होगा और सभी राजनीतिक पक्षो का आर्थिक पहलू। यही कारण है कि प्राय अनेक समूह एकसा कार्य करते हुए पाए जाते हैं। इसका यह स्वाभाविक परिणाम है कि समाज मे निष्ठाओ तथा स्वार्थों के लिए सघर्ष चलता रहता है और जब तक सामाजिक सघो मे यह सघर्ष चलता रहेगा तब तक एक सार्वभौम और मध्यस्थ राज्य की आवश्यकता बनी रहेगी।

(7) बहुलवादियो का कानूनी दृष्टिकोण भी भ्रामक है। यद्यपि उनका यह कहना काफी ठीक है कि कानून का स्रोत तथा उसकी वैधता केवल राज्य की इच्छा पर निर्भर नही है, तथापि वे यहाँ भी अद्वैतवादी विचारधारा को ठीक से नही समझ पाए हैं। अद्वैतवादी या एकत्ववादी भी यह स्वीकार करते हैं कि कानून के विभिन्न स्रोत हैं लेकिन उनका कहना है कि उन्हें वैधानिक मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब वे राज्य द्वारा स्वीकृत कर लिए जाएँ। एकत्ववादी कानून के औपचारिक तत्त्वो पर विशेष ध्यान देते हैं जब कि बहुलवादी इन्हें स्वीकार नही करते। एकत्ववादियो के अनुसार कानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है जिसे न्यायालय लागू करते हैं, लेकिन बहुलवाद कानून के लिए इस विधायी मान्यता को आवश्यक नही समझते। स्पष्ट है कि बहुलवादियों का कानून सम्बन्धी कोई ठोस माप-दण्ड नही है। पुनश्च ड्युग्वी, क्रेब आदि लेखक राज्य पर कानून का बन्धन लगाना चाहते हैं लेकिन ऐसा करने मे वे वस्तुत राज्य पर नही, वरन् राज्य के अगों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

(8) यदि, बहुलवादियों के मत को मानते हुए, समाज मे विभिन्न संस्थाओं में प्रभुसत्ता को बाँट दिया जाए तो व इतनी शक्तिशाली हो जाएँगी कि राज्य या अन्य कोई शक्ति उन्हे अपने नियन्त्रण में नहीं ले सकेगी जिससे अनेक गम्भीर समस्याएँ पैदा हो जाएँगी। इसके अतिरिक्त यदि समाज में विभिन्न संस्थाओं को आंशिक सम्प्रभुता प्रदान कर दी जाए तो इससे समाज विघटन की ओर अग्रसर होगा तथा संस्थाओं मे पारस्परिक विवाद बहुत अधिक बढ जाएँगे।

(9) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर बहुलवादियों द्वारा सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध भी सही नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आचार, व्यवहार और कानूनों का आदर करना चाहिए, लेकिन इन सीमाओं को कोई वैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं है और राज्य कानून के रूप मे इनका पालन करने के लिए बाध्य नही है। यदि जनमत अथवा नैतिकता के दबाव से राज्य उनका पालन करता है तो ऐसा वह स्वेच्छा से करता है और इससे उसकी सम्प्रभुता खण्डित नही होती। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों या कानूनों, अथवा नियमों या सन्धियों का विरोध करने की ठान ही ले तो ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो राज्य को ऐसा करने से रोक सके। फिर यह भी स्मरणीय है कि सम्प्रभुता के अनेक समर्थकों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य की सम्प्रभुता के सम्बन्ध में यह माना है कि प्रत्येक राज्य का अन्य राज्यों के प्रति कुछ नैतिक दायित्व रहता है और उस हद तक राज्य की सम्प्रभुता सीमित हो जाती है। अत स्पष्ट है कि बहुसत्तावादियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता की पुष्टि से सम्प्रभुता की आलोचना क्षीण पड जाती है। वास्तविकता यही है कि राज्य की बाह्य सम्प्रभुता सिद्धान्तत अक्षुण्ण है, यद्यपि व्यवहार मे उस पर कुछ प्रतिबन्ध हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के प्रकाश मे यह स्पष्ट है कि राज्य एक सार्वभौम सत्ता है और उसकी सम्प्रभुता सर्वोच्च है। राज्य को अन्य समुदायों के बराबर धरातल पर ला खडा करना अनुचित है। समाज मे शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने की विशेष शक्ति राज्य के ही पास है और इस शक्ति का नाम ही सम्प्रभुता है।

बहुलवादी विचारधारा का औचित्य और महत्त्व

इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर भी कि राज्य प्रभुत्व का परम्परावादी सिद्धान्त काफी सही है, बहुलवादी विचारधारा के महत्त्व को स्वीकार करना पडता है। बहुलवादी विचारधारा ने व्यक्ति और समुदाय का महत्त्व दर्शाकर एक उपकार किया है। राज्य की शक्ति को सीमित करके तथा कानून की शक्ति पर बल देकर उन्होंने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया है जो प्रभुत्व की आलोचना मात्र नही है, बल्कि राजनीतिक संगठन का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यद्यपि राज्य के प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हो सकते, तथापि उसे नैतिक मर्यादाओं का पालन अवश्य करना चाहिए। बहुलवादी सिद्धान्त की इस बात में भी पर्याप्त बल है कि राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहिष्कार होना चाहिए। इस क्षेत्र मे उसने बुराई और अव्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई सुझाव नहीं दिया।

अ तर्राष्ट्रीय नियमो और विचारधाराओ के साथ मनमानी करने के कारण ही मानवता का विनाशक युद्धा का मुख देखना पडा है ।

गैटिल के अनुसार बहुसत्तावाद ने राजनीति शास्त्र को मूल्यवान देन दी है । उसके शब्दो मे—"राज्य का कत्तव्य है कि वह नतिक बधनो को माने । बहुलवादियो का यह विचार आदरणीय है और राज्य के आदर्शवादी रूप के विरुद्ध एक उचित प्रतिक्रिया है । यही प्रतिक्रिया राज्य के सर्वेसर्वा होने और सभी नतिक बधनो से स्वतन्त्र होने के सिद्धात की विरोधी भी है । बहुसत्तावादी ऑस्टिन के प्रभुत्व सिद्धान्त की ठोस और व्यावहारिक कानूनी प्रवृत्ति का भी विरोध करते हैं । वे शीघ्र परिवतनशील सामाजिक ढाँचे के राजनतिक जीवन की वास्तविकताओ के अध्ययन पर भी बल देते हैं । इस सम्बन्ध मे वे गर राजनतिक दलो के बढते हुए महत्त्व की ओर सकेत करते हैं । इसके साथ ही ऐसे दलो के कार्यों मे राज्य द्वारा किए जाने वाले अनुचित हस्तक्षेप म उत्पन्न खतरो पर भी प्रकाश डालते हैं । वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि ऐसे दलो को राजनतिक क्षेत्र मे अधिक कानूनी मान्यता दी जाय ।"

हीसियो ने बहुसत्तावाद के गुणो का वणन इस प्रकार किया है 'बहुसत्तावाद का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर जोर, उसका समुदायो को राजनीतिक क्षेत्र म स्थान देकर अभी तक सामाजिक सगठना के लिए अपनायी गयी नीति की अपेक्षा अधिक ठोस नीति का सुझाव, उसका उस राजनतिक प्रतिक्रिया के वास्तविक, विशाल दृष्टिकोण पर दृढ रहना जिसके अन्दर न केवल सरकार और कानूनो का समावेश है, बल्कि मनुष्य के बहुत से नतिक पारस्परिक सम्बन्ध भी शामिल हैं तथा अन्त म उसकी पितृसत्तावाद (Paternalism) और राजनतिक राज्य की निरकुशता के विरुद्ध लाभकारी प्रतिक्रिया तथा किसी आंशिक सस्था के प्रभुत्व के विरुद्ध चेतावनी आदि सभी बातें महत्त्व रखती हैं और इसे कोई भी निष्पक्ष विद्वान् मानने से सकोच नही करेगा ।"

शक्ति की अवधारणा
(The Concept of Power)

वेकर के इस कथन से असहमत होना कठिन है कि "राजनीति को शक्ति से पृथक् नही किया जा सकता ।" कैटलीन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान माना है । वस्तुत यूनानी चिन्तन के समय से ही विद्वान् राजनीति के क्षेत्र मे शक्ति और उससे सम्बन्धित वातावरण के अध्ययन की ओर ध्यान देते रहे हैं । एस एस अलमर के अनुसार—"सभी सामाजिक विज्ञानो मे शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी विज्ञान नही है जितना कि राजनीति शास्त्र । अरस्तू से लेकर आज तक के राजनीतिक लेखकों की विषय वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इनमे एक केन्द्रीय धारणा रही है जिसके सहारे राजनीति शास्त्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । सन् 1957 म

प्रो मॉर्गेन्थो ने सुझाव दिया था कि राजनीति शास्त्र मे शक्ति को केन्द्रीय धारणा (Central Concept) बना दिया जाय।"

शक्ति की अवधारणा की व्याख्या

शक्ति की प्रक्रिया समस्त राजनीतिक प्रक्रिया के लिए प्रमुख तत्त्व है, तथापि शक्ति की कोई सर्वमान्य परिभाषा अभी तक निश्चित नही की जा सकी है। मेकाइवर के मतानुसार, "समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियाएँ, सम्पूर्ण व्यवस्था और प्रकृति मे घटित होने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है।' रास्सन ने राजनीति विज्ञान को समाज मे शक्ति उसकी प्रकृति, आधार, प्रक्रियाओं, विषय विस्तार और निष्कर्षों से सम्बन्धित माना है। शक्ति हर सगठन के मूल मे है और प्रत्येक सरचना को कायम रखती है। शक्ति के अभाव मे न तो कोई सगठन हो सकता है और न ही कोई सुव्यवस्था ही सम्भव है।

शक्ति की व्याख्या करते हुए रॉबर्ट ए डहाल ने दो दृष्टिकोण व्यक्त किए हैं—(1) शक्ति-सम्बन्धो का विभिन्न प्रकार के राजनीतिक सम्बन्धों मे अपना विशिष्ट रूप है और इन पर बल दिया जाना अति आवश्यक है एव (2) शक्ति अन्य मानवीय गतिविधियो से पृथक उन क्रियाओ का नाम है जिन्हें 'राजनीति' कहा जाता है। रॉबर्ट बायसटड के अनुसार "शक्ति बल प्रयोग की क्षमता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग। मेकाइवर की दृष्टि मे शक्ति से अभिप्राय व्यक्तियो अथवा व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता है। पिफनर एव शेरवुड ने शक्ति को आदेश देने की क्षमता माना है। मॉर्गेन्थो ने शक्ति मे उस प्रत्येक वस्तु को समाविष्ट किया है जिसके द्वारा मनुष्य पर नियन्त्रण स्थापित किया जाकर उसे कायम रखा जाता है। केटलीन ने अपनी पुस्तक 'सिस्टेमेटिक थ्योरी' (Systematic Theory) मे लिखा है कि अपने सकल्प को क्रियान्वित करने की सामान्य इच्छा सभी में होती है। यह सकल्प अपनी विशिष्ट इच्छा अथवा लक्ष्य को प्रस्तुत करने का मुख्य अभिकरण है। इसकी प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है और शक्ति इसी प्राप्ति की शर्त का नाम है। स्पष्ट है कि केटलीन ने शक्ति को आधारभूत लक्ष्य न मानते हुए उसे एक सामान्य प्रवृत्ति माना है। जिसके पास शक्ति होती है, वह भय अथवा दबाव आदि के अतिरिक्त अन्य उपायों से उसका परित्याग करने के लिए तैयार नही होगा। शक्ति, चाहे उसका प्रयोग किया गया हो या नही, किन्तु एक सम्भावना के रूप मे नियन्त्रण और सकल्प को क्रियान्वित करने मे स्वतन्त्र होने की वर्तमान योग्यता का नाम है। रोबे ने पराक्रम (Might) को शक्ति का आधार माना है। लॉसवेल, काप्लान और साइमन ने शक्ति को 'प्रभाव प्रक्रिया (Influence Process) के रूप मे परिभाषित किया है। इनके मतानुसार 'प्रभाव (Influence) का प्रयोग करते समय स्वय की अपेक्षा दूसरों की नीतियो को प्रभावित किया जाता है। इस परिभाषा में प्रभावक और प्रभाव' के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।" गोल्मथर

तथा डिल्स के अनुसार "एक व्यक्ति को इतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरा के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।"

शक्ति-सम्बन्धो के प्रकार

शक्ति-सम्बन्धो के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं, जैसे—शक्ति (Power) प्रभाव (Influence), सत्ता (Authority), अनुनय (Persuasion) दमन (Coercion), दबाव (Pressure), बल (Force) आदि। रॉबर्ट बायसटेड ने इन सम्बन्धो का समान शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। बायसटेड के अनुसार प्रभाव अनुनयात्मक है और शक्ति दमनात्मक। प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं पडती, इसके अभाव मे भी प्रभाव रह सकता है किन्तु प्रभाव और शक्ति दोनो ही तत्त्व एक ही व्यक्ति मे भी पाये जा सकते हैं। यदि हम हिटलर, चगेजखाँ जैसे व्यक्तियो को शक्ति का प्रतीक मान सकते हैं तो नेपोलियन, लिंकन आदि मे हमे शक्ति और प्रभाव' दोनो के स्पष्ट रूप से दर्शन होते हैं। शक्ति और प्रभाव दोनो ही वे प्रबल तत्त्व हैं जो प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं, लेकिन इस बात का निर्णय तो वह व्यक्ति स्वय ही कर सकता है कि उसके व्यवहार मे परिवर्तन शक्ति के दबाव से हुआ है अथवा प्रभाव के कारण। यह भी सम्भव है कि दोनो एक दूसरे को बढाने का काम करे अर्थात् शक्ति प्रभाव को बढाने मे सहायक हो और प्रभाव शक्ति को।

प्रभुत्व एक मनोवैज्ञानिक धारणा है जो मानव प्रकृति और उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है। बल को हम शक्ति नही कह सकते क्योकि शक्ति प्रच्छन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। बल का अभिप्राय है शक्तियो की प्रयुक्ति। इसका अर्थ है कि शक्ति एक मनोभाव अथवा पूर्व क्षमता है जो बल को सम्भव बनाती है। बायसटेड ने बल के तीन रूप माने हैं—बल (Force), प्रभाव (Influence) और प्रभुत्व (Domination)। बायसटेड ने व्यवहार कौशल अथवा चालाकी (Manipulation) को शक्ति मे सम्मिलित नही किया है।

शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण प्रकट रूप सत्ता (Authority) है। सत्ता को 'आदेश देने का अधिकार' है जबकि शक्ति 'आदेश देने की क्षमता है। सत्ता के अभाव में शक्ति असस्थाकृत रहती है। सत्ता का यह गुण है कि वह दमन के अभाव मे ही प्रभावशाली होती है।

शक्ति के स्रोत

शक्ति के विभिन्न स्रोतो (Sources of Power) पर दृष्टिपात करने से शक्ति का अभिप्राय और भी स्पष्ट हो सकेगा। यहा उल्लेखनीय है कि शक्ति को शारीरिक ताकत अथवा इस ताकत को लागू करने वाले भौतिक साधनो के समरूप नही मानना चाहिए। मनुष्य शेर या चीते से अधिक शक्तिशाली इसलिए माना गया कि उसमे ज्ञान और कुशलता अधिक है। शक्ति जिन विभिन्न स्रोतो से उत्पन्न होकर विभिन्न रूपो मे अपने आपको प्रकट करती है वे मुख्यत निम्नलिखित हैं।

1 मानवीय क्षेत्र में शक्ति का पहला स्रोत ज्ञान (Knowledge) है। अपन सामान्य अर्थ मे ज्ञान व्यक्ति को अपने लक्ष्यो को पुन प्रतिबन्धित करने और प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान के क्षेत्र मे केवल विषय की तथ्यगत जानकारी ही नही वरन् कसे और कब आदि प्रश्न भी इससे जुड़े होते हैं। ज्ञान वह शक्ति है जो केवल भौतिक वस्तुओ को ही नियन्त्रित नही करती बल्कि नए लक्ष्यो, नए अवसरो और नए विकल्पो के द्वार भी खोलती है। इसके द्वारा व्यक्ति अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। इसके सहारे वह सीखने, सोचने, जाँच करने आदि के रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने मे सफल होता है। ज्ञान व्यक्ति के कष्टो को दूर कर उसे उन साधनो को प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है जिनके अभाव में व्यक्ति का जीवन सुरक्षित और स्वतन्त्र नही रह सकता। यह सब कुछ ज्ञान का बाह्य पक्ष है। ज्ञान का आन्तरिक पक्ष वह है जो अपने आप को जानने अर्थात्—आत्म ज्ञान पर बल देता है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति की विभिन्न विशेषताओ को इस प्रकार सचालित किया जाता है कि वे शक्ति का साधन बन सकें। व्यक्ति मे नेतृत्व शक्ति, इच्छा शक्ति, सहन-शक्ति, अभिव्यक्ति-शक्ति आदि शक्ति के विभिन्न पक्ष निहित हैं जिनमे से किसी की भी कमी शक्ति के समस्त रूप को अकार्य-कुशल बना सकती है।

ज्ञान शक्ति का आन्तरिक स्रोत है। इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाह्य तत्त्व भी होते हैं जिन्हें एक शब्द मे 'उपलब्धिया' (Possession) कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व एव सामाजिक सामग्री की शक्ति व्यक्ति द्वारा अपनायी गई स्थिति और स्तर आदि सम्मिलित किए जाते हैं। शक्ति के ये आन्तरिक और बाह्य दानो ही तत्त्व परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। लोकतन्त्र म बाह्य और आन्तरिक दाना शक्तियो मे परस्पर अधिक घनिष्ठता पायी जाती है जबकि कुलीन तन्त्रात्मक समाजा म यह इतनी नही पायी जाती क्योंकि वहाँ भौतिक वस्तुओ का स्वामित्व अधिकांशत जन्म और स्तर पर निर्भर करता है।

2 शक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत सगठन है। शक्ति की दृष्टि से सबसे बडा सगठन राज्य है जो आवश्यकता होने पर सम्पूर्ण समाज के समस्त साधनों को अपने हाथ में ले सकता है। अन्य सगठनो की निर्णयात्मक शक्ति सीमित होती है जबकि राज्य अपनी सीमा मे रहने वाले सभी लोगो के समस्त व्यवहार को विनियमित करने वाली अन्तिम शक्ति है। व्यावहारिक रूप में राज्य सविधान और जन इच्छा से नियन्त्रित होता है, पर सैद्धान्तिक रूप स उसकी शक्ति असीमित होती है। कभी-कभी केवल आकार को शक्ति का परिचायक मानने की भूल की जाती है। किसी भी इकाई अथवा इकाइयो के योग का आकार बडा होन का अर्थ यह नही होता कि उसकी शक्ति भी अधिक होगी। हाथी को एक चींटी भी मार सकती है। मेकाइवर ने ठीक ही लिखा है कि "शक्ति की कार्य-कुशलता उन विभिन्न परिस्थितिया द्वारा घटती बढती रहती है जिनके अधीन उन्हे कार्य करना है। शक्ति की महानता इस बात से निर्धारित की जाती है कि वह मानव मस्तिष्क पर प्रभाव

डालने मे कितनी सक्षम है। शक्ति का अपना एक सम्मान होता है अपनी एक चमक होती है उसमे कुछ ऐसा अदृश्य तत्त्व होता है जिसके आधार पर लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। शक्ति का अपना मूल्य होता है। अपने प्रसार एव प्रभावशीलता के अनुसार विभिन्न मात्राओं में इसकी उपयोगिता होती है। अपन प्रकार के अनुरूप ही इसका स्तर सम्मान एव प्रधानता होती है।"

3 शक्ति का तीसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत सत्ता (Authority) है। जिन सब तत्त्वो के कारण शक्ति अधिक शक्तिशाली बनती है उसे हम सत्ता कह सकते हैं। अपने सही और निश्चित रूप मे सत्ता का अर्थ न्यायोचित शक्ति की उपलब्धि से है।

4 शक्ति की अभिव्यक्ति केवल ताकत या प्रत्यक्ष दबाव के माध्यम म ही नही होती वरन इसके अन्य तरीके भी हैं। ताकत के प्रयोग द्वारा क्रियाओ को रोका जा सकता है बदला जा सकता है और नवीन क्रियाओ के लिए आधारभूमि तयार की जा सकती है, किन्तु यह स्वय विधेयात्मक लक्ष्यो को प्राप्त नही कर सकती यह स्वय कोई निर्माण नही कर सकती। अतिशय शारीरिक दबाव तथा नम्र सुझाव के बीच शक्ति प्रयोग के अनेक स्तर आते हैं। अप्रत्यक्ष क्रियाविधि की सीमाओ म अनेक दबाव धमकी के रूप मे काय करते हैं।

5 शक्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत या आधार विश्वास है। सरकार की शक्ति भी अन्तिम रूप से विश्वास पर ही आधारित है। यदि किसी देश के लोग अपनी सरकार के प्रति स्वामिभक्त नही हैं तो उनके विरुद्ध शक्ति का चाहे जसा भी प्रयोग किया जाय वह अपर्याप्त रहेगा। केवल स्वामिभक्ति के आधार पर ही एक राज्य में कानून और व्यवस्था लागू रह सकती है। लोगो मे जिस तत्त्व के प्रति आदर होता है वही अपने आप में शक्ति बन जाता है। व्यक्ति मान्य सत्ता के परामश के सामने झुकता है और उसके निर्देशो का पालन करता है। हम किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अपने मित्र की इच्छा को शीघ्र स्वीकार करने के लिए तयार हो जाते हैं।

इस प्रकार शक्ति के विभिन्न स्रोत हैं जिनका क्षेत्र अथवा आयाम परिवतन शील और सवद्ध नशील होता है।

शक्ति के प्रकार (Kinds of Power) अनेक हैं। शक्ति को प्राय निम्नलिखित आधारो पर विभिन्न विद्वानो द्वारा वर्गीकृत किया गया है--

(1) व्यवहार-परिवतन के आधार पर—(क) बल, (ख) प्रभुत्व, एव (ग) छल-योजना या चातुय।
(2) औचित्यपूर्णता के आधार पर—(क) वधानिक, (ख) परम्परागत, एव (ग) करिश्मावादी (Charismatic)।
(3) शक्ति प्रवाह के आधार पर—(क) एकपक्षीय, (ख) द्विपक्षीय, एव (ग) बहुपक्षीय।
(4) केन्द्रीकरण के आधार पर—(क) सकेन्द्रित (Concentrated), (ख) विकेन्द्रित अथवा विस्तृत।
(5) क्षेत्रीयता के आधार पर—(क) अन्तर्राष्ट्रीय, (ख) राष्ट्रीय, एव (ग) भू-खण्ड विशेष स सम्बन्धित।

(6) प्रयोग और परिणाम के आधार—वांछित एव अवांछित ।

(7) अन्य आधारों पर —प्रच्छन्न एव प्रकट, दमनात्मक एव अदमनात्मक, औपचारिक एव अनौपचारिक, प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष आदि ।

शक्ति के विभिन्न रूपों के स्पष्टीकरण—शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति अपने व्यवहार को सदव यथोचित बताते हैं और जब लोगों द्वारा यह औचित्य स्वीकार कर लिया जाता है तो इसे हम औचित्यपूर्ण शक्ति (Legitimate Power) कहते हैं और जब उसका औचित्य स्वीकार नहीं किया जाता तो दमनकारी कहलाती है। औचित्यपूर्ण शक्ति के प्रमुख रूप होते हैं—वधानिक, परम्परागत और करिश्मावादी। जब शक्ति-सम्पन्न लोगों द्वारा निर्मित कानून, निर्देश आदि की वैधानिकता में अधीनस्थ लोगों को विश्वास होता है तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वधानिक कहलाती है। जब शक्तिवान द्वारा प्रसारित आदेशों को परम्परा के आधार पर पवित्र माना जाता है अथवा परम्परा के कारण ही शक्ति का प्रयोग होता है तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जाता है। औचित्य ही मान्यता का आधार शक्तिवान के व्यक्तिगत गुणों के प्रति भक्ति होती है तो उसे करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति कहा जाता है।

जब शक्तिवान की सामान्य स्थिति को औचित्यपूर्ण मान लिया जाता है तो यह व्यक्ति बल, प्रभुत्व और छल-कपट या चातुर्य जसे अस्त्रों का प्रयोग कर सकता है। किन्तु जहाँ तक शक्ति के व्यक्तिगत कार्यों के औचित्य की मान्यता का प्रश्न है, चातुरी या छल-कपट (Manipulation) को औचित्यपूर्ण शक्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि अधीनस्थ लोगों द्वारा ऐसी कोई मान्यता प्रदान नहीं की जाती कि शक्ति द्वारा किया गया काय उन्हें प्रभावित करेगा। बल प्रयोग शक्तिवान स्वय प्रत्यक्ष रूप से कर सकता है अथवा सरकारी या गर-सरकारी व्यक्तियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से कर सकता है। अधिकांश शक्ति सम्पन्न लोगों के पास अधिकारी वग रहता है जिसे शक्ति प्रयोग के अधिकार हस्तान्तरित किये हुए होते हैं। शक्तिवान चाहे तो गर सरकारी व्यक्तियों को भी इस प्रकार के अधिकार हस्तान्तरित कर सकता है। प्रभुत्व में आज्ञाकारिता और आज्ञा का उल्लंघन दोनों ही का समावेश हो सकता है। आज्ञाकारिता का प्रश्न सकारण तत्वों पर भी निभर है और अकारण तत्वों पर भी जब इसका आधार हानि अथवा लाभ को बनाया जाता है तो यह सकारण तत्वों पर आधारित रहती है और जब आज्ञाकारिता का आधार आचरण के नतिक मूल्य होते हैं तो यह अकारण तत्वों पर आधारित होती है।

जब कभी व्यक्ति का शक्ति-प्रयोग करने का प्रयास असफल हो जाता है तो शक्तिपूर्ण काय के स्थान पर या तो दूसरी शक्ति आती है अथवा उसका स्थान स्वीकृति ले लेती है। शक्ति के स्थान पर जो वकल्पिक काय आता है उसका प्रमुख उद्देश्य प्रथम काय के मौलिक उद्देश्य की प्राप्ति होती है।

शक्ति सम्बन्धों अथवा शक्ति प्रवाह के आधार पर शक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं जसे एकपक्षीय द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय। द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय शक्तियों को सौदाकारी शक्तियाँ (Bargaining Powers) भी कहा जाता है। एकपक्षीय

शक्ति सम्बन्धो का उदाहरण एक सेना के अधिकारियों एव नीचे के स्तर के कार्यकर्त्ताओं के मध्य स्थित सम्बन्धा के रूप मे दिया जा सकता है। उच्च मनिक अधिकारी अपने अधीनस्थो को आज्ञाएँ देता है किन्तु अधीनस्थ लोग उस आज्ञा का ज्यो का त्यो पालन करने के अतिरिक्त और कुछ भी नही करते। द्विपक्षीय शक्ति सम्बन्धो का उदाहरण सौदेबाजी करनेवाली शक्ति को माना जा सकता है क्योकि इसके प्रत्येक पक्ष अपने उद्देश्य के अनुरूप दूसरे पक्ष को प्रभावित करन का प्रयास करता है। द्विपक्षीय सम्बन्ध शक्ति की प्रभुत्वपूर्ण अभिव्यक्ति और चातुरीपूर्ण अभिव्यक्ति दोनो मे ही रह सकते हैं। दोनो ही पक्ष एक दूसरे के व्यवहार को स्पष्ट किए बिना प्रभावित कर सकते हैं कि उनसे क्या चाहा जा रहा है। ऐसा करने के लिए वे प्रचार अथवा अन्य किसी उपाय को काम मे ल सकते हैं।

शक्ति को प्रयोग की दृष्टि से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भागो मे विभाजित किया जा सकता है। जब शक्तिवान व्यक्ति बिना किसी मध्यस्थ के प्रयोग के दूसरो का व्यवहार बदलना चाहता है तो यह शक्ति प्रत्यक्ष कहलाती है और जब वह एक या अधिक मध्यस्थ व्यक्तियो के माध्यम से शक्ति का प्रयोग करता है तो इस अप्रत्यक्ष शक्ति कहते हैं। शक्ति प्रयोग दमन पर अधिक दिन नही टिक सकता। अधीनस्थो द्वारा उसकी शक्ति की औचित्यपूर्ण मान्यता समाप्त समझ ली जाती है। अप्रत्यक्ष क्रियान्वयन मे स्टॉफ का सहयाग भी दमनकारी शक्ति पर एक अकुश होता है क्योकि जब जनता द्वारा ऐसे आदेशो को स्वीकार नही किया जाता तो फिर वे स्वय उनसे नियन्त्रित नही होते।

केन्द्रीकरण के दृष्टिकोण से शक्ति सकेन्द्रित, विकेन्द्रित या विस्तृत हो सकती है। विकेन्द्रित अवस्था मे शक्तियाँ अनेक अधीनस्थ निकायो को स्वायत्त अथवा अद्ध-स्वायत्त आधार पर प्रदान कर दी जाती हैं। सकेन्द्रित अवस्था में केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण रहता है। विस्तृत शक्ति का स्वरूप बिखरा हुआ, अस्पष्ट और प्रसुप्त होता है, जसे—जनशक्ति।

शक्ति की मात्रा और प्रभाव की दृष्टि से विशिष्ट राज्य या राष्ट्रों का महाशक्तिया, मध्यम शक्तियाँ, निम्न शक्तियाँ आदि कहा जाता है। मैत्रीयता की दृष्टि से शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकती है, राष्ट्रीय भी हो सकती है अथवा भू खण्ड विशेष से सम्बन्धित भी हो सकती है। बायर्सटेड ने अनेक धाराओ पर शक्ति के कई रूपो का उल्लेख किया है। यदि वह अदृश्य अथवा अज्ञात है तो उस प्रच्छन्न शक्ति कहा जाता है जबकि उसका प्रकट रूप सत्ता, बल आदि के रूप में अभिव्यक्त होगा। दमन की दृष्टि से शक्ति दमनात्मक और अदमनात्मक हो सकती है। अदमनात्मक शक्ति का रूप 'प्रभाव' है। दमनात्मक शक्ति को बल भी कहा जाता है। औपचारिकता की दृष्टि से शक्ति औपचारिक (Formal) भी हो सकती है और अनौपचारिक (Informol) भी। औपचारिक शक्ति कानून अथवा सविधान द्वारा मान्य शासकीय अधिकारियो मे निहित रहती है।

9

राज्य और समाज, राज्य और राष्ट्र, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, राज्य और धर्म : धर्म-निरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त

(STATE AND SOCIETY, STATE AND NATION, THEORY OF NATIONAL SELF DETERMINATION, STATE AND RELIGION THEORY OF SECULAR STATE)

राज्य और समाज
(State and Society)

प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी विचारक समाज और राज्य के बीच कोई अन्तर नही मानते थे। कारण यह था कि तत्कालीन यूनानी नगर राज्य इतने छोटे थे कि समाज और राज्य के मध्य अन्तर प्रकट करना उनके लिए सम्भवतया कठिन था। उस समय नगर राज्य मानव जीवन के प्रत्येक पहलू का स्पर्श करते थे। राज्य ही चर्च, राज्य ही स्कूल और राज्य ही धार्मिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक समुदाय था। प्लेटो तथा अरस्तू की भांति हीगल और काण्ट ने भी दोनो मे अन्तर स्वीकार नही किया। निरकुश और फासिस्ट मनोवृत्ति वाले शासकों के निकट राज्य और समाज मे कोई अन्तर नही रहा क्योंकि अपनी शक्ति प्रदर्शन के लिए वे सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियन्त्रण रखना अपना अधिकार समझते रहे। पर राजनीति शास्त्र की दृष्टि से राज्य और समाज दोनो एक-दूसरे से आधारभूत रूप मे भिन्न हैं। अग्रिम पंक्तियो मे हम देखेंगे कि राज्य और समाज कहाँ तक एक दूसरे से भिन्न और कहा तक समान हैं।

राज्य और समाज मे अन्तर

1 उद्देश्य—समाज का उद्देश्य व्यापक होता है जब कि राज्य का

सकुचित । समाज मानव की बहुमुखी उन्नति के लिए बडे छोटे अनेक उद्देश्य लेकर चलता है जबकि राज्य का लक्ष्य अपेक्षाकृत सीमित होता है । वह समाज मे ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए ही मुख्यत प्रयत्नशील रहता है जिससे समाज मे कानून की सत्ता स्थापित हो सके और शान्ति व व्यवस्था कायम रहे । बाकर के शब्दो मे, "उद्देश्य की दृष्टि से दोनो भिन्न हैं । राज्य का अस्तित्व महान् किन्तु एक ही उद्देश्यीय होता है, जबकि समाज का अस्तित्व बहुउद्देश्यीय होता है जिनमे कुछ बडे छोटे होते हुए भी कुल मिलाकर सब गहन और व्यापक होते हैं ।"

2 क्षेत्र और विस्तार—राज्य की अपेक्षा समाज अधिक व्यापक होता है । राज्य तो समाज के अनेक समुदायो मे से एक है । समाज मानव के समस्त सामाजिक सम्बन्धो का सामूहिक स्वरूप है जबकि राज्य मानव के केवल राजनीतिक सम्बन्धो का ढाँचा मात्र है । मेकाइवर के अनुसार, "राज्य एक सगठन है जो न तो समाज का समवयस्क है और न समाज के समान व्यापक है । वह तो समाज के अन्तगत कुछ विशिष्ट उद्देश्यो के लिए स्थापित एक निश्चित व्यवस्था है ।"

3 प्रादेशिकता—राज्य के लिए एक निश्चित प्रदेश अथवा भूखण्ड अनिवार्य है, समाज के लिए नही । राज्य एक सुनिश्चित भौगोलिक सीमा के अन्दर सीमित रहता है जबकि समाज सीमा विशेष के क्षेत्र मे बधा नही होता । समाज एक परिवार से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक व्याप्त हो सकता है ।

4 शासन (Organisation)—शासन राज्य का आवश्यक तत्व है । राज्य के लिए जन समुदाय का सगठित होना जरूरी है परन्तु समाज के अन्तगत सगठित और असगठित सभी प्रकार के समुदाय शामिल होते हैं । असगठित जन समुदाय राज्य नही कहा जा सकता । प्राचीन कबीले जो राजनीतिक दृष्टि से सगठित नही थे, राज्य नही कहे जा सकते, यद्यपि हमे उन्हे समाज का अग तो मानना ही पडेगा ।

5 प्रभुत्व (Sovereignty)—राज्य मे प्रभुशक्ति निहित होती है । उसके पीछे कानून तथा पुलिस का बल होता है । समाज के पास ऐसी कोई निश्चित और व्यवस्थित शक्ति नही होती । समाज में व्यक्ति के आचरण का नियन्त्रण सामाजिक परम्पराओ और रीति रिवाजो द्वारा होता है जिन्हे तोडने पर समाज शारीरिक दण्ड नही दे सकता । समाज अधिक से अधिक अपने सदस्यो पर नैतिक दबाव डाल सकता है । किन्तु राज्य कानून तोडने पर खुल्लमखुल्ला बल का प्रयोग करता है । बाकर के शब्दो मे, "समाज का सहयोग ऐच्छिक है, जबकि राज्य का क्षेत्र यन्त्रवत् काय है तथा उसकी शक्ति बल प्रयोग और उसकी पद्धति कठोर है ।"

6 ऐतिहासिकता (Historicity)—ऐतिहासिक दृष्टि से समाज राज्य से पहले से है । राजनीतिक शक्ति का विकास सामाजिक सम्बन्धो के जन्म के बाद ही हुआ है । बहुत प्राचीन समय मे जब मानव-जाति गिरोह बनाकर इधर उधर कबीलो के रूप मे भ्रमण करती थी, उस समय राज्य का अस्तित्व नही था, परन्तु समाज

अवश्य था। इस प्रकार अवधि और आयु की दृष्टि से समाज राज्य से कहीं अधिक प्राचीन है।

बाकर (Barker) का मत सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् अरनस्ट बाकर ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थ्योरी' मे राज्य और समाज के भेदों को नीचे लिखे तीन शीर्षकों मे विभक्त किया है –

(क) उद्देश्य और कार्य (Aims and Functions)—उद्देश्य की दृष्टि से राज्य एक वधिक सस्था (Juristic Person) है। वह सदैव अपने कानूनी उद्देश्यो की पूर्ति मे जुटा रहता है पर समाज का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसे विविध उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने पडते हैं। समाज के विविध उद्देश्य बौद्धिक नतिक, धार्मिक, आर्थिक सास्कृतिक आदि हैं जब कि राज्य का कार्यक्षेत्र इस दृष्टि से अधिक सीमित और अस्पष्ट है।

(ख) सगठन और सरचना (Organisation and Structure)—सगठन की दृष्टि से भी सिर्फ राज्य ही एकमात्र वधिक सस्था है जबकि समाज के अन्तर्गत अनेक सस्थाएँ होती हैं और उन्हीं के योग से उसका निर्माण होता है।

(ग) पद्धति (Method)—राज्य की पद्धति अधिक कठोर है। वह समय समय पर बल प्रयोग करता है। इसके विपरीत समाज की प्रकृति पर्याप्त लचीली है। वह केवल नतिक दबाव का ही अधिक प्रयास करता है। समाज अपनी प्रकृति के कारण शारीरिक शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता।

स्पष्ट है कि राज्य और समाज एक नही है। 'राज्य' शब्द का अर्थ सुनिश्चित एव स्पष्ट है जबकि 'समाज' शब्द का अर्थ सुनिश्चित नही है। इसे अनेक अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है, जसे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज वश्यसमाज आदि। यही नही, समाज राज्य का पूर्ववर्ती है। मेकाइवर ने सत्य ही कहा है कि, "राज्य और समाज समकालीन और समान व्यापक नही है, राज्य समाज के अन्तर्गत एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्थापित एक निश्चित सस्था है।"

राज्य और समाज मे समानता

राज्य और समाज मे कुछ समानताएँ भी हैं। दोनो ही कृत्रिम तथा स्वाभाविक हैं क्योंकि दोनो ही का चेतन पदार्थों की भाँति विकास होता है। इसके अतिरिक्त दोनो एक दूसरे पर अवलम्बित और परस्पर निर्भर हैं। समाज अपने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि कार्यों से राज्य का पोषण करता है तो राज्य समाज मे शान्ति व सुव्यवस्था कायम रखता है। इस प्रकार राज्य और समाज साथ साथ चलते हैं और एक दूसरे की सहायता करते हैं। समाज की प्रगति राज्य की कार्य-कुशलता पर निर्भर है तो राज्य की कार्य शैली पर समाज के रीति रिवाजो और परम्पराओं का प्रभाव पडता है। वे दोनो बहुत हद तक एक दूसरे के पूरक हैं। हमे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राज्य के बिना समाज स्थिर नही रह सकता। उसके ढाँचे को खडा करने का श्रेय केवल राज्य को ही है। समाज के लिए राज्य के महत्त्व को बाकर ने इन शब्दो मे स्पष्ट किया है

"समाज राज्य द्वारा स्थापित रखा जाता है और यदि इस प्रकार समाज स्थापित न रखा जाय तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा।" आशीर्वादम् के शब्दों में, "ईंटों की दीवार में ईंटें यदि समाज है तो उनके बीच में लगी सीमेंट राज्य है जो ईंटों को यथास्थान बनाए रखती है ताकि दीवार सुस्थिर रहे।"

राष्ट्र तथा राज्य
(Nation and State)

राजनीति के क्षेत्र में जनसाधारण राज्य और राष्ट्र का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं किन्तु राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए दोनों शब्दों में अन्तर है। भारतवर्ष एक राज्य है और एक राष्ट्र भी। किन्तु सन् 1947 से पहले मुहम्मद अली जिन्ना का कहना था कि भारतवर्ष एक राज्य है पर उसमें दो राष्ट्र (Two Nation) निवास करते है—एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान। धर्म के आधार पर श्री जिन्ना ने मुस्लिम राष्ट्र के राष्ट्रीय आत्म निर्णय के अधिकार की माँग की और देश का विभाजन करवा कर पृथक से एक मुस्लिम राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की। प्रथम विश्व युद्ध के बाद पूर्वी यूरोप में भी राष्ट्रीय राज्यों की समस्याओं का जन्म हुआ और राष्ट्रपति विल्सन के राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त को सर्वमान्यता प्रदान की गई। ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई माना जाता रहा है जबकि राज्य एक राजनीतिक इकाई है। इन दोनों इकाइयों में भौगोलिक एकरूपता आधुनिक युग की देन है, जिस पर विश्व-युद्धों का प्रभाव पड़ा है।

राष्ट्र (Nation)

'नेशन' शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के नेशियो (Natio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है पैदा होना' या जन्म होना'। बर्गेस के अनुसार "वह जन समुदाय जिसमें जाति सम्बन्धी एकता हो और जो भौगोलिक एकता वाले भूखण्ड में निवास करता हो एक राष्ट्र है।" जाति सम्बन्धी एकता से उसका मतलब उस जन समुदाय से है जिसकी भाषा और साहित्य प्रथाएँ और इतिहास रीति रिवाज और सही गलत को पहिचानने का विवेक आदि सभी सामान्य हो ।" लीकाक नस्ल की दृष्टि से राष्ट्र की परिभाषा करते हैं। उनका कहना है कि, यद्यपि राष्ट्र शब्द का प्रयोग बहुधा शिथिलता से किया जाता है, तथापि नस्ल की दृष्टि से भी उस पर उचित ढंग से विचार किया जाना चाहिए। यह ऐसे लोगों के एक समूह का निर्देश करता है जिनकी एकता वंश-परम्परा और सामान्य भाषा पर आधारित हो।" फ्रांसीसी लेखक प्रडियर फोडरे ने एक राष्ट्र के तत्वों की गणना करते हुए यह स्वीकार किया है कि, 'जातीय स्नेह, भाषा, स्वभाव, रीति रिवाज और धर्म सम्बन्धी एकता कुछ ऐसे तत्व हैं जो एक राष्ट्र की रचना करते हैं।" काल्वो (Calvo) अपनी पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' (International Law) में इसी बात पर बल देता है कि राष्ट्र का विचार अपने मूल में वंश तथा भाषा आदि के समुदाय के साथ घनिष्टता से जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार जाति और भाषा के तत्व राष्ट्र की सृष्टि में अपना विशेष स्थान रखते हैं। संसार के अधिकतर राष्ट्रों में यह जातीय और भाषायी एकता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। परन्तु दूसरी ओर संसार के अनेक राष्ट्र बहुभाषी (Multi Lingual) और बहुजातीय (Multi racial) भी हैं। इसी कारण कुछ लेखक भाषा और जाति को राष्ट्र-निर्माण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं मानते। वे स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण देते हैं जहाँ आज भी फ्रेंच, जर्मन और इटैलियन तीन विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है। यही बात बेल्जियम के लोगों पर भी लागू होती है। कनाडा, अमेरिका आदि भी बहुजातीयता और बहुभाषी राष्ट्रों के उदाहरण हैं। विल्सन के अनुसार "यह कहना बहुत कठिन है कि किसी पाश्चात्य देश में आज कोई जातीय विशुद्धता है। इसके विचार से एक राष्ट्र के लिए वंश या भाषा की समानता आवश्यक नहीं मानी जाती। यह सत्य है कि भाषा और वंश लोगों को आपस में जोड़ने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, परन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व चेतना की भावना है जो लोगों को एक राष्ट्र बनने के लिए एकता के सूत्र में पिरोती है, और मूलतः मनोवैज्ञानिक है। भावात्मक एकता अनेक तत्त्वों के परिणामस्वरूप जाग्रत होती है जो सांस्कृतिक एकता की द्योतक है।'

राष्ट्र की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए गार्नर ने लिखा है, "राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का वह सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चेतना एवं दृढ़ निश्चयी है।" इसी प्रकार एम० केनन के अनुसार, 'राष्ट्र निर्माण की सजीव शक्ति सामान्य भाषा अथवा सजाति नहीं है बल्कि भूतकाल में सामान्य महत्त्व के कार्यों की पूर्ति और भविष्य में उन्हें सम्पन्न करने की आकांक्षाएँ हैं। वास्तव में राष्ट्र निर्माण के लिए समान मानसिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता है। केवल भाषा और जातीय एकता जन समुदाय को राष्ट्र नहीं बना सकते। इनमें समान कष्ट सहने और त्याग की भावनाएँ होनी चाहिए। उनमें एक साथ राज्य में निवास करने की लालसा होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय जीवन "वहाँ की जनता की एक साथ रहने की इच्छा है।' प्रत्येक राष्ट्र के लिए एक आध्यात्मिक आधार होना जरूरी है। प्रो० ए० ई० जिमन की मान्यता है कि "धर्म की भाँति राष्ट्रीयता भी वैयक्तिक अथवा आत्मपरक (Subjective) है, मनोवैज्ञानिक है मन की स्थिति है, एक आत्मिक सम्पत्ति है, एक भावना-पद्धति है, एक विचार और जीवन है।" जनता में एकता की भावना उत्पन्न करने वाला तत्त्व जातीय अथवा धार्मिक हो यह सदैव आवश्यक नहीं। मुख्य रूप से इसे मानसिक और आध्यात्मिक कहना अधिक उपयुक्त और न्याय-संगत होगा।

कुछ लेखक 'राष्ट्र' शब्द का राजनीतिक दृष्टि से भी अध्ययन करते हैं। उनका कहना है कि आज बीसवीं शताब्दी में राष्ट्र शब्द एक राजनीतिक अर्थ रखता है। वह उतना ही अनिवार्य है जितना कि राष्ट्र के सांस्कृतिक और जातीय पहलू। गिलक्राइस्ट का कथन है कि 'राष्ट्र' और 'राज्य' अपने वर्तमान रूप में एक दूसरे के बहुत निकट हैं—"राष्ट्र वस्तुतः व्यक्तियों का सांस्कृतिक और जातीय

सगठित वह समूह ही तो है जिसका एक राजनीतिक सगठन होता है या जो स्वतन्त्र राज्य के रूप में सगठित है।" इतिहासकार हेज के अनुसार एक राष्ट्रीय इकाई स्वतन्त्रता, एकता और सत्ता प्राप्त कर राष्ट्र बन जाती है।" राष्ट्र वह जन समुदाय है जो राजनीतिक दृष्टि स सगठित है। लॉर्ड ब्राइस ने भी राष्ट्र के विषय म अपनी ऐसी ही मान्यता व्यक्त की है।

सारांश मे यह कहा जा सकता है कि "सामान्य भाव (Common Spirit) रीति रिवाज तथा सामान्य स्वार्थों के एकीकृत होने से उपराष्ट्र का उदय होता है। यह उपराष्ट्र जब राजनीतिक सगठन का रूप ले लेता है, तब इसे 'राष्ट्र (Nation) के नाम से सबोधित किया जाता है" (गटिल)। मिल ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

राज्य और राष्ट्र मे अन्तर

राज्य और राष्ट्र दोनो शब्दो का प्रयोग बहुधा समान अर्थ मे कर दिया जाता है लेकिन यह राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से गलत है राज्य और राष्ट्र म प्रमुख अन्तर इस प्रकार हैं—

(1) *राष्ट्र का स्वरूप जातीय और सास्कृतिक होता है और उसके लिए* यह आवश्यक नहीं है कि वह एक राज्य के रूप मे भी सगठित हो। राज्य एक राजनीतिक सगठन है। राष्ट्र का निर्माण जहाँ जाति, भाषा, रीति रिवाज तथा धर्म की समानता पर होता है, वहाँ राज्य का मूल आधार वह सार्वभौम सत्ता है जो एक निश्चित प्रदेश के निवासियो पर सरकार के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

(2) राज्य और राष्ट्र में आधार का अन्तर है। राष्ट्र मानव की तुलनात्मक एकता की भावना का मूर्त रूप है, जबकि राज्य पूर्णत एक राजनीतिक अवस्था है। राज्य मानवीय अवस्थाओ का मूर्त रूप है। राष्ट्र की भाति मनुष्य की आध्यात्मिक या अमूर्त भावनाओ से इसका सम्बन्ध आवश्यक नहीं। राज्य न तो एकता की भावना का प्रसार ही कर सकता है और न उसे विनष्ट ही कर सकता है। राष्ट्र शब्द मानव की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भावनाओ द्वारा उत्प्रेरित एकता की चेतना को प्रकट करता है, अत यह आत्मपरक (Subjective) है जबकि राज्यत्व (Statehood) वस्तुपरक (Objective) तथा राजनीतिक है।

(3) राष्ट्र के कोई निश्चित निर्माणकारी तत्त्व नही होते, जबकि राज्य निर्माण के जनसख्या, निश्चित भू भाग, सरकार और सम्प्रभुता आवश्यक तथा निश्चित तत्त्व होते हैं। राज्य के तत्त्व स्थिर होते हैं जबकि राष्ट्र के निर्माणकारी तत्त्व सदा परिवर्तनशील होते हैं। भाषा, धर्म, अतीत आदि तत्त्व, जो एकता की भावना उत्पन्न करते हैं, राष्ट्र का निर्माण करते हैं और ये तत्त्व सदा बदलते रहते हैं।

(4) राज्य एक सार्वभौमिक सस्था है। अपने नागरिको पर उसके अधिकार पूर्ण और अनियन्त्रित होते हैं, परन्तु राष्ट्र के लिए सम्प्रभुता का होना जरूरी नही है। उसका आधार केवल प्रेम भाव है। सम्प्रभुता के गुण के आधार पर एक राज्य

किसी दूसरे राज्य के अधीन रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता, जबकि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की अधीनता मे रहकर भी अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। राज्य के पास दण्ड-शक्ति होती है जबकि राष्ट्र के पास केवल नतिक बल होता है। राज्य आज्ञा देता है, आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करता है और आज्ञा न मानने पर दण्ड देता है किन्तु इसके विपरीत राष्ट्र निवेदन करता है, समझता है और अपने सदस्यो की सद्इच्छा पर ही विश्वास करता है। राष्ट्र के पास राज्य की भाति कोई सगठित राजकीय शक्ति नही होती। उनके पास तो केवल नतिक बल और आध्यात्मिक शक्ति होती है।

(5) सरकार राज्य के लिए आवश्यक है और वह राज्य की आत्मा है। लेकिन राष्ट्र के लिए सरकार जसे किसी राजनीतिक सगठन की कोई आवश्यकता नही है।

(6) राज्य का एक निश्चित अथ है, उसका वज्ञानिक रूप है। परन्तु राष्ट्र के अथ मे निश्चितता और वज्ञानिकता का अभाव होता है।

राज्य और राष्ट्र के अन्तर को सारांश मे व्यक्त करते हुए जिमन का कथन है कि 'राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धम की भाँति चेतना से है। राज्यत्व भौतिक है, राष्ट्रीयता मनोवज्ञानिक है, राज्यत्व राजनतिक है, राष्ट्रीयता मन स्थिति है, राज्यत्व कानूनी स्थिति है राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक सम्पत्ति है, राज्यत्व एक अनिवाय उत्तरदायित्व है, राष्ट्रीयता एक भावना, विचार तथा जीवन का माग है, राज्य समस्त सभ्यतापूण जीवन दशन की एक अविच्छेद दशा है।"

प्रथम विश्व युद्ध के बाद स राज्य और राष्ट्र को समान मानने की प्रवृत्ति बहुत कुछ बढती जा रही है। आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक राज्य मे अकेला एक ही राष्ट्र होना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र को अपने लिए पृथक् राज्य निर्मित करना चाहिए। इस प्रकार एकल राष्ट्रीय-राज्य की प्रवृत्ति वतमान ससार मे काफी मान्य होती जा रही है। एकल राष्ट्रीय राज्य की इस प्रवृत्ति ने पूर्वी यूरोप के मानचित्र मे क्रान्तिकारी परिवतन किए हैं। अफ्रीका और एशिया के नवोदित राष्ट्रों मे इसका प्रभाव स्पष्ट है। साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने वाले सभी राष्ट्र राष्ट्रीय राज्य के रूप में प्रकट हो रहे हैं। यद्यपि सिद्धान्त रूप मे यह कहना बहुत कठिन है कि एकल राष्ट्रीय या बहुराष्ट्रीय म से कौनसा सिद्धान्त वतमान राज्य के लिए अधिक उपयुक्त और लाभदायक है। कुछ लेखको ने बहुराष्ट्रीय राज्य का समथन किया है और प्रसिद्ध लेखक लॉड एक्टन उनमे से एक हैं।

राष्ट्रीय आत्म निर्णय का सिद्धान्त
(Theroy of National Self-determination)

सिद्धान्त की व्याख्या

राष्ट्रीयता के आत्म निणय का मन्तव्य यह है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपनी इच्छानुसार पृथक् सरकार बनाने का अधिकार होना चाहिए। इसमें किसी भी जन

समूह की संयुक्त भावनाएँ और उनके आदर्श सम्मिलित हैं। वास्तव में होता यह है कि जब लोग एक ही भाषा धर्म और नस्ल के होते हैं तो उनमें एक प्रकार से अलग राज्य बनाने की राजनीतिक आकांक्षा जाग्रत होती है। उदाहरणार्थ सन् 1914-18 के महायुद्ध से पहले पोल लोग जर्मनी आस्ट्रिया और रूस के अधीन थे किन्तु अधीन होते हुए भी उनमें अपना राज्य पुनः निर्माण करने की प्रबल राजनीतिक आकांक्षा थी। प्रथम महायुद्ध के बाद यह आकांक्षा पूर्ण हो गई। दक्षिण-पूर्वी यूरोप में स्लाव जाति एक ही धर्म भाषा और नस्ल की है। ये स्लाव लोग अनेक राज्यों में बिखरे हुए थे। किन्तु उनमें एक पृथक् राज्य निर्माण करने की तीव्र राजनीतिक आकांक्षा थी। युगोस्लाविया राज्य के निर्माण के बाद उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति हुई। इसी प्रकार इजराइल की स्थापना के बाद यहूदियों की और पाकिस्तान के निर्माण के बाद मुसलमानों की राजनीतिक आकांक्षाएँ पूरी हुई।

राष्ट्रीय आत्म निर्णय की विचारधारा का जन्म यद्यपि 1815 की वियना कांग्रेस के समय ही हो चुका था, तथापि इस सिद्धान्त का समुचित रूप से सबसे पहले समर्थन जे एस मिल ने अपनी पुस्तक प्रतिनिधि सरकार (Representative Government) में किया। उसने एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' (One Nationality, One State) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसका विचार था कि "एक राज्य में एक ही राष्ट्रीयता होनी चाहिए। स्वतन्त्र संस्थाओं के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक अवस्था है। जिन राज्यों में एक से अधिक राष्ट्रीयताएँ-निवास करती हों उनमें स्वतन्त्र संस्थाओं का अस्तित्व असम्भव हो जाता है। जिस देश की जनता में पारस्परिक सौमनस्य की भावना न हो और विशेषकर जिसके निवासियों की भाषाएँ भी भिन्न हों वहाँ प्रतिनिधि सरकार के जीवन के लिए समुचित जनमत का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए जहाँ भी राष्ट्रीयता का तत्व किसी भी मात्रा में विद्यमान हो, वहाँ उस राष्ट्रीयता को एक ही शासन के अधीन संगठित कर देना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि सरकार का प्रश्न शासितों द्वारा निपटाया जाना चाहिए।"

राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता को निम्न अधिकार अवश्य होने चाहिए—

(1) अस्तित्व का अधिकार—राष्ट्रीयता का प्रथम और स्वाभाविक अधिकार अपना अस्तित्व कायम रखने का अधिकार है। प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को राष्ट्रीयता का नष्ट करने अथवा उसके व्यक्तित्व को ध्यान का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(2) भाषा और साहित्य की उन्नति का अधिकार—प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपनी भाषा और साहित्य की उन्नति करने का अधिकार होना चाहिए। किसी भी राष्ट्रीयता को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह शिक्षा के माध्यम और सरकारी कार्यों के लिए अपनी ही भाषा का प्रयोग करे।

(3) रीति रिवाज प्रथा एवं संस्कृति की रक्षा का अधिकार—प्रत्येक राष्ट्रीयता का यह नैतिक अधिकार है कि वह अपने रीति रिवाजों अपनी प्रथाओं और संस्कृति की रक्षा करे। इन्हीं बातों से किसी जाति विशेष की आत्मा और जीवन की अभिव्यक्ति होती है।

सिद्धान्त का प्रभाव

इस 'एक राष्ट्रीयता और एक राज्य' के सिद्धान्त का 19वीं शताब्दी के अंतिम काल में अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आज बीसवीं शताब्दी में भी इस सिद्धान्त का अस्तित्व है कि एक राज्य यथासम्भव एक ही राष्ट्र रहे। वर्तमान इतिहास में ऐसे कितने ही उदाहरण देखे जा सकते हैं जब कि राष्ट्रीयता के उदय ने राजनीतिक इकाइयों का विभाजन कराया है। इस सिद्धान्त के प्रभाव से ही टर्की, रूस, आस्ट्रिया और हंगरी जैसे बड़े राज्य, जिनमें कई राज्य सम्मिलित थे, छोटे छोटे स्वतंत्र राष्ट्रों में विभक्त हो गए। इस सिद्धान्त का ही प्रभाव था कि एक ही राष्ट्रीयता के कई छोटे छोटे राज्य मिलकर एक हो गए। जर्मनी और इटली दोनों मिल कर एक राज्य बन गए, यह इसी सिद्धान्त का प्रभाव था। इस प्रकार इस सिद्धान्त का प्रभाव राज्यों को तोड़ने और मिलाने में बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुआ है।

प्रथम महायुद्ध (1914-18) के बाद राष्ट्रीयता की भावना ने बहुत जोर पकड़ा। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने पेरिस के शान्ति सम्मेलन में यूरोप की विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लिए आत्म निर्णय के अधिकार का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि यूरोप के कूटनीतिज्ञ इस सिद्धान्त की अवहेलना शान्ति के लिए खतरा मोल लेकर ही कर सकते हैं। 11 फरवरी, 1918 को श्री विलसन ने अपने भाषण में कहा कि, "खेल की गोटों की भाँति निवासियों और प्रदेशों को एक राज-सत्ता (Sovereignty) से लेकर दूसरी राज सत्ता के अधीन करना अनुचित है। प्रत्येक प्रादेशिक समझौता उस स्थल के निवासियों के हितों को दृष्टि में रख कर किया जाना चाहिए। निवासियों की भावनाओं को जहाँ तक हो सके, सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

इस प्रकार 'एक राष्ट्र, एक राज्य' अथवा राष्ट्रीयता के आत्मनिर्णय का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि 'प्रत्येक राष्ट्र की एक माँग होती है और उसे अपना राज्य स्थापित करने का अधिकार होता है। जिस प्रकार संसार के निवासी विभिन्न भागों में बँटे हुए हैं, ठीक उसी प्रकार उन निवासियों को राज्यों में भी विभक्त होना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र का एक राज्य होना चाहिए। राष्ट्रीयता प्रत्येक राज्य का आधार तत्व बनाना चाहिए।"

राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त के प्रभाव के कारण ही इस्टोनिया लेटीविया लिथूनिया और फिनलण्ड के बाल्टिक राज्य तथा मध्य यूरोप के पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया आदि राज्यों की नींव पड़ी। हाल ही में यह राष्ट्रीय आत्म निर्णय का अधिकार एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में नवीन राष्ट्रों को जन्म दे रहा है।

सिद्धान्त की समीक्षा

राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने का परिणाम अच्छा हुआ है या बुरा इसमें दोषों की अपेक्षा गुण अधिक हैं या गुणों की अपेक्षा दोष अधिक हैं यह अत्यन्त विवाद-ग्रस्त विषय है अत किसी निश्चय पर पहुँचने से पूर्व हमे उन तर्कों को देखना होगा जो इसके पक्ष अथवा विपक्ष मे प्रस्तुत किए गए हैं।

पक्ष मे—इस सिद्धान्त के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए गए हैं—

(1) एक राष्ट्रीय राज्य बहुराष्ट्रीय राज्य से उन्नति की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है। एक राष्ट्रीय राज्य के निवासियो मे भ्रातृ भाव और सद्भावना होती है तथा उन मे राष्ट्र-भक्ति की प्रबल चेतना होती है अत वे एक होकर राष्ट्र कल्याण में जुट जाते हैं। इस तरह एक राष्ट्रीय राज्य म सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनो प्रकार के हितो की साधना होती है। इसके विपरीत बहु राष्ट्रीय राज्य मे पारस्परिक मत भेद, ईर्ष्या-द्वेष, खींच तान आदि दुर्गुण प्रभावशाली रूप में व्याप्त होते हैं जिसके फलस्वरूप सामूहिक प्रयत्न नही हो पाते और देश तथा समाज उन्नति की ओर अग्रसर नही हो पाता।

(2) एक राष्ट्रीय राज्य प्रतिनिध्यात्मक शासन की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त होता है। एक राष्ट्रीय राज्य मे एक ही राष्ट्र के लोगो के रहने से उनके हितो मे अधिकतम समानता पाई जाती हैं, अत प्रतिनिध्यात्मक शासन अधिक सफलतापूर्वक सचालित होता है और स्वतन्त्र प्रतिनिध्यात्मक सस्थाएँ विशेष लाभकारी प्रमाणित होती हैं। किन्तु दूसरी ओर, मिल के शब्दो म "अनेक राष्ट्रीयताओ द्वारा निर्मित किसी देश मे स्वतन्त्र सस्थाएँ असम्भव होती हैं। बिना भ्रातृ भाव के लोगो मे, विशेषकर जब वे भिन्न भिन्न भाषाएँ पढते और बोलते हैं प्रतिनिध्यात्मक शासन के सचालन के लिए आवश्यक एकतापूर्ण जनमत सम्भव नही हो सकता।"

(3) एक राष्ट्रीय राज्य मे अल्प-सख्यकों की समस्या नही होती। इस तरह राज्य एक पेचीदा समस्या की उलझनो से बच जाता है और अपनी इस शक्ति का उपयोग सार्वजनिक हित के अन्य कार्यों मे कर सकता है।

(4) एक राष्ट्रीय राज्य बहुराष्ट्रीय राज्यो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है, चूँकि एक राष्ट्रीय राज्य के नागरिक राष्ट्र के प्रति भक्ति से ओत प्रोत होते हैं और राज्य के प्रति उत्पन्न किसी भी सकट को वे स्वय का सकट समझते हैं। राज्य के सकट के समय उसके नागरिको का सयुक्त मोर्चा दुश्मन से अधिक अच्छी तरह टक्कर ले पाता है।

(5) राष्ट्रीय आत्म निर्णय का सिद्धान्त स्वतन्त्रता का परिचायक है। यह सिद्धान्त इस बात को प्रस्थापित करता है कि उन सब राष्ट्रीयताओ को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जो साम्राज्यवादी शिकजे में जकडी हुई हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार साम्राज्यवाद अतिशीघ्र समाप्त हो सकता है।

विपक्ष में—इस सिद्धान्त के विपक्ष मे दिए गए प्रमुख तर्क ये हैं—

(1) एक राष्ट्रीय राज्य म प्राप्त होने वाले जो लाभ हैं वे बहुराष्ट्रीय राज्य मे भी प्राप्त हो सकते हैं। स्विट्जरलण्ड इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि बहुराष्ट्रीय देशो मे स्वतन्त्र सस्थाएँ सुचारु रूप से क्या नही कर सकती ? स्विटजरलण्ड उन्नति के क्षेत्र में किसी भी देश से कम नही है और अनेक राष्ट्रीय तथा अनेक भाषा भाषी राज्य होते हुए भी इसके निवासियो का दृष्टिकोण इतना राष्ट्रीय है कि वहाँ कोई दलगत हित अथवा दलगत दबाव नही है। स्विट्जरलैण्ड तो आदर्श प्रजातन्त्रवाद का घर माना जाता है।

(2) राष्ट्रीय आत्म निर्णय का सिद्धान्त जहा एकता का भाव प्रोत्साहित करता है वहाँ पृथकता के भाव भी जाग्रत करता है। यदि आज इस सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया जाय तो यूरोप में राज्यो की बाढ आ जायगी। स्विटजरलण्ड का छोटा सा राज्य तीन राज्यो म बेल्जियम दो राज्यों मे और ग्रेट ब्रिटेन तीन राज्यो में विभाजित हो जायगा। यदि राज्यो का निर्माण राष्ट्रीयता या जातीयता के आधार पर ही किया जाय तो ससार मे इतने अधिक छोटे छोटे राज्य बन जाएँगे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और विभिन्न राज्यो के बीच अच्छे सम्बन्ध स्वप्न मात्र बन जाएगे।

(3) राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त को पूरी तरह क्रियान्वित कराना भी सम्भव नही है, क्योंकि राष्ट्रीयताओ मे प्राय इतना अधिक पारस्परिक सम्मिश्रण पाया जाता है कि उनकी भौगोलिक सीमाएँ निर्धारित करना लगभग असम्भव है। यदि जातीय, धर्म या भाषा सम्बन्धी आधार पर सगठित प्रत्येक जाति कहलाने वाले जन समुदाय को अपना पृथक् राज्य बनाने का अधिकार दे दिया जाय तो ससार मे अराजकता छा जाएगी।

(4) एक राष्ट्रीय राज्य बहुराष्ट्रीय राज्य से कम प्रगतिशील होता है। एक राष्ट्रीय राज्य मे व्यक्ति की प्रतिभा कुण्ठित रहती है तथा वह कूप मडूक सा बना रहता है क्योंकि अनेक राष्ट्रो की विचारधाराओ से उसका सम्पर्क बहुत कम या नहीं के समान रहता है। इसके विपरीत बहुराष्ट्रीय राज्य मे अनेक राष्ट्रीयताओ का बौद्धिक एव सांस्कृतिक मेल होता है जिसके फलस्वरूप एक दूसरे की कमियाँ पूरी होती रहती हैं।

(5) नस्ल की श्रेष्ठता और राष्ट्रीय हितो की प्रतियोगिता के कारण एक राष्ट्रीय राज्य सुगमता से तानाशाही राज्य बन सकता है। इस तरह एक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था मे लोगों की स्वतन्त्रता कभी भी खतरे मे पड सकती है। इसके विपरीत बहुराष्ट्रीय राज्यो की व्यवस्था मे यह सम्भावना बहुत कम रहती है।

प्रकट है कि न तो एक राष्ट्रीय राज्य और न बहुराष्ट्रीय राज्य पूर्णत उत्तम होते हैं। दोनो की अपनी अपनी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ हैं। दार्शनिक दृष्टि से बहुराष्ट्रीय राज्य श्रेष्ठ हैं क्योंकि उसम 'जीओ और जीने दो' की भावना निहित

होती है, जो अन्तर्राष्ट्रीयता की आत्मा है। यदि सांस्कृतिक स्वतन्त्रता और समान राजनीतिक अधिकार तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के साथ बहुराष्ट्रीय राज्यो की स्थापना हो, तो विश्व राज्य की दिशा मे यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा। लेकिन जब तक यह शर्तें पूरी नही होती, व्यावहारिक राजनीतिक और साम्राज्यवाद से सरक्षरण की दृष्टि से एक राष्ट्रीय राज्य ही उत्तम कहे जाएँगे। कुछ सीमाओं के अन्दर राष्ट्रीयताओ के आत्म निर्णय का अधिकार अच्छा ही है। रूस और स्विट्जरलण्ड ने अपने सघीय ढाँचे में ही राष्ट्रीयता के प्रश्न को सुलझाने मे काफी सफलता प्राप्त की है। इन देशो ने विभिन्न सामाजिक जातीय गुटो का पृथक् व्यक्तित्व स्वीकार किया है और उन्हे अधिकतम सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्रदान की है।

राज्य तथा धर्म धर्म निरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त
(State and Religion . The theory of Secular State)

राज्य के धर्म निरपेक्ष स्वरूप का उदय

धर्म और व्यक्ति का सदा से ही बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और यह व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता रहा है। मानव जाति का राजनीतिक इतिहास बताता है कि दीर्घकाल तक धर्म का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव रहा था। राजा लोग अधिकारपूर्ण ढंग से अपने राज्यो मे उस धर्म विशेष का प्रचार करते थे जिसके वे अनुयायी होते थे। उदाहरणार्थ प्राचीन काल मे हिन्दू राजा हिन्दू धर्म के अनुसार और मुसलमान बादशाह अपनी धार्मिक पुस्तक कुरान के अनुसार शासन चलान का प्रयत्न करते थे। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया था और अहिंसा तथा प्रेम के माध्यम से इस धर्म के प्रचार के लिए अथक् प्रयत्न किया था। अनेक राज्यों के राजाओं ने तो नए धर्म तक चलाए थ। प्राचीन काल मे अधिकांश राज्यो का स्वरूप ही धार्मिक था और राज्य की सत्ता ही ईश्वर से उद्भूत मानी जाती थी। धर्म की प्रधानता इतनी अधिक थी कि धर्म की परिधि के बाहर राजनीति का कोई मूल्य ही न था। उस समय राजनीतिक क्रिया कलाप भी धार्मिक विधि (Canon Law) द्वारा नियन्त्रित होते थे।

लेकिन राज्य और धर्म के इस गठबन्धन का एक कुपरिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर तथा धर्म की आड में शासक-गण धर्मान्ध जनता का अनुचित शोषण करने लगे। राज्य का रूप ईश्वरीय मान कर, राज्याज्ञा को ईश्वरीय आदेश बताया गया तथा भोली भाली जनता से उस पर आचरण कराया गया, चाहे वह राज्याज्ञा कितनी ही अनुचित क्यो न हो। सक्षेप म, धर्म की आड म व्यक्ति के उचित महत्त्व को समाप्त कर दिया गया और उसे धर्म पर आधारित राज्य का साधन मात्र बना दिया गया।

राज्य और धर्म के इस अपवित्र गठबन्धन और धर्म के नाम पर शासकों के

शोषण के प्रति स्वभावत कालान्तर मे एक भीषण प्रतिक्रिया हुई। राज्य और धर्म मे संघर्ष का सूत्रपात हुआ और अन्त मे राज्य ने धर्म की प्रधानता को अस्वीकार कर दिया। शनैं शनैं धर्म पर आधारित राजनीति का महत्व घटता गया और सर्वत्र यह विश्वास बल पकडने लगा कि राजनीति और धर्म को पृथक रहना चाहिए। यह विचार लोकप्रिय हो गया कि राज्य के अधीन धर्म का रूप विकृत हो सकता है, अत धर्म का विकास राज्य से पृथक् स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए। आज यह बात प्राय सर्वत्र मान्य समझी जाती है कि राजनीति और धर्म का सम्मिश्रण व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अहितकर है और राज्य को धर्म के क्षेत्र मे तटस्थता की नीति अपनानी चाहिए। इस विचारधारा के आधार पर राज्य के जिस स्वरूप का उदय हुआ है उसे ही हम धर्म निरपेक्ष राज्य (Secular State) कहते हैं।

धर्म निरपेक्ष राज्य का यह उदय आधुनिक युग की एक महान् देन है। प्रजातन्त्र के लिए तो यह विशेष रूप से आवश्यक है कि राज्य धर्म निरपेक्ष रहे। जो प्रजातन्त्र शासन नागरिकों के धार्मिक मामलों मे हस्तक्षेप करते हैं व अधिक समय तक नही टिक सकते। आज कतिपय अपवादों को छोडकर प्राय यह स्वीकार कर लिया गया है कि धार्मिक राज्य मानवता की प्रगति मे बाधक है और उसके विकास को मध्यकालीन युग की ओर ले जाते हैं।

धर्म निरपेक्ष राज्य का स्वरूप

धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जिसमे शासन द्वारा किसी धर्म विशेष का प्रचार, प्रचलन व नियन्त्रण नही किया जाता। वह राज्य सभी नागरिकों को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के समान रूप से सुविधाएँ प्रदान करता है। धर्म निरपेक्ष राज्य सार्वभौम धार्मिक सहिष्णुता की नीति का द्योतक है और धर्म के आधार पर व्यक्ति अथवा समुदाय के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नही करता।

डॉ राधाकृष्णन् के अनुसार, जब किसी राज्य को धर्म निरपेक्ष राज्य कहा जाता है तो यह अर्थ नहीं होता कि हम जीवन के प्रति धर्म के लगाव को अस्वीकार करते हैं अथवा धर्महीनता को बढ़ावा देते हैं। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि धर्म निरपेक्षता अपने आप मे कोई ठोस धर्म है अथवा राज्य को कोई दैवी विशेषाधिकार प्राप्त हो गए हैं। इसका अर्थ केवल यही है कि राज्य किसी धर्म विशेष से स्वयं को सम्बद्ध नहीं करेगा और न ही किसी विशिष्ट धर्म द्वारा नियन्त्रित होगा। धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक सर्वाधिकार के सिद्धान्त का अनुसरण करता है, तथापि सामाजिक हित मे किसी व्यक्ति या समाज विशेष की धार्मिक स्वतन्त्रता व अधिकार की रक्षा के लिए लोगों के धार्मिक मामलों मे हस्तक्षेप कर सकता है। धर्म निरपेक्ष राज्य मे सीमित हस्तक्षेप का सिद्धान्त आवश्यक होता है। धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता को सरकार शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से नियन्त्रित कर सकती है। भारत मे धर्म निरपेक्षता का यही आदर्श अपनाया गया है।

धर्म निरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ

धम निरपेक्ष राज्य के स्वरूप के विश्लेषण से उसकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(1) धम निरपेक्ष राज्य धार्मिक रूप से तटस्थ होता है, पर वह नास्तिक अथवा अनैतिक नहीं होता।

(2) धर्म-निरपक्ष राज्य सर्वाधिकारवाद का पोषक नही होता। वह धम को आन्तरिक विश्वास और व्यक्तिगत जीवन की वस्तु मानता हुआ तब तक हस्तक्षेप नही करता जब तक धम के नाम पर शान्ति और सुरक्षा को खतरा पदा न हो।

(3) धम निरपेक्ष राज्य अन्त करण की स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है। वह मानता है कि सामाजिक सगठन का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति होना चाहिए, न कि धार्मिक समुदाय, अत ऐसे राज्य मे प्रजातान्त्रिक तरीको से सभी नागरिको को समान अधिकार प्रदान किए जाते हैं।

(4) धम निरपेक्ष राज्य बहु-जातीयता के विचार पर आधारित होता है। वह यह मानकर चलता है कि हर राज्य मे विभिन्न धम सम्बन्धी मत मतान्तरो का पाया जाना स्वाभाविक है तथा सभी को राज्य की ओर से उचित प्रश्रय दिया जाना चाहिए और उनके प्रति राज्य को सहिष्णुता का व्यवहार करना चाहिए।

(5) स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू की मान्यता थी कि धम निरपेक्षता का सिद्धान्त सामाजिक क्षेत्रो मे भी फलना चाहिए। एक ऐसा समाज जिसमे अनेक जातिया और धम हैं, वास्तव में धम निरपेक्षता के सच्चे आदश तक तभी पहुँच सकता है जब विभिन्न धर्मों के सह अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय। धम निरपेक्ष राज्य म एसे सामाजिक ढाँचे का निर्माण आवश्यक है जिसम धम के नाम पर व्यक्ति को सामाजिक असमानताओ का सामना न करना पडे।

धर्म निरपेक्ष राज्य का मूल्यांकन

धम निरपेक्षता राज्य का एक महान् आदर्श है और राष्ट्रीय एकता के लिए धम निरपेक्ष राज्य आवश्यक है तथापि अनेक आधारा पर राज्य की धम निरपेक्षता की आलोचनाएँ की जाती हैं। हम इन आलोचनाओ को प्रस्तुत करेंगे और साथ ही देखेंगे कि ये वास्तव में पर्याप्त सीमा तक भ्रामक हैं—

1 आलोचको के अनुसार धम निरपेक्ष राज्य सरलता से विकृत हो जाते हैं। उनमे समाज-सेवा की भाव ा उत्पन्न नही होती। वे मानव के नतिक हितो की पूर्ति नहीं कर सकते क्योंकि उनका आधार सदव भौतिक होता है। लेकिन यह विचार त्रुटिपूर्ण है। राज्य की धर्म निरपेक्षता का अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य नतिक और आदर्शात्मक भावनाओ का विरोधी हो जाता हो। इसका तात्पय तो केवल यही है कि राज्य किसी धम विशेष को नही अपनाता, सब धर्मों को समान समझता है तथा उन्हें इस बात का पूरा अवसर देता है कि व्यक्ति की नतिक और

आध्यात्मिक उन्नति में वे अपना योग दें। इस तरह राज्य की धर्म निरपेक्षता व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से हितकारी ही है।

2 कुछ आलोचकों का कहना है कि धर्म निरपेक्षता की विचारधारा के कारण राज्य का छिन्न भिन्न हो जाना अधिक सम्भव है क्योंकि ऐसे राज्य में उस धार्मिक एकता का अभाव हो जाता है जो राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, लेकिन इतिहास साक्षी है कि राज्य की ओर से जब-जब धार्मिक एकता के प्रयास किए गए हैं तब तब धार्मिक मतभेद पैदा हुए हैं और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ी है। धर्म निरपेक्ष राज्य सब व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है और ऐसा करने से चाहे धार्मिक एकता भले ही न रहे, धार्मिक खींच-तान के आधार पर राष्ट्रीय एकता को कोई भय नहीं होता।

3 तीसरी आलोचना यह की जाती है कि धर्म निरपेक्ष राज्य लोक कल्याणकारी नहीं हो सकता। ऐसा राज्य धर्म और नैतिकता के प्रति उदासीन होता है अतः लोगों की प्रवृत्ति अधिकाधिक भौतिक होती चली जाती है जिसके परिणामस्वरूप राज्य में लोक कल्याणकारी तत्त्वों का ह्रास होता चला जाता है और स्वार्थपूर्ण भावना पनपती है। पर इस आलोचना में भी दम नहीं है। राज्य की धर्म निरपेक्षता उसे नैतिक आदर्शों पर चलने और उच्च आध्यात्मिक भावनाओं को अपनाने से नहीं रोकती। धर्म निरपेक्ष राज्य तो सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व बन्धुत्व आदि सबमान्य नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रति अधिक आस्थावान होते हैं। ऐसे राज्य में समाज सेवा जैसी नैतिक भावनाएँ पूर्णतः विकसित हो सकती हैं। अतः धर्म निरपेक्ष राज्य स्वभावतः लोक कल्याणकारी होते हैं। भारत इसका जीता जागता उदाहरण है।

4 एक आलोचना यह भी की जाती है कि धर्म निरपेक्ष राज्य सरलतापूर्वक विकृत होकर फासीवाद और अधिनायक-तन्त्र का रूप धारण कर सकता है। फासीवाद और अधिनायकतन्त्रीय राज्यों में भी नैतिकता जैसी आदर्श भावनाओं की कोई परवाह नहीं की जाती और व्यक्ति या तानाशाह राज्य की सम्पूर्ण सत्ता को अपने में केन्द्रित कर लेता है। चूँकि धर्म-निरपेक्ष राज्य में भी धार्मिक और नैतिक भावनाओं का पोषण नहीं होता, अतः ऐसे वातावरण में यह सम्भव है कि कोई शक्तिशाली शक्ति राज्यसत्ता हथियाकर राज्य को फासिस्ट या [illegible] राज्य का रूप दे दें। किन्तु यह आलोचना निराधार है। राज्य [illegible] का उसके शासन के रूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता। [illegible] राज्य धर्म निरपेक्ष हो सकता है। शासन का चाहे कोई [illegible], राज्य की धर्म निरपेक्षता का उद्देश्य केवल यही होता है कि राज्य [illegible] आध्यात्मिक और धार्मिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहेगी। इसके [illegible] होने का प्रश्न है धर्म पर आधारित राज्य [illegible] सकता है। वास्तविकता यही है कि [illegible]

प्रवृत्ति के प्रतिकूल होती है, क्योंकि फासीवाद और अधिनायकवाद की तरह यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को अपना नहीं समझता वरन् धर्म के क्षेत्र में व्यक्ति और धर्म सम्प्रदायों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

स्पष्ट है कि धर्म निरपेक्ष राज्य के विरोध में दिए गए तर्क अधिकांशत इस भ्रामक विचार पर आधारित हैं कि धर्म निरपेक्षता और धर्म विरोध एक ही बात है। सत्य यह है कि राज्य की धर्म निरपेक्षता का धर्म धार्मिक क्षेत्र में लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करता है। राज्य की धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त तो इस कथन को दुहराता है कि—'जो कुछ सीजर का है, उसे सीजर को दे दो और जो कुछ ईश्वर का है उसे ईश्वर के अर्पण कर दो।' धर्म निरपेक्षता का विचार मानवता के विकास में विशेष योग देने वाला है। यह धार्मिक अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना पैदा करता है, जिससे राष्ट्रीय एकता में अभिवृद्धि होती है।



10

राज्य के कार्य–व्यक्तिवादी (लैसेफेयर) और सामाजिक सिद्धान्त–कल्याणकारी राज्य की धारणा

(FUNCTIONS OF STATE—LAISSEZ-FAIRE AND SOCIALISTIC THEORIES—THE CONCEPT OF WELFARE STATE)

राज्य का कार्य क्षेत्र क्या होना चाहिए, राज्य को किन कार्यों को करना चाहिए और किन क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किस सीमा तक राज्य को अपने क्षेत्र को सीमित करना चाहिए—आदि प्रश्नों के उत्तर शताब्दियों से विद्वानों द्वारा दिए जाते रहे हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किए गए हैं जिन्होंने राजनीतिक विचारधारा में विभिन्न वादों का रूप ग्रहण किया है। अग्रिम पृष्ठों में हम इस विषय पर प्रतिपादित कुछ मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे।

व्यक्तिवादी (लैसेफेयर) सिद्धान्त
(The Individualistic or Laissez faire Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में जान लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल और हरबर्ट स्पेंसर के नाम प्रमुख हैं। यह सिद्धान्त 19वीं शताब्दी में लोकप्रियता के चरमशिखर पर था। इस सिद्धान्त को 'लसे फेयर' (Laissez-faire) का सिद्धान्त भी कहा जाता है जिसका अर्थ है "व्यक्ति को अकेला छोड़ दो ताकि वह जो चाहे कर सके।"

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की व्याख्या

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है और मनुष्य स्वभाव से ही एक स्वार्थी जीव है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सबसे पहले वह अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहता है। अतः मानव के सही मार्ग-दर्शन के लिए यद्यपि यह वांछनीय नहीं पर आवश्यक जरूर है कि राज्य को कायम रखा जाय। राज्य मानव की अपराधी एवं पाशविक प्रवृत्तियों पर एक आवश्यक नियन्त्रण है।

के शब्दो मे, "व्यक्तिवादियो की यह मान्यता है कि राज्य का अस्तित्व अपराधी की उपस्थिति पर ही आधारित है अत राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य रक्षा और अपराधो को रोकना हो जाता ह, न कि विकास और उन्नति।"

व्यक्तिवाद राज्य के कार्य क्षेत्र पर रोक लगाना चाहता है। राज्य के कार्य एव कानून नागरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप हैं अत राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित किया जाना चाहिए। फ्रीमन के अनुसार, 'सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है।" व्यक्तिवादी राज्य को समाप्त नही करना चाहते। वे केवल राज्य के कार्यों को कम कर देने के पक्ष मे हैं ताकि व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। राज्य को कोई ऐसा अधिकार नही दिया जाना चाहिए जिसमे वहा के नागरिको के व्यक्तित्व का हनन हो। राज्य का कार्य नकारात्मक (Negative) है और वह यह कि व्यक्ति की प्राकृतिक उन्नति के मार्ग मे जो बाधाएँ हो उन्हे हटा दे (To binder the hinderances)। मानव की भलाई करना अथवा उसकी उन्नति का प्रबन्ध करना, राज्य का काय नही है। राज्य को तो मूलरूप मे केवल एक पुलिस राज्य होना चाहिए। व्यक्तिवादी चाहते हैं कि राज्य को समाज में शान्ति और व्यवस्था (Law and Order), देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा (Defence) तथा नागरिकों के जान और माल की हिफाजत (Protection) करनी चाहिए। स्कूल और कॉलेज वाचनालय और अजायबघर, अस्पतालें इत्यादि खोलना राज्य का काय नही है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"मनुष्य जाति का अपने किसी सदस्य को आचरण की स्वतन्त्रता मे वयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करना केवल आत्मरक्षा के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। किसी सभ्य समाज के किसी सदस्य के विरुद्ध उसकी इच्छा के विपरीत शक्ति का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब कि वह दूसरो को हानि पहुँचाता हो। उसके स्वय के भौतिक अथवा नतिक कल्याण के लिए उसके जीवन मे हस्तक्षेप करना उचित नही है, क्योंकि व्यक्ति अपने आचरण के केवल उसी अग के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जिसका सम्बन्ध दूसरों से है। जिस काय का सम्बन्ध केवल उसके स्वय के जीवन से है उसके विषय मे उसकी स्वतन्त्रता का अधिकार निरपेक्ष है। अपने तथा अपने शरीर व मस्तिष्क का व्यक्ति स्वय प्रभु है।"

राज्य के कार्यों के बारे में सभी व्यक्तिवादी एकमत नही हैं। हरबट स्पन्सर ने राज्य के तीन काय सुझाये हैं—

1 व्यक्ति की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना।
2 व्यक्ति की आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करना।
3 विधिवत् सम्पादित सविदाओं का पालन करवाना।

लेकिन अन्य व्यक्तिवादी राज्य को कुछ अ य काय भी सौंपने को सहमत हैं। उनके अनुसार राज्य के अधिक से अधिक काय निम्नलिखित हैं—

1 राज्य एव नागरिको की बाह्य आक्रमण से रक्षा।
2 नागरिका की आपसी सुरक्षा अर्थात् व्यक्तियो को शारीरिक क्ष त आदि से बचाना।
3 सम्पत्ति की लूट मार एव क्षति से रक्षा करना।
4 व्यक्तियो की मविदाओ को भग करने वालो से रक्षा करना।
5 अपाहिजो अथवा अशक्तो की रक्षा करना।
6 सक्रामक रोगा को रोकना और उनके फल जाने पर व्यक्तिया की समुचित सहायता करना।

अतिम दो कार्यों को सब व्यक्तिवादी स्वीकार नहीं करते।

व्यक्तिवादियो द्वार अपने सिद्धान्त के पक्ष मे तर्क

(1) नैतिक तक—मनुष्य उन्नति तभी कर सकता है जब उसे स्वतन्त्र छोड दिया जाय। बाहरी सहायता से मनुष्य मे स्वय उन्नति करने की शक्ति क्षीण होती है। बाहरी सहायता से व्यक्ति के विकास के साथ ही समाज का विकास भी अवरुद्ध होता है। राज्य का अनावश्यक हस्तक्षेप व्यक्तियो की प्रसन्नता का हनन करता है। व्यक्तिवादी स्वतन्त्र प्रतियोगिता को शासन-प्रणाली को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि 'स्वतन्त्र प्रतियोगिता व्यक्ति मे कुशाग्रता की उच्चतम सम्भावनाओ की वृद्धि करती है और उत्साहवद्धन करती है तथा आत्मविश्वास की भावना को सुदृढ बनाती है जबकि सरकार की गतिविधियो का बाहुल्य न केवल प्रेरणा और पुरुषाथ मे हस्तक्षेप करता ह बल्कि चरित्र-गठन का भी हनन करता है और व्यक्तियो के बीच के स्वाभाविक सघष मे बाधक बनकर सामाजिक स्तर को साधारणतया निम्न कर देता है।' जॉन स्टुअट मिल (J S Mill) का कथन है कि, शासन का अत्यधिक हस्तक्षेप जब किसी को उसकी प्रकृति के अनुसार काय करने अथवा वांछनीय रूप म किसी क विवेकानुसार क्रियाशील होने से वचित करता है, तो शारीरिक या मानसिक गुणो का कुछ अश विकास से वचित रह जाता है।

(2) आर्थिक तक—व्यक्तिवादियो के अनुसार समाज की आर्थिक उन्नति भी स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही सम्भव है। व्यापार की उन्नति स्वतन्त्र प्रतियोगिता के क्षेत्र मे ही होती है। माँग और पूर्ति की आर्थिक शक्तियो को स्वाभाविक गति से चलने दिया जाना चाहिए। यदि राज्य उसमे हस्तक्षेप का प्रयत्न करेगा तो उनका सन्तुलन बिगड जायगा और चोरबाजारी, जमाखोरी तथा अधिक लाभ अर्जित करने आदि की बुराइयाँ फल जायेंगी। व्यक्तिवादियो के अनुसार व्यक्ति स्वय अपने हित को सबसे अधिक चिन्ता कर सकता है। यदि राज्य का हस्तक्षेप न हो और प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता हो तो सम्पूण समाज की भलाई होगी। निरी

उपक्रमो के सचालन से उद्योगो की बहुत उन्नति होती है। सरकारी प्रतिबन्धो से सम्पूर्ण आर्थिक सगठन का स्वरूप विकृत हो जाता है।

(3) वैज्ञानिक तर्क—हर्बर्ट स्पेंसर ने इस सिद्धान्त का समर्थन वैज्ञानिक आधार पर किया है। प्रकृति का नियम है कि बलवान जीवित रहते हैं और दुर्बल प्राणी नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति म निरन्तर एक जीवन-सग्राम चलता रहता है जिसका उद्देश्य होता है कि दुर्बल एव अनुपयुक्त जीव समाप्त हो जाएँ, तथा सबल एव उपयुक्त जीव ही शेष रहे। अतएव यदि सरकार आर्थिक या सामाजिक बातो में हस्तक्षेप करती है और निर्धन या दुर्बलो की सहायता करती है तो इससे जीवन सग्राम में विघ्न पडता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति व्यक्ति के मध्य स्वतन्त्र प्रतियोगिता का समर्थक है। अतएव निर्बल, अशक्त एव बुद्धिहीनो के लिए समाज में कोई स्थान नही है। व्यक्ति को राज्य की कृत्रिम सहायता के बिना उसकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर उन्नति या अवनति करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

(4) व्यावहारिक तर्क—व्यक्तिवादियो का व्यावहारिक तर्क यह है कि सरकारी मशीन प्राय भ्रष्ट एव निकम्मी होती है तथा लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। फलस्वरूप कभी काम अच्छा नही होता। सार्वजनिक कार्यों मे सरकारी कर्मचारियो का कोई निजी हित नही होता अत वे प्राय ईमानदारी और रुचि से काम नही करते। इसके विपरीत जिन कार्यों मे व्यक्ति का निजी हित निहित होता है उन्हें वह स्वभावत अधिक तत्परता और योग्यता से करने का प्रयास करते हैं। लेकी ने सरकारी हस्तक्षेप की हानियाँ बताते हुए कहा है कि 'इसके द्वारा व्यक्तिगत उद्यम क्षीण हो जाता है, उत्तरदायित्व की भावना सकीर्ण होती है, स्वातन्त्र्य प्रेम का ह्रास होता है और सरकारी वर्ग की एक फौज तयार हो जाती है। सभी विभागो के नियमन से एक ऐसा समाज बन जाता है जिसके सदस्य सरकारी करो की आय पर निर्भर रहते हैं। सरकारी हस्तक्षेप मे नागरिको की विवेक-बुद्धि आत्म निर्भरता, प्रतिज्ञा की भावना और चारित्रिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सरकारी हस्तक्षेप व कर का भार इतना बढ जाता है कि राष्ट्रीय अहित होने लगता है।"

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना

(1) राज्य व्यक्ति के लिए अहितकर नही है। राज्य तो समाज के हितो की पूर्ति करता है अत समाज के अस्तित्व के लिए वह आवश्यक है। गार्नर के शब्दो मे "आज के जटिल एव सभ्य जीवन म राज्य का कार्य व्यक्तियो को केवल दबाना नही है और न केवल उनका निषेधात्मक नियमन करना ही है। राज्य का मूल्य दबावपूर्ण दण्ड की अपेक्षा बहुत अधिक है। वह सार्वजनिक भलाई का सस्थान करता है, उसे प्रोत्साहित करता है और कार्यान्वित करता है।"

(2) व्यक्तिवाद का आर्थिक दृष्टिकोण औद्योगिक युग म सही नही माना जा सकता। व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था पूँजीवाद को जन्म देती है जिसम मजदूरो की

भलाई नहीं हो सकती। गिलक्राइस्ट के अनुसार व्यक्तिवाद आधुनिक जीवन की जटिलताओ के लिए पूणत अनुपयोगी सिद्ध हुआ है।

(3) यह सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर सहयोग के स्थान पर सघष का समथन करता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग अस्तित्व है और दूसरे व्यक्तियो से उसका सम्बन्ध नही है। पर यह धारणा निमूल है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का हित समाज या राज्य के हित स अलग नही है।

(4) स्वतन्त्रता का वास्तविक अथ हस्तक्षेप का अभाव नही है अपितु उन अवस्थाओ का होना ह जिनम व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधिकाधिक विकास सम्भव हो सके। स्वतन्त्रता का वास्तविक अथ वांछनीय तथा लाभकारी काय करने की सुविधायें ह और सरकार अपने कार्यों द्वारा हमे य सुविधाएँ प्रदान करती है। आवश्यक प्रतिबन्ध के अभाव मे वास्तविक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नही रह सकता।

(5) समाज म व्यक्ति समान रूप स समथ योग्य, धनी एव शक्तिशाली नहीं होते। यदि राज्य निबलो की सबलों स और गुण्डो स भल आदमियो की रक्षा न करे तो समाज मे अन्याय एव अशान्ति का बोलबाला हो जाय।

(6) व्यक्तिवादी यह नही बतलात कि जीवन सग्राम क लिए किसे सबसे उपयुक्त प्राणी माना जाय सर्वाधिक धनी को, बुद्धिमान को या शक्तिशाली को? फिर वे इस पर भी मौन हैं कि समाज मे बच्चो स्त्रियो तथा बीमारो के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं क्योकि ये लोग स्वभावत औरो के आक्रमणो से अपनी रक्षा स्वय नही कर सकते।

(7) प्राणिशास्त्र के जीवन सग्राम के नियम मनुष्यो पर पूणतया लागू नही हो सकते क्योकि मनुष्य पशु न होकर एक विवेकशील और नतिक प्राणी ह।

(8) आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिवाद शोषण को प्रश्रय देता है और उपभोक्ताओ के हितो के दमन म सहायता देता है। व्यक्तिवादियो के आर्थिक सिद्धान्त के परिणामस्वरूप लोग भूखो मरते हैं, मजदूरो को कम मजदूरी मिलती है और *सफाई तथा स्वास्थ्य की सुव्यवस्था नही होती।*

(9) व्यक्तिवादी स्वभाव स ही मनुष्य को स्वार्थी मानत हैं परन्तु यह अस्वाभाविक तक है। मनुष्य म त्याग तथा समाज-सेवा की भावना होती ह।

(10) व्यक्तिवादी राज्य तथा सरकार मे भेद नही करते।

(11) व्यक्तिवादियो का यह कहना है कि व्यक्ति स्वय अपने हित को सबसे अधिक समझता है किन्तु मादक पदार्थों का सेवन करने वाले तथा व्यभिचारी अपने हित की चिन्ता नही करते। इन पर राज्य का नियन्त्रण होना वाछनीय है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त आज लगभग मृतप्राय हो चुका है किन्तु इसके गुण आज समाजवादी युग म भी कम महत्त्वपूण नही हैं। गिलक्राइस्ट क

"आत्म विश्वास बढाने मे, अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप का विरोध करने में, व्यक्ति को समाज का अमूल्य अग बनाने मे, व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने आधुनिक विचारधारा पर अपना अमिट प्रभाव डाला है। हस्तक्षेप सम्बन्धी काननो को निरस्त कराने में इसी सिद्धात का अमूल्य योगदान है। बीसवी शताब्दी मे बढते हुए अधिनायकवाद ने आज व्यक्ति की स्वतन्त्रताओ को समाप्त कर उसे राजनीतिक दासता के चंगुल मे फँसाने का प्रयास किया है। साम्यवाद फासीवाद, नाजीवाद, आदि की इन्ही तानाशाही प्रवृत्तिया के विरोधस्वरूप राजनीतिक दशन मे व्यक्ति पुन अगडाई ले रहा है। सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) के विरुद्ध व्यक्ति की यह प्रतिक्रिया आधुनिक व्यक्तिवाद (Modern Individualism) कहलाती है।

समाजवादी सिद्धान्त
(The Socialistic Theory)

राज्य के कार्यक्षेत्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धात समाजवादी है जो आदशवाद और व्यक्तिवाद दोनो के बीच का माग अपनाता है।

समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या

व्यक्तिवादी राज्य के कत्तव्यो के सिद्धान्त के पश्चात् राजनीतिक विद्वानो ने एक दूसरे सिद्धात का प्रतिपादन किया जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्तर कर, सम्पूर्ण अधिकार राजसत्ता को सौंप देने का प्रयत्न किया गया। यह समाजवादी सिद्धात कहलाया जो व्यक्तिवादी सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत है। समाजवादियो ने व्यक्तिवाद का पूण निषेध किया है उसे अनुचित, असत्य तथा निरथक कह कर पागलपन का सिद्धात ठहराया है। यदि व्यक्तिवादी राज्य को दूषित सस्था मानते हैं तो समाजवादी इसे एक उपयोगी सगठन समझते हैं। व्यक्तिवादी राज्य का पुलिस राज्य (Police State) का काय सौंपना चाहते हैं तो समाजवादी मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राज्य के नियन्त्रण के पक्षपाती हैं। व्यक्तिवादियो के सवथा विपरीत समाजवादी पूणरूपेण राज्य को आर्थिक क्षेत्र का स्वामी बना देत हैं और पूँजीवादी प्रथा को समूल नष्ट कर देना चाहते हैं।

समाजवाद की यद्यपि अनेक परिभाषाएँ का गई हैं तथापि समाजवादी, चाहे उनका कुछ भी मत हो, निम्नलिखित बातों पर एकमत हैं—

(1) उत्पादन और वितरण के साधनो से व्यक्तिगत प्रभुत्व के स्थान पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना।

(2) उत्पादन की सीमा का निणय लाभ के विचार से न करके सामाजिक आवश्यकता के आधार पर करना।

(3) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा का सिद्धान्त स्थापित करना।

(4) स्वतन्त्र प्रतियोगिता के द्वारा मनमाने उत्पादन के स्थान पर सहयोग और निश्चित उत्पादन की स्थापना करना।

(5) राष्ट्रीय ग्राय का यायपूण वितरण एव योजनावद्ध प्रगति द्वारा ग्रार्थिक ग्रसमानताग्रो का निराकरण ।

समाजवादिग्रो के पक्ष मे तक

(1) समाजवादियो का कहना है कि वतमान पूँजीवादी व्यवस्था याय पर ग्राधारित नहीं है । इस व्यवस्था मे धनी ग्रधिकाधिक धनी ग्रौर गरीब ग्रधिकाधिक गरीब होते जाते हैं जिसके कारण समाज म भयकर वगभेद उत्पन्न हो जाता है ग्रौर वग सघप चलता रहता है । पूँजीवादी व्यवस्था के कारण शिक्षा, चिकित्सा ग्रादि की भी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती । दूसरी ग्रोर पूँजीपतियो के पास प्रचुर धन रहता है । वे समाज के लिए कोई काम नही करत, फिर भी सब सुख-सुविधाग्रो का उपभोग करत हैं ग्रत पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर राज्य के सब काय समाजवादी व्यवस्था पर ग्राधारित होन चाहिए ताकि ग्रधिकाधिक लोग सुखी जीवन बिता सकें ।

(2) पूँजीवादी व्यवस्था मे ग्रपव्यय होता है । पूँजीपति ग्रधिक से ग्रधिक लाभ उठाने क लिए चीजो मे मिलावट, चोरबाजारी तथा सस्ते माल के निर्माण करते ग्रौर विज्ञापन पर बहुत ग्रधिक खच करते हैं जिसके फलस्वरूप सामाजिक धन का ग्रपव्यय तथा ग्रनतिकता का प्रसार होता है । समाजवादियो की मायता है कि समाजवादी व्यवस्था मे कोई प्रतियागिता नही रहेगी, ग्रत सामाजिक धन ग्रौर श्रम की बर्बादी का ग्रत हो जायेगा ।

(3) पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन ग्रौर वितरण योजना के ग्रनुसार नही होता । पूँजीपति ग्रपने लाभ की दृष्टि से उपाजन करने मे समाज की ग्रावश्यकताग्रो का ध्यान नही रखते । इसके परिणामस्वरूप कुछ चीजें ग्रावश्यकता से ग्रधिक उत्पन्न हो जाती हैं ग्रौर कभी कभी तो उनके लिए खरीददार तक नहीं मिलते । साथ ही ग्रनेक वस्तुएँ इतनी कम मात्रा मे उत्पादित की जाती हैं कि लोगो को वे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं हो पाती । चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था म ग्रधिकांश लोग गरीब होते हैं उनकी काय शक्ति बहुत कम होती है ग्रौर वे ग्रपनी ग्रावश्यकताग्रो की चीजें क्रय नही कर पात इसलिए पूँजीपति विलास की वस्तुएँ ग्रधिक मात्रा मे पदा करते हैं जिन्हें धनी लाग खरीद सकते हैं ग्रौर जिनसे उन्हें ग्रधिक लाभ प्राप्त होता है ।

(4) पूँजीवादी व्यवस्था युद्धो को जन्म देती है । पूँजीवादी राष्ट्र ग्रपना माल बेचने के लिए ग्रौद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो पर ग्रपना ग्रधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं । इससे पारस्परिक प्रतियागिता ग्रौर तनाव मे वृद्धि होती है । पिछले दो महायुद्धो का एक मुख्य कारण यही था ।

समाजवादियों का दावा है कि समाजवादी ग्रथव्यवस्था म उपयुक्त बुराइयाँ नही रहेंगी । समाजवादी व्यवस्था में वर्ग भेद नहीं रहेगा, बेकारी ग्रौर भुखमरी नही रहेगी, ग्रार्थिक प्रतिस्पर्द्धा का ग्रत हो जायगा, उत्पादन ग्रौर वितरण योजनाबद्ध होगा । उन्ही वस्तुग्रो का उत्पादन किया जाएगा जो समाज

आवश्यक होगी। समाजवादी व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार काम देना राज्य का कर्त्तव्य होगा। कोई भी व्यक्ति दूसरे के परिश्रम से लाभ नही उठा सकेगा और इस तरह मनुष्य वास्तविक अर्थ मे स्वतन्त्र हो सकेगा। आर्थिक कठिनाइयो से मुक्त होने पर मनुष्य अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास की दिशा में अधिक से अधिक अग्रसर हो सकेगा। समाजवादी राज्य इस तरह वास्तविक अर्थ मे लोकतान्त्रिक होगा और जनता के सामूहिक हितो का प्रतिनिधित्व करेगा। राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार से व्यक्ति और समाज दोनो का ही कल्याण होगा।

समाजवाद के गुण

1 समाजवादी सिद्धान्त मनुष्य के लिए न्याय की माग करता है और वर्तमान सामाजिक सगठन के दोषो का विरोध करता है। वर्तमान सगठन मे धन तथा सुविधाओ की बहुत असमानता है। समाजवाद इस असमानता और इससे होने वाले दोषो का निराकरण करना चाहता है।

2 समाजवाद एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है जो प्रतियोगिता के स्थान पर निश्चित योजनानुसार उत्पादन करने मे विश्वास रखता है ताकि सीमित साधनों द्वारा अधिकाधिक सामाजिक हित प्राप्त किये जा सकें।

3 समाजवाद त्याग एव सेवा पर अधिक बल देता है तथा परिश्रम के महत्त्व को स्वीकार करता है।

4 समाजवाद व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक साधनो की प्रगति पर बल देता है चूँकि भूखा मरता प्राणी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकता।

5 समाजवाद मजदूरो और किसानो के लिए एक प्रेरणादायक सन्देश है क्योकि यह पूँजीवाद का अन्त कर किसानो और मजदूरो का हित चाहता है तथा मानवमात्र के लिए आर्थिक न्याय की माँग करता है।

समाजवाद की आलोचना

समाजवाद ने औद्योगिक व्यवस्था के जो दोष बताये हैं वे अधिकतर सही है किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि केवल समाजवादी व्यवस्था द्वारा ही इन दोषो का निराकरण हो सकता है। समाजवाद के भी अनेक दोष हैं और उसे व्यावहारिक रूप देने में इतनी अधिक कठिनाइयाँ हैं कि हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। समाजवाद की आलोचना प्राय निम्नलिखित आधार पर की जाती है—

1 समाजवादी व्यवस्था में प्रशासकीय कठिनाइयाँ होने का बहुत भय है। डाक-तार, रेल, टेलीफोन आदि का प्रबन्ध यद्यपि समाजवादी व्यवस्था वाले विभिन्न देशों मे काफी कुशलता के साथ किया गया है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ये सारे काम कम से कम खर्च मे हो रहे हैं। वास्तव मे प्रतियोगिता के अभाव मे किसी निश्चय पर पहुँचना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त, यदि उद्योगों

के राष्ट्रीयकरण द्वारा कार्य कुशलतापूर्वक चला भी लिया जाय, तो भी इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी उद्योग इसी प्रकार सचालित किए जा सकेंगे।

2 समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के कार्य अत्यधिक बढ जाते हैं। राज्य इतना कार्यभार वहन करने मे समर्थ नहीं हो पाता और न इतने कार्यों का सचालन सुचारु रूप से किया जा सकता है। जब व्यक्तियो को निजी रूप से व्यापार और उद्योग-धन्धे चलाने की आज्ञा नही होगी तो बेकारी बढेगी तथा राज्य के लिए समस्त व्यक्तियो को नौकरियां देना असम्भव हो जाएगा। राज्य के कार्यों को बढाते रहने का अर्थ होगा कि शासन बहुत बोझिल हो जायेगा और यह भी आशका हो सकती है कि कहीं वह अपने भार से टूट न जाय।

3 मनुष्य के नैतिक इतिहास की वर्तमान स्थिति मे समाजवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार, गुटबन्दी और व्यक्तिगत द्वेष और अधिक बढ सकते हैं।

4 समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व का हनन करता है। व्यक्तिगत उद्यम और कार्यदक्षता को समाजवाद मे प्रोत्साहन नहीं मिलता। मनुष्य मे उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता की भावना दबकर उसमें समाज का दास बनने की प्रवृत्ति बढती है

5 देश की आर्थिक उन्नति के लिए व्यक्तिगत उद्योग और उत्साह आवश्यक है। जब व्यक्ति को निजी लाभ प्राप्ति की आशा नहीं रहती तो उसमे काम करने का अहसास नहीं रहता और देश का उत्पादन घट जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रोत्साहन के अभाव मे व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति और आत्मनिर्भरता की वृत्ति क्षीण हो जाती है।

6 समाजवाद समानता के आदर्श का अधिक व्यापक रूप देना चाहता है। किन्तु प्रजातन्त्र केवल राजनीतिक समानता ही लाना चाहता है। नैतिक दृष्टि से यह आदर्श अनुचित है। प्राकृतिक दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं हैं, तथा इनकी कार्य क्षमता भिन्न भिन्न है, इसीलिए आर्थिक क्षेत्र में असमानता का होना स्वाभाविक और नैतिक है। यदि कोई व्यक्ति अपने परिश्रम और अपनी योग्यता से अधिक सम्पत्ति पैदा करता है तो उसे अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने देने, बेचने आदि का अधिकार होना चाहिए। समाजवादी व्यवस्था मे तो परिश्रमी और योग्य व्यक्तियो की सम्पत्ति छीन कर उससे आलसी और अयोग्य व्यक्तियों का पालन पोषण होगा जो न्याय-सगत नहीं कहा जा सकता।

7 समाजवाद सरकार को सर्व शक्तिमान बनाकर राज्य की समस्त शक्ति नौकरशाही को सौप देता है अत यह सम्भावना रहती है कि लोग अपनी शक्ति का दुरुपयोग अपने हित में सम्पादन के लिए करें।

8 समाजवादी दर्शन में कुछ [illegible] डाल देते हैं जो अन्तत समूचे समाज के लिए घातक है। [illegible] श्रम के महत्त्व को भी [illegible] उपेक्षित करता है।

9 आज का मजदूर इतना कमजोर और असहाय नहीं है कि केवल समाजवादी व्यवस्था से ही उसकी रक्षा हो सके। मजदूर सघों, सगठनो और अन्य साधनो द्वारा भी मजदूर अपने हितो की रक्षा कर सकते हैं।

स्पष्ट है कि जहाँ व्यक्तिवाद राज्य की शक्ति और अधिकार नियमित रखना चाहते हैं वहा समाजवाद राज्य के कार्यों को प्रत्येक क्षेत्र मे विकसित करना चाहता है। समाजवाद अपनी त्रुटियो के बावजूद आज ससार मे स्थायित्व धारण कर चुका है जबकि व्यक्तिवादी सिद्धान्त का पतन हो चुका है। आधुनिक युग में राज्य के कार्यों का विस्तार होता जा रहा है और ससार समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त की ओर अग्रसर हो रहा है। फिर यह भी सही है कि आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो की दरिद्र जनता को समाजवाद एक नई प्रेरणा देता है। रूस की *समाजवादी व्यवस्था ने लोगों के मन पर गहरा प्रभाव डाला है। लेकिन समाजवादी* देशो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की जो हत्या हुई है वह नि सन्देह चिन्तनीय है। अत यदि कुछ दृष्टियो से समाजवादी सिद्धान्त उत्साहवर्द्धक है तो अनेक दृष्टियो से वह दोषपूर्ण भी है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा
(The Concept of Welfare State)

अर्थ एव परिभाषा

राज्यो के कार्यों के सम्बन्ध में लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा सर्वप्रिय होती जा रही है। अब राज्य की महानता की परीक्षा केवल उसकी शक्ति सम्पन्नता से नही की जाती वल्कि यह भी देखा जाता है कि वह किस सीमा तक लोकहितकारी है। *इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक सघ है जिसका लक्ष्य नागरिको* के जीवन को हर प्रकार से सुखी और सम्पन्न बनाना है।

लोक-कल्याणकारी राज्य मे नागरिको के लिए व्यापक स्तर पर समाज-सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। राज्य का कर्त्तव्य जन्म से मृत्यु तक नागरिक जीवन के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटाना है। श्रेष्ठ नागरिक जीवन के लिए हर प्रकार भौतिक सुख-सुविधा की व्यवस्था की जाती है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करे, *सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास* का प्रयत्न करे, सामाजिक बुराइयो का निवारण करे देश के प्राकृतिक साधनो का विकास करे लोगो के सांस्कृतिक उत्थान का प्रयत्न करे और इस प्रकार की सभी *व्यवस्थाएँ करे कि लोकहितकारी कार्यों में व्यक्ति सक्रिय भाग ले सकें। लोकहितकारी* राज्य के विचार के अनुसार हर व्यक्ति को जीवन सम्बन्धी सुख सुविधाएं समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार है और किसी भी व्यक्ति के महत्त्व को अन्य *व्यक्तियो के महत्त्व से गौण नहीं समझा जा सकता। यह भी आवश्यक है कि* लोककल्याण का विचार केवल राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी हो और राष्ट्रीय हित साधन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित साधन को भी ध्यान में रखा जाय।

लोककल्याणकारी राज्य की यह धारणा 18वी तथा 19वी शताब्दी मे प्रचलित व्यक्तिवादी धारणा से पूणत भिन्न है जिसके अनुसार प्रजातन्त्र का अथ व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना था। व्यक्तिवादी व्यवस्था मे राज्य के केवल तीन कार्यों पर बल दिया जाता था—विदेशी आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा, आन्तरिक शान्ति एव न्याय की व्यवस्था तथा अपराधियो को दण्ड। लेकिन लोककल्याणकारी राज्य का विचार पुलिस राज्य' के विचार से भिन्न है। यह तो लोकहित के लिए राज्यो के अधिकाधिक कार्यों का समथन करता है।

व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारधारा ने प्रजातन्त्र को व्यक्तिवाद की ओर उन्मुख किया तो प्रतिक्रियास्वरूप साम्यवादी विचार सामने आया जिसके अनुसार सर्वाधिकारवादी राज्य का प्रतिपादन किया गया। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर राज्य नियन्त्रण को आवश्यक माना गया ताकि व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त किया जा सके और उस पर आधारित शोषण को मिटाया जा सके।

लेकिन विश्व के अनेक देशो मे साम्यवाद के अतिवादी रूप को शका की दृष्टि से देखा गया और लोक हितकारी राज्य के एक नए सिद्धान्त का विकास हुआ जो आज व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद या समाजवाद का समन्वित रूप है। यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद की भाति वयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण नही करता और समाजवाद या साम्यवाद की भाँति राज्य द्वारा अधिकाधिक काय सम्पादन की पुष्टि करता है, साम्यवाद समानता पर जोर देता है और स्वतन्त्रता को समानता की अनुगामी मानता है। व्यक्तिवाद स्वतन्त्रता पर बल देते हुए समानता को उसकी अनुगामी समझता है। लोक हितकारी राज्य के विचार मे स्वतन्त्रता और समानता दोनो का सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। आज लोकहितकारी राज्य का विचार लगभग प्रत्येक शासन प्रणाली मे घर करता जा रहा है। आज के युग मे जिस राज्य का उद्देश्य लोक सेवा की वृद्धि करना हो उसे ही सभ्य राज्य माना जाता है।

लोककल्याणकारी राज्य को विद्वानो ने अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। डॉ० अब्राहम के अनुसार, 'कल्याणकारी राज्य एक वह समाज है जहाँ राज्य की शक्ति का प्रयोग जानबूझकर आर्थिक शक्तियो के प्रवाह को इस प्रकार मोडने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक नागरिक के लिए आय का अधिकाधिक समान वितरण हो सके तथा उसे एक मूल न्यूनतम वास्तविक आय प्राप्त हो सके, चाहे उसके काय एव सम्पत्ति का बाजार मूल्य कुछ भी क्यो न हो।'' केन्ट के शब्दो मे, 'यह एक ऐसा राज्य होता है जो अपने नागरिकों को व्यापक सामाजिक सेवाएँ प्रदान करता है।' गानर के कथनानुसार, "कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक अभौतिक एव नतिक विकास करना है।' एक अन्य लेखक के अनुसार, 'कल्याणकारी राज्य व्यक्तिवाद एव नियोजित व्यक्तिगत अथ-व्यवस्था के सस्थागत सगठन की दार्शनिक सरचना म एक

सेवी राज्य है।" आर० डब्ल्यू० कैलसो ने कल्याणकारी राज्य को सामाजिक सेवा का वह लक्ष्य माना है जो एक व्यक्ति को और साथ ही अन्य व्यक्तियो को विचार तथा कार्य की उच्चतम स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

स्पष्ट है कि लोककल्याणकारी राज्य नागरिको के मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास मे सहयोग देता है। वह समाज मे शोषण का अन्त चाहता है तथा ऐसा वातावरण तयार करता है जिसमे मानव जीवन के सभी क्षेत्रो की उन्नति हो, तथापि हर प्रकार के विकास-कार्य को लोककल्याणकारी राज्य का कार्यक्षेत्र नहीं कहा जा सकता। यह आवश्यक है कि लोककल्याणकारी राज्य मे नागरिको मे दरिद्रता और पराश्रय की भावना का विकास न हो अन्यथा उसकी स्वतः प्रेरणा और स्वावलंबन (Initiative and Self help) की भावनाओ का लोप हो जायगा। साथ ही लोक-कल्याण नागरिको का अधिकार है, राज्य द्वारा दान (Charity) नहीं। व्यक्ति और राज्य के बीच उपयुक्त सम्बन्धो की स्थापना तभी हो सकती है जब राज्य व्यक्ति की उन्नति म सहायक हो। लोकहितकारी राज्य 'प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए' (Each for all and all for each) के स्वर्णिम सिद्धान्त मे विश्वास करता है। अतः यह आवश्यक है कि लोककल्याणकारी समाज तथा उसके लिए अनुकूल भावना का समुचित विकास हो तथा समाज सेवी सस्थाओ और लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए पृष्ठभूमि तयार की जाय।

धारणा का विकास

मानव हित के साधन के रूप मे राज्य का विचार नया नही है। अति प्राचीनकालीन, प्राच्य और पाश्चात्य दोनो ही राजनीतिक विचारो में हमे इस धारणा के दर्शन होते हैं। महान यूनानी दार्शनिक अरस्तू के इस कथन म लोककल्याणकारी राज्य का विचार निहित है कि राज्य जीवन अर्थात् भौतिक सुख के लिए अस्तित्व मे आया तथापि शुभ अर्थात् नैतिक जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है। महाभारत के शान्तिपर्व और अग्निपुराण मे भी राज्य का समाज की उन्नति एव समाज की नैतिक एव भौतिक प्रगति का प्रतीक माना गया है। आशय यह है कि 'लोककल्याणकारी राज्य शब्दो का प्रयोग अपने आप म नवीन है लेकिन इसम निहित विचार निश्चित रूप से अतीव पुरातन है। रोसन के शब्दो में 'कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी स्वय मानव जाति तथा राज्य स तो यह निश्चय ही अधिक प्राचीन है।"

अपने आधुनिक रूप में लोककल्याणकारी राज्य का विचार एक विकास का परिणाम है। सर्वप्रथम इगलण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल म 'निर्धन कानून अधिनियम' (Poor Law Act) पारित कर लोककल्याणकारी राज्य की नीव डाली गयी। इस अधिनियम के अन्तर्गत भिखमगो, अपाहिजो तथा अनाथों की सेवा और भरण-पोषण के लिए विशेष व्यवस्था की गयी। विगत

शताब्दी में फ्रांस के नेपोलियन तृतीय ने सार्वजनिक मताधिकार, श्रमिक संघ, मजदूरी में वृद्धि, गृह एवं राज्य सहायता प्राप्त बीमा योजना आदि सिद्धान्तों को कार्यरूप दिया, जिन्हें हम लोककल्याणकारी राज्य की विशेषतायें कह सकते हैं। जर्मनी के बिस्मार्क की सामाजिक नीतियों के अन्तर्गत अनेक कल्याणकारी योजनाएँ चालू की गयीं, जैसे बीमारी, बुढ़ापा तथा दुर्घटना सम्बन्धी सामाजिक बीमा। सन् 1944 में इंगलैण्ड में बेवरेज रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें पाँच बड़ी मानव-समस्याओं की ओर संकेत किया गया—भूख, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी तथा बेकारी। ब्रिटिश-संसद् ने, लोककल्याणकारी राज्य के अनुरूप इन समस्याओं के समाधानार्थ 1946 में चार अधिनियम पारित किए स्वास्थ्य अधिनियम (Health Act), राष्ट्रीय बीमा अधिनियम (National Insurance Act), राष्ट्रीय सहायता अधिनियम (National Assistance Act) तथा बाल अधिनियम (Children's Act)। इन अधिनियमों को, जिन्हें 1948 में लागू किया गया, ब्रिटेन में लोककल्याणकारी स्वरूप का आधारस्तंभ कह सकते हैं। वास्तव में विभिन्न राज्यों में समय समय पर लोककल्याणकारी नीतियाँ अपनायी गयीं। स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क आदि राज्यों ने लोककल्याणकारी योजनाओं को विस्तृत रूप प्रदान किया।

स्पष्ट है कि लोककल्याणकारी राज्य का विचार क्रमिक विकास का फल है। यह सोचना भ्रामक होगा कि यह सिद्धान्त स्वर्ग से गेंद की तरह टपक कर जनता के मुख में आ पड़ा। आधुनिक रूप में जिस वृक्ष पर इस विचार का फल लगा है, उसका आरोपण लगभग 450 वर्ष पूर्व किया गया था। आज लोककल्याणकारी राज्य की धारणा न्यूनाधिक रूप में लगभग सभी देशों में मान्य है। आज के सर्वाधिकारवादी राज्य भी स्वयं को लोककल्याणकारी राज्य कहलाने के इच्छुक हैं।

लोककल्याणकारी राज्य के कार्य

अथवा

आधुनिक राज्य के कार्य

आज का युग लोककल्याणकारी राज्य का युग है, अतः आधुनिक राज्य द्वारा जो कार्य सम्पन्न किए जाते हैं वे यथार्थतः लोककल्याणकारी राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्य हैं। आधुनिक लोककल्याणकारी राज्यों में जनतान्त्रिक तरीकों से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है। कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी साम्यवाद और व्यक्तिवाद के मध्य समझौता है। यह दोनों के बीच का मध्य मार्ग है, किन्तु इसकी अभी निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती है। विभिन्न देशों में ... की भूमिका विभिन्न प्रकार से हो सकती है। डॉ० आशीर्वादम ... "व्यक्तिवादी और साम्यवादी लक्ष्यों के बीच समझौता होते हुए भी

राज्य एक एसा समझौता है जो अभी न्यनत अस्पष्ट है। कुछ देशों में साम्यवादी तत्वो और अन्य देशों में व्यक्तिवादी तत्वा का विशेष महत्त्व हो सकता है तथापि इतना सच है कि दोनों आदर्शों में कुछ बातो पर राजनीतिक क्षेत्र मे कल्याणकारी राज्य एक नयी दिशा की ओर अग्रसर होता है।"

राज्य के कार्यों के बारे म विद्वाना मे पर्याप्त मतभेद है तथापि कल्याणकारी राज्य का आदर्श ही आधुनिक युग म अधिकांश राज्या के कार्यों का आधार है। गेस के अनुसार, "राज्य को राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाने और राष्ट्र के विकास मे उसके हित तथा उसकी नैतिकता की ओर उसकी बुद्धि के विकास मे यथासम्भव अधिकाधिक योग देना चाहिए। वास्तव मे राज्यो के कार्यों की कोई एक सूची तयार नही की जा सकती क्योंकि प्रत्यक राज्य अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने कर्त्तव्य निर्धारित करता है।" डॉ० गार्नर ने मोटे रूप म राज्य के कर्त्तव्यो को तीन भागो म विभाजित किया है—

(1) आवश्यक कर्त्तव्य—इसके अन्तर्गत उन सभी कार्यों का समावेश होता है जो व्यक्तिगत सुरक्षा, देश की आन्तरिक शान्ति और देश की बाह्य आक्रमणो से रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

(2) प्राकृतिक किन्तु अनावश्यक कर्त्तव्य—इस श्रेणी म वे सभी काय आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध उपयुक्त आवश्यक कर्त्तव्यो स तो नही है किन्तु जिनका पालन राज्य के लिए प्राकृतिक अवश्य है, क्योंकि वे काय व्यक्तियो द्वारा पूरे नही किए जा सकते। उदाहरण के लिए डाक-व्यवस्था, सिंचाई व्यवस्था सड़को तथा पुलो का निर्माण इत्यादि इसी प्रकार के काय कहे जा सकते हैं।

(3) वे काय जो न तो प्राकृतिक हैं और न आवश्यक परन्तु जिनका उपयुक्त पालन व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। इस वर्ग के अन्तगत डॉ० गार्नर वैज्ञानिक शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी कार्यों को स्थान देता है।

गैटिल (Gettel) के मतानुसार राज्य के आवश्यक कार्यों के दो भाग है— आर्थिक तथा सैनिक। प्रथम प्रकार के आर्थिक कार्यों के अन्तगत मुद्रा तथा मुद्राकन (Currency and Coinage) का नियन्त्रण, करारोपण, आयात तथा निर्यात कर तथा डाक, रेल, तार इत्यादि की व्यवस्था की गणना की जा सकती है। वुडरो विल्सन राज्य के आवश्यक कार्यों के अन्तगत नागरिको के जान माल की रक्षा, पति पत्नी और माता पिता तथा सन्तान के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था सम्पत्ति के क्रय विक्रय, तथा हस्तान्तरण की व्यवस्था, अपराधो की व्याख्या, दण्ड की व्यवस्था दीवानी न्यायालयो की स्थापना, नागरिको के अधिकार तथा कर्त्तव्यो का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा वाह्य आक्रमणो से राज्य की सुरक्षा इत्यादि का समावेश करता है।

उक्त सब विचारधाराओ को ध्यान में रखते हुए, सुविधा की दृष्टि से आधुनिक राज्यो द्वारा किए जाने वाले कार्यों का वर्गीकरण हम दो शीर्षको के अन्तगत कर सकते हैं—

(1) आवश्यक या अनिवाय काय (Actual Functions)

(2) ऐच्छिक काय (Optional Functions)

(क) अनिवाय कार्य—अनिवाय कार्यों मे राज्य के वे काय सम्मिलित हैं जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। इनके अभाव मे राज्य मे अशान्ति, अव्यवस्था एव लूट-मार बढ जाती है। राज्य के अनिवाय काय इस प्रकार हैं—

(1) देश की सुरक्षा—राज्य का प्रथम कत्तव्य है कि बाहरी आक्रमणो से देश की रक्षा के लिए वह एक सुव्यवस्थित सेना, जल एव वायु सेना की व्यवस्था करे तथा प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक सभी साधन जुटाए।

(2) आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था—जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का प्रबन्ध, व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा करना एव देश मे आन्तरिक शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना प्रत्यक राज्य का महत्त्वपूण काय है। सरकार का कत्तव्य है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह एक आदश पुलिस का सगठन करे एव जेल आदि की उत्तम व्यवस्था इस भाति करे कि अपराधियो को आदश सामाजिक जीवन की शिक्षा प्राप्त हो और वे भविष्य म आन्तरिक शान्ति को भग न करें।

(3) न्याय प्रबन्ध—अपराधो का स्पष्टीकरण तथा दण्डविधान प्रत्येक राज्य का परमावश्यक काय है। प्रत्येक राज्य को अपराध तथा दण्ड सम्बन्धी नियमो का निर्माण करना पडता है तथा मुकदमो क फसलो और न्याय की समुचित व्यवस्था के लिए फौजदारी दीवानी और माली न्यायालयो की स्थापना करनी पडती है।

(4) आर्थिक काय—गेटिल उपयुक्त काय सूची मे एक और काय जोडता है और वह है राज्य के आर्थिक काय अर्थात् देश मे मुद्रा और करेंसी की उत्तम व्यवस्था। इस सम्बन्ध म आवश्यक कानून बनाना, कर निधारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, भूमि, वन एव सावजनिक सम्पत्ति की व्यवस्था तथा डाक, तार एव रेल का प्रबन्ध आदि।

(5) पारिवारिक सम्बन्धो को कानूनी रूप देना—कुछ लेखको के अनुसार स्त्री पुरुष, बच्चो तथा माता पिता के मध्य सम्बन्धो को कानूनी रूप देना भी प्रत्येक राज्य का कत्तव्य है। जाति के अस्तित्व तथा कौटुम्बिक जीवन के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

(6) विधि निर्माण एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करना—राज्य का अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है कि नागरिक जीवन को व्यवस्थित एव नियन्त्रित रखने के लिए वह कानूनो का निर्माण करे और उनका पालन कराए। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीयता के आधुनिक युग म अन्य राज्यो से स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित करना और इसके लिए विदेशी विभाग की स्थापना करना भी राज्य का आवश्यक कत्तव्य है।

(ख) ऐच्छिक कार्य (Optional Functions)—राज्य को जनता की भलाई, उसके सांस्कृतिक विकास तथा उनके जीवन को अधिक सुखी एव समृद्ध बनाने के लिए और भी अनेक काय करने चाहिए। ये काय निम्न हैं—

(1) शिक्षा—कोई भी राज्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक उसके नागरिक भली प्रकार शिक्षित न हो। शिक्षा का कार्य आधुनिक युग मे व्यक्तिगत संस्थाओं पर नही छोडा जा सकता। सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक ही शिक्षा प्रणाली होनी चाहिए। शिक्षा के प्रसार के लिए राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सारे देश मे राष्ट्र-भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध करे, प्रारम्भिक माध्यमिक तथा उच्च स्तरीय शिक्षा की व्यवस्था करे तथा महिला एव प्रौढ शिक्षा पर समुचित ध्यान दे विज्ञान की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे तथा साथ ही औद्योगिक एव कृषि सम्बन्धी शिक्षा के प्रति भी उदासीन न रहे। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह पुस्तकालया, प्रयोगशालाओं, सग्रहालयो और अन्वेषणालयो का प्रबन्ध करे।

(2) सफाई एव स्वास्थ्य रक्षा—प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिको के नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखे। इसके लिए राज्य नागरिको को स्वास्थ्य विषयक नियमो की शिक्षा दे, गन्दी, नशीली एव हानिकारक वस्तुओं की बिक्री को प्रतिबन्धित करे, हवादार एव प्रकाशयुक्त मकानो तथा उत्तम चिकित्सालयो का प्रबन्ध करे, शुद्ध खाद्य पदार्थों के विक्रय की व्यवस्था करे एव प्रकाश स्वच्छ जल, सफाई आदि की उत्तम व्यवस्था करे।

(3) यातायात के साधनों की सुविधा—आधुनिक युग मे यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के प्राण हैं अत राज्य का परम कर्त्तव्य है कि आवागमन एव सचार साधनो का समुचित विकास करे।

(4) व्यापार, कृषि एव उद्योग धन्धो की सहायता—देश की आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि राज्य व्यापार, कृषि एव उद्योग-धन्धो की उन्नति के लिए नियम बनाए तथा उनकी समुचित व्यवस्था करे। इसके लिए राज्य उत्तम बीज, खाद एव कृषि यन्त्रो का प्रबन्ध करे, उपयोगी पशुओं की हत्या पर रोक लगाए, सहकारी भण्डार तथा ऋण समितियो का गठन करे, कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहन दे और पक्के माल के आयात को नियन्त्रित करे कारखानों को आर्थिक सहायता दे, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्र खोले, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते करे, देश मे बैंकिंग और मुद्रा की स्थिर व्यवस्था करे, उद्योगों पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रतिबन्ध लगाए, देश में ट्रस्ट कमीशनो की नियुक्ति करे, नागरिको को रोजगार दिलाने का प्रबन्ध करे और बड़े बड़े उद्योग धन्धो जैसे रेल डाक-तार, बिजली, इस्पात, शक्ति-उत्पादन आदि का राष्ट्रीयकरण करे।

(5) प्राकृतिक साधनों का विकास—राज्य का कर्त्तव्य है कि वह वनो की रक्षा तथा सफाई, सिंचाई मछली यातायात और बिजली के लिए नदियों के जल का उपयोग, खनिज पदार्थों के उत्खनन की व्यवस्था और उसके नियन्त्रण तथा पर्वतों और समुद्र की रक्षा आदि पर समुचित ध्यान देकर राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्ति के सदुपयोग का प्रबन्ध करे।

(6) सामाजिक सुधार—सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए आवश्यक है कि राज्य देश मे फैली हुई सामाजिक बुराइयो के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करे

और आवश्यक नियम बनाए। हमारे देश मे इस प्रकार की बुराइयो मे पर्दा प्रथा, अस्पृश्यता, जाति-पाति का भेद, बाल विवाह, बहु विवाह सम्मिलित हैं और भारत सरकार ने इनके उन्मूलन के लिए अनेक कदम उठाए हैं।

(7) मजदूरो का हित और निधन तथा अपाहिजो की रक्षा—पूँजीपतियो और जमीदारो के अत्याचारो से मजदूरो की रक्षा के लिए राज्य फक्टरी कानून का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार निधन और अपाहिजो की सेवा के लिए निधन आवास अन्धो के लिए आवास व्यवस्था, पागलखाने, औषधालय आदि का प्रबन्ध करना भी राज्य का कर्त्तव्य है।

(8) मनोरजन की सुविधाए—राज्य को जनता के मनोविनोद के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ करनी पडती हैं। राज्य पार्कों, नाट्य गृहो सार्वजनिक स्नान गृहो, रेडियो, सिनेमा आदि की व्यवस्था करता है।

वास्तव मे सरकार के ऐच्छिक कर्त्तव्यो की कोई निश्चित सूची नहीं बनाई जा सकती। राज्य का कर्त्तव्य नागरिको के लिए उन सब सुविधाओ तथा अवस्थाओ को प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई एव उन्नति सम्भव हो। यही कारण है कि वर्तमान काल मे राज्य के ऐच्छिक कार्यों की सूची बढती जा रही है।

लोक कल्याणकारी राज्य के लाभ

लोक कल्याणकारी राज्य का विचार व्यक्ति को ही सभी चीजो का मापदण्ड मानता है। निम्नलिखित लाभो के आधार पर इसका प्रबल समर्थन किया जाता है—

(1) लोक कल्याणकारी राज्य जनसेवी होता है। यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का ही एक विस्तार है। इसका उत्तरदायित्व है कि यह अपने नागरिको की सुख सुविधाओ का ध्यान रखते हुए उनके विकास का हर सम्भव प्रयत्न करे। एक जनसेवक के रूप म अपनी प्रजा के लिए भोजन आवास शिक्षा मनोरजन, रोजगार बीमारी और बुढापे की सुरक्षा आदि की प्रगतिशील व्यवस्था करने वाला राज्य निश्चय ही आदर्श राज्य होता है।

(2) लोक कल्याणकारी राज्य समानता का सस्थापक है। यह व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप करके अमीरी और गरीबी के बीच की खाई पाटने का प्रयास करता है। यह सामाजिक जीवन के नियमन और सामाजिक कुरीतियो और बुराइयों को दूर करता है तथा नागरिको की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति की व्यवस्था कर उनमे शोषण का विरोध करने की क्षमता प्रदान करता है।

(3) लोक कल्याणकारी राज्य स्वतन्त्रता का सहयोगी है। जिस वातावरण में व्यक्ति राजनीतिक आर्थिक एव सामाजिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है उसकी स्थापना करना लोक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्ष्य होता है।

लोक कल्याणकारी राज्य के विचार की आलोचना

लोक कल्याणकारी राज्य के विचार के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं वे बहुत कुछ इसकी व्यावहारिक कठिनाइयो से सम्बन्ध रखते हैं, वे इस प्रकार

(1) लोक कल्याणकारी राज्य की मान्यताएँ स्पष्ट नहीं हैं। इसे पूँजीवादी एव साम्यवादी दोनों ही वर्गों के द्वारा अपने अपने ढग से व्याख्या की जाती है दोनो इसे पसन्द करते हैं तथा इसका समर्थन करते हैं। परिणामस्वरूप इस विचारधारा के सम्बन्ध मे अनेक भ्रम पैदा हो गए हैं जो इसके अर्थ को अस्पष्ट बना देते हैं। यह सिद्धान्त किसी भी एक विचारधारा के साथ सम्बद्ध नही है, अत तानाशाही देश सामूहिक कल्याण के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पूर्णत समाप्त कर देता है। 'मानव-कल्याण' एक ऐसा शब्द है जिसका सही अर्थ समझ पाना पर्याप्त कठिन है।

(2) सामूहिक कल्याण के नाम पर कोई भी महत्त्वाकांक्षी संस्था या व्यक्ति स्वेच्छाचारी बन कर नागरिकों की स्वतन्त्रता से खिलवाड कर सकता है। लोक कल्याणकारी राज्य के साथ-साथ नियोजित एव नियन्त्रित अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ है। इसके अन्तर्गत कुछ लोगो के हाथ मे सत्ता केन्द्रित हो जाती है तथा व उसका मनमाना प्रयोग करते हुए राज्य के अन्य नागरिकों को मशीन का पुर्जा मात्र बना देते हैं जिनका कार्य केवल केन्द्रीय निर्देशन का पालन करना होता है।

(3) सत्तारूढ दल लोक कल्याण के नाम पर प्रशासन की सारी शक्तियो पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है। देश के लिए बनायी गयी योजनाएँ तथा उनका क्रियान्वयन पूर्ण रूप से सत्ताधारी दल के ही हाथ में रहता है। लोक-कल्याणकारी राज्य मे दलो के इतने अधिक महत्त्व होने का एक सम्भावित खतरा यह है कि दलो के परिवर्तन के साथ साथ उनके द्वारा बनायी हुई योजनाएँ भी अधूरी रह जाती हैं। प्रत्येक आने वाला नया दल अपने आदर्शों के अनुसार योजनाएँ बनाता है और जब तक वह उस पूर्णता की सीमा तक ला सके उसके पूर्व ही वह सत्ताहीन बन जाता है। दलीय राजनीति में लोक कल्याण का लक्ष्य गौण होता है और राजनीतिज्ञो का प्रमुख लक्ष्य मत प्राप्त करने के लिए चुनाव प्रचार को बढाना होता है।

(4) लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप किया जाता है। वह आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रो मे कार्य करता है। इसके लिए नागरिक (Civil) सेवको की एक फौज खडी करनी होती है जिसके रहते हुए नौकरशाही के हाथो जनता के परेशान होने की सम्भावनाएँ बढ जाती हैं। हाबमैन (Hobman) के कथनानुसार लोक कल्याणकारी राज्य मे अल्पाधिकार प्राप्त अधिकारियो की बहुलता रहती है जो कि उनका दृष्टिकोण पूर्णत विभागीय होता है।

(5) लोक कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की प्रत्येक समस्या में सहयोग प्रदान करता है। यह एक प्रशसनीय बात होने पर भी व्यक्ति की स्वावलम्बन शक्ति को समाप्त कर देती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णत विकसित होने का अवसर प्राप्त नही हो पाता। नागरिक किसी भी समस्या को स्वय सुलझाने की अपेक्षा राज्य का मुँह ताकने लगते हैं। उनकी स्वय पहल करने की शक्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। व्यक्ति अपना स्वत्व खो देता है तथा अकर्मण्यता एव बौद्धिक दासता का शिकार हो जाता है।

11

सरकार के स्वरूप–प्रजातान्त्रिक और अधिनायकवादी, संसदीय और अध्यक्षात्मक तथा एकात्मक और संघात्मक; राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

(FORMS OF GOVERNMENT, DEMOCRACY AND DICTATORSHIP, PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL UNITARY AND FEDERAL THE CONCEPT OF POLITICAL SYSTEM)

राज्य मानव जीवन की प्रमुखतम सस्था है और इसका सबसे महत्त्वपूर्ण परिचायक सगठन सरकार है। अनेक विद्वानो ने राज्य और सरकार के रूपो का अलग अलग वर्गीकरण किया है जबकि वास्तविकता यह है कि राज्यों का वर्गीकरण नही किया जा सकता। सभी राज्य अपने स्वरूप मे समान होते हैं। भूमि, जनसख्या, सरकार और सम्प्रभुता—ये चारो अनिवार्य तत्त्व सभी राज्यो मे समान रूप से पाए जाते हैं। राज्यो के इस तात्विक आधार मे कोई अन्तर नहीं होता, अत उनका वर्गीकरण भी नही किया जा सकता। अवश्य ही इन राज्यो के सगठन मे भिन्नता हो सकती है। जब इस सगठन की भिन्नता पर विचार करते हैं तो वस्तुत राज्य एक दूसरे से भिन्न नहीं हो जाते वरन् केवल उनकी सरकारों के रूप मे अन्तर किया जाता है। सगठन की इस भिन्नता के आधार पर ही सरकार का वर्गीकरण किया जाता है और सरकार के इसी वर्गीकरण को कभी कभी अनौपचारिक रूप से राज्य का भेद भी कह दिया जाता है।

प्लेटो द्वारा वर्गीकरण
(Plato's Classification of Governments)

सरकारो का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध वर्गीकरण आधुनिक

शास्त्र के जनक अरस्तू द्वारा प्रस्तुत किया गया है परन्तु अरस्तू का वर्गीकरण स्वय प्लेटो और सुकरात के वर्गीकरण पर आधारित है। अत अरस्तू के वर्गीकरण का अध्ययन करने से पूर्व प्लेटो के वर्गीकरण को जान लेना आवश्यक है।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' तथा 'स्टेटसमैन' मे दो भिन्न प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। 'रिपब्लिक' में उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है जबकि 'स्टेटसमैन' मे उसने कानूनो के महत्त्व को स्वीकार किया है। सक्षेप में प्लेटो का वर्गीकरण इस प्रकार है—

कानून सम्मत शासन	कानून विरोधी शासन
(1) राजतन्त्र (Monarchy) मे राजसत्ता केवल एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है जो उसका प्रयोग प्रजा के हित में करता है।	(1) निरकुशतन्त्र (Tyranny) में राजसत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है, किन्तु वह उसका प्रयोग प्रजा की भलाई के लिए नही करता।
(2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) मे राजसत्ता का नियन्त्रण एक वर्ग के हाथ मे रहता है और वह उसका प्रयोग जन साधारण के हित मे करता है।	(2) वर्ग तन्त्र (Oligarchy) मे राजसत्ता का नियन्त्रण एक वर्गविशेष के हाथ में रहता है पर तु वह उसका प्रयोग जन हित मे न करके अपने वर्ग के हित म करता है।
(3) सहिष्णु प्रजातन्त्र (Democracy) मे राजसत्ता का प्रयोग प्रजा द्वारा स्वय सोच समझकर सारी प्रजा के हित के लिए किया जाता है।	(3) समूहतन्त्र (Mobocracy) म राजसत्ता नासमझ जनता के हाथ म रहती है और वह उसका प्रयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए करने लगती है।

गिलक्राइस्ट ने इसी वर्गीकरण को निम्नलिखित चार्ट म इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शासन का रूप	राज्य जिनमे कानून का पालन होता है	राज्य जिनमें कानून का पालन नही होता है
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुश या आततायी शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियो का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र या वर्ग तन्त्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियो का शासन	उदार लोकतन्त्र (Moderate Democracy)	अतिवादी लोकतन्त्र या भीड़ तन्त्र (Extreme Democracy)

अरस्तू का वर्गीकरण
(Aristotalian Classification)

अरस्तू ने अपना प्रसिद्ध वर्गीकरण दो सिद्धान्तों पर आधारित किया है—

(1) संख्या अर्थात् राजसत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है ?

(2) उद्देश्य अर्थात् राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ साधन ?

उद्देश्य की दृष्टि से अरस्तू ने पुनः राज्यों को दो भागों में वर्गीकृत किया है—(1) स्वाभाविक रूप (Normal Form) तथा (2) विकृत रूप (Perverted Form)। जब राजसत्ता का प्रयोग जनसाधारण के हित में किया जाता है तो वह राज्य का 'स्वाभाविक रूप' होता है किन्तु जब उसका दुरुपयोग स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाता है तो वह उस राज्य का 'विकृत रूप' होता है।

अपने सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि, "राज्य एकतन्त्र उस समय होता है जब सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी उस सत्ता का प्रयोग सर्वसाधारण के हित के लिए करता है। वह राज्य जिसका शासन एक व्यक्ति से अधिक, किन्तु कुछ व्यक्तियों के हाथों में हो कुलीनतन्त्र या श्रेणीतन्त्र (Aristocracy) कहलाता है। जब राज्य की सत्ता समस्त जनता में निहित हो और वह सब के कल्याण की दृष्टि से अपना शासन स्वयं संचालित करती हो तब उसे लोकराज्य (Polity) कहते हैं।"

अरस्तू का यह वर्गीकरण संक्षिप्त तालिका रूप में इस प्रकार है—

संविधान का रूप	स्वाभाविक रूप (Normal Form)	विकृत रूप (Perverted Form)
एक व्यक्ति का शासन	एकतन्त्र (Monarchy)	अन्यायी शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	गुटतन्त्र (Oligarchy)
समस्त जनता का शासन	जनतन्त्र (Polity)	भीड़तन्त्र (Democracy)

राज्यों का परिवर्तन चक्र
(Theory of Cyclic Change)

अरस्तू का विचार था कि राज्यों की प्रकृति में चक्रवत परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप से बदलती रहती हैं, उसी

राज्यों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। राज्य का सर्वप्रथम रूप राजतन्त्र है, परन्तु जब राजा जनहित को ठुकरा कर स्वार्थ-साधन में संलग्न हो जाता है तो राजतन्त्र राज्यभ्रष्ट होकर अन्यायी शासन में बदल जाता है। धीरे धीरे इस अन्यायी शासन के विरुद्ध क्रान्ति होती है। कुछ गुणी तथा समर्थ व्यक्ति मिलकर जनहित के लिए अन्यायी शासन को समाप्त कर देते हैं और एक नए प्रकार की शासन व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसे कुलीनतन्त्र कहा जा सकता है। समय के साथ-साथ कुलीनतन्त्र में भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं और शासक वर्ग जन-कल्याण के बजाय वर्ग स्वार्थों को पूरा करने में जुट जाते हैं। इससे कुलीनतन्त्रात्मक शासन का स्वरूप बदल कर गुटतन्त्रात्मक बन जाता है। इस गुटतन्त्र के विरुद्ध जनसमुदाय विद्रोह करता है और अन्तत जनता स्वयं अपने जनतन्त्र की स्थापना करती है। जनतन्त्र में राज्य की शक्ति का प्रयोग स्वयं जनता द्वारा जनता के हित में किया जाता है परन्तु कालान्तर में जनतन्त्र भी विकृत होने लगता है। उसके विकृत रूप को अरस्तू भीडतन्त्र का नाम देता है। समय आने पर यह भ्रष्ट जनतन्त्र भी नष्ट हो जाता है और उसका स्थान फिर राजतन्त्र ले लेता है। इस प्रकार राज्यों का यह परिवर्तन चक्र चलता रहता है और राजतन्त्र, कठोरतन्त्र कुलीनतन्त्र वर्गतन्त्र, जनतन्त्र तथा भीडतन्त्र एक के बाद एक पहिये की तरह क्रम से आते और जाते रहते हैं।

इस परिवर्तन चक्र के बारे में अरस्तू ने आगे लिखा है कि "सर्वप्रथम देशों मे राजतन्त्र शासन स्थापित हुए थे जिसका कारण सम्भवत यह था कि प्राचीन युग में नगर छोटे थे और चरित्रवान कुशल व्यक्ति बहुत कम थे। ये व्यक्ति राजा बने क्योंकि ये परोपकारी थे और परोपकार केवल सज्जन व्यक्ति ही कर सकते हैं। परन्तु जब एक-से गुणों वाले अनेक व्यक्ति आगे आए और एक ही व्यक्ति को प्रधान तथा प्रतिष्ठित मानने से कतराने लगे तो उन्होंने राज्य को संघ राज्य (Commonwealth) बनाने और संविधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की। इससे शासक वर्ग का पतन हुआ और जनकोष से धन उड़ा कर वे धनवान बनने लगे। धन सम्पत्ति सम्मान का साधन बनी और इस प्रकार स्वभावत कुछ व्यक्तियों के शासन (Oligarchies) की स्थापना हुई। यह शासन धीरे धीरे अत्याचारी शासन मे बदल गया और अन्त में, अत्याचारी शासन ने प्रजातन्त्री शासन का रूप धारण कर लिया। शासक वर्ग की धन-लोलुपता ने अपनी संख्या को सदैव कम-से कम रखने की चेष्टा की इससे सर्वसाधारण का बल बढ़ा और उन्होंने अन्त मे अपने स्वामियों को निःशक्त कर दिया जिसका परिणाम हुआ भ्रष्ट प्रजातन्त्र की स्थापना।"

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

(1) डॉ० गार्नर के अनुसार अरस्तू राज्य और सरकार में भेद नहीं कर सका, फलत उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। परन्तु राज्य और सरकार का यह भेद आधुनिक युग

की देन है और अरस्तू जैसे एक यूनानी दार्शनिक के लिए राज्य तथा सरकार का एक समान वर्गीकरण कर देना कोई असगत बात नही मानी जानी चाहिए।

(2) अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में शासकों की सख्या पर अधिक महत्त्व दिया है, राज्यों के आधारभूत भेदो पर नहीं। इस प्रकार अरस्तू का वर्गीकरण गुणात्मक होने की अपेक्षा सख्यात्मक अधिक है।

(3) सीले तथा लीकॉक के मत मे अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक राष्ट्रीय राज्यो पर लागू नही हो सकता। यूनान के लोग केवल नगर, राज्यो से परिचित थे। अत अरस्तू के लिए स्वाभाविक था कि वह एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करता जो उस समय के लिए उपयुक्त था। वतमान युग मे सम्प्रभुता का स्थान निर्धारित करना सबसे कठिन समस्या है।

(4) आधुनिक विभिन्न प्रकार की सरकारो मे अधिकतर मिश्रित प्रकार की है। उन्हे अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार किसी भी प्रकार के विशुद्ध राजतन्त्र, प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। अत अरस्तू का वर्गीकरण वतमान विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ पर पूरी तरह से लागू नही किया जा सकता।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्त्व

अरस्तू का वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण होते हुए भी एक वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण प्रयास है। राजनीति शास्त्र के इतिहास पर इसका बडा गहरा प्रभाव पडा है। सभी म प्राय सभी परवर्ती विचारको ने इसे किसी न किसी रूप मे अपनाया है जिसका प्रभाव कुछ अश तक आज भी देखा जा सकता है। अरस्तू का वर्गीकरण पूर्णतया आधुनिक नही है, फिर भी राजनीति शास्त्र को यह एक महान् देन है जिसका प्रभाव ब्लशली जसे विद्वानो के प्रयासो पर स्पष्ट और अमिट है।

आधुनिक वर्गीकरण (Modern Classification)

अरस्तू के वर्गीकरण के आधार पर रोमन विचारक पोलीबियस तथा सिसरो ने भी राज्यो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने अरस्तू द्वारा निर्देशित राज्यो के विभिन्न परम्परागत वर्ग मानते हुए मिश्रित सरकार की स्थिति को भी स्वीकार किया। मैकियावली का वर्गीकरण भी बहुत कुछ अरस्तू से मिलता जुलता है।

जीन बोदाँ—सोलहवीं शताब्दी का आधुनिक विचारक बोदाँ है जिसने अरस्तू के अनुभव का आधार लेकर राज्यो का वर्गीकरण किया है। उसका आधार उन व्यक्तियो की सख्या है जिनके हाथो मे सम्प्रभुता केन्द्रित रहती है। अरस्तू की भाँति बोदाँ भी एक व्यक्ति के सम्प्रभु होने पर राजतन्त्र, कुछ के सम्प्रभु होने पर कुलीनतन्त्र तथा सबके सम्प्रभु होने पर प्रजातन्त्र शासन की सज्ञा देता है। उसने राज्य के परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार किया है जिसके अनुसार राज्य के तीन प्रधान रूप हैं—

(1) शुद्ध राजतन्त्र (Royal Monarchy),
(2) तानाशाही राजतन्त्र (Despotism), और
(3) निरकुश राजतन्त्र (Tyranny)।

हॉब्स— हॉब्स के वर्गीकरण मे भी कोई नवीन बात नहीं है। अरस्तू और बोदाँ की भाँति उसके वर्गीकरण का आधार भी यही तथ्य है कि सम्प्रभुता कितने व्यक्तियो मे निहित है। उसके अनुसार, "जब केवल एक व्यक्ति प्रतिनिधि हो तब राज्य राजतन्त्र है। जब प्रतिनिधि एक मे मिलने को इच्छुक लोगो की एक सभा हो तब वह शासन लोकतन्त्र या जनप्रिय शासन है किन्तु जब सत्ता केवल एक ही दल मे निहित हो तब उसे कुलीनतन्त्र कहा जाना चाहिए।"

लाक— लॉक का वर्गीकरण हाब्स से बहुत कुछ मिलता जुलता है। लाक के मतानुसार "राज्या का वर्गीकरण नही हो सकता, वर्गीकरण तो केवल स कारा का ही सम्भव है।" लॉक का वर्गीकरण राजतन्त्र (Monarchy) अल्पतन्त्र (Oligarchy) और लोकतन्त्र (Perfect Democracy) इन तीन श्रेणियो मे करता है। आगे वह राजतन्त्र के भी दो प्रकार बताता है—एक वशानुगत राजतन्त्र (Hereditary Monarchy) और दूसरा निर्वाचित राजतन्त्र (Elected Monarchy)।

मॉण्टेस्क्यू— मॉण्टस्क्यू का वर्गीकरण, जो अरस्तू के बहुत निकट है सबसे अधिक आधुनिक माना जाता है। उसने शासन का त्रिविध विभाजन किया है— (1) गणतन्त्रात्मक (Republican), (2) राजतन्त्रात्मक (Monarchical), और (3) स्वेच्छाचारी (Despotic)।

गणतन्त्रात्मक सरकार मे सम्प्रभुता प्रजा या प्रजा के एक भाग के हाथो में रहती है। राजतन्त्रात्मक शासन मे सम्प्रभुता एक व्यक्ति के हाथो में रहती है जो कानून का सम्मान करती है। जब यह एक व्यक्ति कानून का सम्मान नही करता और अपनी मनमानी से शासन चलाने लगता है, तो वह शासन स्वेच्छाचारी बन जाता है। मॉण्टेस्क्यू ने गणतन्त्र के भी दो भेद किए हैं— (1) प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) तथा (2) कुलीनतन्त्रात्मक (Aristocratic)। इसी प्रकार निरकुश शासन के भी उसने दो रूप माने हैं— (1) पूर्वी तथा (2) पश्चिमी। मॉण्टस्क्यू के अनुसार इन सभी सरकारों के पीछे एक न एक प्रेरक एव स्थापक शक्ति होती है। प्रजातन्त्र मे यह जन सेवा (Public Service) की भावना कही जा सकती है। कुलीनतन्त्र का आधार सयम (Moderation) का नियम है। राजतन्त्र की निर्णायक शक्ति सम्मान (Honour) का सिद्धान्त है तो निरकुश शासन मे भय (Fear) का रूप ले लेता है।

रूसो— रूसो ने भी शासन का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया है— (1) राजतन्त्र (Monarchy), (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), और (3) प्रजातन्त्र (Democracy)। उसने कुलीनतन्त्र के भी तीन भेद किए हैं—

(1) स्वाभाविक (Natural) (2) निर्वाचित (Elective), और (3) पतृक (Herditary)। रूसो ने मिश्रित सरकार का अस्तित्व भी स्वीकार किया।

ब्लश्ली—ब्लश्ली राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के अतिरिक्त दैवतन्त्र (Theocracy) को राज्य या सरकार का एक चौथा प्रकार मानता है। दैवतन्त्र का भी विकृत रूप हो सकता है जिसे उसने उपासकतन्त्र (Idolocracy) नाम दिया है।

जेलिनेक जेलिनेक का वर्गीकरण पर्याप्त सरल है। वह सभी राज्यो को दो श्रेणियो मे रखता है—(1) राजतन्त्र, और (2) गणतन्त्र। राजतन्त्र मे सम्प्रभुता एक व्यक्ति के हाथो मे केन्द्रित रहती है जबकि गणतन्त्र में अनेक के हाथो म। राजतन्त्र के भी उसने निम्नलिखित भेद किए हैं—

(1) दवतन्त्र (Theocracy)—इसके अन्तर्गत राजाओं को ईश्वरीय शक्ति और सर्वाधिकार सम्पन्न समझा जाता है।

(2) वशक्रमानुगत राजतन्त्र (Patrimonial) — इसमे राज्य शक्ति वशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति मे बदलती रहती है।

(3) निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy)—इसके अन्तगत राजा का चुनाव होता है।

(4) निरकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy)—इसमे राजा स्वेच्छापूवक मनमाने ढग से शासन करता है।

(5) वैधानिक राजतन्त्र (Limited Monarchy)—इस शासन के अन्तगत राज्य-शक्ति का सचालन निश्चित विधि विधान द्वारा होता है और राजा केवल नाममात्र का प्रमुख होता है।

राजतन्त्र की भाति जेलिनेक ने गणतन्त्र के भी अनेक रूप माने हैं। वह इन दो रूपो पर अधिक बल देता है—

(1) प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य (Democratic Republic)— इसमें राज्य की इच्छा का निर्माण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है।

(2) कुलीनतन्त्रात्मक गणराज्य (Aristocratic Republic)—इसमे राज्य सत्ता का प्रयोग किसी एक वर्ग विशेष द्वारा किया जाता है।

वोन मॉल—वोन मॉल ने राज्य को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया है - (1) पतृक राज्य, (2) पुरोहिततन्त्री राज्य (Theocracies), (3) बपौती राज्य (Patrimonial States) जिनमे देश का मालिक और राज्य का प्रभु उसका शासक होता है, (4) शास्त्रीय राज्य जसे यूनान और रोम के, (5) वधानिक राज्य या वे राज्य जिनके काय वधानिक रूप पर निभर हैं, तथा (6) स्वेच्छाचारी राज्य। वोन मॉल शास्त्रीय राज्यो को आगे राजतन्त्र कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में विभाजित

करता है। उसने इस वर्गीकरण म कोई एक सिद्धात प्रतिपादित नही है बल्कि सिद्धान्तो का मिश्रण देखा जा सकता है।

मेरियट— मेरियट अरस्तू के वर्गीकरण को आधारभूत मानता है, किन्तु फिर भी उसे आधुनिक राज्यो के लिए पूरी तरह उपयुक्त नहीं समझता। मेरियट ने *संविधानो के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है—* (1) एकात्मक और संघात्मक (Unitary and Federal), (2) कठोर और परिवर्तनशील (Rigid and Flexible), (3) अध्यक्षात्मक और ससदात्मक (Presidential and Parliamentary)।

वेटल—वेट्ज न राज्यो का वर्गीकरण गणतन्त्र, पुरोहिततन्त्र, एकात्मक राज्य,राजतन्त्र, संघराज्य, मिश्रसघ और मिश्रित राज्यो के रूप मे किया है। यह वर्गीकरण भी उपयुक्त नही है। पुरोहिततन्त्र को सरलता से राजतन्त्र के अन्तगत रखा जा सकता है। इसी तरह उसका गणतन्त्र एकात्मक राज्य भी हो सकता है और *संघात्मक राज्य भी। यही बात राजतन्त्रात्मक राज्यो पर भी लागू होती है।*

बर्गेस—बर्गेस ने अरस्तू का वर्गीकरण साधारण परिवतन के साथ स्वीकार किया है। उसने राज्यो का वर्गीकरण तीन भागो में किया है—(1) राजतन्त्र, (2) कुलीनतन्त्र और (3) प्रजातन्त्र। राजतन्त्र मे सम्प्रभुता एक व्यक्ति के हाथो मे रहती है, कुलीनतन्त्र म एक छोटे समुदाय मे तथा प्रजातन्त्र में बहुसख्यको के हाथो म। इस वर्गीकरण का प्रमुख आधार अरस्तू की तरह सख्या है।

लीकॉक—लीकॉक का वर्गीकरण पर्याप्त सरल है। वह राज्यो को मुख्य रूप से दो वर्गों मे विभाजित करता है—(1) निरकुश राज्य (Despotic State) (2) लोकतन्त्रात्मक राज्य (Democratic State)। उसके अनुसार निरकुश सरकार मे प्रभुता एक व्यक्ति के हाथ मे रहती ह और वह उसका प्रयोग भी इच्छानुसार कर सकता है। लीकॉक का विचार है कि ऐसे राज्य खत्म हो रहे हैं और उनका स्थान लोकतन्त्रात्मक शासन ले रहे हैं।

प्रजातन्त्र शासन मे सम्प्रभुता नागरिको के हाथो मे रहती है। प्रजातन्त्र के दो प्रमुख भेद हैं। पहला वैधानिक राजतन्त्र और दूसरा गणतन्त्र। वधानिक राजतन्त्र मे राजा नाममात्र का होता है, जसा कि ब्रिटेन मे। इसमे वास्तविक सत्ता मन्त्रिमण्डल मे निहित होती है, जो विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। गणतन्त्र मे राज्याधिकारी का चुनाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। शासन प्रणाली के ये दोनो प्रकार अनेका उप विभागो मे भी बांटे जा सकते हैं, जसे—एकात्मक, संघात्मक, ससदीय, असंसदीय आदि।

लीकॉक के वर्गीकरण को अग्रांकित तालिका द्वारा और भी स्पष्ट किया जा सकता है—

- आधुनिक राज्य (Modern State)
  - निरंकुश (Despotic)
  - प्रजातन्त्रात्मक (Democratic)
    - वधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy)
      - सघात्मक (Federal)
        - ससदीय
        - अध्यक्षात्मक
      - एकात्मक (Unitary)
        - ससदीय
        - अध्यक्षात्मक
    - गणराज्य (Republic)
      - एकात्मक (Unitary)
        - ससदीय
        - अध्यक्षात्मक
      - सघात्मक (Federal)
        - ससदीय
        - अध्यक्षात्मक

जाज स्वाजनवगर—यहर ज्या का वर्गीकरण एक-जातीय राज्य (National State) और बहु-जातीय राज्यो (Multi national State) मे करता है। बहु-जातीय राज्यो को इसने आगे निम्न भागो मे विभाजित किया है—(1) राजवंशीय राज्य, (2) धार्मिक राज्य, (3) औपनिवेशिक राज्य, (4) राष्ट्रमण्डलीय राज्य, (5) सघात्मक राज्य (6) कृत्रिम सघात्मक राज्य (Pseudofederal)।

पृष्ठभूमि के रूप में इस विश्लेषण के उपरान्त अग्रिम पृष्ठों में सरकारों के निम्नांकित प्रमुख स्वरूपो पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा—

(1) प्रजातन्त्र (Democracy)
(2) अधिनायक तन्त्र (Dictatorship)
(3) ससदात्मक सरकार (Parliamentary Govt.)
(4) अध्यक्षात्मक सरकार (Presidential Govt.)
(5) एकात्मक सरकार (Unitary Govt.)
(6) सघात्मक सरकार (Federal Govt.)

प्रजातन्त्र
(Democracy)

आधुनिक युग 'प्रजातन्त्र का युग' है। विश्व के अधिकांश देश अपने को प्रजातन्त्रात्मक कहने में गौरव का अनुभव करते हैं चाहे वे [illegible] साम्यवादी। प्रथम महायुद्ध के बाद से 'प्रजातन्त्र' विश्व के राज्यों [illegible] ग्रहण करता गया है और इस युग का यह स्वरूप [illegible]

तथापि विगत कुछ वर्षों से इसमें विपरीत प्रवृत्तियों का तेजी से उदय हुआ है। कई देशों में सैनिक तानाशाही स्थापित हुई है और दक्षिण पूर्वी, मध्य पूर्वी एवं लेटिन अमेरिकी देशों के नव स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों में प्रजातन्त्र के नाम पर इसके विकृत रूप को अपनाया जा रहा है। निर्देशित प्रजातन्त्र' (Guided Democracy) तथा 'सीमित प्रजातन्त्र' (Limited Democracy) के नाम पर एक व्यक्ति के शासन अथवा अधिनायकवाद की स्थापना की जा रही है। यदि प्रजातन्त्र विरोधी प्रवृत्तियों का इसी तरह विकास होता गया तो सम्भव है कि प्रजातन्त्र का भविष्य संदेहास्पद हो जाय।

प्रजातन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

प्रजातन्त्र सरकार का अर्थ 'प्रजा का शासन' है। जिस देश में जनता अपनी स्वेच्छा से राजकीय कार्यों में भाग लेती है तथा राज्य के कार्यों का स्वयं संचालन करती है, उस देश में प्रजातन्त्रात्मक राज्य व्यवस्था मानी जाती है। प्रजातन्त्र (Democracy) शब्द यूनानी भाषा के Demos' और Cratea' शब्दों से बना है जिनके अर्थ क्रमशः 'जनता और शक्ति' होते हैं। अतः प्रजातन्त्र का शाब्दिक अर्थ जनता में शक्ति' है। प्रजातन्त्र इस तरह शासन का वह रूप है जिसमें शासन सत्ता स्वयं जनता के हाथ में रहती है और उसका प्रयोग वह प्रत्यक्ष रूप से करती है।

प्रजातन्त्र की परिभाषा विचारकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र को सरकार का ऐसा रूप माना है जिसमें शासन जनता का जनता के लिए और जनता के द्वारा' होता है। सील के कथनानुसार, "प्रजातन्त्र सरकार का वह रूप है जिसमें प्रत्येक का योगदान होता है।" ब्राइस के कथनानुसार, "हेरोडोटस के समय से ही जनतन्त्र का अर्थ उस शासन पद्धति से समझा जाता है जिसमें राज्य की प्रशासनिक शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथ में न होकर सम्पूर्ण समाज के हाथ में होती है।'

यह कि अल्पसंख्यकों की अपेक्षा उनका मत अधिक सही होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त बहुमत की शक्ति अल्पमत की अपेक्षा हमेशा अधिक होती है। प्रशासन की सफलता का मापदण्ड जनकल्याण माना जाता है। मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास को पूर्ण अवसर प्रदान करने की व्यवस्था ही शासन का श्रेष्ठ रूप समझी जाती है।

प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्वसम्मति से सचालित नहीं होता, उसमें लोगों के अलग अलग विश्वास और विचार होते हैं। इन विचारों तथा विश्वासों के बीच संघर्ष होने के बाद ही वास्तविक सत्य प्रकट होता है। समानता के सिद्धान्त पर आधारित लोकतन्त्रात्मक समाज में सभी व्यक्ति एक समान हैं तथा किसी भी व्यक्ति को विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है अपितु राज्य और समाज का भी रूप है। प्रो० गिडिंग्स के शब्दों में 'प्रजातन्त्र जिस तरह राज्य का रूप हो सकता है, उसी तरह शासन और समाज का भी तथा इससे आगे वह इन तीनों का मिश्रित रूप भी हो सकता है।'

लेकिन प्रजातन्त्र का वास्तविक स्वरूप अधिक व्यापक है। इसमें केवल राजनीतिक और सामाजिक पक्षों को ही सम्मिलित नहीं किया जाता है। आज के युग में प्रजातन्त्र की धारणा एक प्रगतिशील जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार की जाती है। डा० आशीर्वादम् के अनुसार, प्रजातन्त्र मानवता के प्रति हमारे उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व के द्वारा विरोधी सिद्धान्तों में पारस्परिक समन्वय का यह ठोस प्रयत्न है जिससे समाज के प्रति व्यक्ति के लिए यह सम्भव बनाया जा सके कि यह अपनी शक्ति भर अपने लिए सर्वोत्तम कल्याण की सिद्धि कर सके।" एलवुड के लिए 'प्रजातन्त्र सामाजिक नियन्त्रण का ही एक उपादान है, एक सामाजिक आत्मा है।' इस तरह संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं प्रजातन्त्र वह संगठन है, वह जीवन-दर्शन है, जहाँ हमारा व्यक्तित्व और हमारी मनुष्यता का पूर्ण विकास हो सकता है। प्रजातन्त्र शासन, राज्य और समाज का स्वरूप है। यह जीवन का एक रूप है और जीवन का नैतिक तथा सामाजिक दर्शन भी है।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ—विभिन्न देशों और कालों में प्रजातन्त्र के विभिन्न पहलुओं पर बल दिया जाता रहा है, अतः इसका अर्थ समझने के लिए इसके शासनिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य स्वरूपों को समझना आवश्यक है।

(1) **प्रजातन्त्र का शासनिक पहलू**—प्रजातन्त्र, शासनिक दृष्टि में जनता का जनता के लिए जनता द्वारा शासन है। इसमें जनता अपनी सत्ता का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करती है। प्रत्यक्ष पद्धति में स्वतन्त्र और अप्रत्यक्ष पद्धति में निर्वाचन पद्धति द्वारा जनता शासन का सचालन करती है। सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रजातन्त्र का प्रत्यक्ष रूप आज के विशाल राज्यों में

सम्भव नहीं रहा है। आज के प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक देश मे भी सम्पूर्ण जनता प्रत्यक्षत शासन कार्य में भाग नही ले पाती। स्विटजरलैण्ड मे प्रत्यक्ष और प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का समन्वय किया गया है। राज्यो के विशाल आकार के कारण सभी देशो में प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली को अपनाया गया है।

प्रजातन्त्र के प्रशासनिक पहलू के सन्दभ मे यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक रूप से शासन का वास्तविक सूत्र केवल कुछ लोगो के हाथ मे ही रहता है। समाज का एक अल्पसख्यक वग ही सत्ता का वास्तविक प्रयोग करता है, यद्यपि उसका उत्तरदायित्व जनता के प्रति रहता है और अनिश्चित अवधि तथा जनता की कृपा से प्रजातन्त्र का अर्थ जनता के प्रति उत्तरदायित्व और अधिकाधिक व्यापक मताधिकार पर आधारित प्रतिनिधि सस्था का अस्तित्व है।

(2) **प्रजातन्त्र का राजनतिक एव सामाजिक पहलू**—राजनतिक दृष्टि स प्रजातन्त्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग का अधिकार जनसम्या के बहुसख्यक भाग को होता है। अत इस व्यवस्था मे राजसत्ता पर किसी एक वग का अधिकार न होकर शासन काय बहुमत द्वारा सचालित किया जाता है और कानून भी वही लागू किए जाते हैं जो सामान्य जन मत के अनुकूल होते हैं।

परन्तु लोकतन्त्र केवल एक शासन प्रणाली ही नही है वह एक उच्चकोटि का सामजिक आदश भी है। सामाजिक आदश के रूप म लोकतन्त्र समस्त व्यक्तियो को समान अधिकार प्रदान करता है। लोकतन्त्रात्मक समाज मे नस्ल रग धम, वश, जाति, लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। जिस समाज मे भेदभाव, छुआछूत तथा स्त्रियो को पुरुषों की अपेक्षा निम्न समझा जाता हो उसे लोकतन्त्रात्मक नही कहा जा सकता। एक जनतन्त्रात्मक समाज मे यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक समानता का उपभोग करे। उसे शिक्षा प्राप्त करने, अपने व्यक्तित्व को विकसित करने तथा अपनी सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति के लिए समान प्रयास करने आदि की भी सुविधा होनी चाहिए।

(3) **प्रजातन्त्र का नतिक पहलू**— लोकतन्त्र अपने व्यापक अथ में एक नतिक आदश और मानसिक दृष्टिकोण कहा जाता है। जेफरसन के अनुसार 'लोकतन्त्रात्मक शासन का आधार यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति मे अपना शासन अपने आप करने की और औसत नागरिक मे सामाजिक हित की दृष्टि से शासको को चुनने की योग्यता होती है।'' लोकतन्त्र जनसाधारण की गरिमा मे विश्वास रखता है। दाशनिक काण्ट (Kant) का कथन है कि ''इस प्रकार काम करो कि मानवता के साथ प्रत्येक मामले मे चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व की बात हो अथवा दूसरे की, व्यक्ति का व्यक्तित्व सदैव साध्य रहे, साधन नहीं।'' बेन्थम (Bentham) के इस सूत्र में भी यही विचार निहित है कि – 'प्रत्येक व्यक्ति को गिना जाना चाहिये और किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक नहीं।

(4) **प्रजातन्त्र का आर्थिक पहलू**—राजनीतिक जनतन्त्र की सफलता आर्थिक जनतन्त्र पर निर्भर है। आर्थिक प्रजातन्त्र आर्थिक समानता का पर्यायवाची है। किसी

भी समाज मे जब तक आर्थिक समानता नहीं होती तब तक प्रजातन्त्र वास्तविक रूप मे सफल नही हो सकता। जब तक राजनीतिक अधिकारो के साथ आर्थिक अधिकारो को मान्यता नही दी जाती, तब तक प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का सफल होना काफी सन्देहास्पद है।

प्रजातन्त्र के इस व्यापक विवेचन के उपरान्त इसे परिभाषित करते हुए सक्षेप मे कहा जा सकता है कि "प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार का शासन है, *एक सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति है, एक* आर्थिक आदर्श है। मे राजनीतिक सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था तथा दैनिक व्यवहार के सामाजिक और सास्कृतिक मापदण्ड सम्मिलित हैं।

प्रजातन्त्र के भेद

शासन तन्त्र के दृष्टिकोण से प्रजातन्त्र के प्राय दो भेद माने जाते हैं —

(क) प्रत्यक्ष या विशुद्ध प्रजातन्त्र (Direct or Pure Democracy)

(ख) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र (Indirect or Representative Democracy)

(क) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र — जब लोग स्वय प्रत्यक्ष रूप से सावजनिक विषयो में अपना मत प्रकट करें तो ऐसे शासन को प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कहते है। यूनान के नगर राज्यो का प्रजातन्त्र शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था, सभी स्वतन्त्र व्यक्ति ग्राम-सभाओ में एकत्रित होते और उन्हे कार्यान्वित करते, राजदूतो से मिलते और जूरियो के रूप मे कार्य करते थे। इस प्रकार के लोकतन्त्र का पुनजन्म मध्य युग मे इटली के नगर राज्यो मे हुआ था। स्विटजरलैण्ड के फोरेस्ट कटनो (Forest Cantons) मे भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र था और वर्तमान मे भी है। 18वीं शताब्दी मे रूसो इस प्रकार के शासन का प्रबल समर्थक था। वह अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को पसन्द नही करता था। किन्तु आधुनिक परिस्थितियो मे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को बडे पमाने पर लागू करने के माग की कठिनाइयो को भी वह महसूस करता था। उसका कहना था कि शुद्ध लोकतन्त्र के लिए अनेक बातो की आवश्यकता है और इनका एक साथ प्राप्त होना कठिन है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के लिए निम्नलिखित आवश्यकताएँ आवश्यक हैं —

(1) एक छोटा राज्य जिसके नागरिक आसानी से एक जगह एकत्रित हो सकें और जिसमें प्रत्येक नागरिक दूसरे नागरिको को आसानी से पहचान सकें,

(2) व्यावहार की एकन्म सादगी,

(3) पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति में पर्याप्त समानता और

(4) बहुत कम विलास प्रियता या विलासहीनता।

स्पष्ट है कि शुद्ध या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र एक ऐसा लक्ष्य है जो आधुनिक युग मे प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुछ आधुनिक राज्यो मे *प्रचलित लोकनिदेश* (Referendum), आरम्भक (Initiative) और प्रत्यावर्तन (Recall) और

प्रणालियाँ ही आजकल प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का निकटतम स्वरूप है, परन्तु ये उपाय सवत्र काम मे नही लाये जा सक्ते । लोक निणय वह विधि है जिसमे विधानमण्डल द्वारा पारित कानूनो पर साधारण जनता का मत जाना जाता है । आरम्भक या निबन्ध उपक्रम द्वारा जनता को प्रत्यक्ष रूप में विधि निर्माण का अधिकार मिलता है । प्रत्यावतन में जनता यदि चाहे तो अपने चुने हुए प्रतिनिधियो को धारा सभा से, उनकी अवधि समाप्त होने से पूव ही वापस बुला सक्ती है । प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र आज कल के विशाल राष्ट्रीय राज्यो के लिए अव्यावहारिक है ।

(ख) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—आजकल लगभग प्रत्येक देश मे अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का प्रचलन है । इसके अनुसार वास्तविक शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो को सौंप दिया जाता है । राज्य की इच्छा का निर्माण सवसाधारण प्रत्यक्षत नही करते बल्कि व अपनी इच्छा अपने प्रतिनिधियो द्वारा व्यक्त करते हैं । प्रतिनिधियों का एक निश्चित अवधि के बाद निवाचन होता है और सवसाधारण इन्ही प्रतिनिधियो द्वारा देश का शासन करते हैं । इस प्रकार कानूनो का निर्माण जन प्रतिनिधियो द्वारा होता है—प्रत्यक्ष जनता द्वारा नही । प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र इस विचार पर आधारित है कि जनता के सभी सदस्य राजधानी में स्वय उपस्थित नही हो सक्ते किन्तु वे अपने प्रतिनिधियो के रूप मे उपस्थित माने जा सक्ते हैं । प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में भी सत्ता जनता में ही निवास करती है । इसके अन्तगत शासक और शासितो के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और दोनो के उद्देश्यो में एकरूपता रहती है । इस तरह अधिकार और राजनीतिक स्वतन्त्रता में सामजस्य बना रहता है ।

प्रजातन्त्र की समीक्षा (गुण दोष)

प्लेटो अरस्तू आदि ने प्रजातन्त्र को सरकार का विकृत रूप (Perverted form) बताया है और अनेक आलोचकों ने इसे भीड तन्त्र (Mobocracy) कहा है । एक लेखक न तो इसे 'पियक्कड मसखरा' (Drunken Clown) तक बताया है । कार्लाइल ने इस मूर्खों का शासन और एच० जी० वेल्स ने इस पाँच मिनिट में ध्वस्त होने वाले कल्पना के महल' (Utopia) की सज्ञा दी है । दूसरी ओर अनेक विद्वानो न इसे राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक रोगो क लिए राम-बाण औषधि बताया है । बेन्थम ने इसे 'सर्वोत्तम शासन-तन्त्र' की सज्ञा दी है तो जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार उत्तम शासन और जनता के चरित्र निर्माण की दृष्टि से प्रजातन्त्र ही सवश्रेष्ठ है ।

प्रजातन्त्र के गुण

(1) प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता समानता तथा भ्रातृत्व की उच्च भावनाओं पर आधारित है । वह समाज के सभी सदस्यो को स्वतन्त्रता तथा समानता के अधिकार प्रदान करता है और जाति धम, रग और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता । प्रजातन्त्र ने वर्षों से चली आ रही इस सामन्ती परम्परा को अवास्तविक सिद्ध कर दिया है कि कुछ लोग शासन करने के लिए पैदा हुए हैं और कुछ लोग

शासित होने के लिए। मनुष्य को मनुष्य समझना आधुनिक प्रजातन्त्र का मूल सिद्धान्त है जिसमे अमीर गरीब ऊँचे नीचे सुखी तथा दुखी सभी को समान अधिकार एव समान अवसर प्राप्त होते हैं। लॉर्ड ब्राइस का कथन है कि "राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति ने व्यक्ति को व्यक्तित्व तथा मानवता को गौरव प्रदान किया है। इससे उसका नैतिक स्तर ऊँचा हुआ है तथा उसमे अपने कर्त्तव्यो के प्रति जागरूकता उत्पन्न हुई है।" प्रो० डायसी के अनुसार लोकतन्त्र मे अधिकारो की समानता तथा परिस्थितियो, भावनाओ और आदर्शों की एकता होती है। प्रजातन्त्र ने साधारण मे विद्यमान हीनता की भावना (Inferiority Complex) को समाप्त कर एक उन्मुक्त तथा सामन्तवादी समाज को जन्म दिया है।

(2) प्रजातन्त्र एक कुशल व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जनता को अधिक से अधिक सुख की वृद्धि करने का अवसर मिलता है। यह जन-सहमति पर आधारित शासन-व्यवस्था है। गार्नर का यह कथन उचित है कि सार्वजनिक चुनाव सार्वजनिक नियन्त्रण तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व के कारण अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा जनतन्त्र मे कही अधिक कार्यकुशलता की सम्भावना है।

(3) जन सहमति पर आधारित होने के कारण ही जनतन्त्रात्मक शासन अन्य शासन प्रणालियो की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस व्यवस्था मे जन-साधारण अपनी इच्छानुसार शासको को बदल सकता है जिसके कारण क्रान्तियो का जितना भय अन्य राज्यो मे होता है उतना प्रजातन्त्र मे नही और वह भी विशेषकर स्विट्जरलण्ड जैसे प्रजातन्त्र में।

(4) जे० एस० मिल तथा लॉर्ड ब्राइस दोनो ही प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। मिल ने प्रजातन्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "प्रजातन्त्र प्रणाली मे समस्त जनता अथवा उसका विशाल भाग समय समय पर अपने चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा शासन करता है।" इसमे समस्त शक्ति जनता मे निहित रहती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार समय प्राप्त होने पर कार्य कर सके। वैसे कानून न्याय रक्षा आदि का उत्तरदायित्व तो सभी राज्य अपने पर लेते हैं पर प्रजातन्त्र की विशेषता यह है कि वह निरन्तर जन सामान्य और उसमे भी विशेष रूप से निर्धन वर्ग की उन्नति का प्रयास करता रहता है।

(5) प्रजातन्त्र शासन का शिक्षात्मक मूल्य भी है। यह प्रणाली जनसाधारण मे राजनीतिक चेतना जाग्रत करती है, आत्म विश्वास, उदारता और सहयोग की भावनाओ को सुदृढ बनाती है। यही कारण है कि सुशासन (Good Govt) को स्वराज्य (Self Govt) का स्थान कभी नही दिया जा सकता।

(6) प्रजातन्त्र एक ऐसी शासन-व्यवस्था है जो राष्ट्रीय भावना तथा देशप्रेम को जाग्रत करता है। जनतन्त्र का प्रत्येक नागरिक यह समझता है कि कानून तथा शासन के स्वरूप का स्वयं निर्माता है। अत शासकगण उसके भाग्यनिर्माता न होकर केवल सेवक होते हैं।

(7) प्रो० गैटिल के अनुसार, "लोकतन्त्र मे सम्प्रभुता शक्ति पर आधारित न होकर सहमति पर स्थित रहती है। यह 'व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है' के सिद्धान्त को न मानकर 'राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है' इस सिद्धान्त को मानता है। इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सवैधानिक रूप से अधिक सुरक्षा की सम्भावना है। इस व्यवस्था मे जनता का विकास तथा उसकी उन्नति सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि उत्पन्न करना माना जाता है। जनतन्त्रात्मक सरकार मे व्यक्ति सक्रिय भाग लेते हैं और यही उनकी महत्ता, उनकी भक्ति तथा दृढ विश्वास का कारण है।"

(8) प्रजातन्त्र सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुधार के लिए समुचित वातावरण निर्माण में बहुत सफल होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पिछले कुछ वर्षों मे ससार मे जितने सामाजिक तथा आर्थिक सुधार हुए उतने राजतन्त्र के इतिहास म कभी भी नही हो पाए। लोकतन्त्र का एकमात्र ध्येय जनकल्याण है और सामाजिक असमानता तथा पुराने अनुपयोगी रीति रिवाजो को जन-सहमति से समाप्त कर सच्चे जनकल्याण को सम्भव बनाने के लिए प्रयास किए जाते हैं।

(9) लोकतन्त्र सामाजिक एकता का एक उत्कृष्ट साधन है। ड्यूए (Dewey) के अनुसार, "प्रजातन्त्र एक ऐसे सामाजिक सगठन के आदर्श के अत्यन्त निकट है जिसमे व्यक्ति तथा समाज का सावयव सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति समाज का उसी तरह अटूट अग माना जाता है जिस प्रकार किसी शरीर के विभिन्न अग। इस सावयवी (Organic) एकता का अनुभव व्यक्ति केवल लोकतन्त्र मे ही कर सकता है चूँकि इस व्यवस्था मे व्यक्ति अपने अन्दर सामाजिक इच्छा और आकांक्षाओ को अनुभव करता है और प्रत्येक नागरिक राज्य सत्ता मे भागीदार रहता है।"

प्रजातन्त्र के दोष

प्रजातन्त्र के विरुद्ध कुछ प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

(1) प्रजातन्त्र के सिद्धान्त अत्यधिक काल्पनिक और आदर्शवादी हैं। प्रजातन्त्र का आधार जनसाधारण की समानता है। प्राणी शास्त्रियो के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक समानता एक कोरी कल्पना है और परिवारो तथा जातियों की प्राकृतिक उच्चता के सिद्धान्त को तथ्यो द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। जर्मन, इटेलियन तथा जापानियो ने जातीय उच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए विभिन्न देशो तथा राष्ट्रो म प्राकृतिक असमानता को यथार्थ माना है। अत कई विद्वानो का मत है कि प्रजातन्त्र जीव विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तो के विपरीत है।

(2) शिक्षा, सस्कृति, राजनीति तथा सामाजिक योगदान की दृष्टि से भी समाज के सभी व्यक्ति या वर्ग समान नहीं हो सकते। गरीब और अमीर, मूर्ख

और बुद्धिमान, शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रजातन्त्रात्मक शासन में समान होते हैं। आलोचकों का कहना है कि प्रजातन्त्र में गुण का महत्त्व न होकर संख्या का महत्त्व अधिक होता है। वोटों को गिना जाता है तोला नहीं जाता। ऐसे शासन में विवेकहीन व्यक्तियों का सम्मान होने लगता है और योग्य व्यक्ति उपेक्षित रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप प्रजातन्त्र शासन में मूर्खों तथा अशिक्षितों की संख्या अधिक पायी जाती है। यह बहुमत का शासन है और यही कारण है कि प्रजातन्त्र अयोग्य और अशिक्षित लोगों का शासन कहा जाता है (Democracy is a cult of incompetence)।

(3) प्रजातन्त्र को अज्ञानी, अशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियों का शासन मानने का कारण यह भी है कि इसमें राज्य शक्ति ऐसे व्यक्तियों के हाथ में रहती है जिन्हें शासन-कार्य का कुछ भी ज्ञान अथवा अनुभव नहीं होता। प्लेटो के कथनानुसार, "शासन एक कला है जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए योग्यता, निपुणता तथा अनुभव की आवश्यकता होती है।" प्रजातन्त्र में अधिकांश ऐसे लोग शासक बन जाते हैं जो शासन का क, ख, ग भी नहीं जानते। किसी भी क्षेत्र में काम सौंपने से पूर्व यह आवश्यक होता है कि कार्य करने वाले व्यक्ति की शिक्षा, अनुभव तथा पटुता आदि पर ध्यान दिया जाय, परन्तु जनतन्त्र की विधान सभाओं के सदस्यों के चुनाव में ऐसी किसी योग्यता पर विचार नहीं किया जाता और केवल लोकप्रियता को ही एकमात्र कसौटी माना जाता है।

(4) चुनाव में मत देते समय जनता पर्याप्त विवेक से कार्य नहीं लेती बल्कि जो भी उसे बहका सकता है या उसके हाथों में पैसे थमा देता है, उसे ही चुनाव क्षेत्र में समर्थन देकर सफल बना देती है। चुनावों के अनुभव बतलाते हैं कि निर्वाचक अपने प्रतिनिधियों का सही चुनाव नहीं कर पाते। प्रजातन्त्र की राजनीति में तर्क और विवेक का अभाव रहता है।

(5) यह भी कहना सिद्धान्त रूप से गलत है कि प्रजातन्त्र सचमुच जनता का राज्य है। व्यावहारिक रूप में चुनाव लड़ना और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करना किसी भी समाज में कोई आसान काम नहीं है। जनसाधारण के पास इतना धन नहीं होता कि वह चुनाव लड़ सके। केवल धनी लोग ही चुनाव के अखाड़ों में आते हैं और विधानसभाओं के सदस्य बन कर राज्य शासन पर कब्जा कर लेते हैं। इतना ही नहीं जनतन्त्र में धनी लोग व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के सदस्य को भी खरीद लेते हैं और व्यावहारिक रूप में जनता का शासन अपने आदर्श का मखौल बनकर रह जाता है।

(6) मतदाता भी चुनाव के मामलों में कोई विशेष रुचि नहीं लेते। सभी देशों में बहुत कम मतदाता ऐसे पाए जाते हैं जो अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करते हैं। अधिकांश जनता बिना सोचे विचारे ही वोट दे आती है और मतदाताओं की एक बड़ी संख्या द्वारा वोट का प्रयोग ही नहीं किया जाता। अमेरिका जैसे

सफल जनतन्त्रात्मक देश मे भी औसतन 50 60 प्रतिशत मतदाता ही मतदान में भाग लेते हैं।

(7) नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में झूठ, जालसाजी आदि का बोलबाला रहता है। राजनैतिक प्रचार के लिए झूठे वायदे किये जाते हैं, झूठे कार्यक्रम बनाए जाते है और लोगो को खुश करने के लिए अनेक प्रकार के अनैतिक कार्यों को प्रश्रय दिया जाता है।

(8) प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता और समानता का भी अभाव होता है। प्रजातन्त्र के नेता स्वार्थसिद्धि के लिए जनता को गुमराह करते हैं और उन्हें झूठा भय दिखाकर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र को बहुमत का अत्याचारपूर्ण शासन (Tyranny) कहना भी असगत नही होगा।

(9) प्रजातन्त्र मे सरकार अधिक स्थायी नही रहती। दलबन्दी के कारण पार्टियो के पारस्परिक सम्बन्धो मे परिवर्तन होते रहते हैं जिसके फलस्वरूप सरकार बार-बार बनती है और बिगडती है। शासन प्रणाली स्थायी न रह कर अस्थायी बन जाती है और शासन नीतियो मे निश्चितता और क्रमबद्धता नही रहती।

(10) प्रजातन्त्रात्मक शासन अन्य शासनो की अपेक्षा अधिक खर्चीला एव अपव्ययी होता है। साधारण निर्वाचन तथा प्रतिनिधियो के वेतन एव भत्तो पर काफी व्यय होता है। मन्त्री अधाधुध खर्च करते हैं एव इनके यात्रा सम्बन्धी बिल उनके वेतनो मे अधिक हो जाते हैं। प्रजातन्त्रात्मक सरकार म कर्मचारियो की सख्या भी आवश्यकता से अधिक होती है।

(11) *गुणों की अपेक्षा सख्या पर अधिक बल देने से प्रजातन्त्र मे सर्वत्र* अक्षमता छायी रहती हैं तथा प्रशासन मे कार्य कुशलता और द्रुत कार्य का अभाव खटकता है। व्यवस्थापन की प्रक्रिया इतनी अधिक लम्बी होती है कि जिन कानूनो के निर्माण मे कुछ दिन लगने चाहिए उनमें वर्षों लग जाते है। सरकारी विभागो मे कार्य की गति मन्द होती है। एक लेखक के अनुसार—"प्रजातन्त्र मे सात दिन म सात व्यक्ति उतना काम करते हैं, जितना एक दिन में एक व्यक्ति कर लेता है।"

(12) प्रजातान्त्रिक देशो मे एम अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जब राष्ट्रीय हितो को स्थानीय हितो के लिए बलिदान किया गया है। "शक्ति, अधिकार और सरक्षण की होड मे कुछ थोडे से लोगो के लाभ के लिए समग्र राष्ट्र के हितो की उपेक्षा की जाती है तथा सामुदायिक भावना का अभाव रहता है जिससे राष्ट्रीय एकता सकट मे पड जाती है। पाश्चात्य देशो में एक प्रवृत्ति अधिक जोर पकडती जा रही है कि सगठित अल्पसख्यक समुदाय अपने उद्देश्यो की सिद्धि के लिए जनहित की अवहेलना करते हैं। भारत मे राज्यो के भाषावार पुनर्गठन के प्रश्न पर जो बवडर उठा था वह इस बात का उदाहरण है।"

लॉर्ड ब्राइस ने जो प्रजातन्त्र के उत्कृष्ट व्याख्याता हैं, प्रजातन्त्र के निम्नलिखित दोष बतलाए हैं—

"1 शासन व्यवस्था या विधान को विकृत करने के लिए धन बल का प्रयोग।

2 राजनीति को धनोपार्जन का पेशा बनाने की ओर झुकाव।

3 अति व्ययसाध्य शासन-व्यवस्था।

4 समानता सिद्धान्त का दुरुपयोग और प्रशासकीय क्षमता का उचित मूल्य न आँका जाना।

5 दलबन्दी या दल संगठन पर अत्यधिक बल।

6 विधानसभाओं के सदस्यों तथा राजनीतिक नेताओं द्वारा कानून पारित कराते समय वोटों को दृष्टि में रखना [illegible] को सहन करना।"

लार्ड ब्राइस के ये निष्कर्ष संसार के कुछ बड़े महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों के अध्ययन पर आधारित हैं।

प्रजातन्त्र की आलोचनाओं का मूल्यांकन

(4) यह सोचना अनुचित है कि प्रजातन्त्र म जनता अपना शासन स्वय सचालित करने मे असमर्थ है। प्रजातन्त्र मे अयोग्य नेताओ के चुने जाने का कारण यह है कि मानव समाज मे अब भी सम्पत्ति शक्ति और पद प्रतिष्ठा के प्रति अत्यन्त उत्सुकता है और साथ ही सामाजिक विनम्रता का अभाव है, किन्तु इसका इलाज प्रजातन्त्र को सीमित करना नही है बल्कि उसे और अधिक व्यापक बनाना है। प्रजातान्त्रिक देशो का अनुभव यह सिद्ध करता है कि निम्नलिखित बातो के सम्बन्ध में जनता अधिक सही निर्णय देती है—

(क) विधियो की अपेक्षा मनुष्यो के सम्बन्ध मे

(ख) आदेशमूलक विधियो की अपेक्षा निषेधात्मक विधियो के सम्बन्ध मे,

(ग) उन प्रश्नो के सम्बन्ध मे जो प्राविधिक और विवरण-युक्त समस्याओं की अपेक्षा सामान्य नीति से सम्बन्धित होती है,

(घ) भावोत्तेजक प्रश्नो की अपेक्षा ऐसे मामलो के सम्बन्ध में परिणाम सदैव ही श्रेष्ठतर रहे हैं।

(5) जो आलोचक अधिनायकतन्त्र को जनता का सच्चा प्रतिनिधि कहते हैं वे यह भूल जाते हैं कि उसमें आलोचना एव स्वतन्त्र विचारो को कुचल दिया जाता है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जनता अधिनायकतन्त्रवाद का उचित समर्थन इसी आधार पर करती हैं कि वह जनता का सही-सही प्रतिनिधित्व करता है, पर प्रजातन्त्र तो प्रतिनिधित्व के आधार पर ही स्थापित शासन प्रणाली है। प्रजातन्त्र मे दल अव्यवस्था मे व्यवस्था कायम करते हैं, लोकमत का निर्माण करते हैं और उसे शिक्षित करते हैं। दलगत अनुशासन स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार को रोकता है।

(6) प्रजातन्त्र मे धन के अपव्यय को प्रभावशाली उपायो द्वारा रोका जा सकता है। भ्रष्टाचार और घूँसखोरी के लिए सार्वजनिक जीवन को दोष दिया जाना चाहिए न कि केवल प्रजातन्त्र को। "उचित और अनुचित का अस्तित्व हमेशा रहा है और रहेगा।"

अन्त मे, हमें यह नही भूलना चाहिए कि "आत्म विश्वासपूर्ण लोकतन्त्रीय समाज अपनी कार्य प्रणाली मे बहुत अधिक नम्य हो सकता है वह आवश्यकतानुसार अपनी प्रणाली में परिवर्तन कर सकता है। 'लोकतन्त्र की नींव' मानव प्रकृति की क्षमताओ, सद्बुद्धि पर विश्वास, संचित तथा सहयोगपूर्ण अनुभव की शक्ति पर आधारित है।"

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें
(Essential Conditions for the Success of Democracy)

प्रजातन्त्र प्रत्येक देश में सफल नहीं हो सकता क्योंकि उसकी सफलता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं। यदि वे व्यवस्थाएँ किसी देश में हैं तो वह सफल होगा वरना नहीं। विभिन्न लेखकों ने इसकी सफलता के लिए विभिन्न शर्तों का उल्लेख किया है। कुछ लोग तो नागरिकों के मानसिक और नैतिक गुणों पर जोर

देते हैं और कुछ एक समुचित सामाजिक आर्थिक स्थिति के महत्त्व पर बल देते हैं। समाजवादी सामाजिक आर्थिक स्थितियों को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं किन्तु गाँधीजी जैसे व्यक्ति नागरिकों के मानसिक तथा नैतिक गुणों के महत्त्व पर जोर देते हैं।

प्रो हर्न शा (Hearn Shaw) के अनुसार प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें ये हैं—(1) व्यक्तियों मे सच्चाई तथा सम्मान की भावना का होना (2) व्यक्ति शिक्षित हो (3) व्यक्तियों मे राष्ट्रीय स्वार्थों के प्रति रुचि हो (4) शक्तिशाली जनमत, एव (5) राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों मे व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्राप्त होना।

फ्रांसिस कोकर (Francis W Coker) की दृष्टि मे लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं —

(1) नागरिक भावना (2) बौद्धिक तथा नैतिक उत्साह, (3) समान आर्थिक अवसर (4) स्वतन्त्र वाद विवाद (5) व्यक्तियों की स्वतन्त्रता।

प्रजातन्त्र के प्रबल समर्थक जे एस मिल के अनुसार प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है (1) जनता मे प्रजातन्त्र शासन क्रियान्वित करने की तीव्र अभिलाषा एव पूर्ण योग्यता, (2) जनता प्रजातन्त्र के लिए और अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए युद्ध को तत्पर होनी चाहिए, (3) जनता द्वारा अपने नागरिक कर्त्तव्यों का बुद्धिमानी तथा ईमानदारी मे पालन की इच्छा।

विस्तार और स्पष्टता की दृष्टि से प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्तों को निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है —

(1) वैधानिक परम्पराएँ—प्रजातन्त्र मे उत्तेजित वातावरण को वैधानिक परम्पराओं के विकास द्वारा 'अगाध जल के समान शान्त' बनाया जाना आवश्यक है। प्रजातन्त्र की खुली आलोचना करने वाले लेकी और सर नामन ऐंजिल का विश्वास है कि यदि कुछ शैलियाँ और वैधानिक व्यवस्थाएँ कार्यान्वित की जाएँ तो प्रजातन्त्र सुचारू रूप से तथा सफलता के साथ चलाया जा सकता है।

(2) बौद्धिक आवश्यकताएँ— प्रजातन्त्र मे शासन का उत्तरदायित्व जन-साधारण का होता है अत आवश्यक है कि सम्पूर्ण जनता का बौद्धिक स्तर ठीक हो। जनता मे इतनी सहज बुद्धि होना आवश्यक है कि वह सही सरकार का निर्वाचन कर सके और देश की सभी आवश्यकताओं को भली भाँति समझ सके। जनता में निर्णय शक्ति होनी चाहिए ताकि देश के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के समाधान हेतु वह उचित एव समयानुकूल निर्णय दे सके। प्रजातन्त्र की इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रजा मे समुचित शिक्षा एव ज्ञान का प्रचार होना भी आवश्यक है।

(3) समानता एव सावधानी—जनता कितनी ही सुशिक्षित और उदारमना क्यों न हो, पर जब तक वह आलस्य एव उदासीनता से घिरी रहेगी तब तक

प्रजातन्त्र की सफलता संदिग्ध है। निरंतर सजग एवं सावधान रहने से ही प्रजातन्त्र की रक्षा हो सकती है।

(4) **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता**—प्रजातन्त्र शासन समानता के स्वर्ण सिद्धांत पर आधारित है। इसके लिए आवश्यक है कि समस्त प्रजा को समान रूप से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानताएँ उपलब्ध हों। समाज में जन्म, जाति, रंग, सम्प्रदाय, धर्म आदि के भेद के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान अवसर प्राप्त हो और सबके साथ कानून, न्याय तथा अवसर की दृष्टि से समान व्यवहार किया जाय। इसके अतिरिक्त समाज में एकता की भावना भी अत्यावश्यक है। आर्थिक क्षेत्र में आवश्यक है कि सब को अर्थ सम्बन्धी न्यूनतम सुरक्षा प्राप्त हो। *प्रजातन्त्र में एक ओर बहुत अमीरी तथा दूसरी* ओर बहुत गरीबी एक साथ नहीं चल सकती। जनता में अधिकाधिक आर्थिक समता *व स्वतन्त्रता का वातावरण होना जरूरी है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र का प्राण* है। जनता की मौलिक स्वतन्त्रताएं प्रजातन्त्रात्मक शासन की सफलता के लिए आवश्यक है। इनके द्वारा निर्बाध जनमत संग्रह में सहयोग मिलता है। यह आवश्यक है कि सत्ताधारी दल विरोधी दलों और अल्पसंख्यकों के विचारों का उचित आदर करे।

(5) **राज्य में शान्ति और सुरक्षा**—युद्ध और अशान्ति की व्यवस्था तानाशाही को जन्म देती है। शान्ति और सुव्यवस्था की स्थिति में ही प्रजातन्त्र शासन प्रणाली स्थापित हो सकती है।

(6) **राजनीतिक चेतना**—जनतन्त्र की राजनीति जन साधारण की राजनीति होती है, अतः जन साधारण में सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति सामान्य जागृति होनी चाहिए, उनमें देश के प्रति प्रेम होना चाहिए और देश की उन्नति के लिए सब कुछ कर गुजरने की उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए। एक सफल प्रजातन्त्र की जनता अपनी सरकार और सार्वजनिक राजनीति में निरंतर रुचि लेती है और अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सदैव जागरूक रहती है।

(7) **राजनीतिक शिक्षा**—जनतन्त्र में जनता में वैधानिक तत्परता का होना वाञ्छनीय है। उसमें आंख खोलकर अपनी राजनीतिक समस्याओं पर वाद-विवाद करने की योग्यता होनी चाहिए। राष्ट्रीय समस्याओं पर अच्छी तरह से विचार विमर्श करने की राजनीतिक शिक्षा के बिना जनतन्त्र अवांछनीय तत्वों के हाथों में पड़कर बेमौत मर सकता है।

(8) **स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता**—राजनीतिक शिक्षा के लिए आवश्यक है कि जनता को स्थानीय स्वायत्त की संस्थाओं द्वारा प्रजातन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। प्रजातन्त्र अधिकांशतः उन्हीं राज्यों में सबसे अधिक सफल होता है, जहाँ स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को अधिकतम अवसर दिया जाता है।

(9) राजनीतिक दलों की आवश्यकता—प्रजातन्त्र सरकार सबसे अधिक "राजनीतिक क्रियाशीलता और विश्व की राजनीतिज्ञता के दुर्भाग्यों से जनता की रक्षा करती है।" राजनीतिक दल शासन व्यवस्थाओं को सच्चा प्रतिनिधित्व और क्रमबद्धता प्रदान करते हैं। वे जनमत का निर्माण करते हैं और 'जिस प्रकार ज्वार भाटा महासागर के जल को ताजा और तरंगित रखता है, उसी प्रकार राष्ट्र के दिमाग को जीवित और क्रियाशील रखते हैं।" एक विकासशील जनतन्त्र में राजनीतिक दलों का स्वस्थ सिद्धान्तों पर चलना आवश्यक है। उनके कार्यक्रम वर्गीय अथवा क्षेत्रीय नहीं होने चाहिए।

अधिनायकतन्त्र या तानाशाही
(Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र सरकार का कोई नया रूप नहीं है। यह रोम के प्रजातन्त्र में स्वीकृत व्यवस्था थी जहाँ सरकार की अधिकार शक्ति सामान्यतः दो प्रधानों में निहित थी जिन्हें कौंसल (Consul) कहा जाता था। अत्यावश्यकता के समय, रोम निवासी कौंसलों के ऊपर अधिनायक की नियुक्त किया करते थे और उसे संकट का सामना करने के लिए सर्वोच्च शक्तियाँ सौंप दिया करते थे। लेकिन यह रोमन अधिनायकतन्त्र केवल एक अस्थायी प्रयोग होता था संकटकालीन अवस्था समाप्त हो जाने पर इसे त्याग दिया जाता था।

अधिनायकतन्त्र का यह रूप आधुनिक अधिनायकतन्त्र जैसा नहीं था और यह रूस इटली जर्मनी आदि देशों के आधुनिक अधिनायकों पर लागू नहीं होता। आधुनिक अधिनायकों को राष्ट्रीय संकट के समय शासन संचालन के लिए सीमित अवधि के लिए किसी कानूनी विधि द्वारा नहीं चुना जाता वरन् वे तो प्रायः आकस्मिक राज्य क्रान्ति के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनकी राजनीतिक अधिकार शक्ति का आधार शक्ति का बल प्रयोग होता है। वे तभी तक शक्ति में बने रहते हैं, जब तक बल प्रयोग उन्हें अधिनायकवाद बनाए रखने में सहायक हो सकता है। अधिनायक अपने सिवाय अन्य किसी अधिकार शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। वे प्रजातन्त्र के घोर विरोधी होते हैं। अधिनायकशाही में सरकार की शक्तियाँ असीमित होती हैं जिन पर कोई वैधानिक नियन्त्रण (Constitutional Check) नहीं होता। सैनिक तानाशाही में तो संविधान स्थगित कर दिया जाता है और एक क्रान्तिकारी परिषद् की स्थापना की जाती है जिसमें सेना के उच्च अधिकारी शामिल होते हैं और वे राजाज्ञाओं अथवा आदेशों द्वारा देश का शासन चलाते हैं। प्रायः कहा जाता है कि अधिनायकवाद में राज्य की सम्पूर्ण सत्ता एक ही व्यक्ति में निहित होती है जो स्वयं मूर्तिमान राज्य होता है। जर्मनी और इटली में हिटलर, मुसोलिनी का इसी प्रकार का अधिनायकवाद था। नेवन के अनुसार—"अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति की सरकार होती है जो अपना पद उत्तराधिकार में प्राप्त न कर, अपनी शक्ति की स्थापना बल या जनसम्मति द्वारा या दोनों के मिश्रण द्वारा करता है। उसकी सम्प्रभुता निरंकुश होती है अर्थात्

समस्त राजनीतिक शक्ति उसकी इच्छा से उत्पन्न होती है और उसका विस्तार न असीमित होती है। इसका प्रयोग वह स्वेच्छाचारी तरीके से आदेश द्वारा करता है, कानून द्वारा नही। उसकी अवधि भी सीमित नहीं होती और न वह किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी ही होता है क्योंकि इस प्रकार का नियन्त्रण निरकुशता से मेल नही खाता।"

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राय आधुनिक अधिनायक व्यक्तिगत रूप से अधिनायक नहीं होते। कोई-न-कोई शक्ति या सगठन उनके पीछे अवश्य होता है। इसी बात की ओर सकेत करते हुए मेकाइवर ने लिखा है कि "वस्तुत कोई भी सरकार कभी भी एक व्यक्ति के हाथ मे नही हुई है।" यदि हमे कही कोई एकाकी सर्वोच्च शासक या अधिनायक दिखाई देता है तो अप्रत्यक्ष रूप से उसकी शक्ति एक सयुक्त वर्ग के सक्रिय समर्थन पर निर्भर करती है। अधिनायक अर्थात् वह सर्वोच्च व्यक्ति अपने उस समर्थक वर्ग के हित मे शासन करता है और उससे भी अधिक उनके सहयोग का आकांक्षी होता है। उसके लिए एक सरकार परिषद् होती है। यह सलाहकार उसके समर्थक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के समय में जर्मनी और इटली में इस प्रकार का अधिनायकवाद था। दोनो ही क्रमश नाजी और फासिस्ट दलो के नेता थे और दोनो ही अपने दलो के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए अपने दलो में से अपने सचिव चुनते थे। अत जर्मनी और इटली में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र था किन्तु उस व्यक्ति की वास्तविक शक्ति उनके समर्थक वर्ग मे निहित थी। अपने दल के समर्थन के बिना वे सर्वोच्च शासक नहीं बने रह सकते थे।

रूसी अधिनायकतन्त्र प्रत्यक्षत एक दल का अधिनायकतन्त्र है यद्यपि रूस मे भी देशवासियो पर प्राय एक व्यक्ति की छाप बनी रही है। उदाहरणार्थ लेनिन और स्टालिन काल से बोल्शेविक दल पर लेनिन और स्टालिन की छाप थी और अभी कुछ ही समय पूर्व तक राजनीतिक क्षितिज पर ख्रुश्चेव के व्यक्तित्व की छाया स्पष्ट रूप से उभर रही थी। पर लेनिन या स्टालिन या ख्रुश्चेव इन सभी की सर्वोच्चता अन्तिम रूप से अपने दल के प्रभावशाली समर्थन पर आधारित थी। जब तक दल का प्रभावशाली वर्ग ख्रुश्चेव का समर्थक बना रहा वह भी स्टालिन के समान ही राजनीतिक क्षितिज पर निरन्तर ऊंचा उठता रहा, लेकिन उसके समर्थकों के समाप्त होते ही उसका पतन हो गया। वस्तुत रूसी अधिनायकतन्त्र और केन्द्रीय यूरोप के देशो के अधिनायकतन्त्रो के बीच कोई अन्तर है तो वह प्रकार की अपेक्षाकृत मात्रा का है।

अधिनायकवाद के लक्षण
(Characteristics of Dictatorship)

अधिनायकवाद का आधार आदर्शवाद है। यह हीगल के आदर्श राज्य का व्यावहारिक रूप है। हीगल ने कहा था—'राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिरूप

है।' अधिनायकवादी राज्य को सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं दैवी मानते है तथा सर्वाधिकारवादी राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है।

आधुनिक अधिनायकवाद या तानाशाही के दो प्रमुख लक्षण हैं — (क) यह शासको और शासितो के बीच स्पष्ट वर्ग विभेद करता है, एवं (ख) यह राज्य और सरकार के बीच का भेद नष्ट करता है ताकि कोई सत्ता शासक दल से जवाब-तलब न कर सके। शासक दल सम्पूर्ण सत्ता को न केवल हथियाने का प्रयत्न करता है, बल्कि वह शासितो को सत्ता देना नही चाहता। शासक स्वयं राज्य का रूप धारण कर लेते हैं। राज्य सरकार एकल सत्ता बन कर सर्वशक्तिमान सत्ता बन जाती है। जीवन का ऐसा क्षेत्र शेष नही रहता जो आधुनिक अधिनायकवादी राज्य के अन्तर्गत न आता हो।

स्पष्टता की दृष्टि से अधिनायकवाद के प्रमुख लक्षणो को निम्नलिखित शीर्षकों मे विभाजित करना उपयोगी होगा —

(1) एक दल एक नेता और एक कार्यक्रम अधिनायकवादी शासन में केवल एक दल अर्थात् तानाशाह का दल होता है। अन्य दलो पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है तथा विरोधियो को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया जाता है। इनमे एक ही व्यक्ति नेता होता है जिसे राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधि समझा जाता है वही अन्तिम निर्णायक शक्ति होती है और उसके शब्द ही कानून होते हैं। अधिनायक तन्त्र मे सारे देश मे एक राजनतिक कार्यक्रम अर्थात् तानाशाह के दल का कार्यक्रम क्रियान्वित होता है।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव—अधिनायकवादी व्यवस्था मे नियम-पालन ही सबसे बडी स्वतन्त्रता है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नितान्त अभाव होता है। भाषण और प्रेस की स्वतन्त्र सुविधा प्राप्त नही होती और प्रचार एवं शिक्षा के सभी साधनो पर राज्य का नियन्त्रण होता है। प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता समानता और बन्धुत्व के नारो के स्थान पर कर्त्तव्य, अनुशासन और बलिदान के नारो का प्रयोग किया जाता है। तानाशाह के सम्मुख स्वतन्त्रता एक मृत शरीर मात्र होता है।

(3) राष्ट्रीय गुणकीर्तन और राष्ट्रीय हित चिन्ता—अधिनायकवादी कट्टर राष्ट्रवादी होते हैं। तानाशाही सरकार में राज्य को लक्ष्य और व्यक्ति को उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन माना जाता है। तानाशाह किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियम अथवा सन्धि समझौते की चिन्ता नहीं करता। राष्ट्रीय हित के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि-पत्रो का कागज के टुकडो से अधिक महत्त्व नही होता।

(4) युद्ध का गुणगान—अधिनायकवाद मे युद्ध को राष्ट्रीय सम्मान, रक्षा और उसकी वृद्धि के लिए अनिवार्य माना जाता है। एक तानाशाह सदा यौद्धिक नीति का अनुसरण करता है। हिटलर के शब्दो मे, 'निरन्तर युद्ध से मानवता महान् हो गई है, निरन्तर शान्ति से वह निर्जीव हो जायेगी।'' भारत

कहना चाहिए कि अधिनायकतन्त्र मानव-जीवन का सरल और और शुद्ध सनिकीकरण है।

(5) **साम्राज्यवाद का समर्थन**—अधिनायकतन्त्र औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण करता है। मुसोलिनी ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी 'साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और अक्षुण्ण नियम है।'

(6) **लोकतन्त्र का घोर विरोधी और वैधानिक नियन्त्रण विहीन**—सभी तानाशाह लोकतन्त्र के घोर विरोधी होते हैं और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियां प्राप्त होती हैं जिन पर कोई वैधानिक नियन्त्रण नहीं होता। सैनिक अधिनायकवाद में सविधान को स्थगित कर क्रान्तिकारी परिषद् जिसमें सेना के उच्च अधिकारी शामिल होते हैं। देश का सचालन करती है। साम्यवादी तानाशाही में सविधान होता है किन्तु इसमें एक ही दल रहता है और उसी के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति होती है। न्यायपालिका को सविधान की रक्षा का अधिकार नहीं होता। दल के नेता इच्छानुसार शासन कार्य चलाते हैं और सविधान का मनमाना प्रयोग करते हैं।

(7) **लोकमत की पूर्ण उपेक्षा**—अधिनायक अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की परवाह नहीं करते। हिटलर ने अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की परवाह न कर, पड़ोसी देशों पर आक्रमण किया मुसोलिनी ने भी ऐसा ही किया और चीन तथा पाकिस्तान जैसे अधिनायकवादी राष्ट्रों का यही रवैया रहा है। अधिनायकवाद सदैव से हिंसा और शक्ति में विश्वास करता आया है।

(8) **निरकुश राज्य**—अधिनायकवादी निरकुश राज्य जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सास्कृतिक, धार्मिक आदि प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण रखता है। अधिनायकवाद का मूल सिद्धान्त है कि, 'राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं है, सब कुछ राज्य के लिए है राज्य के बाहर कुछ नहीं है।"

(9) **जातिवाद का प्रबल पोषक और धर्म के प्रति आस्थाहीन**—अधिनायकवादी अपनी जाति को विश्व में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और अपने देश की पवित्रता को सर्वोपरि समझते हैं। नाजी कहा करते थे– जर्मन में जर्मनों के अतिरिक्त अन्य कोई मानव प्राणी नहीं रह सकता।" अधिनायकवादियों का राष्ट्रवाद आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में भी प्रकट होता है। वे अपने राष्ट्र को आर्थिक रूप से पूर्ण आत्मनिर्भर बनाना चाहते हैं। अन्त में अधिनायकवादी या तो धर्म में आस्था ही नहीं रखते या उसे राज्य के हाथ की कठपुतली बनाये रखना चाहते हैं।

तानाशाही सरकार के गुण

(1) इस शासन व्यवस्था में विचारों की विषमता को कोई स्थान नहीं है अतः शासन सुचारू रूप से चलता है तथा सब कार्य द्रुतगति से होते हैं।

(2) इस प्रकार की सरकार देश में एकता उत्पन्न करती है। विभिन्न दलों तथा विरोधियों का दमन कर देने में एक दल का शासन स्थापित किया जाता है।

अत प्रजा की निष्ठा एक ही दल के प्रति रहती है और दलबन्दी की बुराइयाँ नही पनप पाती।

(3) युद्धकाल मे तानाशाही सरकार सर्वोत्तम रहती है क्योंकि इसका संगठन विस्तृत नहीं होता और समस्त निश्चय निर्णय तथा आदेश एक ही स्रोत पर अवलम्बित रहते हैं। इसके कारण न तो कार्य मे शिथिलता आती है और न भेद खुलने का भय रहता है।

(4) इस व्यवस्था में आलोचना प्रत्यालोचना का कोई स्थान नही होता समस्त योजनाएँ तानाशाह की इच्छा पर निर्भर करती हैं और सरकार को स्वतन्त्रता पूर्वक आयोजनाएँ क्रियान्वित करने का अवसर मिलता है।

( ) तानाशाही सरकार मे अपव्यय बहुत कम हो पाता है क्योंकि इसमे लम्बी चौड़ी शासन व्यवस्था की आवश्यकता नही रहती।

(6) राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने मे यह व्यवस्था बहुत सहायक सिद्ध होती है। जर्मनी एवं इटली इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(7) देश की चतुर्मुखी उन्नति तानाशाही व्यवस्था में बहुत शीघ्र हो पाती है और आन्तरिक शान्ति स्थापना सुचारू रूप से होती है।

तानाशाही सरकार के दोष

(1) तानाशाही शासन व्यवस्था में मौलिक अधिकारों तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। तानाशाह की स्वेच्छाचारिता पर व्यक्ति और प्रेस की सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उत्सर्ग हो जाता है।

(2) तानाशाही व्यवस्था में सरकार की आलोचना को राज्य द्रोह समझा जाता है अत उनके दोषों को बताने वाला कोई नही होता और राष्ट्रीय हितों का समुचित संरक्षण नही हो पाता।

(3) एक ही व्यक्ति का आतंक रहता है और वही सम्पूर्ण जनता का भाग्य विधाता होता है। यह सर्वथा अनुचित है।

(4) तानाशाही शान्ति के लिए एक अभिशाप है। यह एक निरंकुश शासन होता है जो युद्ध और साम्राज्यवाद में विश्वास रखता है। [illegible] के हित अहित के बारे मे सोचना मूर्खता समझता है। अन्तर्राष्ट्रीयता उसके लिए धोखा मात्र है। वह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और संधियों को भंग करने में संकोच नही करता।

(5) तानाशाह साधनों के औचित्य पर विचार नहीं करता। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह उचित तथा अनुचित दोनों प्रकार के साधनों का प्रयोग करने के लिए सदा उद्यत रहता है।

(6) तानाशाही शासन मे इतनी निरंकुशता होती है कि उससे भ्रष्टाचार फैलता है और कभी-कभी तो यह सीमातीत हो जाता है।

(7) तानाशाही व्यवस्था प्रायः [illegible] उनकी वही दशा होती है जो जर्मनी और [illegible]

(8) तानाशाही सरकार अधिक समय तक सफल नही हो सकती। वह केवल तभी तक टिकी रह सकती है जब तक जनता म राजनीतिक जागृति न हो या देश पर किसी महान सकट का भय न हो।

तानाशाही और प्रजातन्त्र

प्राय प्रश्न उठता है कि तानाशाही एव प्रजातन्त्रीय दोनो सरकारो मे कौन-सी अधिक उपयुक्त है ? दोनो शासन प्रणालियो के निम्नलिखित तुलनात्मक विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रजातन्त्र सरकार तानाशाही की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है

(1) प्रजातन्त्र सरकार म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव व्यक्ति के मौलिक अधिकारो को महत्त्व दिया जाता है तथा समानता के स्वर्णिम सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है जबकि तानाशाही सरकार मे न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की व्यवस्था रहती है और न समानता के सिद्धान्त का अनुसरण ही किया जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक शासन म जहा व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास का अवसर मिलता है वहाँ तानाशाही शासन मे उसकी विद्यमान मौलिक प्रवृत्तियाँ भी शिथिल हो जाती हैं और उसका विकास कुण्ठित हो जाता है।

(2) प्रजातन्त्र-सरकार उत्तरदायी होती है जबकि तानाशाही सरकार अनुत्तरदायी। जहाँ प्रजातन्त्र मे अधिकाधिक न्याय व्यवस्था होती है वहाँ तानाशाही मे घोर अन्याय का बोलबाला होता है। प्रजातन्त्र में निरकुशता और अत्याचार नहीं पनप सकता तथा अवाछित सरकार को जनता निर्वाचन द्वारा हटा सकती है जबकि तानाशाही मे स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है। वहा पर पूरा राज्य एक स्वेच्छाचारी के इशारे पर चलता है और कभी कभी निरकुशता और अत्याचार की पराकाष्ठा हो जाती है।

(3) प्रजातन्त्र सरकार स्वय सुधारक होती है। आलोचनाओ द्वारा सरकार को अपने दोषो और जनमत का ज्ञान होता रहता है तथा जनमत का भय सरकार को अपने कर्त्तव्यो के प्रति जागरूक रखता है। तानाशाही सरकार मे आलोचको और विरोधियो का दमन कर दिया जाता है। वहाँ तानाशाह की इच्छा आज्ञा और उसके शब्द कानून होते हैं चाहे वह कितने ही अनीतिपूर्ण क्यो न हो।

(4) प्रजातन्त्र सरकार मे सभी योग्य व्यक्तियो को कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है जबकि तानाशाही में कुछ इनेगिने व्यक्तियो को ही प्राप्त होता है।

(5) तानाशाही सरकार उत्कट राष्ट्रीयता पदा करती है जो आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग मे अवाछनीय है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र सरकार उदार राष्ट्रीयता को विकसित कर अन्तर्राष्ट्रीयता को सुगम बनाती है।

(6) तानाशाही सरकार विश्व-शान्ति के लिए अभिशाप है क्योंकि वह युद्ध और साम्राज्यवाद की नीति का पोषण करता है। वह एक ऐसा सैनिक शासन है जो शान्ति को मृतक शरीर के समान समझता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र सरकार

मानवीय गुणों की पोषक और शान्ति तथा सह अस्तित्व की समर्थक होती है। वह 'जीओ और जीने दो' में विश्वास करती है जो मानवोचित है।

(7) तानाशाही सरकार में एक दल, एक नेता और एक कार्यक्रम की एकता अन्त में राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होती है। यह एकता ऐसी निरंकुशता को जन्म देती है और राष्ट्र को अपनी इच्छानुसार ऐसे मार्ग पर अग्रसर करता है जिसका अंत बड़ा भयावह होता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र में विभिन्न दलों की उपस्थिति से देश में निरंकुश शासन स्थापित नहीं हो पाता। एक दूसरे से भयभीत रहने के कारण प्रत्येक दल सतर्क रहकर सर्वाधिक जन प्रिय बनने का प्रयत्न करता है और जन कल्याण के अधिकाधिक कार्य करता है।

(8) यह कहा जाता है कि संगठन और अनुशासन की एकता के कारण तानाशाही सरकार प्रजातन्त्र सरकार की अपेक्षा युद्ध में अधिक अच्छी सिद्ध होती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय समस्त दल अपने मतभेदों को भुला देते हैं और संयुक्त रूप से संकट का सामना करते हैं। वे प्रजातन्त्रात्मक राज्य ही थे जिन्होंने जर्मनी और इटली जैसे प्रबल सैनिक शक्ति सम्पन्न तानाशाही राज्यों का अन्त कर दिया।

(9) प्रजातन्त्र सरकार परिवर्तनशील होती है अतः समय एवं परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। यह बात तानाशाही सरकार में [illegible] नहीं होती। यह धारणा भी ठीक नहीं है कि प्रजातन्त्र सरकार स्थायी नहीं [illegible]। इंगलैण्ड, भारत और अमेरिका के उदाहरण इस धारणा को [illegible] देते हैं।

(10) यद्यपि प्रजातन्त्र सरकार में तानाशाही सरकार की [illegible] अधिक धन व्यय होता है तथापि प्रजातन्त्र सरकार के गुणों को [illegible] है।

(11) अधिनायकवाद इस बात से इनकार करता है कि [illegible] मानव समान हैं और सब को समान अधिकार मिलने चाहिए। अधिनायकवाद के अनुसार समाज की रचना शिरोमुखी (Hierarchical) है। जिस प्रकार पाँचों अंगुलियाँ बराबर नहीं होतीं उसी प्रकार सभी व्यक्ति बराबर नहीं होते। व्यक्तियों में मानसिक, बौद्धिक शारीरिक तथा नैतिक अन्तर पाये जाते हैं तो फिर सबको समान अधिकार क्यों दिये जायें? अधिनायक तन्त्र अथवा तानाशाही शासन [illegible] व्यक्ति एक [illegible] को शासन का आधार मानने को तैयार नहीं है। इसके अनुसार शासन की [illegible] केवल उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में रहनी चाहिए जिन्होंने अपने स्वार्थों को [illegible] अपने आपको राज्य के लिए समर्पित कर दिया हो। स्पष्ट ही ऐसी धारणा [illegible] एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का तिरस्कार है।

(12) स्वतन्त्रता तथा समता का विरोधी होने के अतिरिक्त [illegible] एक सर्वभक्षी शासन प्रणाली भी है। इसकी शक्ति की परिधि [illegible] व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन होता है। तानाशाह व्यक्ति [illegible] पहलू पर नियन्त्रण रखता है। यहाँ तक कि कला, [illegible]

सरकार का नियन्त्रण होता है। जर्मनी, इटली तथा रूस में सरकार द्वारा निर्धारित रेखा को लांघने वाले बहुत से कलाकारों, साहित्यकारों तथा वैज्ञानिकों को या तो कत्ल कर दिया गया या कारागारों में डाल दिया गया। प्रजातन्त्र में मानवता के ऐसे विनाश की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इन सभी बातों पर विचार करने से यह सर्वथा तर्क एवं व्यवहार सम्मत है कि प्रजातन्त्र शासन तानाशाही शासन की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है।

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक सरकार
(Parliamentary and Presidential Govts)

शासन का एक वर्गीकरण शासन के कार्यों के आधार पर और व्यवस्थापिका कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर भी किया जाता हैं। इसके अनुसार शासन के दो रूप होते हैं एक संसदात्मक शासन और दूसरा अध्यक्षात्मक शासन। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का एकीकरण कर दिया जाता है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नियन्त्रण में कार्य करती हुई उसके प्रति उत्तरदायी रहती है तो इसे संसदात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक दूसरे से पृथक रहकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करती हैं अर्थात् कार्यपालिका व्यवस्थापिका से शक्ति विभाजन के सिद्धांत के आधार पर स्वतन्त्र रहती है तो वह व्यवस्था अध्यक्षात्मक कहलाती है।

संसदात्मक सरकार (Parliamentary Govt)

यह शासन की वह पद्धति है जिसमें देश की कार्यपालिका विधान सभा के सदस्यों में से चुनी जाती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। इस शासन व्यवस्था में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की संसद या विधान सभा (व्यवस्थापिका सभा) होती है। उसमें बहुमत दल का नेता प्रधान मन्त्री बनकर अपनी कार्यकारिणी का चुनाव करता है। प्रत्येक मन्त्री को अलग अलग विभाग का पद सौंप दिया जाता है। सरकार की नीति का निश्चय सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल (Cabinet) करता है और वह संयुक्त रूप में संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता होता है और इच्छानुसार अपने मन्त्रियों को नियुक्त तथा पद च्युत करता है। व्यवस्थापिका सभा जब चाहे तब अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को हटा सकती है। आधुनिक राज्य में व्यवस्थापिका या तो एक सदनीय होती है अथवा दो सदनीय। इनको साधारणतया उच्च सदन और निम्न सदन कहते हैं। विभिन्न देशों में इन दोनों सदनों के अलग अलग नाम होते हैं प्रायः निम्न सदन उच्च सदन से अधिक शक्तिशाली एवं अधिकार सम्पन्न होता है क्योंकि वह जन साधारण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है।

संसदीय शासन की विशेषताएं

(1) औपचारिक एवं वास्तविक कार्यपालिका का अस्तित्व होना है। राज्य का एक सर्वोपरि शासक होता है, जो वंशानुगत भी हो सकता है तथा निर्वाचित भी।

वह नाममात्र का सवैंधानिक प्रमुख होता है क्योंकि वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल (केबिनेट) म निहित होती हैं। शासन सवधानिक प्रमुख के नाम सचा लित होता है जबकि शक्तियो का उपभोग मन्त्रिमण्डल करता है जिसका मुखिया प्रधान मन्त्री होता है। भारत मे राष्ट्रपति, इगलण्ड मे साम्राज्ञी या सम्राट ध्वज मात्र शासक अथवा सवधानिक प्रमुख ही हैं।

(2) कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बध होता है। मन्त्री व्यवस्थापन काय का निवाह करते हैं और प्रशासकीय काय भी। व्यवस्थापिका में से ही मन्त्रियो को चुना जाता है। यदि किसी गर ससद् सदस्य को मन्त्री बना दिया जाता है तो अपना पद बनाये रखने के लिए किसी निश्चित अवधि में उस स्वय को किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से ससद् का सदस्य निर्वाचित कराना आवश्यक होता है। ब्रिटेन और भारत में यही व्यवस्था है।

(3) ससदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक एकरूपता और सयुक्त उत्तरदायित्व का विशेष महत्त्व होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्राय एक ही राजनीतिक दल के होते हैं जिसका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। आपातकालीन अथवा विशेष परिस्थितियो में इस नियम को शिथिल कर सयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जा सकता है।

मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में काय करते हैं। इस तरह शासन और नीति की एकता कायम रहती है। विधानमण्डल में मन्त्रि-मण्डल का सामूहिक स्वरूप ही प्रतिबिम्बित होता है। सभी मन्त्री एक साथ डूबते या पार होते हैं। एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास सम्पूर्ण मन्त्रि मडल के विरुद्ध अविश्वास समझा जाता है।

(4) सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ ही व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता है जिसका आशय है कि मन्त्रि मडल का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप में भी अपने विभाग से सम्बन्धित नीतियो के लिए विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। व्यक्तिगत दोष के लिए सामान्यत सम्बन्धित मन्त्री को ही त्याग-पत्र देना पड़ता है।

(5) ससदीय व्यवस्था म कायपालिका के कायकाल की कोई निश्चित अवधि नहीं होती क्योंकि लोकसभा द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित किये जाने पर उसे किसी भी समय त्यागपत्र देना पड सकता है। भारत और इगलण्ड में मन्त्रिमण्डल का काय काल 5 वर्ष है, किन्तु उसके पूर्व भी लोकसभा उसे भग कर सकती है।

(6) ससदीय प्रणाली मे सिद्धान्त और व्यवहार का सदा ही अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ कानूनी तथा राजनीतिक सम्प्रभुओ मे अन्तर होता है। सिद्धान्तत तो इगलण्ड मे राजा या रानी और भारत मे राष्ट्रपति सब कुछ है तथापि उनकी वास्तविक शक्तियाँ कागजी ही हैं क्योंकि व्यवहार में उनकी शक्तियो का उपभोग मन्त्रि मण्डल करता है।

(7) गोपनीयता भी शासन व्यवस्था की विशेषता है। मन्त्रि मण्डल की समस्त कायवाहियो को गुप्त रखा जाता है। मन्त्रि मण्डल की कायवाही का अभिलेख नहीं रखा जाता, केवल प्राय निर्णय ही लेखबद्ध किये जाते हैं।

अध्यक्षात्मक सरकार
(Presidential Govt)

गानर के अनुसार अध्यक्षात्मक सरकार "वह शासन व्यवस्था है जिसमे कार्यपालिका अपनी अवधि नीति तथा कार्यों के सम्बन्ध मे व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रहती है।" संयुक्त राज्य अमेरिका इस शासन व्यवस्था का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस शासन व्यवस्था मे राज्य का प्रधान एक राष्ट्रपति होता है जो प्रजा द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। राष्ट्रपति अपनी सहायता के लिए कुछ व्यक्तियो को चुन कर अपनी कार्यपालिका का स्वय निमाण करता है। कार्यपालिका के ये सदस्य व्यवस्थापिका (विधान सभा) के सदस्य नही होते और वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न होकर मुख्य कार्यपालक अर्थात् राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति ध्वज मात्र शासक नही होता, अपितु वास्तविक शासक होता है और सविधान द्वारा दी गई शक्तियो का निर्बाध प्रयोग करता है। उसका कार्यकाल सविधान द्वारा निश्चित होता है और व्यवस्थापिका से उनका कोई सम्बन्ध नही होता। व्यवस्थापिका उसके प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे अपने पद से नही हटा सकती। इसी प्रकार व्यवस्थापिका एक निश्चित समय के लिए चुनी जाती है और राष्ट्रपति उसे भग नही कर सकता। इस प्रकार शक्ति विभाजन का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) पूर्ण रूप से कार्यान्वित होता है और विधान सभा तथा कार्यपालिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रहते हैं। कार्यपालिका अथवा मन्त्रि परिषद् का कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ

(1) *ससदीय प्रणाली की भाँति अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे दो प्रकार के* अधिशासी नही होते। एक राष्ट्रपति मे ही राज्याध्यक्ष और मुख्य अधिशासी दोनो की शक्तिया निहित होती हैं। राष्ट्रपति के वास्तविक और सैद्धान्तिक या आदर्शात्मक स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही होता। उसकी शक्तियो का स्रोत सविधान मे होता है और वह स्वेच्छानुकूल उसका प्रयोग करता है। अमेरिका का राष्ट्रपति इसका अच्छा उदाहरण है।

(2) कार्यपालिका प्रधान अथवा राष्ट्रपति जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है, चाहे यह निर्वाचन प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। सविधान राष्ट्रपति की पदावधि और निर्वाचन विधि निर्धारित कर देता है। मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे राष्ट्रपति के सहयोगी अथवा समकक्ष नही होते वरन् उसके सेवक के समान होते हैं जिनसे राष्ट्रपति परामर्श ले भी सकता है और नहीं भी तथा *जिनके परामर्श से वह किसी रूप मे बँधा हुआ नही होता।*

(3) अध्यक्षात्मक प्रणाली मे कार्यपालिका के सदस्य विधान मण्डल के सदस्य नहीं होते और न ही उसकी कार्यवाहियो मे भाग लेते हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस की कार्यवाहियों मे भाग नहीं लेते तथा

कांग्रेस के सदस्य नही होते। यदि कार्यपालिका को अपने अनुकूल कोई विधेयक पारित करवाना होता है तो वे अप्रत्यक्ष रूप मे कांग्रेस के सदस्यो द्वारा ही ऐसा करा सकते हैं।

(4) कार्यपालिका कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नही होती। उसका सविधान द्वारा निश्चित कार्यकाल होता है जिसके पूर्व केवल महाभियोग द्वारा ही उसे हटाया जा सकता है और महाभियोग एक जटिल प्रक्रिया है। अमेरिकी शासन व्यवस्था के लगभग 180 वर्ष के लम्बे इतिहास मे केवल एक बार राष्ट्रपति जक्सन के विरुद्ध महाभियोग का असफल प्रयोग किया गया था। व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास का कोई प्रश्न ही नही उठता। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के अधिवेशनो का उद्घाटन भी नही करता, उसे तो केवल सन्देश भेजने का अधिकार है।

(5) जिस प्रकार राष्ट्रपति सविधान द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है, उसी तरह व्यवस्थापिका भी एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होती है और राष्ट्रपति उसको भग नही कर सकता।

(6) ससदीय प्रणाली की भाति अध्यक्षात्मक सरकार मे शासन शक्तियों का समन्वय न हो तो भी पृथक्करण होता है। कार्यपालिका, विधान मण्डल और न्यायपालिका अपने अपने क्षेत्र मे सर्वोच्च होते हैं, पर साथ ही अवरोध और सतुलन की प्रणाली का भी प्रचलन है ताकि सरकार का कोई भी अग तानाशाह न बन सके।

ससदीय शासन के गुण तथा अध्यक्षात्मक शासन के अवगुण

(1) ससदीय शासन मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के साथ घनिष्ठ सहयोग रहता है जिससे शासन सुचारू रूप से सचालित होता है तथा कार्य मे विलम्ब नही होता। अध्यक्षात्मक शासन मे व्यवस्थापिका प्राय कार्यपालिका का विरोध करती है। यह स्थिति तब और उग्र हो जाती है जब अध्यक्ष एक राजनीतिक दल का सदस्य होता है और व्यवस्थापिका मे दूसरे दल का बहुमत होता है। ऐसा होने पर शासन मे प्राय वाछित सुचारुता और दृढता नहीं आ पाती।

जब हम सयुक्त राज्य अमेरिका के शासन की सुदृढता और सम्पन्नता का अवलोकन करते हैं तो इस आरोप की व्यावहारिक सार्थकता पर सन्देह होने लगता है। फिर भी यह निश्चित है कि ससदीय व्यवस्था की अपेक्षा अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे शासन के अङ्गो मे गतिरोध की अधिक सम्भावना रहती है।

(2) ससदीय सरकार की कार्यपालिका प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका और अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। जो शासन जनमत के विरुद्ध होता है अथवा जो व्यवस्थापिका सभा का विश्वास खो देता है उसे सरलता से हटाया जा कर दूसरा शासन स्थापित किया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन मे उत्तरदायित्व का अभाव रहता है, अत ऐसी सरकार गैर जिम्मेदार हो सकती है और उसकी नीतियों का, चाहे वे व्यवस्थापिका के खिलाफ और जनविरोधी हो, सहन करना पडता है।

(3) संसदीय शासन का प्रधान गुण इसका लचीलापन है। आवश्यकता पड़ने पर मन्त्रि-मण्डल को सरलता से परिवर्तित कर संकट का सामना अधिक कुशलता से किया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन पद्धति इस प्रकार परिवर्तनशील नहीं है। इस शासन में अध्यक्ष बहुत ही निरंकुश बन सकता है क्योंकि वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इसमें शान्ति और युद्ध दोनों कालों में वैधानिक आदर्शों का पालन होना अनिवार्य है।

संसदीय शासन व्यवस्था में संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया और साधारण विधि निर्माण प्रक्रिया में प्रायः कोई अन्तर नहीं होता। अतः आवश्यकता और समय की माँग के अनुसार सरलता से संवैधानिक संशोधन कर शासन में वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन वाले अमेरिका में संवैधानिक संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया है, जो बहुत ही कठिन और लम्बी है। अध्यक्षात्मक शासन में संविधान की कठोरता समय की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करती।

(4) संसदीय कार्यपालिका से व्यवस्थापिका को आलोचना का सामना करना पड़ता है। यदि आलोचना रचनात्मक होती है तो सरकार को अपनी त्रुटियाँ एवं कमियों का पता लगता है और वह उन्हें सुधारने तथा उसकी पुनरावृत्ति न होने देने का प्रयत्न करती है।

इसके विपरीत अध्यक्षात्मक कार्यपालिका व्यवस्थापिका की आलोचना की चिन्ता नहीं करती। उसे अपनी त्रुटियों का प्रायः पता नहीं लग पाता। वह शासन प्रणाली संसदीय प्रणाली की भाँति स्वयं सुधारक नहीं है।

(5) संसदीय शासन प्रणाली में संवैधानिक प्रमुख तटस्थ रहता है। अतः उसकी सम्मति का सरकारी तथा विरोधी दोनों ही दल बहुत आदर करते हैं। उसके निष्पक्ष परामर्श के कारण राजनीति में सन्तुलन बने रहने में बहुत सहायता मिलती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों स्वतन्त्र रहकर परस्पर आरोप प्रत्यारोप लगाते रहते हैं। ऐसा कोई प्रमुख नहीं होता जो निष्पक्ष राय देने वाला हो और जिसकी राय को व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों सम्मान करें।

(6) संसदीय सरकार उच्च शिक्षण प्रदान करती है। यह अध्यक्षात्मक पद्धति की अपेक्षा अधिक योग्य व्यक्तियों को जन्म देती है तथा मन्त्रियों को कुशल प्रशासक और व्यवस्थापक दोनों बनाती है और उन्हें असाधारण योग्यता प्रदर्शन के अनेक अवसर प्रदान करती है। इस व्यवस्था में राजनीतिक दलों का संगठन जनता में राजनीतिक जागृति पैदा करता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली में सरकार सर्वथा पृथक खण्डों में विभाजित हो जाती है। नियामक रूप में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद

न होने पर भी व्यवस्थापक शासन-काय से इतने दूर रहते हैं कि वे दनिक प्रशासनिक कठिनाइयो का अनुभव नही कर पात और आवश्यक कानून भी शीघ्रता से नही बना पात। इस पद्धति म एक मन्त्री अथवा सचिव कितना भी याग्य क्या न हो वह राष्ट्रपति के सकेता पर नाचता है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण एव ससदीय प्रणाली के दोष

(1) अध्यक्षात्मक शासन स्थायी होता है अत कायपालिका अपने काल मे किसी भी नीति अथवा योजना को दृढता स क्रियान्वित कर सकती है। स्थायित्व के कारण शासन मे कुशलता और निपुणता बढती है और अचानक नीति-परिवतन का भय नही रहता।

ससदीय शासन अस्थायी होता है। शासन मे परिवतन के साथ साथ कभी कभी नीति मे भी क्रातिकारी परिवतन हो जाता है। इससे बहुत असन्तोष फलता है और सावजनिक विद्रोह तक हो जात हैं। कायकाल की अनिश्चितता के कारण लम्बी योजनाओ को लागू करन मे कठिनाई आती है।

(2) अध्यक्षात्मक कायपालिका ससदीय कायपालिका से अधिक कुशल होती है क्याकि यह सरकार 'शक्ति विभाजन' अर्थात् काय विभाजन' के आधार पर स्थिर होती है। कायपालिका यदि प्रशासकीय काय वहन करती है तो व्यवस्थापिका विधायी कार्यों का निर्वाह करती है। कायपालिका अपन ऊपर अनावश्यक काय भार नही लादती और न व्यवस्थापिका सभा मे बठकर अपना समय ही नष्ट करती है।

ससदीय कायपालिका को दोहरे कत्तव्य निभाने पडते हैं। कायपालिका के रूप म विभिन्न विभागीय पदो का निर्वाह करते हुए देश के प्रशासनिक कार्यों मे सक्रिय भाग भी लना पडता है तथा व्यवस्थापिका सभा म व्यवस्थापन काय भार सम्भालना पडता है। परिणामत काय के अत्यधिक कार्य भार से उसकी कार्य कुशलता मे कमी आ जाती है।

(3) अध्यक्षात्मक कायपालिका राष्ट्रीय सकट क अवसर पर त्वरित कायवाही कर सकती है। राष्ट्रपति सकट के समय बिना समय व्यथ खोये हुए दृढ कायवाही कर सकता है। ससदीय मन्त्रिमण्डल मे अनेक प्रभावशाली मन्त्री परस्पर विरोधी विचार रख सकते हैं और इनके मतभेद से कायवाही विलम्बित हो सकती है।

(4) अध्यक्षात्मक शासन म कायपालिका विधानमण्डल की विध्वसात्मक आलोचना अथवा अवरोधक कायवाही से बची रहती है। इस विधानमण्डल में अतिरिक्त दलबन्दी का जोर नही रहता। विपक्षी दल का सरकार को पछाडकर स्वय पद ग्रहण करने का प्रलोभन हर समय नही सताता।

ससदीय शासन मे विरोधी दलो का होना एक पद्धति है। विपक्षी दल का काय सदव सरकार के कार्यों का विरोध करना होता है। विरोधी दल सरकार के कार्यों की रचनात्मक उपयोगिता की चिन्ता किए बिना एडी से चोटी तक विरोध करता है। "कभी-कभी सरकारी नीति की एसी छिद्रान्वेषी होती है कि वह राष्ट्रीय एकता और सम्मान के लिए भी घातक सिद्ध होती है।"

(3) संसदीय शासन का प्रधान गुण इसका लचीलापन है। आवश्यकता पड़ने पर मन्त्रि मण्डल को सरलता से परिवर्तित कर संकट का सामना अधिक कुशलता से किया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन पद्धति इस प्रकार परिवर्तनशील नहीं है। इस शासन में अध्यक्ष बहुत ही निरंकुश बन सकता है क्योंकि वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इसमें शांति और युद्ध दोनों कालों में वैधानिक आदेशों का पालन होना अनिवार्य है।

संसदीय शासन व्यवस्था में संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया और साधारण विधि निर्माण प्रक्रिया में प्राय कोई अन्तर नहीं होता। अत आवश्यकता और समय की माग के अनुसार सरलता से संवैधानिक संशोधन कर शासन में वांछित परिवर्तन लाया जा सकता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन वाले अमेरिका में संवैधानिक संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया है, जो बहुत ही कठिन और लम्बी है। अध्यक्षात्मक शासन में संविधान की कठोरता समय की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करती।

(4) संसदीय कार्यपालिका से व्यवस्थापिका को आलोचना का सामना करना पड़ता है। यदि आलोचना रचनात्मक होती है तो सरकार को अपनी त्रुटियां एवं कमियों का पता लगता है और वह उन्हें सुधारने तथा उसकी पुनरावृत्ति न होने देने का प्रयत्न करती है।

इसके विपरीत अध्यक्षात्मक कार्यपालिका व्यवस्थापिका की आलोचना की चिन्ता नहीं करती। उसे अपनी त्रुटियों का प्राय पता नहीं लग पाता। वह शासन प्रणाली संसदीय प्रणाली की भांति स्वयं सुधारक नहीं है।

(5) संसदीय शासन प्रणाली में संवैधानिक प्रमुख तटस्थ रहता है। अत उसकी सम्मति का सरकारी तथा विरोधी दोनों ही दल बहुत आदर करते हैं। उसके निष्पक्ष परामर्श के कारण राजनीति में सन्तुलन बने रहने में बहुत सहायता मिलती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों स्वतन्त्र रहकर परस्पर आरोप प्रत्यारोप लगाते रहती है। ऐसा कोई प्रमुख नहीं होता जो निष्पक्ष राय देने वाला हो और जिसकी राय को व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों सम्मान करें।

(6) संसदीय सरकार उच्च शिक्षण प्रदान करती है। यह अध्यक्षात्मक पद्धति की अपेक्षा अधिक योग्य व्यक्तियों को जन्म देती है तथा मन्त्रियों को कुशल प्रशासक और व्यवस्थापक दोनों बनाती है और उन्हें असाधारण योग्यता प्रदर्शन के अनेक अवसर प्रदान करती है। इस व्यवस्था में राजनीतिक दलों का संगठन जनता में राजनीतिक जागृति पैदा करता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली में सरकार सर्वथा पृथक खण्डों में विभाजित हो जाती है। क्रियात्मक रूप में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद

आधार पर सरकार को एकात्मक और संघात्मक इन दो भागों में बाँटा जा सकता है।

एकात्मक सरकार
(Unitary Govt)

एकात्मक सरकार या संविधान उसे कहते हैं जिसमें सम्पूर्ण देश का शासन एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहता है। प्रायः ऐसी व्यवस्था में एक ही धारा सभा, एक ही कार्यकारिणी तथा एक ही प्रकार का न्यायालय होता है। शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय सरकार प्रादेशिक सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं की स्थापना कर उन्हें थोड़े बहुत अधिकार प्रदान कर सकती है किन्तु वास्तव में सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में ही निहित होते हैं और वह वितरित अधिकारों को अपनी इच्छानुसार छीन सकती है अथवा घटा-बढ़ा सकती है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, भारत आदि देशों में इसी प्रकार के एकात्मक शासन संविधान हैं। एकात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्रीय विधान मण्डल, केन्द्रीय कार्यपालिका एवं केन्द्रीय-न्यायालय को ही प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है तथा इन्हीं की अध्यक्षता में शेष सब शक्तियाँ प्रायः कार्य करती हैं।

एकात्मक शासन के गुण

(1) सम्पूर्ण देश के शासन और कानून में एकरूपता होने के कारण सरकार जनता की श्रद्धा की पात्र होती है अतः देशवासियों में एकता की भावना अधिक दृढ़ होती है।

(2) एकात्मक शासन शक्तिशाली एवं कार्यकुशल होता है। इस व्यवस्था में शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है तथा सारे देश में एक ही प्रकार की शासन नीति अपनाई जाती है अतः भिन्न भिन्न सरकारों के बनाए हुए कानूनों तथा शासन-नीतियों में संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि प्रशासनिक सुविधा हेतु प्रान्तीय स्वायत्त शासन संस्थाओं की स्थापना की जाती है तो वह किसी मामले में केन्द्र की अवज्ञा करने का साहस नहीं कर सकती। विलोबी के शब्दों में 'एकात्मक शासन में अधिकार सत्ता का संघर्ष नहीं होता किये जाने वाले कार्यों व उत्तरदायित्व का विवाद या भ्रम पैदा नहीं होता, अधिकार क्षेत्रों का अतिक्रमण नहीं होता तथा ऐसा दोहरा काम या दोहरा संगठन नहीं होता जिसे तुरन्त सम्भाला या सुधारा न जा सके।

(3) एकात्मक राज्य का संगठन सरल और कम खर्चीला होता है। इसमें दोहरे सरकारी विभाग और सेवाएँ नहीं होतीं। सरकारी पदाधिकारियों की संख्या भी संघीय सरकार की अपेक्षा बहुत कम होती है।

(4) एकात्मक शासन-तन्त्र राष्ट्रीय एकता का प्रतीक होता है। इसमें राष्ट्रीय हितों के सामने किसी स्थानीय हित का कोई महत्त्व नहीं होता। इस शासन प्रणाली में प्रान्तीय भावनाएँ उग्र नहीं हो पाती और प्रान्तीय या स्थानीय शासनाधिकारियों या स्वायत्त शासन संस्थाओं के मध्य प्रतिस्पर्धा अथवा द्वेषभाव की बहुत कम सम्भावना रहती है।

वास्तव मे यह आलोचना आशिक रूप से ही सत्य है। आज का विरोधी दल कल शासनारूढ हो सकता है। अनक बार विरोधी दल ने ठोस आलोचना द्वारा सत्तारूढ सरकार को सही माग दिखाया है। अनेक बार विरोधी दल की आलोचना को अत्यन्त लाभपूण पाकर सरकार विवादग्रस्त प्रश्न पर समझौता करने को सहमत हो जाती है। यदि सही रूप मे देखा जाय तो कोई भी अन्य सरकार इस दिशा मे ससदीय सरकार से बढकर अच्छा अवसर प्रदान नहीं करती।

(5) यह कहा जाता है कि मन्त्रिमण्डलीय सरकार नौसिखियो की सरकार होती है। कायपालिका के विभिन्न कार्यों का भार ऐसे व्यक्तियो को वहन करना पडता है जिन्हें न तो प्रशासकीय कला की वर्णमाला का ज्ञान होता है और न व अपने कार्यों क बारे मे ही कुछ जानते हैं। अध्यक्षात्मक शासन म राष्ट्रपति देश के योग्य और अपने विषय मे पारगत व्यक्तियो को ही प्राय अपनी केबिनेट मे स्थान देता है।

ससदीय शासन प्रणाली की यह आलोचना भी आंशिक रूप मे सत्य है। वास्तव मे मन्त्री को प्रशासनिक कार्यों को स्वय करना न होकर यह दखना होना है कि निर्धारित नीति के अनुरूप अधीनस्थ अधिकारी काम कर रहे हैं या नही। "मन्त्रि-परिषद् का वह पुल है, जो लोगो को विशेषज्ञो के साथ जोडता है, जो सिद्धान्त को व्यवहार के साथ सयुक्त करता है। वह विभागो को चलाता नहीं है वह उन्हे केवल दिशा प्रदान करता है।'

(6) अध्यक्षात्मक शासन पद्धति मे कानून बनाने वाले और उन्हें क्रियान्वित करने वाले व्यक्ति पृथक-पृथक होते हैं, अत नागरिको की स्वतन्त्रता न अधिक असुरक्षित रहती है और न अल्पसख्यको को कष्टकर स्थिति का भय रहता है।

ससदीय व्यवस्था में कायपालिका और व्यवस्थापिका के काय एक ही सस्था में शामिल कर दिए जाते हैं। इससे नागरिक स्वतन्त्रता के अपहरण का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त यह बहुमत दल का शासन होता है जहाँ अल्पसख्यको को कष्ट हो सकता है।

(7) अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के समर्थको का विश्वास है कि यह शासन-प्रणाली विभिन्न हितो, संस्कृतियों और सुविधाओं वाले राज्यो के लिए बहुत उपयोगी होती है। द्विदलीय शासन प्रणाली जो मन्त्रिमण्डलीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक है इन अवस्थाओं म प्राप्त नहीं की जा सकती।

वतमान समय मे दोनो ही शासन-प्रणालियाँ आलोचना और प्रशसा की पात्र हैं। वास्तव मे किसी भी शासन व्यवस्था के गुण-दोषो की कसौटी उन व्यक्तियों के चरित्र और उनकी उद्देश्य के प्रति निष्ठा होती है जिनके हाथो म शासन की विभिन्न शक्तियाँ और कार्य वितरण होता है।

एकात्मक व सघात्मक शासन व्यवस्था
(Unitary and Federal Govts)

केन्द्र तथा उनकी शाखाओं के सम्बन्धो के अथवा अधिकार विभाजन के

(6) एकात्मक शासन मे लोगो की सावजनिक कार्यों म रुचि कम हो जाती है। प्रो० गानर (Garner) के शब्दो मे, "एकात्मक शासन का मुख्य दोष यही है कि वह स्थानीय उपक्रम को उत्साहित नही करता, सावजनिक मामलो मे नागरिको की रुचि लेने का अवसर नही देता, स्थानीय शासनिक निकायो की प्रगति को अवरुद्ध और केन्द्रीय नौकरशाही को प्रोत्साहित करता है।"

सघात्मक सरकार (Federal Govt)

सघात्मक सरकार या सविधान वह होता है जिसमे कई स्वतन्त्र राज्य मिलकर, समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक सघ सरकार की स्थापना करते हैं। सघीय राज्य की स्थापना उसी देश मे होती है जहाँ कई स्वतन्त्र राज्य होते हैं। ये राज्य अपने कुछ ऐसे विषया को, जिनम सघ के अन्य राज्यो के समान ही उनका हित होता है, एक केन्द्रीय सत्ता को सौंप देते हैं जिसकी जिम्मेदारी सम्पूर्ण देश के शासन की होती है। इसी केन्द्रीय सरकार या नयी सरकार को सघ सरकार कहते हैं। परन्तु सघ सरकार की स्थापना से सघीय राज्यो का लोप नही होता क्योकि सघीय सरकार केवल उन्ही कार्यों को करती है जिनका सम्बन्ध सपूर्ण देश से होता है। एसे विषयो मे हम देश की बाह्य आक्रमणो से रक्षा, विदेश नीति, रेल, तार, डाक आदि का प्रबन्ध शामिल कर सकते हैं। अन्य शेष कार्यों मे प्रान्त स्वतन्त्र रहते हैं। इस प्रकार सघ सरकार में द्वध (दोहरे) शासन की व्यवस्था रहती है— एक केंद्रीय शासन और दूसरी राज्यों या प्रान्तो के शासन की। दोना ही की अपनी अलग अलग शासन-व्यवस्थाएँ होती हैं। सघीय शासन दोहरी धारा सभाएँ, दोहरी कायकारिणी, दोहरे न्यायालय, दोहरी राजसत्ता दो प्रकार के कानून आदि में पायी जाती है। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक की भी दो प्रकार की भक्ति होती है एक सघीय शासन के प्रति और दूसरी राज्य सरकार के प्रति। अत उसे दोनो से नागरिक अधिकार प्राप्त होत हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, रूस, भारत आदि में सघ सरकार की स्थापना है।

एकात्मक और सघात्मक शासन मे अन्तर

ब्रिटिश शासन व्यवस्था एकात्मक है जबकि भारत और अमेरिका की सघात्मक। दोनो प्रकार की शासन प्रणालियो मे मौलिक अन्तर ये हैं—

(1) सघात्मक सविधान मे सघ और इकाइयो की दोहरी सरकार के बीच सविधान द्वारा शक्ति का बँटवारा किया जाता है। एकात्मक सविधान मे राज्य की शासन शक्तियाँ एक ही केन्द्रीय सरकार के केन्द्रीभूत रहती हैं। प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से स्थापित स्थानीय सस्थाएँ अपनी शक्तियाँ केन्द्रीय अधिनियमो से प्राप्त करती हैं।

(2) एकात्मक शासन व्यवस्था मे सविधान की सर्वोच्चता नही होती। केन्द्र ही प्रशासकीय सभागो का उत्पादक है और उनम परिवतन करता है।

(5) आर्थिक योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए एक केन्द्रीय शक्ति का सारे देश के आर्थिक साधनों पर न्यूनाधिक नियन्त्रण होता है। एकात्मक सरकार के लिए सम्पूर्ण देश के लिए एक विस्तृत योजना बनाना तथा उसे सफलतापूर्वक पूर्ण करना अपेक्षाकृत सरल होता है क्योंकि उसे किसी अन्य एकरूपी सरकार के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती।

(6) एकात्मक शासन में साधारण सभी कार्य बहुत शीघ्रता से होते हैं। सङ्कटकाल में त्वरित निर्णय किए जा सकते हैं। सरकार को अपनी नीति एवं निर्णय के विरुद्ध किसी अन्य सरकार के विरोध का भय नहीं रहता, अतः वह दूसरे दशों में अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक एवं विश्वासपूर्वक व्यवहार कर सकती है।

(7) एकात्मक संविधान या शासन व्यवस्था ब्रिटेन सरीखे छोटे देश के लिए, जिसके निवासी एक जाति के हों, अधिक उपयुक्त है।

(8) इस शासन व्यवस्था में इकहरी नागरिकता के कारण नागरिक की राज्य के प्रति भक्ति विभाजित नहीं होती और भक्ति संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती।

एकात्मक शासन के दोष

(1) एकात्मक शासन बड़े देश के लिए अनुपयुक्त होता है। एकात्मक शासन विभिन्न जातियों, भाषाओं और धर्मों वाले विशाल एवं विस्तृत देश के लिए अलाभप्रद है। प्रथम, शक्ति के अत्यधिक केन्द्रीकरण से प्रशासनिक असुविधा रहती है एवं दूसरे, स्थानीय तथा अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना होती है।

(2) इस शासन व्यवस्था में स्थान विशेष के निवासियों को स्थानीय स्वराज्य प्राप्त नहीं होता। उन्हें यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी समस्याओं का समाधान करने में पहल कर सकें। इस प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता तथा स्थानीय पहल का अधिकार प्रजातन्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।

(3) एकात्मक शासन में केन्द्र स्वेच्छाचारी या निरंकुश हो सकता है क्योंकि समस्त शक्तियाँ उसकी दया पर निर्भर रहती हैं। इसमें केन्द्रीय सरकार की शक्ति पर कोई नियन्त्रण या अंकुश नहीं रहता।

(4) इसमें प्रशासनिक दक्षता के अभाव की सम्भावना बनी रहती है। प्रादेशिक और स्थानीय मामलों के उत्तरदायित्व से केन्द्रीय सरकार का भार बढ़ जाता है। इसका परिणाम समस्याओं के हल होने में अत्यधिक देरी और नौकरशाही प्रशासन होता है।

(5) इस व्यवस्था में सरकार स्थानीय महत्त्व के मामलों की उपेक्षा करती है। साथ ही केन्द्रीय अधिकारियों को बहुधा स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं का समुचित ज्ञान नहीं होता जिसके फलस्वरूप स्थानीय हितों को हानि पहुँचती है।

(4) सघ शासन व्यवस्था मे एकात्मक और स्वतन्त्र शासन, दोनो के गुणो का समन्वय हो जाता है और उनके दोप दूर हो जाते हैं।

(5) जब देश छोटे छोटे राज्यो मे विभक्त रहता है तब अन्तर्राष्ट्रीय जगत् म उसका कुछ महत्त्व नही रहता। सघीय शासन विधान द्वारा अन्तराष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि होती है। राजनीतिक एव आर्थिक समृद्धि बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ समुचित आदर सरकार करती हैं।

सघ निर्माण के लिए आवश्यक शर्तें

(1) स्वतन्त्र राज्य - सघ सरकार की स्थापना के लिए कम से कम दो राज्य होने चाहिए।

(2) भौगोलिक एकता - सघ सरकार की स्थापना तभी सम्भव है जब सघ मे शामिल होने की इच्छा रखने वाले राज्य एक दूसरे के सीमावर्ती हो, दूर दूर नहीं। उनका क्षेत्रफल भी यथा सम्भव समान हो तो अच्छा है।

(3) इकाइयों की एकता—सघ मे सम्मिलित राज्यो मे भाषा, सस्कृति, धम, रीति रिवाज एव हित आदि की समानता होनी चाहिए। उनम ऐतिहासिक तथा जातीय एकता भी वाछनीय है। इन सबके द्वारा उनमें राष्ट्रीय भावना की जागृति को बल मिलता है।

(4) इकाइयो का अस्तित्व सघ सरकार म सम्मिलित होने वाले राज्यो को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही खोना चाहिए। यह आवश्यक है कि वे अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए सघ सरकार का निर्माण करें अर्थात् उसमे सगठित होने (Union) की इच्छा हो एक्य (Unity) की नहीं। सघ मे मिलने वाले राज्यो में मिल कर काम करने की उत्कण्ठा होनी चाहिए परन्तु एकरूप होकर नहीं।

(5) इकाइयों की समानता—सघ सरकार की स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि सब राज्य पारस्परिक व्यवहार एव विदशी राज्यों के साथ सम्बन्ध की दृष्टि मे समान भाव से देखे जाएँ। बडी तथा छोटी इकाइया सब समान समभी जानी चाहिए।

(6) उच्च कोटि की शिक्षा—सघ सरकार मे दुहरी भक्ति अथवा नागरिकता होती है, अत यह उचित है कि नागरिको में शिक्षा का समुचित विकास हो ताकि उनकी द्वैध भक्ति परस्पर विरोधी न हो और राष्ट्रीय हित स्थानीय हित से ऊपर रहें।

सघात्मक शासन के गुण

वतमान समय मे लगभग सभी राज्यो म सघवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही है। सघात्मक शासन लोकप्रिय बनते जा रहे हैं और यह कहना किसी अश में ठीक प्रतीत होता है कि 'जिस प्रकार मध्य युग में सामन्तवाद की ओर तथा पन्द्रहवीं एव सोलहवीं शताब्दियों मे निरकुशता की ओर प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार वर्तमान युग में राजनीतिक चिन्तन सघवाद की ओर बढ़ता दिखाई देता है।" सघवाद के मुख्य लाभ अथवा गुण सक्षेप में अग्र प्रकार हैं—

सघात्मक व्यवस्था मे सविधान की सर्वोच्चता होती है और केन्द्र तथा इकाइयो की उत्पत्ति सविधान से होती है।

(3) एकात्मक शासन में स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायपालिका का अस्तित्व इस दृष्टि से नही होता कि ससद् द्वारा बनाए गए नियमों को अवधानिक घोषित करने का उसे अधिकार दिया जाय। इसके विपरीत सघात्मक व्यवस्था मे सर्वोच्च न्यायालय सविधान का सरक्षक होता है। उसे ससद् द्वारा स्वीकृत कानूनो को अवध घोषित करने की शक्ति होती है, यदि वे सविधान के विरुद्ध हो।

(4) एकात्मक व्यवस्था म स्थानीय सरकारो और केन्द्रीय सरकार के बीच सघर्ष कोई महत्त्व नही रखता और एसे विवादो को न्यायपालिका के क्षेत्र स पृथक् रखा जाता है। इसके विपरीत सघीय व्यवस्था मे सर्वोच्च न्यायालय केन्द्र और राज्य सरकार के बीच उठ खडे होने वाले विवादो का निर्णय करता है और यह निर्णय अन्तिम रूप से दोनो पक्षो को मान्य होता है।

(5) एकात्मक प्रशासकीय तन्त्र साधारण स्पष्ट और लचीला होता है जबकि सघात्मक प्रशासकीय तन्त्र काफी उलझा हुआ होता है तथा सविधान म सशोधन के लिए कठिनाई हमेशा बनी रहती है।

(6) एकात्मक शासन व्यवस्था मे इकहरी नागरिकता होती है। सघात्मक व्यवस्था में नागरिकता इकहरी भी हो सकती है, जसी कि भारत मे है और दुहरी भी जसी कि सयुक्त राज्य अमरिका में है।

(7) एकात्मक व्यवस्था मे सम्पूर्ण देश के लिए एक स कानून होते हैं जबकि सघीय व्यवस्था म दोहरे कानूनो का प्रावधान होता है—सघीय और राज्यीय।

(8) एकात्मक सरकार की तुलना मे सघीय सरकार के सविधान का लिखित होना अनिवार्य है।

सघ सरकार की स्थापना के कारण अथवा सघ शासन के उद्देश्य

(1) राष्ट्रीयता की साम्राज्यवादी लहर में छोटे राज्यो की स्वतन्त्रता का सुरक्षित रहना कठिन हो गया है अत छोटे छोटे राज्य परस्पर मिल कर सघ का निर्माण कर लते है। इसस उनकी शक्ति मे वृद्धि होती है और वे बाह्य आक्रमणो का सुगमता से सामना कर सकत हैं।

(2) छोटे छोटे राज्य अपने आर्थिक साधनो का पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते। अनेक राज्यो द्वारा मिल कर सघ के राज्य एक सूत्र म बध जाने से उनके आय के साधनो का व पूर्ण लाभ उठा पाते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति मे व्यय कम होता है और आर्थिक समृद्धि बढती है एव अनेक आर्थिक असुविधाएँ दूर हो जाती हैं।

(3) अनेक राज्य जिनकी सस्कृति और राष्ट्रीय परम्पराएँ समान होती हैं, किन्तु जो अलग-अलग बटे होते हैं राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के लिए एक सघ का निर्माण कर लेते हैं।

(4) संघ शासन व्यवस्था मे एकात्मक और स्वतन्त्र शासन, दोनो के गुणों का समन्वय हो जाता है और उनके दोष दूर हो जाते हैं।

(5) जब देश छोटे छोटे राज्यो में विभक्त रहता है तब अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे उसका कुछ महत्त्व नही रहता। संघीय शासन विधान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मे वृद्धि होती है। राजनीतिक एवं आर्थिक समृद्धि बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ समुचित आदर सत्कार करती हैं।

संघ निर्माण के लिए आवश्यक शर्तें

(1) स्वतन्त्र राज्य संघ सरकार की स्थापना के लिए कम से कम दो राज्य होने चाहिए।

(2) भौगोलिक एकता - संघ सरकार की स्थापना तभी सम्भव है जब संघ में शामिल होने की इच्छा रखने वाले राज्य एक दूसरे के सीमावर्ती हो, दूर दूर नहीं। उनका क्षेत्रफल भी यथा सम्भव समान हो तो अच्छा है।

(3) इकाइयों की एकता—संघ मे सम्मिलित राज्यों मे भाषा, संस्कृति धर्म, रीति रिवाज एव हित आदि की समानता होनी चाहिए। उनमे ऐतिहासिक तथा जातीय एकता भी वांछनीय है। इन सबके द्वारा उनमें राष्ट्रीय भावना की जागृति का बल मिलता है।

(4) इकाइयों का अस्तित्व संघ सरकार में सम्मिलित होने वाले राज्यो को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही खोना चाहिए। यह आवश्यक है कि वे अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए संघ सरकार का निर्माण करें अर्थात् उसमे संगठित होने (Union) की इच्छा हो, एक्य (Unity) की नहीं। संघ मे मिलने वाले राज्यो में मिल कर काम करने की उत्कण्ठा होनी चाहिए परन्तु एकरूप होकर नहीं।

(5) इकाइयों की समानता—संघ सरकार की स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि सब राज्य पारस्परिक व्यवहार एव विदेशी राज्यो के साथ सम्बन्ध की दृष्टि मे समान भाव से देखे जाएँ। बड़ी तथा छोटी इकाइयाँ सब समान समझी जानी चाहिए।

(6) उच्च कोटि की शिक्षा—संघ सरकार मे दुहरी भक्ति अथवा नागरिकता होती है, अत यह उचित है कि नागरिकों में शिक्षा का समुचित विकास हो ताकि उनकी द्वैध भक्ति परस्पर विरोधी न हो और राष्ट्रीय हित स्थानीय हित से ऊपर रहें।

संघात्मक शासन के गुण

वर्तमान समय मे लगभग सभी राज्यो मे संघवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही है। संघात्मक शासन लोकप्रिय बनते जा रहे हैं और यह कहना किसी अंश में ठीक प्रतीत होता है कि "जिस प्रकार मध्य युग मे सामन्तवाद की ओर तथा पन्द्रहवी एव सोलहवी शताब्दियो मे निरंकुशता की ओर प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार वर्तमान युग मे राजनीतिक चिन्तन संघवाद की ओर बढ़ता दिखाई देता है।" संघवाद के मुख्य लाभ अथवा गुण संक्षेप में अग्र प्रकार हैं—

(1) बडे देश के लिए सघात्मक शासन उपयुक्त होता है। सघ सरकार विभिन्न जातियो, भाषाओ एव धर्मों से युक्त देश के लिए सर्वथा उपयुक्त है। यह राज्य सरकारो को ऐसे साधन प्रदान करती है जिससे वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एव अपनी स्वतन्त्र स्थानीय शासन व्यवस्था कायम रखते हुए भी राष्ट्रीय एकता का लाभ उठा सकती हैं।

(2) यह छोटे और कमजोर राज्यों को आपस मे मिलाकर एक बडा राज्य बनाने का अवसर देता है तथा इनका अपना स्वतन्त्र और पृथक अस्तित्व भी कायम रह जाता है। यह शासन व्यवस्था ऐसा विकल्प प्रस्तुत करती है जिसमें एक ओर सघ के सभी लाभ प्राप्त होते हैं, और साथ ही दूसरी ओर छोटे छोटे राज्यो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(3) सघ शासन प्रणाली अनेकता मे एकता लाती है। बहुत बडे प्रादेशिक आकार वाले देशो के लिए या जिन देशो की जनसख्या मे जातिगत, धार्मिक, भाषागत या सांस्कृतिक मौलिक भिन्नताएँ हैं, उन देशो के लिए सघवाद का सिद्धान्त उपयोगी है। ऐसी समस्याओ का समाधान सघवाद के द्वारा ही हो सकता है। सघवाद का आशय राष्ट्रीय एकता के साथ स्थानीय स्वतन्त्रता का सामन्जस्य करना है। सघीय सरकार को ऐसे कार्य सौंपे जाते हैं, जो देश के राष्ट्रीय जीवन के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। स्थानीय महत्त्व के अन्य विषयो को इकाइयो के लिए छोड दिया जाता है। इस ढग से सघवाद और केन्द्रीकरण का सुखकर एकीकरण होता है।

(4) स्थानीय विषयो का शासन प्रबन्ध स्थानीय तथा इकाइयो की सरकारो को सौंप कर सघवाद केन्द्रीय सरकार का भार हल्का करता है और इससे वह राष्ट्रीय समस्याओ के सुलझाने तथा सार्वदेशिक विषयो का प्रबन्ध करने में अधिक समय तथा शक्ति लगा सकते हैं।

(5) इस शासन-व्यवस्था मे न तो एक व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता चल सकती है और न नौकरशाही अपनी मनमानी कर सकती है। प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकारें निरकुश नही हो पाती क्योकि प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के मामला मे हस्तक्षेप नही कर सकती और न ही केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारो के मामले में हस्तक्षेप कर सकती है। प्रत्यक का क्षेत्राधिकार पृथक् होता है।

(6) यह शासन व्यवस्था जनता को स्वशासन की शिक्षा देती है और स्थानीय इकाइयो को देश के हित को हानि पहुँचाए बिना वधानिक एव प्रशासनिक शिक्षा प्रदान करती है। इस व्यवस्था मे जनता में सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता उत्पन्न नहीं होती। स्थानीय जनता और शासकगण स्थानीय समस्याओ का हल करने तथा स्थानीय मामलो का प्रबन्ध करने मे सफल होते हैं और उन्हें स्थानीय विषयो में पहल करने का अवसर प्राप्त होता है। इससे लोगो की स्थानीय मामलो में अधिकाधिक रुचि बढ़ती है, क्योंकि स्थानीय विषयो का सञ्चालन उनको स्वय करना पडता है।

संघात्मक शासन के दोष

(1) संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार की अपेक्षा कमजोर होती है क्योंकि इसमे शक्तियों का विभाजन होता है और केन्द्र तथा स्थानीय सरकारो मे सदैव तनातनी तथा संघर्ष की गुंजाइश रहती है। एकात्मक सरकार में शक्तियों के केन्द्रीकरण से जो शीघ्र निर्णय, एकरूपता, दृढ़ता, सुचारुता तथा उद्देश्य की एकता सम्भव है वह संघात्मक सरकार मे लुप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त वदेशिक और रक्षात्मक जैसे महत्त्वपूर्ण मामलो में इकाई राज्य केन्द्रीय सरकार के मार्ग मे बाधा उपस्थित करते हैं। यह सरकार एकात्मक सरकार की अपेक्षा कम कार्यकुशल होती है क्योंकि देश मे शासन और कानूनो में स्थान-स्थान पर भिन्नता होती है।

(2) इस शासन-व्यवस्था मे दोहरी नागरिकता होती है जिससे राज्य-भक्ति विभाजित रहती है। एक व्यक्ति दो स्वामियों के प्रति भली भांति निष्ठावान् नहीं रह सकता।

(3) संघात्मक सरकार बहुत अधिक खर्चीली होती है क्योंकि इसमे राजनीतिक,कर्मचारियो की संख्या बहुत अधिक होती है तथा केन्द्र के लिए अलग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका होती है तथा उप राज्यों के लिए अलग।

(4) इस शासन व्यवस्था मे राष्ट्रीय तथा स्थानीय हितो मे निरंतर संघर्ष चलता रहता है और यह संघर्ष राष्ट्रीय सर्वोच्च हितों के लिए हानिकारक होता है। इस शासन प्रणाली में प्रान्तीय भावनाएँ उग्र रूप धारण कर लेती हैं और उप राज्यो की सरकारों मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, द्वेष और वैमनस्य चलता रहता है।

(5) प्रान्तीय सरकारो या उप राज्यो के स्थानीय स्वतन्त्र महत्त्व के कारण अनेक विषयों के निर्णयो मे अनावश्यक विलम्ब हो जाता है और उप-राज्यो की सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार में कभी कभी गतिरोध पैदा हो जाता है।

(6) इस शासन व्यवस्था मे संघ के भंग होने का भय रहता है। सोवियत संघ में एक उप राज्य को केन्द्र से अलग होने का भी अधिकार है। संघ को उप-राज्यों की सरकारो से शक्ति प्राप्त होती है, अतः स्वार्थ भावना के कारण राज्यों के विद्रोह से शासन के भंग होने की सम्भावना रहती है। कभी कभी राज्यो द्वारा अलग अलग गुट निर्माण कर लेने के कारण संघ सरकार की शक्ति कम हो जाने का भय रहता है। डॉ० आशीर्वादम् के अनुसार संघ के वास्तविक दोष ये हैं—

(1) विधायी नीति और प्रशासन में विभिन्नता।

(2) केन्द्र और राज्यो मे दोहरे सरकारी यन्त्र राजकीय सेवाएँ और विभाग और इससे उत्पन्न होने वाली पेचीदगियाँ।

(3) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो मे अधिकार क्षेत्र के बारे में सम्भावित संघर्ष का खतरा।

(4) प्रशासन का भारी व्यय।

(5) सघ-विच्छेद का खतरा।''

अन्त मे, लॉर्ड ब्राइस के सारगर्भित शब्दो मे सघ शासन के दोषो का निचोड़ यह है कि-- 'सघवाद का अर्थ विदेशी मामलो के सचालन मे निर्बलता होता है। इसमे गृह शासन व्यवस्था की दुर्बलता भी सन्निहित है। सहयोगी राष्ट्रो तथा नागरिको पर शासन का दबाव अपेक्षाकृत न्यून रहता है। विधान मण्डल की द्वैध व्यवस्था के कारण अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं तथा अनावश्यक व्यय और विलम्ब होता है। उप-राज्य उप-समूहो मे परिवर्तित हो जाते हैं अर्थात् राज्यो के अलग अलग समूह बन जाते हैं। विधि निर्माण और प्रशासन कार्य मे एकरूपता नहीं रहती।''

सघ निर्माण की विधियाँ

सघ का निर्माण होता है उत्पत्ति नही। यह निर्माण प्राय दो प्रकार से होता है—केन्द्रोन्मुख पद्धति (Centripital Process) द्वारा एव केन्द्रपराङमुखी पद्धति (Centrifugal Process) द्वारा। प्रथम पद्धति के अन्तर्गत आर्थिक अथवा सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओ से बाध्य होकर कुछ स्वतन्त्र राज्य अपनी व्यक्तिगत सप्रभुता का सामान्य हितो के लिए परित्याग कर राज्य उस सघ राज्य की इकाइयाँ बन जाती हैं। दूसरी पद्धति मे सघ निर्माण की इच्छा ऊपर से नीचे की ओर चलती है। ऐसा तब होता है जब कोई एकात्मक राज्य सघात्मक राज्य में परिवर्तित हो जाता है जसे 1935 मे भारत। केन्द्रोन्मुख पद्धति का सर्वोत्तम उदाहरण सयुक्त राज्य अमेरिका है जहा आरम्भ मे तेरह स्वतन्त्र राज्यो ने एक सघ (Federation) की स्थापना की जो सयुक्तराज्य अमेरिका (U S A) कहलाया।

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

आज जिसे हम राजनीतिक व्यवस्था कहते हैं उसे परम्परावादी पाठ्य-पुस्तको मे सरकार, राष्ट्र या राज्य आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता था। इस नवीन शब्दावली मे राजनीतिक विषय सामग्री पर एक नए तरीके से प्रकाश पड़ता है। इसमे पुरानी बातो के लिए कुछ नए नाम निहित हैं तथा कुछ नए शब्द उन गतिविधियो और प्रक्रियाओ को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं जिन्हे राजनीति के अगो अथवा पहलुओ के रूप मे पहले मान्यता प्राप्त नही थी।

एमण्ड एव पावेल ने लिखा है कि राज्य, सरकार और राष्ट्र जसे शब्द वधानिक तथा सस्थात्मक अर्थों द्वारा सीमित हैं। यदि हमे सभी प्रकार के समाजो में उपलब्ध राजनीतिक विषय-सामग्री का विवेचन करना है और राजनीति विज्ञान को अधिक प्रभावशाली बनाना है तो विश्लेषण के एक अधिक व्यापक ढाँचे की आवश्यकता है और यह ढाँचा 'व्यवस्था विश्लेषण' का है। राजनीतिक व्यवस्था किसी भी समाज के राजनीतिक कार्य कलापो के सम्पूर्ण क्षेत्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएँ—राजनीतिक व्यवस्थाएँ अपने क्षेत्र की भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि पृष्ठभूमियों में अपना रूप ग्रहण करती हैं। रॉबर्ट ए डहाल ने इनकी कतिपय विशेषताओं का वर्णन किया है। डहाल के ही शब्दों में, ये विशेषताएँ राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषाएँ नहीं हैं बल्कि ये वे नियमित विशेषताएँ हैं जो अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्राप्त होती हैं—

1 राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक स्रोतों को असमान रूप से बाँटा जाता है।

2 प्राय हर राजनीतिक व्यवस्था में कुछ व्यक्ति सरकारी नीतियों नियमों और निर्णयों को प्रभावित करने के इच्छुक होते हैं।

3 राजनीतिक व्यवस्था में वयस्क सदस्यों के राजनीतिक प्रभाव को असमतल रूप से वितरित किया जाता है।

4 एक राजनीतिक व्यवस्था के कतिपय सदस्यों में संघर्षपूर्ण उद्देश्य पाए जाने स्वाभाविक हैं और उन पर राजनीतिक व्यवस्था की सरकार प्राय विचार करती है।

5 राजनीतिक व्यवस्था में नेताओं का यह प्रयास रहता है कि संघर्षों के समाधान के लिए सरकारी साधनों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए।

6 राजनीतिक व्यवस्था में नेता अपने नेतृत्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्राय एक विचारधारा को मान लेते हैं जो लोकतन्त्रात्मक या साम्यवादी या समाजवादी अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हो सकती है।

7 एक राजनीतिक व्यवस्था पर दूसरे देशों की व्यवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है।

8 सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ परिवर्तनशील होती हैं।

राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करते समय हमें उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशेषताओं उनके कार्य, उनकी संरचनाओं, उनकी संस्कृतियों आदि की तुलनाओं द्वारा व्यवस्था विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

12

प्रजातंत्र का संगठनात्मक ढाँचा–दलीय व्यवस्था और दबाव समूह, जनमत, स्थानीय स्वशासन, निर्वाचन तथा अल्प संख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या

(ORGANIZATIONAL FRAMEWORK FOR DEMOCRACY–PARTY SYSTEM AND PRESSURE GROUPS, PUBLIC OPINION, LOCAL-SELF GOVT, ELECTION AND PROBLEM OF MINORITY REPRESENTATION)

दलीय व्यवस्था
(Party System)

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत शासन व्यवस्था के दो मुख्य स्रोत होते हैं—संविधान (Constitution) तथा संविधानेत्तर (Extra Constitution)। शासन के सफल संचालन में इन दोनों का ही समान महत्त्व है। दोनों भिन्न हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। यदि संविधान शासन का ढाँचा प्रदान करता है तो संविधानेत्तर अंग उस ढाँचे को माँस एवं रुधिर प्रदान कर उसे गतिशील बनाता है। राजनीतिक दल शासन के इसी संविधानेत्तर पहलू का आदर्श उदाहरण है जो प्रजातन्त्र की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। राजनीतिक दलों के कारण सत्तारूढ़ दल निरंकुश नहीं बन सकता क्योंकि प्रतिपक्ष उसके प्रत्येक कार्यकलाप को नियन्त्रित रखता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र की मर्यादा कायम रहती है। इसीलिए लॉस्की (Laski) ने लिखा है कि 'एक से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व ही सच्चे लोकतन्त्र की पहचान है।' राजनीतिक दलों का साम्यवादी और फॉसिस्टवादी व्यवस्था में भी इतना व्यापक महत्त्व होता है कि हम दल और शासन में व्यावहारिक रूप से कोई अन्तर नहीं करते।

दलीय व्यवस्था का महत्त्व

दलीय व्यवस्था प्रजातन्त्र की आधारशिला और इसका प्राण (Life blood and Democracy) है। राजनीतिक दलो को सरकार का चौथा अग (Fourth organ of the State) कहा जाता है। राजनीतिक दलो के अभाव मे न तो सम्यक नीति निर्धारित की जा सकती है न सांविधानिक आधार पर विधान मण्डलो के लिए निर्वाचनो की उचित व्यवस्था की जा सकती है और न ऐसी मान्य राजनीतिक व्यवस्थाओ और निकायो की स्थापना की जा सकती है जिनके द्वारा दल सत्ता और अधिकार प्राप्त करते हैं।

जो लोग राजनतिक दलो के बढते हुए प्रभाव और उसकी स्थिति से चिढने हैं, वे वस्तुत प्रजातन्त्र की क्रियान्विति से अनभिज्ञ हैं। दलीय व्यवस्था के अभाव मे विवादो का बढना अवश्यम्भावी है जिससे जनता के विविध भाग अपने अपने कष्टो के निवारणार्थ सीधे सरकार के पास पहुँच कर शासन के लिए हर घडी का सिरदर्द बन जायेंगे। राजनीतिक दलो की यह विशिष्ट उपयोगिता है कि वे जनता के कष्टो को अपने मच द्वारा और व्यवस्थापिका सभाओ के माध्यम से सरकार तक पहुँचा देते हैं और सरकार को जनमत के अनुकूल चलने के लिए विवश करते हैं।

वस्तुत राजनीतिक दल केवल शासन का निर्माण ही नही करते वरन वे ही शासन सचालन करते हैं। राजनीतिक दल सब साधारण के समक्ष एक निश्चित व्यवस्था और कार्यक्रम उपस्थित करते हैं तथा नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर सब साधारण की सहमति प्राप्त करने का प्रबन्ध करते हैं। राजनीतिक दलो के न होने पर ससदीय और अध्यक्षात्मक दोनो ही सरकारो का सचालन सकटमय हो जायगा क्योंकि तब विधान मण्डलों मे निर्दलीय उम्मीदवार पहुँचेंगे जिनमे न तो सगठन और अनुशासन ही होगा और न ही वे किसी नीति तथा कार्यक्रम से बँधे होंगे।

राजनीतिक दल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे शासन के विभिन्न अगो में सामजस्य, परस्पर सहयोग और एकता स्थापित करते हैं। आज की प्रतिनिधि सरकारो का उद्देश्य यही है कि सरकार और ससद दोनो पर दल का प्रबन्ध रहे। प्रजातन्त्र की सफलता की एक प्रमुख शर्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा है जिसकी पूर्ति का मुख्य साधन राजनीतिक दल है। राजनीतिक दलो द्वारा स्वस्थ एव रचनात्मक आलोचना से देश की शान्ति और सुव्यवस्था पर बिना किसी प्रकार का विपरीत प्रभाव डाले ही सरकार की स्वेच्छाचारी शक्तियो पर जनहित के लिए अकुश लगाया जा सकता है। विरोधी दल शासक को नियन्त्रित कर देश को एक दल की निरकुशता से बचाता है।

कुछ विचारको का मत है कि राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के लिए अभिशाप है क्योंकि इनके द्वारा प्रजातन्त्र में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये जनता को गुमराह करते हैं, अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय साधनो द्वारा जनमत को अपने

पक्ष में लाने का प्रयास करते हैं, इनमे सदैव शक्ति प्राप्ति के लिए संघर्ष चलता रहता है, जनहित एव लोक कल्याण की ओर किंचित मात्र भी ध्यान दिये बिना ये सरकार की आलोचना करने मे लगे रहते हैं तथा अनेक बार ये दल अपनी कठोर आलोचनाओ द्वारा सरकार को अनेक कल्याण के काय करने से रोक भी देते हैं। प्रजातन्त्र को खर्चीली, भ्रष्ट, बदनाम, अस्थिर और अकुशल शासन व्यवस्था बनाने का उत्तरदायित्व मुख्यत इन दलो पर ही है।

परन्तु उक्त आलोचनाएँ सत्य के कुछ निकट होते हुए भी प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था मे दलो की उपयोगिता को अमान्य नहीं ठहरा सकती। प्रत्येक मान्य सस्था की भाँति राजनीतिक दल व्यवस्था में भी कुछ कमजोरियो का होना स्वाभाविक है, लेकिन इन कमजोरियो की तुलना से उनसे प्राप्त होने वाले लाभ कई गुणा अधिक हैं और यही कारण है कि विश्व के प्राय सभी देशो मे दलीय व्यवस्था को किसी न किसी रूप मे शासन का आधार बनाया गया है।

राजनीतिक दल का अर्थ

प्रजातान्त्रिक एव अधिनायकवादी राज्यो में प्रचलित राजनीतिक दलो में पायी जाने वाली विषमता के कारण कोई एक परिभाषा उनके पर्याप्त अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकती। फिर भी यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल किसी राज्य के अन्तगत मनुष्यो का वह सगठित समूह है जो किसी राजनीतिक उद्देश्य अथवा आर्थिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए शातिमय तथा वैध साधनों से किसी देश के मतदाताओ के बहुमत को अपने पक्ष मे करके, राज्य की शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहते हैं। गैटिल के शब्दो में "राजनीतिक दल सगठित नागरिको का एक ऐसा समूह है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप मे काय करता है और अपनी राजनीतिक शक्तियो से सरकार मे नियन्त्रण करने तथा अपनी सामान्य नीतियो को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करता है।' गिलक्राइस्ट के अनुसार, "एक राजनीतिक दल उन नागरिको का एक सगठित समूह है जिनके राजनीतिक विचार एक से होते हैं तथा जो एक राजनीतिक इकाई की तरह काम करके सरकार पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करते हैं।' मैक्सवेबर की दृष्टि मे 'राजनीतिक दल चेष्टा से बनाया हुआ वह सगठन है जो शासन शक्ति को अपने हाथ मे लेना चाहता है और इसको प्राप्त करने के लिए यह प्रचार तथा आन्दोलन का सहारा लेता है। इस शासन शक्ति को अपने हाथ मे लेने के पीछे एक उद्देश्य हो सकता है जो या तो वस्तुनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति प्रस्तुत है या व्यक्तिगत स्वार्थ हैं अथवा दोनो है।"

राजनीतिक दल की परिभाषा पर अपने विचारो का सार प्रस्तुत करते हुए प्रो० न्यूमैन ने लिखा है कि "हम सामान्यत राजनीतिक दल को समाज के सक्रिय राजनीतिक अभिकर्ताओ का व्यवस्थित और स्पष्ट सगठन कह सकते हैं जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहते हैं और लोकमत प्राप्त करने के लिए विभिन्न विचार धाराओं के अन्य समूहो से प्रतियोगिता करते हैं।" न्यूमैन ने राजनीतिक दल को सामाजिक हितो का ऐसा प्रतिनिधि बताया है जो व्यक्ति और समाज के बीच पुल

का कार्य करता है। उसने राजनीतिक दलों को 'विचारों का सौदागर' कहा है जो हर समय अपनी दलीय नीतियों के प्रसारण में लगे रहते हैं। लोकतन्त्र की सफलता स्वस्थ राजनीतिक दलों की उपस्थिति पर पूर्णतः अवलम्बित है। शासन का स्वरूप चाहे संसदात्मक हो, चाहे अध्यक्षात्मक दल प्रथा की अनुपस्थिति से वह सफल नहीं हो सकता। साथ ही किसी भी दल के ठोस चरित्र का अनुमान हम तुरन्त नहीं लगा सकते। समय और व्यवहार की लम्बी अवधि ही एक दल का सही मूल्यांकन कर सकती है।

बर्क ने राजनीतिक दल को व्यक्तियों का एक ऐसा समूह माना है 'जिसके सदस्य सामान्य सिद्धान्तों पर सहमत हों और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय हित का परिवर्धन करने के लिए एकता के सूत्र में बंधे हों।" बर्क की इस परिभाषा में राजनीतिक दल के तीन लक्षण स्पष्ट हैं—सामान्य सिद्धान्तों की सदस्यों द्वारा स्वीकृति, राष्ट्रीय हित की अपेक्षा तथा संगठित इकाई के रूप में कार्य करने की उत्कण्ठा। पर यह परिभाषा इस बात की ओर संकेत नहीं करती कि राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजकीय शक्ति को माध्यम बनाते हैं तथा उस पर अधिकार स्थापित करने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। कार्ल जे फ्रेडरिक के अनुसार 'एक राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो अपने नेताओं के लिए शासकीय नियन्त्रण प्राप्त करने अथवा कायम रखने के उद्देश्य से स्थायी रूप से संगठित होते हों और जिनका आगे यह उद्देश्य होता है कि इस नियन्त्रण के माध्यम से दल के सदस्यों को नैतिक और भौतिक लाभ प्राप्त हो।"

सभी परिभाषाओं के विश्लेषणोपरान्त यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दलों का निर्माण मानव-स्वभाव की विशेषताओं के मतैक्य और संगठन पर आधारित होता है। वे व्यक्ति जिनमें एकता की भावना है, जिनमें एक राजनीतिक ध्येय पर मतैक्य है, जो सुसंगठित हैं, दल कहलाते हैं। यद्यपि यह कहावत सच है कि जितने व्यक्ति होते हैं उतने ही मत होते हैं, तथापि इसी मतभेद के परिणामस्वरूप जो मत निकलता है वही दल का मत होता है। दूसरे शब्दों में मतभेदों के होते हुए भी जिस माध्यम से व्यक्ति संगठित होकर ध्येय विशेष की पूर्ति के लिए एक होकर कार्य करते हैं वह दल का मत होता है उनमें उस मत को मानने वाले नागरिकों का ही समूह होता है। निष्कर्षतः 'राजनीतिक दल का आशय नागरिकों के उस समूह से है जो सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में सामान्य विचार रखता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी कथित नीति का विस्तार करने के लिए शासन तन्त्र को हस्तगत करना चाहता है।"

स्मरणीय है कि सभी राजनीतिक दलों को कानून के अन्तर्गत राजकीय मान्यता प्राप्त नहीं होती और वे आवश्यक रूप से सरकार के अंग भी नहीं [illegible] तथापि लोकतन्त्रात्मक राज्य में प्रशासनिक कार्यों पर उनका नियन्त्रण [illegible] है और लोकतन्त्रात्मक शासन के [illegible] पर के लिए उनका होना [illegible]

से सवथा विपरीत राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियो की साझेदारी है जो सामान्य उद्देश्यो को अपनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं तथा निश्चित कार्यक्रम अपनाते हुए अनुशासन बद्ध रहते हैं। वे जनमत को अपने पक्ष मे करके शासन अपने हाथ मे लेना चाहते हैं। दल के सदस्य एक राजनीतिक इकाई के रूप में काय करते हैं। वे अपने कार्यक्रम को साकार रूप देने के लिए शासनतन्त्र को हस्तगत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। गुट का ऐसा कोई उद्देश्य नही होता।

राजनीतिक दल के काय

राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक और अधिनायकवादी दोनो ही व्यवस्थाओं म पाए जाते हैं। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था म एक से अधिक दल होते हैं जबकि अधिनायकीय व्यवस्था प्राय एकदलीय होती है। प्रजातान्त्रिक और अधिनायकवादी व्यवस्था मे राजनीतिक दलो के काय पर्याप्त भिन्नता लिए रहते हैं।

प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे दलों के काय—प्रो० न्यूमैन (Prof Newman) ने प्रजातान्त्रिक राजनीतिक दलो के निम्नलिखित मुख्य काय बतलाए हैं—

(1) अस्तव्यस्त और बिखरे जनमत को सगठित करना।
(2) नागरिको को राजनीतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से शिक्षित बनाना।
(3) शासन और जनमत को जोडने वाली कडी का प्रतिनिधित्व करना।
(4) नेताओ का चुनाव।

प्रो० न्यूमैन ने लिखा है कि राजनीतिक दल विचारो के दलाल (Brokers of Ideas) हैं जो दलीय सिद्धान्तो का निरन्तर स्पष्टीकरण, व्यवस्थापन और प्रसारण करते रहते हैं।

प्रो० मैरियम (Merriam) के अनुसार राजनीतिक दलो के काय ये हैं—(1) सरकारी कमचारियो का निर्वाचन (2) सावजनिक नीतियो का निर्माण, (3) सत्तारूढ़ दल की आलोचना, (4) राजनीतिक प्रशिक्षण (5) व्यक्ति एव सरकार के बीच मध्यस्थता।

डॉ० मुनरो (Munro) के अनुसार राजनीतिक दलो के मुख्य काय इस प्रकार हैं—(1) जनता के राजनीतिक विचारो का निर्माण, (2) उम्मीदवारो के निर्वाचन के लिए चुनाव, (3) सामूहिक राजनीतिक प्रतिनिधित्व की स्थापना, (4) नागरिक शिक्षा के माध्यम से जनहित का सरक्षण।

विद्वानो ने राजनीतिक दल के कार्यों का विभिन्न प्रकार से वणन किया है। उन्हें हम सक्षेप मे निम्नानुसार स्पष्ट कर रहे हैं—

(1) राजनीतिक दल सामाजिक हित समूहो के प्रतिनिधि होते हैं। वे व्यक्ति तथा समाज अथवा समुदाय के बीच की दूरी कम करते हैं। वे मतदाताओ को राजनीतिक और नागरिक प्रशिक्षण देते है तथा उनकी स्वतन्त्र पसन्द को प्रोत्साहित करते हैं। राजनीतिक दल जनता को सावजनिक प्रश्नो और समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की शिक्षा देते हैं। वे जनता के सामने हर समस्या के विभिन्न और

राजनीतिक दलो के श्रावश्यक तत्त्व

(1) **सगठन** बिना सगठन के कोई भी जन-समूह दल नहीं बन सकता चाहे सदस्य सख्या कितनी ही अधिक क्यो न हो। सगठन क अभाव मे वे एक भीड मात्र होगे। सगठन को स्थायी रखने तथा सुचारु रूप से चलान के लिए अनव लिखित और अलिखित नियमो का होना जरूरी है जिनका अनुमरण दल के सदस्यो को करना पडता है। किसी भी दल का सगठन जितना व्यापक और सुदृढ़ होता है वह उतना ही शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण बनता है।

(2) **मूलभूत विचारों की एकता**—विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए विचारो की एकता से ही दलीय एकता विकसित होनी है। दल के प्रत्यक सदस्य के लिए आवश्यक है कि वह कुछ सिद्धान्ता और आदर्शों मे विश्वास करता हो। उदाहरण के लिए समाजवादी दल अथवा कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनमे विश्वास करना उप व्यक्ति के लिए अनिवाय है जो उसका सदस्य है या वनना चाहता है।

(3) **शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपाय**—राजनीतिक दलो के लिए यह भी जरूरी है कि वे शान्तिपूवक काय करके वधानिक साधना द्वारा ही अपने राजनीतिक कायक्रम का जनता मे प्रचार करें। सरकारी य त्र पर कब्जा कर उसके द्वारा अपने कायक्रमो को लागू करन के पूव राजनीतिक दलो का चाहिए कि व मतदाताओ का समथन प्राप्त करें और बहुमत द्वारा अ य दलो स अपना रास्ता साफ करें। जो पार्टियाँ वध उपायो मे विश्वास नही करती और राज्य अथवा सरकार मे बलपूवक परिवतन लाना चाहती हैं उनका अस्तित्व सदव चुनौती का विषय रहता है और उ ह राजनीतिक दल के रूप म स्वीकार नही किया जाता।

(4) **राष्ट्रीय हितों की वृद्धि**—एक सच्चे और स्वस्थ राजनीतिक दल का उद्देश्य राष्ट्रीय हितो की वृद्धि होनी चाहिए। अगर उसका सगठन किसी जाति, समुदाय अथवा वग विशेष के हितो की रक्षा क लिए किया जाता है तो उसे सच्चे अर्थो मे राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। प्राय देखा जाता है कि अनेक बार कुछ व्यक्ति स्वाथ सिद्धि के लिए अद्ध राजनीतिक सगठन बना लेते हैं जिनका उद्देश्य जनसाधारण का हित न होकर केवल क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति होता है। ऐसे राजनीतिक सगठनो को राजनीतिक दल न कहकर राजनीतिक गुट कहना अधिक उपयुक्त होगा। अकाली दल मुस्लिम लीग आदि भारत मे कुछ ऐसे सगठन है, जि ह साम्प्रदायिक या क्षेत्रीय गुट ही कहा जा सकता है।

राजनीतिक दल और गुट मे अन्तर

राजनीतिक दल गुट नहीं हैं क्योंकि गुट दल के समान स्थायी नही होते और न ही उद्देश्य मे समानता तथा वांछित अनुशासन होता है। राजनीतिक दल प्रश्नो का हल मत द्वारा करत हैं जब कि गुट शक्ति द्वारा। राजनीतिक दल राष्ट्र हित के लिए वधानिक उपायो द्वारा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं जब कि गुट वर्गीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए बल प्रयोग गुण्डागर्दी आदि साधन अपनाते हैं। गुट

से सवथा विपरीत राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियो की साभेदारी है जो सामान्य उद्द्श्यों को अपनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं तथा निश्चित कार्यक्रम अपनाते हुए अनुशासन बद्ध रहते हैं। वे जनमत को अपने पक्ष मे करके शासन अपने हाथ मे लेना चाहते हैं। दल के सदस्य एक राजनीतिक इकाई के रूप मे काय करते हैं। व अपने कायक्रम को साकार रूप देने के लिए शासनतन्त्र को हस्तगत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। गुट का ऐसा कोई उद्देश्य नही होता।

राजनीतिक दल के काय

राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक और अधिनायकवादी दोनो ही अवस्थाओ मे पाए जाते हैं। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे एक से अधिक दल होते हैं जबकि अधिनायकीय व्यवस्था प्राय एकदलीय होती है। प्रजातान्त्रिक और अधिनायकवादी व्यवस्था मे राजनीतिक दलो के काय पर्याप्त भिन्नता लिए रहते हैं।

प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे दलों के काय—प्रो० न्यूमैन (Prof Newman) ने प्रजातान्त्रिक राजनीतिक दलो के निम्नलिखित मुख्य काय बतलाए हैं—

(1) अस्त व्यस्त और बिखरे जनमत को सगठित करना।
(2) नागरिको को राजनीतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से शिक्षित बनाना।
(3) शासन और जनमत को जोडने वाली कडी का प्रतिनिधित्व करना।
(4) नेताओ का चुनाव।

प्रो० न्यूमैन ने लिखा है कि राजनीतिक दल विचारो के दलाल (Brokers of Ideas) हैं जो दलीय सिद्धान्तो का निरन्तर स्पष्टीकरण, व्यवस्थापन और प्रसारण करते रहते हैं।

प्रो० मैरियम (Merriam) के अनुसार राजनीतिक दलो के काय ये हैं—(1) सरकारी कमचारियो का निर्वाचन (2) सावजनिक नीतियो का निर्माण, (3) सत्तारूढ दल की आलोचना, (4) राजनीतिक प्रशिक्षण, (5) व्यक्ति एव सरकार के बीच मध्यस्थता।

डॉ० मुनरो (Munro) के अनुसार राजनीतिक दलो के मुख्य काय इस प्रकार हैं—(1) जनता के राजनीतिक विचारो का निमाण, (2) उम्मीदवारो के निर्वाचन के लिए चुनाव, (3) सामूहिक राजनीतिक प्रतिनिधित्व की स्थापना, (4) नागरिक शिक्षा के माध्यम से जनहित का सरक्षण।

विद्वानो ने राजनीतिक दल के कार्यों का विभिन्न प्रकार से वणन किया है। उन्हें हम सक्षेप मे निम्नानुसार स्पष्ट कर रहे हैं—

(1) राजनीतिक दल सामाजिक हित समूहो के प्रतिनिधि होते हैं। वे व्यक्ति तथा समाज अथवा समुदाय के बीच की दूरी कम करते हैं। वे मतदाताओं को राजनीतिक और नागरिक प्रशिक्षण देते हैं तथा उनकी स्वतन्त्र पसन्द को प्रोत्साहित करते हैं। राजनीतिक दल जनता को सावजनिक प्रश्नो और समस्याओं के प्रति जागरूक रहने की शिक्षा देते हैं। वे जनता के सामने हर समस्या के विभिन्न और

विरोधी पहलुओं को रखते हैं ताकि प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक स्वस्थ, और चेतनाशील राजनीतिक वातावरण पनप सके। जिस प्रकार दोनों पक्षों के वकीलों की जिरह से न्यायाधीश मामले को ठीक प्रकार से समझ लेता है, उसी तरह राजनीतिक दलों के माध्यम से मतदाता देश की समस्याओं और उनके समाधान को समझ कर अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लेते हैं।

(2) राजनीतिक दलों के कारण संसद् वाद विवाद का मञ्च बन जाता है जिसमे उन नीतियों का अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है जिन पर सरकार को चलना चाहिए। दल सरकार के समक्ष जनमत का सही चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे उसे बताते हैं कि देश के विभिन्न भागों में सरकारी नीति और क्रियाओं की क्या प्रतिक्रिया होती है।

(3) विपक्षी दलों का उद्देश्य सरकारी नीतियों की स्वस्थ आलोचना करके जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। विपक्ष के कार्य-कलापों से जनता को यह ज्ञात होता है कि विपक्ष की शासन नीति की रूपरेखा क्या है। जब जनता शासन की वैकल्पिक नीति का समर्थन देने लगती है तो विरोधी दल शासन की बागडोर सम्भाल लेने के लिए सक्षम हो जाता है।

(4) राजनीतिक दल सरकार और जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। एक राजनीतिक दल का यह मुख्य कार्य है कि वह विचारों का आदान प्रदान और सम्पर्क का मार्ग खुला रखे। दलों का यह कार्य उन्हें एक प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सरकार को नियन्त्रित करने वाली एजेंसी बना देता है।

(5) राजनीतिक दलों का अन्तिम उद्देश्य सरकार का निर्माण करना होता है, अत वे नेताओं और अधिकारियों के चुनाव में भाग लेते हैं। चुनाव में प्रत्येक दल अपने प्रत्याशी खड़े करता है, अपनी योजनाओं और लक्ष्यों के प्रचार द्वारा जनता को प्रावर्पित करता है और तब जनता उपयुक्त दल के प्रत्याशियों को विजयी बनाती है। शान्तिपूर्ण और वैधानिक साधनों से सरकार को बदलने का अवसर राजनीतिक दलों द्वारा ही प्राप्त होता है।

(6) राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में भी सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। संसदीय प्रणाली में दलीय अनुशासन और कार्यक्रम के फलस्वरूप व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में अभिन्न सम्बन्ध कायम रहता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में दल का महत्त्व इस अर्थ में काफी बढ़ जाता है क्योंकि विभिन्न शासन अंगों की पूर्ण पृथकता को दल व्यवस्था द्वारा ही दूर किया जा सकता है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में, जो एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, राजनीतिक दलों के कारण ही समत्व और सहयोग रखने में सहायता मिलती है।

(7) दल व्यवस्था के कारण ही संविधान की कठोरता वाञ्छित लचीलेपन में बदल जाती है।

(8) राजनीतिक दलों की उपस्थिति देश की राजनीतिक जागृति की प्रतीक

है। राजनीतिक दल सम्पूर्ण राष्ट्र को भ्रातृत्व के धागे मे बाँध कर अपने विचारो को नागरिक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

(9) राजनीतिक दल सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए भी काय करते हैं। विशेषकर पिछड़े देशो मे दलो के ये काय काफी महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणाय भारत मे काँग्रेस ने हरिजनोद्धार, अस्पृश्यता उन्मूलन, जमीदारी-व्यवस्था की समाप्ति आदि के क्षेत्र म जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वह किसी से छिपी नही है।

(10) राजनीतिक दल राष्ट्रीय स्तर पर अपने कायक्रमों एव सगठनो द्वारा क्षेत्रीय तथा वर्गीय भावनाओ का मिटान म सहयोग देते हैं। राष्ट्रीय दलो का स्वस्थ विकास अल्पसंख्यको के गुटो और प्रादशिक समूहो को हतोत्साहित करता है।

राजनीतिक दलो के दोष

(1) विरोधी दल अधिकतर ध्वसात्मक आलोचना मे अपना समय नष्ट करते हैं। वाद विवादो म अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए व जनहित को भूल जाते हैं। "इस प्रकार विधान मण्डल ऐसे अखाड़ बन जाते हैं जहाँ राष्ट्र के हितो को भुलाकर, वाद-विवादो द्वारा आपसी उखाड़-पछाड़ का अखाड़ा बन जाते हैं।"

(2) राजनीतिक दल खोखलेपन और अश्रद्धा की वृद्धि करत हैं। इगलण्ड म राजनीतिक दल विशिष्ट योजनाएँ प्रस्तुत करत हैं परन्तु अमरिका मे उनके उद्देश्य और कायक्रम इतने स्पष्ट नही हैं। ब्राइस ने "अमरिका के दो प्रमुख दलो की उन दो खाली बोतलो से तुलना की है जिनमे अपने नाम से किसी भी प्रकार का द्रव भरा जा सकता है।" इस प्रकार की प्रवृत्ति राजनीतिक क्षत्र मे पाखण्ड और खोखलापन पैदा करती है।

(3) राजनीतिक दल देश की जनता और जनमत को विरोधी गुटो मे बाट देत हैं और देश का वही विभाजित रूप विदशो के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। व सामान्य देश भक्ति के स्थान पर उन्माद और कटुता पदा करते हैं और नागरिको की चिन्तन शक्ति को सकीर्ण बनात हैं। चर्चिल के मजदूर दल विरोधी भाषण ने अमेरिका निवासियो की दृष्टि मे इगलण्ड की प्रतिष्ठा कम कर दी थी।

(4) राष्ट्रीय दल स्थानीय घटनाओ एव राजनीति पर भी प्रभाव डालते हैं। परिणाम यह होता है कि स्थानीय सस्थाओं पर भी उनका सिक्का जम जाता है और स्थानीय जनता मे राष्ट्र के प्रति अश्रद्धा और उपक्षा की भावना पनपती है।

(5) राजनीतिक दल, निर्वाचनो मे सफल होने के बाद अपनी विजय का प्रसाद अपने सदस्यो मे बाँटते हैं। इस प्रकार की दलगत राजनीति की भावना सभी देशो मे पायी जाती है। इस स्थिति मे दलगत स्वार्थों के लिए योग्यता और बुद्धिमत्ता की बलि दे दी जाती है जिसस देश को पर्याप्त क्षति पहुँचती है।

(6) दल प्रथा के कारण राजनीतिज्ञो के नतिक स्तर निम्न हो जाते हैं। दल के सदस्य प्रत्येक प्रश्न का दल के दृष्टिकोण स देखत हैं। दल के आदेश उनके लिए कानूनो के समान होते हैं। "दलबदी की भावना व्यक्तियो को अन्धा

हैं और व विरोधियो द्वारा सुझाई गई अपनी त्रुटियों का स्वीकार तक करना नहीं चाहते।"

(7) यक का मत है कि निर्वाचित हो जाने पर उम्मीदवार दल की कठपुतली बन जाता है। उसका स्वय का निर्णय दल के सामने कोई मूल्य नहीं रखता और उसे प्रत्येक कार्य दल के आदेशानुसार ही करना पड़ता है। दल की अवज्ञा राजनैतिक हत्या मानी जाती है और इस भय के कारण दल के सदस्य प्राय अपने दल के पक्ष में ही मत देते हैं।

(8) राजनैतिक दलों के कारण जिन मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है उनमे कुछ ऐसे व्यक्ति भी पदारूढ हो जाते हैं जिनमे कोई प्रशासनिक योग्यता नहीं होती। राजनैतिक दलों द्वारा केवल अवसरवादियों वाक्पटुओं और राजनैतिक दुस्साहसियों को ही अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। *प्राय बुद्धिमान एव योग्य व्यक्ति* दलों की गुट बन्दी में आना पसन्द नहीं करते।

(9) *जब व्यवस्थापिका सभा में अनेक राजनैतिक दल हो जाते हैं* तब स्थायी सरकार नहीं बन पाती। आयदिन अविश्वास प्रस्तावों के कारण सरकार *निर्बल रहती है* और अपनी नीतियों को पूर्णतया कार्यान्वित नहीं कर पाती।

दल प्रथा में दोष हैं, इसे कोई इनकार नहीं कर सकता किन्तु प्रश्न यह *उठता है कि दलीय सरकार के स्थान पर कौनसी सरकार कायम* की जा सकती है। लार्ड ब्राइस ने तर्कपूर्ण ढग से यह निष्कर्ष निकाला है कि 'दल आवश्यक रूप से *होने चाहिए।"* अभी तक किसी ने भी यह सिद्ध नहीं किया कि सरकार दल प्रणाली के बिना किस प्रकार कार्य कर सकती है। आधुनिक सरकार के कार्य सुचारु रूप *से चलाने के लिए दल का समर्थन आवश्यक है।* दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही सरकार सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। वर्तमान परिस्थितियों में दलों का अधिकतम उपयोग सर्वथा वांछनीय है।

राजनैतिक दलों के निर्माण के आधार

राजनैतिक समस्याओं पर भिन्न भिन्न विचारों के कारण राजनैतिक दल बन जाते हैं। इन राजनैतिक दलों का सगठन प्राय निम्नलिखित विभिन्न आधारों पर होता है—

(1) **राजनैतिक सिद्धान्त**—राजनैतिक सगठन के सम्बन्ध में विभिन्न मत होने के कारण प्राय विभिन्न राजनैतिक दल स्थापित हो जाते हैं। कुछ लोग प्रजातन्त्र, कुछ राजतन्त्र, कुछ सघात्मक सरकार और कुछ अध्यक्षात्मक सरकार के पक्ष में हो जाते हैं और इस प्रकार विभिन्न शासन व्यवस्थाओं में श्रद्धा रखने वाले लोगों के विभिन्न राजनैतिक दल बन जाते हैं।

(2) **आर्थिक सिद्धान्त**—आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर भी राजनैतिक दलों का निर्माण होता है। इसके उदाहरणस्वरूप विभिन्न देशों के समाजवादी साम्यवादी, पूंजीवादी, मजदूर पार्टी का उल्लेख किया जा सकता है। वर्तमान काल में आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित राजनैतिक दल बड़े लोकप्रिय हैं।

(3) स्वभाव की विभिन्नता के आधार पर—स्वभाव की विभिन्नता एव मनोवैज्ञानिक मतभेदो के कारण भी राजनतिक दलो का निर्माण होता है। कुछ लोग शांति प्रिय होते हैं और वधानिक तरीका मे विश्वास रखते हैं। इन लोगो का सगठन उदार दल कहलाता है। इसी प्रकार कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो वतमान व्यवस्था म कोई परिवतन नहीं चाहते और यदि चाहते भी हैं तो बहुत कम। इन व्यक्तिया के दल को अनुदार दल कहते हैं। कुछ क्रातिकारी प्रकृति के दल होत हैं जो क्रातिकारी दल कहलाते है। कुछ ऐसे भी दल होते हैं जो प्राचीन व्यवस्था को ही आदश मानते हैं और वतमान तथा भविष्य को असन्तोप व आशक्त की दृष्टि से देखते हैं, इन्हें प्रतिक्रियावादी कहते हैं।

(4) नेता के आधार पर—कभी कभी व्यक्ति के प्रभाव के कारण भी उसके नेतृत्व म राजनतिक दला का निर्माण हो जाता है। भारत म नता सुभापचन्द्र बोस के कारण फारवड ब्लाक, इटली मे मुसोलिनी के नेतृत्व म फासिस्ट पार्टी और जमनी मे हिटलर की नाजी पार्टी इसके उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ पिछड़े देशा मे जातीय, धामिक तथा भाषा सम्बन्धी विभिन्नताओ क आधार पर भी दलो की व्यवस्था की जाती है।

प्रजातांत्रिक और अधिनायकवादी दलो की तुलना

अधिनायकवादी राज्यो मे भी राजनीतिक दल अनिवाय होत हैं, लेकिन प्रजातान्त्रिक दला की अपेक्षा उन दलो का व्यवहार सवथा भिन्न होता ह—

(1) प्रजातान्त्रिक दल विभिन्नता और पारस्परिक आलोचना की छूट दता है जबकि अधिनायकवादी दल लोगा का भाषण, विचारो और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही देता। दल केवल उन वफादार लोगो को पसद करता है जो अपन नताओ के आदेश का निर्विरोध पालन करें।

(2) प्रजातान्त्रिक दल अनौपचारिक तथा गर-सरकारी होते हैं। अधिनायकवादी दल प्रत्येक सरकारी और गर-सरकारी गतिविधिया पर छाया रहता है। व्यावहारिक रूप मे वह शासन का एक अग ही होता है जिस पर उसका प्रभुत्व व्याप्त रहता है।

(3) प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओ में आलोचना के अधिकाधिक अवसर दिये जाते हैं। अधिनायकवादी व्यवस्था मे प्रजातांत्रिक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) प्रभावी होता है अर्थात् किसी प्रस्ताव के प्रारम्भिक स्तरा पर भले ही टिप्पणियाँ की जायें अन्यथा एक बार नताओ द्वारा निणय ले लिए जाने पर सभी का कत्तव्य है कि वे उसका पालन करें। अधिनायकवादी दलीय नियमो क अन्तगत सदस्य अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं लेकिन अपने विचारा को किस रीति मे व्यक्त करें, इसकी सीमाएँ हाती है।

(4) प्रजातान्त्रिक दलो के नेताओ मे वांछित परिवतन बहुत सरल होता है। अधिनायकवादी दल व नता शक्ति सघप के माध्यम से स्वय उभर कर आते हैं।

(5) प्रजातान्त्रिक दल अपने कायक्रमो के प्रसार के लिए व्यापक चुनाव

अभियान चलाते हैं तथा दूसरे दलो से अपने कार्यक्रमो का अन्तर स्पष्ट करते हैं पर अधिनायकवादी दल निरन्तर प्रशासकीय उद्देश्यो के समर्थन मे प्रचार अभियान करता है ।

(6) प्रजातान्त्रिक दलो मे विविध विचारो और सिद्धान्तो वाले विभिन्न समूहो के विकसित होने की छूट होती है । अधिनायकवादी दल मे इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । उसका उदय ही अन्य समूहो की कब्र पर होता है ।

(7) प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो का सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती । सदस्यो की संख्या ही दल की लोकप्रियता का आधार होती है । जनता का बहुमत अपने पक्ष म करके दल चुनाव जीतकर सत्तारूढ होने का स्वप्न देखते हैं । अधिनायकवादी दल की सदस्यता बहुत ही नियन्त्रित होती है ताकि दल म कठोर एकता और अनुशासन रहे । *सदस्यता कम करो और दल की शक्ति बढ़ाओ'* के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है ।

(8) प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओ मे राजनीतिक दलो के माध्यम से सत्ता परिवर्तन शांति और सुगमता से हो जाता है जबकि अधिनायकवादी दल मे विरोधी गुट को शक्तिशाली गुट द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिया जाता है और अपने साथियों की लाश पर दल की एकता कायम की जाती है ।

एक दलीय, द्वि-दलीय तथा बहु-दलीय प्रणालियाँ

आधुनिक विश्व मे तीन तरह की दल पद्धतियाँ मुख्य रूप से प्रचलित हैं—एकदलीय द्विदलीय और बहुदलीय ।

एक दलीय प्रणाली (Single Party System)—एक दलीय पद्धति का मुख्य आधार यह है कि नेतागण ही जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करें । इसका आशय यह है कि नेताओ की इच्छा ही जन इच्छा है । एकदलीय देशो मे केवल एक दल होता है और अन्य दल या तो कानूनन अवैध होते हैं या शक्ति द्वारा उनका दमन कर दिया जाता है । लोकतन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए एक से अधिक राजनीतिक दलो का होना अनिवार्य है । जब निर्वाचक-गण, ससद और मन्त्रिमण्डल सभी किसी एक दल के नियन्त्रण मे आ जायें तो लोकतन्त्र के स्थान पर दलतन्त्र की स्थापना हो जाती है । इस प्रकार एक दल जो शासन का एक अंग होता है स्वय शासक का रूप धारण कर सकता है और वह अन्य राजनीतिक दलो का सफाया कर सकता है ।

एक दलीय प्रणाली के समर्थको का कहना है कि एक से अधिक दलों के होने से जनता अलग अलग समुदायो मे विभाजित हो जाती है राष्ट्र की शक्ति का ह्रास होता है एव सभी लोगो का राष्ट्र की प्रगति के लिए एक दिशा म खींचना असम्भव हो जाता है । *उनका कथन है कि केवल एक दल ही* राष्ट्र के सर्वोच्च एव सर्वोत्तम हितो का ध्यान रख सकता है तथा देश की आंतरिक व्यवस्था व बाहरी आक्रमण से सरलता से रक्षा कर सकता है । एक दल होने से गुटो का अंत हो जाता है और एक ऐसी श्रेष्ठ राष्ट्रीय एकता की स्थापना होती है जो पहले कभी

नही हो सकी थी। सोवियत रूस एव चीनी साम्यवादियो द्वारा एक दलीय प्रथा के पक्ष मे ऐसे ही तर्क दिये जाते हैं।

पर वास्तव मे अधिकांश एकदलीय सरकारें अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे असफल रही हैं। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि एकदलीय प्रणाली से अधिकाशत राष्ट्रीय नीति का हित-साधन नही होता। ससार फासिस्ट दल के इटली और नाजी दल के जर्मनी का पराभव देख चुका है। एकदलीय समर्थकों का यह कहना भी सत्य नही है कि एक दल से जनता मे गुटो का अन्त हो जाता है और देश की फूट समाप्त होकर श्रेष्ठतम राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है। सोवियत रूस मे एकमात्र साम्यवादी दल है। किन्तु वहाँ भी फूट के भयकर और विनाशकारी दृश्य प्राय प्रकाश मे आते रहते हैं। इसके अतिरिक्त एकदलीय सरकार का राज्य सर्वाधिकारवादी ढग का होता है। दल की शक्ति से भय खाकर लोग अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं का दमन करके अपना मुख बद रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं अन्यथा उन्हें कठोरतम दण्ड का भागी होना पडता है। यह स्थिति मानवीय समानता और स्वतन्त्रता के लिए घातक है।

आलोचनाओं के बावजूद यह मानना होगा कि एकदलीय व्यवस्था मे देश की प्रगति दो या अधिक दलीय प्रथा वाले देशो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होती है। रूस और चीन इसके उदाहरण हैं।

द्वि दलीय प्रणाली (Two Party System)—सच्चे जनतन्त्र के लिये एक से अधिक राजनीतिक दलो की आवश्यकता को लगभग सभी लोग स्वीकार करते हैं, किन्तु एक जनतन्त्रीय देश या राज्य मे राजनीतिक दल केवल दो हो या दो से अधिक, इस विषय मे मतभेद पाया जाता है। जिस देश मे केवल दो ही राजनीतिक दल प्रधान होते हैं उसे द्वि दलीय प्रणाली (Bi-Party or Two Party System) वाला देश कहते हैं। ब्रिटेन और अमेरिका द्वि-दलीय प्रणाली के मुख्य उदाहरण हैं।

द्वि-दलीय प्रणाली का यह तात्पर्य नही है कि देश मे दो के अतिरिक्त तीसरा दल उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यही है कि द्वि दलीय व्यवस्था वाले देशो म प्रधान दल दो ही होते हैं और उन्ही के हाथो मे राजनीतिक शक्ति आती जाती रहती है। अन्य दल नगण्य होते हैं और उनका वहाँ की राजनीति पर प्रभाव नही के बराबर होता है।

द्वि-दलीय प्रणाली के गुण—द्वि-दलीय प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली के निम्नलिखित लाभ बताते हैं—

(1) स्थिरता द्वि दलीय प्रणाली स्थायी शासन प्रदान करती है। इसके अन्तर्गत दो मे से एक दल का व्यवस्थापिका मे स्पष्ट बहुमत होता है, अत यह सुविधापूर्वक अपनी सरकार बना सकता है जो दृढ और स्थायी होती है। सगठित और दृढ एकता मे बँधे होने के कारण दोनो दल सुचारु रूप से शासन सचालन की क्षमता रखते हैं। सत्तारूढ दल बहुमत के बल पर पूर्णत सुरक्षित रह कर अपनी नीतियो को दृढतापूर्वक कार्यान्वित कर पाता है।

(2) निरन्तरता—जब शासन में स्थिरता होती है तो उसकी निरन्तरता स्वतः ही बनी रहती है और सरकार दीर्घकाल तक पदारूढ रहती है तथा बड़ी बड़ी दीर्घकालीन योजनाओं को हाथ में लेकर उन्हें सफल बनाती है।

(3) शासन नीति की एकरसता—इस प्रणाली में सत्तारूढ दल शासन की नीति अपनी निश्चित विचारधारा पर आधारित करता है अतः इसमें एकरूपता रहती है।

(4) सगठित विरोध—द्वि दलीय व्यवस्था में सरकार विरोधी दल की आलोचनाओं का दृढ़ता के साथ सामना कर सकती है। सभी मंत्री एक ही दल से लिए जाते हैं जो विधान-सभा में बहुमत के साथ आता है। यह राजनीतिक समस्वरता उन्हें सुसगठित करती है और वे विरोधी दल का एकजुट होकर सफल विरोध कर पाने में सक्षम हो पाते हैं। दूसरी ओर इस व्यवस्था में सगठित विरोधी दल का अस्तित्व कायम रहता है। विरोधी दल सगठित रूप में सरकार की गलत नीतियों का विरोध करने की स्थिति में होता है और सरकार की स्वच्छाचारी प्रवृत्ति पर अंकुश रखता है।

(5) उत्तरदायित्व—राजनीतिक समस्वरता मंत्रियों को खिलाड़ियों की एक उत्तरदायित्वपूर्ण टीम बना देती है जो अपने सम्मानित नेता की अध्यक्षता में उद्देश्य की एकता के बल पर राजनीतिक खेल खेलते हैं। वे सगठित रूप में गिरते और उठते हैं और मन्त्रिमण्डल जिस नीति को कार्यान्वित करता है उसके लिए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में सभी उत्तरदायी होते हैं और उसका अनुसरण करते हैं।" शासन कार्यों के लिए स्पष्टतः सत्तारूढ दल को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तथा कुशलता अथवा अकुशलता का पूर्ण दायित्व एक दल पर थोपा जा सकता है।

(6) मन्त्रिमण्डल का सरल निर्माण—द्वि दलीय प्रणाली में सरकार बनाने का काम आसान होता है। बहुसख्यक दल को सरकार बनाने का कार्य सौंपा जाता है। यदि उसमें बुराइयाँ आ जाती हैं और वह अविश्वसनीय हो जाता है अथवा चुनाव में हार जाता है तो विरोधी दल अपना सिक्का जमा लेता है। इस व्यवस्था में सरकार के निर्माण में बहुत कम वैधानिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(7) निर्वाचन की सरलता—द्वि दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचन अपेक्षाकृत बहुत सरल हो जाता है। निर्वाचकों के सम्मुख केवल दो ही उम्मीदवार होते हैं जिसमें से उन्हें एक को चुनना होता है। बहुत से दलों में सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी अस्पष्टता होने के कारण मतदाता चक्कर में पड़ जाता है।

द्वि दलीय प्रणाली के दोष—द्वि-दलीय प्रणाली की निम्नलिखित प्रमुख हानियाँ बतायी जाती हैं—

(1) मानव स्वभाव का अस्वाभाविक विभाजन—द्वि दलीय प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचकों का केवल दो दलों में से अर्थात् दो विचारधाराओं में से एक का समर्थन करना पड़ता है। उन्हें दो उम्मीदवारों में से एक न एक को मत देना होता है। उनके सामने इससे अधिक छाँट की गुंजाइश नहीं होती। स्पष्ट ही मानव स्वभाव

का यह एक अस्वाभाविक विभाजन है। ऐसे भी बहुत से व्यक्ति हो सकते हैं जिन्हे दोनो ही दलों की विचारधारा पसन्द न हो और वे किसी तीसरी ही विचारधारा की खोज मे हो। "ऐसे व्यक्तियो को विवश होकर या तो राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता मे तटस्थ रहना पडता है या छोटी बुराई को चुनना पडता है।"

(2) बहुमत की निरकुशता और व्यवस्थापिका के महत्त्व मे कमी—द्वि दलीय प्रणाली के अन्तर्गत बहुसंख्यक दल निरकुशतापूर्वक अल्पसंख्यक दल के हितो की उपेक्षा करते हुए जनता पर शासन करता है। उसे अपने स्पष्ट एव ठोस बहुमत पर विश्वास होता है। इस विश्वास के बल पर वह विरोधी दलो की युक्तिसगत बातों को भी नहीं मानता। उसकी प्रवृत्ति स्वेच्छाचारी हो जाती है। इससे व्यवस्थापिका का सम्मान कम हो जाता है और अल्पसंख्यको की मागें नक्कारखाने मे तूती की आवाज जैसी होकर रह जाती हैं। मन्त्रिमण्डल का व्यवस्थापिका पर एकछत्र आधिपत्य द्वि-दलीय व्यवस्था का एक गम्भीर दोष है।

(3 कुछ नेताओं का शासन हो जाना—द्वि दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत बहुमत दल के साधारण सदस्यो को अपने नेताओ की आलोचना करने का अवसर नही मिलता। उन्हे दल के मुख्य सचेतक (Whip) के आदेशानुसार व्यवस्थापिका सभा मे अपनी सरकार के पक्ष मे मत देना पडता है। इस तरह बहुमत दल के शासन का वास्तविक अर्थ कुछ थोडे से नेताओ का शासन हो जाता है।

बहु दलीय प्रणाली (Multi-Party System)—जब दो दलो से अधिक दल होते हैं उसे बहु-दलीय प्रणाली कहा जाता है। बहु दलीय प्रणाली मे वस्तुत गुटबन्दी रहती है। जहाँ दलो की बहुत बडी सख्या हो, वहाँ उन्हे 'दल' का नाम देना गलत है। वह तो एक राजनीतिक 'समूह' मात्र है। जब समूहो की एक बडी सख्या होगी तो वहाँ एक सुदृढ बहुमत वाला दल नही हो सकता, जो स्थिर सरकार का निर्माण करने योग्य हो।

बहु दलीय प्रणाली के गुण - बहु दलीय प्रणाली के निम्नलिखित गुण या लाभ बताए जाते हैं—

(1) बहु-दलीय प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न मतो को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। चूँकि सभी अपने अपने हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत वह प्रजातन्त्रीय प्रणाली का सही रूप होता है।

(2) बहु दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत किसी एक दल का निरकुश और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित नही हो सकता। सब दल परस्पर एक-दूसरे की मनमानी पर नियन्त्रण रखते है।

(3) इस पद्धति मे समझौते की प्रवृत्ति बढती है क्योकि यह सभी वर्गों तथा विचारधाराओ के लोगो का प्रतिनिधित्व करती है।

(4) बहु दलीय प्रणाली मे व्यवस्थापिका का सम्मान कम नहीं होता और न ही मन्त्रि मण्डल की तानाशाही का भय रहता है। इसमे कुछ दलो के एक साथ मिल जाने की स्थिति मे सरकार को भी किसी समय बदला जा सकता है।

बहुदलीय प्रणाली के दोष—इस प्रणाली के प्रमुख दोष ये बताए जाते हैं—

(1) बहुदलीय प्रथा सरकार को निर्बल बना देती है। संयुक्त सरकारें अस्थायी तथा दुर्बल होती हैं और दृढ़तापूर्वक किसी एक नीति पर नहीं चल सकतीं। संयुक्त सरकार में भिन्न भिन्न मत और विचारधारा वाले लोग होते हैं अत ऐसी सरकार उस जंजीर के समान होती है जिसमें कई गाँठें या कड़ियाँ हों, जबकि एक दल की सरकार एक ठोस सींखचे के समान है।

(2) बहुदलीय प्रणाली में बनी सरकार जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती रहती है। फ्रांस में 1871 से 1919 तक 38 सरकारें बनीं जिसमें से 28 ऐसी थीं जो केवल साल भर ही टिक सकीं। फ्रांस के मन्त्रिमण्डलों का संगठन और विघटन, जनरल डिगाल द्वारा बनाए गए संविधान से पहले उपहास का विषय बन गया था। फ्रांसीसी मन्त्रि मण्डल की औसत आयु 6 मास से अधिक नहीं होती थी और अनेक बार तो मन्त्रि मण्डलों का कार्यकाल 24 घण्टे से भी कम रहा था।

(3) इस प्रणाली में मतदाता यह निश्चित् नहीं कर पाते थे कि वे किस दल को मत दें क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा दल सरकार बनाएगा। इसके अतिरिक्त बहुत से दलों में स्वभावत सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी अस्पष्टता रहती है जिससे मतदाता चक्कर में पड़ जाता है।

(4) बहुदलीय प्रणाली में मन्त्रिमण्डल कई दलों के लोगों को मिलाकर बनता है, अत किसी एक दल को निश्चित रूप से दोषी ठहराया जाना कठिन होता है।

(5) इस प्रणाली में अनेक बार वैधानिक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं क्योंकि कई बार यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि व्यवस्थापिका में कौन सा दल बहुमत में है।

(6) बहुदलीय व्यवस्था से अनुशासनहीनता फलती है। विभिन्न दलों के सदस्यों में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, विरोध आदि बल पकड़ते हैं। इस तरह एक तरफ तो नैतिकता का ह्रास होता है और दूसरी तरफ देश के हितों की उपेक्षा होती है।

एकदलीय, द्विदलीय एवं बहुदलीय प्रणालियों की चर्चा करने के उपरान्त यह कहना उचित होगा कि तीनों प्रणालियों में द्विदलीय प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। अधिकांश राजनीतिक विचारक द्विदलीय व्यवस्था का ही समर्थन करते हैं। डॉ फाइनर (Finer) के अनुसार, 'जिस देश में द्विदलीय प्रणाली होगी वहाँ के लोग कर्त्तव्यपरायण और सुखी होंगे। हर स्थान पर दो दलों का संघर्ष अच्छा होता है। जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है वहाँ त्रुटियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं सार्वजनिक इच्छाओं का दमन कम हो पाता है और विनाशकारी सम्भावनाएँ भी कम हो जाती हैं।"

अन्त मे हम यही कहना चाहगे कि दलो की सख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी शासन के सुचारु रूप से चलने की बात। मेकाइवर (MacIver) ने ठीक ही लिखा है कि, "किसी भी दशा मे, किसी भी प्रथा के गुण दोष समाज की बुद्धि और सस्कृति से सम्बन्धित होते हैं। आवश्यक बात तो यह है कि सरकार जहाँ तक सम्भव हो, व्यापकतम मत पर आधारित हो और अपने दलीय स्वरूप को कायम रखते हुए भी सम्पूर्ण जनता की एकता कायम रखे।"

दबाव-समूह
(Pressure Groups)

वर्तमान राजनीतिक युग की एक महत्त्वपूर्ण देन दबाव-समूहो (Pressure Groups) का विकास है जो लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशो में पाए जाते हैं। कार्ल जे फ्रेडरिक ने दबाव-समूहो को, दलो के पीछे सक्रिय जन' (The living public behind the parties) कहा है। पहले इन समूहो को हेय दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें ऐसी पापात्मक शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जडो पर प्रहार करती हो। किन्तु अब स्थिति बदल गयी है और उन्हें आवश्यक बुराई के रूप मे तथा राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए जरूरी समझा जाने लगा है। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण सभी देशो मे इनका अध्ययन किया जा रहा है। विशेषकर अमरिका मे तो यह विषय बहुत ही लोकप्रिय हो गया है।

दबाव-समूह का अभिप्राय

दबाव-समूह विशिष्ट हितो से सम्बन्धित व्यक्तियो के ऐसे समूह होते हैं जो विधायको को प्रभावित करके अपने उद्देश्यो और हितो के पक्ष मे समर्थन प्राप्त करते हैं। ये राजनीतिक दल अथवा सगठन नही होते, यद्यपि इनकी गतिविधियो से इस प्रकार का भ्रम होना अस्वाभाविक नही है। ओडीगार्ड (Odegard) के शब्दो मे, "एक दबाव-समूह ऐसे लोगो का औपचारिक सगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य एव स्वार्थ हो और जो घटना क्रम मे विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके अपने हितों की रक्षा और वृद्धि हो सके।" दबाव समूह विश्व के उन सभी देशो मे पाए जाते हैं जहाँ नागरिको को स्वतन्त्र एच्छिक सघ निर्माण का अधिकार है।

दबाव-समूह, राजनीतिक दलो की भाँति किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचको को प्रभावित नहीं करते, बल्कि किन्ही विशेष समस्याओ या हितों मे सम्बन्धित होते हैं। वे पूर्णत राजनीतिक सगठन नहीं होते और न ही चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खडे करते हैं। वे तो अपने समूह विशेष के लिए सरकारी नीतियो और राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल न होते हुए भी वे दलो की भाँति शक्ति-सगठन होते हैं जिनकी निजी सदस्यता, उद्देश्य, संगठन एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं। सामान्यत द्विदलीय व्यवस्था म य जागरूक और शक्ति-सम्पन्न रहते हैं किन्तु बहुदलीय व्यवस्था मे अधिक नहीं बन पाते।

अमेरिका म दबाव समूह के प्रतिनिधियो को 'लौबिइस्टस' (Lobbyists) कहा जाता है। प्रत्येक व्यवस्थापिका सदन के साथ लगे हुए कमरे अथवा बरामदे को 'लोबी' या प्रकोष्ठ कहा जाता है, जहाँ विधायक अवकाश के समय आकर बैठते हैं। दबाव-समूह के प्रतिनिधि इन प्रकोष्ठो मे विधायको से सम्पर्क स्थापित करके उन्हे अपने पक्ष म प्रभावित करने की चेष्टा करते है। यह प्रभाव केवल प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा ही नही बल्कि जनमत और प्रचार द्वारा भी डाला जाता है। इस निमित्त विशाल धनराशि व्यय की जाती है। अपने उद्देश्यो की पूर्ति क लिए जनता मे अपने पक्ष म सहानुभूति पैदा करने के लिए, अपनी उद्देश्य प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होने वाले लोगो को अपने पक्ष मे आकर्षित करने के लिए दबाव समूह अथवा वर्गीय एव आर्थिक हितो के प्रभावशाली सगठन, प्रेस रेडियो, टेलीविजन सार्वजनिक सम्बन्ध, विज्ञापनों की सेवाओ आदि का उपयोग करते हैं। व अपने साहित्य को वितरित करते हैं और अपने तर्कों से विशेष दावो के पक्ष मे समर्थन प्राप्त करते है।

दबाव-समूहो का उदय

दबाव अथवा हित समूहो का उदय कोई अस्वाभाविक घटना नही है। मनुष्यो को एक-दूसरे के सहयोग अथवा साथियो की भी लगभग उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी अपने व्यक्तित्व की। आधुनिक महान् राष्ट्रो मे व्यक्तियो को राज्यो के अन्तगत ये साथी प्राप्त नही हो सकते क्योकि वह बहुत ही निर्वैयक्तिक (Impersonal) है। उदार प्रजातान्त्रिक राज्य मे तो उन लोगो मे यह साथी भावना किसी भी सूरत मे प्राप्त नही हो सकती क्योकि यह मुख्यत उन उद्देश्यो तक सीमित होती है जिनमे सभी लोगो के सामान्य हित निहित होते हैं। अत लोगो को इन साथियो की तलाश स्वैच्छिक सघो या समूहो (Voluntary Associations) म करनी होती है जो विभिन्न हितो म स्वतन्त्र व्यक्ति की पूर्ति कर पाते हैं।

आशय यह है कि जो व्यक्ति एक विशिष्ट निपुणता, अनुभव तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे सहभागी होते हैं, व अवसर आने पर एक-दूसरे के प्रति सहायक के रूप मे स्वय ही आकर्षित होते हैं और तभी हित समूहो का उदय हो जाता है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यो मे स्वैच्छिक सघ बनाने के अधिकार को व्यापक स्वीकृति प्रदान की गई है तथा आवागमन एव सचार साधनो के कारण समान हितो और दृष्टिकोण वाले लोगो के लिए यह सम्भव हो गया है कि वे स्वय को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सगठित करलें। उदाहरण के लिए सयुक्त राज्य अमेरिका में 'दी अमेरिकन कैसर सोसायटी', 'दी नेशनल एजूकेशन एसोसियेशन', 'दी इटर नेशनल पोलिटिकल साइस एसोसिएशन' आदि ऐसे ही सगठन हैं। आधुनिक दबाव समूह वस्तुत औद्योगिक युग की देन हैं। इनके सदस्य विशिष्ट हितसम्पन्न फर्मों, प्रमण्डलो, सयुक्त कम्पनियो, विविध उद्योगो आदि के रस अभिकर्ता होते हैं जो विविध तरीको को अपनाकर विधायको को अपने पक्ष में प्रभावित करते हैं। इसी कारण लोग बहुधा इन दबाव-समूहो को भ्रष्टाचार का केन्द्र समझने हैं।

दबाव और हित समूहो मे अन्तर

उपयुक्त पक्तियो मे हमने दबाव और हित-समूह शब्दो का उल्लेख किया है। दोनो समान प्रकृति और प्रवृत्ति के होते हुए भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न हैं।

समाज में कृषक, मजदूर, भूमिपति, मिल मालिक शिक्षक व्यवसायी आदि के विभिन्न प्रकार के हित होते हैं। हर वृहत् श्रेणी के हित मे अनेक छोटे छोटे हित सम्मिलित होते हैं। जब कोई छोटा अथवा बडा हित सगठित रूप धारण कर लेता है तो उसे 'हित-समूह' (Interest Group) कहा जाता है जिसका उद्देश्य अपने सदस्यो के विविध सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक हितो की रक्षा करना होता है। एक व्यक्ति के समाज मे अनेक हित हो सकते हैं अत वह एक ही साथ अनेक हित समूहो का सदस्य हो सकता है। जब हित समूह अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार से सहायता चाहने लगते हैं और विधायको को इस रूप मे प्रभावित करने लगते हैं कि सामान्य कानून मे सशोधन अथवा उनका निर्माण करते समय उनके हितो को ध्यान मे रखा जाय तब उन्हें 'दबाव-समूह' (Pressure Group) कहा जाता है। ये अपने हितो की रक्षा के लिए सरकार पर अनुकूल कानून निर्माण के लिए दबाव डालते हैं। काटर एव हर्ज ने हित-समूह तथा दबाव समूह का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'विभिन्न आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक, नतिक एव अन्य समूहों से पूर्ण आधुनिक बहुलवादी समाज के सामने अनिवार्य रूप से बडी समस्या यही है कि इन विविध हितो (Interests) तथा शासन और राजनीति (Govt and Politics) दोनो के बीच क्या सम्बन्ध हो ? एक स्वतन्त्र समाज में हित समूहो के स्वतन्त्र रूप से सगठित होने की अनुमति होती है और जब ये समूह सरकारी यन्त्र और प्रक्रिया (The Machinery and Process of Govt) को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार कानूनो, नियमो, लाइसेंसो, करारोपण तथा अन्य विधायी एव प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते हैं तो स्पष्ट ही ये हित (Interests) दबाव-समूहो (Pressure Groups) का रूप ले लेते हैं जिससे हित समूहो की गतिविधियाँ सरकार पर दबाव (Pressure) डालने की हो जाती है।

दबाव समूह और राजनीतिक दल

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओ मे राजनीतिक दलो तथा दबाव-समूहों में न्यूनाधिक अन्तर पाया जाता है —

(1) राजनीतिक दल दबाव-समूह की तुलना में एक वृहत् सगठन होते हैं जो समाज के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दबाव-समूह किसी एक अथवा कुछ हितो को लेकर चलते हैं।

(2) दबाव समूह का कार्य क्षेत्र विशिष्ट और सीमित होता है जबकि दलो का बहुरूपी और विस्तृत। राजनीतिक दलो को अपेक्षाकृत एक बहुत ही जटिल और विशाल कार्यक्रम के आधार पर विभिन्न समस्याओं से जूझना पडता है।

(3) दबाव समूहो की सदस्यता 'परस्पर व्यापी' (Overlapping) होती है अर्थात् एक व्यक्ति एक ही समय एक से अधिक हित समूहो का सदस्य हो सकता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलो की सदस्यता 'अनन्य' (Exclusive) होती है। इसी कारण राजनीतिक दल की तुलना मे एक दबाव समूह किसी प्रश्न पर अपने सभी सदस्यो का पूर्ण समर्थन प्राप्त नही कर पाता।

(4) दबाव समूह राजनीतिक दलो की भांति निर्वाचन के लिए अपने उम्मीदवार खडे नही करते, अत उनका कोई चुनाव-मैत्र नही होता। वे तो दूर-दूर तक विस्तृत लगभग समान हित के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(5) राजनीतिक दलो का निर्माण अनेक दबाव समूहो के मिलने से होता है। दबाव समूह उनके सहयोग-सगठन के रूप में काय करते हैं। अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए वे प्राय राजनीतिक दलो के माध्यम से शासन और विधायको पर दबाव डालने को सचेष्ट रहते हैं।

(6) राजनीतिक दल का सर्वोपरि उद्देश्य सरकार पर अधिकार करना होता है जबकि दबाव समूह केवल अपने हितो के निरीक्षण के लिए सरकार और विधायन-काय को प्रभावित करते है।

यह सोचना भ्रामक है कि राजनीतिक दलो की तुलना मे दबाव समूह हानि कारक होते हैं क्योकि वे सावजनिक हितो की अपेक्षा छोटे और निजी हितो का पक्षपोषण करते हैं। वास्तव मे बहुत कुछ इस बात पर निभर है कि दबाव समूह शासन को कहा तक प्रभावित कर सकते हैं और उनका आन्तरिक सगठन कितना सुदृढ है तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व की प्रजातान्त्रिक भावना उनमे कहा तक है। यदि शासन समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता है तो वह दबाव समूहो मे इस रूप म प्रभावित होने से बचा रहेगा कि सावजनिक हितों को ठस पहुचे। इसी प्रकार एक स्वस्थ लोकतन्त्र के दबाव समूह सावजनिक हितो के पूर्ण बलिदान की कीमत पर निजी हितो का सरक्षण नहीं चाहेगे। इसके अतिरिक्त जिस राज्य मे स्वच्छिक सघ अथवा समूह बनाने की छूट होती है वहाँ सैकडो हजारो दबाव-समूह पनपेंगे जो एक दूसरे की निरकुश इच्छा पर रोक और सन्तुलन का काम करेंगे।

दबाव समूहो का महत्त्व

दबाव समूहो के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। आज ये एक सस्था के रूप मे काय करते हैं। ये विधायको को इतना प्रभावित कर लेते हैं कि सामान्य कानून मे सशोधन अथवा किसी कानून का निर्माण करते समय वे उनके हितो का ध्यान रखते हैं। दबाव समूह निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खडे नहीं करते लेकिन बडे बडे नेता और ससद सदस्य इनका समथन प्राप्त कर चुनावा म विजय प्राप्त करते हैं। दलीय उम्मीदवारा को इनसे चुनावो के लिए धन मिलता है अत वे ससद मे पहुचकर उनके हितो की रक्षा करते हैं।

दबाव समूह अपने हितो के विरुद्ध व्यवस्थापन का यथाशक्ति विरोध करते हैं। इस प्रक्रिया मे प्राय एसे विधायको का पुनमूल्याकन हो पाता है जो जनता की

आकांक्षाओं अथवा हितो के प्रतिकूल हैं। आज दलीय अनुशासन की कठोरता के फलस्वरूप व्यक्तिगत विधायक का महत्त्व घटता जा रहा है और दबाव समूह का प्रभाव परोक्ष रूप से बढ रहा है। हमन फाइनर के अनुसार "जहाँ सिद्धान्त तथा सगठन मे राजनीतिक दल कमजोर होगे दबाव समूह पनपेंगे। जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होगे। जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होगे वहा दबाव समूह दबा दिय जायेंगे।" फाइनर का मूल्यांकन पूरा सत्य नही है क्योकि ब्रिटेन मे राजनीतिक दल बहुत ही व्यवस्थित और सिद्धान्तवादी हैं तथापि वहाँ दबाव समूह नही है।

दबाव समूहो क प्रकार और उदाहरण

दबाव समूह अनेक प्रकार के और एक दूसरे से भिन्न रूप वाले हो सकते हैं। वे स्थायी भी हो सकत हैं और अस्थायी भी, विशाल भी हो सकते हैं और छोटे भी। इसी तरह वे धन-सम्पन्न तथा शक्तिशाली अथवा विपन्न एव कमजोर भी हो सकते हैं। मोटे तौर पर इन्हें आर्थिक और अनार्थिक (Economic & Non economic) श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ अमेरिका मे नेशनल फडेशन ऑफ पास्ट आफिस क्लकस एक आर्थिक दबाव समूह है तो 'अमेरिकन ज्यूश कमेटी' अनार्थिक दबाव समूह है।

दबाव समूहो की प्रकृति और स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिए विभिन्न देशो म पाए जाने वाले कुछ प्रमुख दबाव समूहो का परिचय उपयोगी होगा—

अमेरिका मे दबाव समूह—सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रीय राज्यीय और स्थानीय स्तर पर दबाव तथा हित-समूहो की सख्या लाखो मे है। उन्होने शहरी क्षेत्र मे अमेरिकी जीवन को प्रभावित कर रखा है। व्यवस्थापन पर उनका इतना प्रभाव है कि उन्हे सविधान से बाहर कायरत काँग्रेस का तृतीय सदन (Third House of the Congress Operating outside the Constitution) कह दिया जाता है।

अमेरिका में अपने हितो के अनुकूल या प्रतिकूल प्रस्थापनाओ के समथन या विरोध का जो काय दबाव समूह करते हैं उसे 'लोबिइग' (Lobbying) कहा जाता है। उदाहरणार्थ सयुक्त राज्य अमरिका का 'चेम्बर ऑफ कामस' (Chamber of Commerce of the United States) अथवा अमेरिका के उत्पादनो का राष्ट्रीय सघ (National Association of Manufacturers of America) अथवा अमेरिकी महाजनो का सघ (American Bankers Association) आदि ऐसे सगठन हैं जो उद्योगों या अपने व्यापारिक हितो का सरक्षण चाहते हैं। कुछ ऐसे सगठन भी हैं जिनकी किसी विशेष उद्योग या व्यापार में विशेष रुचि होती है, जसे राष्ट्रीय पट्रोलियम सघ (National Petrolium Association)। कुछ ऐसे सगठन हैं जो कृषकों के हितो की रक्षा करते हैं, जसे अमरिकन फारमर ब्यूरो एसोसियेशन (American Farmer Bureau Association)। इसी तरह अमरिकी श्रमिक सघ (American Federation of Labour) के माध्यम से अमेरिका के श्रमिक अपने हितो की देखभाल करते हैं तो अमरिकन मेडीकल एसोसियेशन (American

Medical Association), अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ रेल्वे एक्जीक्यूटिव (American Association of Railway Executive) आदि संगठन अपने विशेष हितो का सरक्षण करते हैं। अमेरिका में कुछ ऐसे दबाव समूह भी हैं जो उस देश की काली जातियो के हितों का सरक्षण करते हैं।

विभिन्न दबाव समूहो के प्रतिनिधि कांग्रेस-सदस्यो के इद गिर्द मडराया करते हैं और उन पर प्रतिकूल व्यवस्थापन को रद्द करवाने के लिए दबाव डालते रहते हैं। इस प्रकार के कार्य करने वालो को 'लॉबिइस्ट' (Lobbyist) कहते हैं। अमेरिका में दबाव समूह अधिकांशत इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते है कि अपने पक्ष के विधायको के मनोनयन और निर्वाचन को सुरक्षित करके व्यवस्थापन पर अधिक अच्छी तरह अनुकूल प्रभाव डाला जा सकता है। इसकी अपेक्षा विधायको को उनके निर्वाचन होने के बाद प्रभावित करने की कोशिश की जाए। अत वे दल विशेष की परवाह न कर इस बात की चिन्ता करते हैं कि चुनाव में खडा होने वाला उम्मीदवार उनके दृष्टिकोण का समर्थक है अथवा नहीं। प्रत्याशियो को अपना समर्थन देने के बदले वे पहले से ही उनसे इस बात का वचन लेने का प्रयास करते हैं कि व्यवस्थापिका में पहुँच कर वे अपने समर्थको के हितो का सरक्षण करगे।

दबाव समूह केवल सरकार पर अनुकूल प्रभाव डालने का ही कार्य नहीं करते बल्कि अपने क्षेत्र मे सम्बन्धित और भी विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ 'निर्माता राष्ट्रीय सघ' (A Manufacturers' National Association) जसे सगठन सरकार पर अपने हितो के सरक्षण के लिए दबाव डालने के अलावा अपने व्यवसाय की समृद्धि के लिए तथा व्यापारिक स्तर उन्नत बनाने के लिए भी कार्य करते हैं। वह उद्योग को लोकप्रिय बनाने के लिए सार्वजनिक सम्पर्क बढाते हैं सम्मेलन और सभाओं का आयोजन करते हैं, अपने उद्देश्यो के लिए सूचना केन्द्र के रूप में सेवाएँ अर्पित करते हैं, बाजार की खोज का कार्य करते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करते हैं।

ब्रिटेन में दबाव समूह—ब्रिटेन मे नेशनल फारमर्स यूनियन (National Farmer's Union) दी फेबियन सोसायटी (The Fabian Society) नेशनल यूनियन आफ माइन वर्कर्स (National Union of Mine Workers), इलेक्ट्रिकल ट्रेड यूनियन (Electrical Trade Union) आदि दबाव समूहो के उदाहरण हैं। ब्रिटेन मे दबाव समूह सवैधानिक रूप से स्वीकार किए जाते हैं। वहाँ ये समूह अधिकांशत व्यवस्थापन समुदाय पर अपना दबाव डालकर क्रियाशील रहते हैं। इन व्यवस्थापन समुदायो मे दबाव समूहो के विचार प्रकट करने के अधिकार को स्वीकार किया जाता है और इसका प्रयोग सरकारी विभाग द्वारा भी होता है। अनेक दबाव समूह तो सरकारी विभागो को परामर्श तक देते हैं। ब्रिटेन मे दलीय अनुशासन सस्था सदस्यो के स्वविवेक पर अधिक कुछ नही छोडता, अत दबाव समूह ही नेतृत्व को प्रभावित करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। पर चूँकि नेतागण सरलता से दबाव समूहो के विशेष हितो के प्रति आकर्षित नही होते, अत दबाव

समूह या हित सगठन किसी एक बड़े दल से इस आशा मे खुला गठबन्धन कर लेते हैं कि दल के मच द्वारा वे अपने हितो की प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं। इस तरह ब्रिटिश उद्योग सघ (The Federation of British Industries) ने अनुदारवादी दल से गठबन्धन कर रखा है, तो ट्रेड यूनियन काँग्रेस श्रमिक दल से जुडी हुई है।

फ्रांस मे दबाव समूह—फ्रांस मे दबाव समूहो का दबाव उतना नही है जितना ब्रिटेन अमेरिका या भारत मे है। चूँकि शासन शक्ति व्यवस्थापिका के हाथो से कार्यपालिका के हाथों मे आ गई है अत फ्रास मे दबाव समूहो का प्रभाव घट गया है।

फ्रांस में विशाल व्यापारिक सस्थाएँ 'Confederation Nationale du Patronat Francais—C N P F मे सगठित हैं जिस पर बडी बडी फर्मों और संस्थाओं का प्रभुत्व है। छोटे व्यापारिक सस्थान 'Confederation General des Petiteset Mavenne Enterprises—P M E' मे सगठित हैं। फ्रांस के कृषक सात बडे हित-समूहो मे सगठित हैं जिनका नेतृत्व 'Federation National des Syndicates d' Exploitants Agricoles—F N S E A' के हाथो मे है। और भी अनेक प्रकार के हित-समूह हैं जैसे, परिवार सघ (Family Associations) क्लरिकल समूह (Clerical Groups), श्रमिक सघ आदि।

भारत मे दबाव समूह—भारत मे दबाव एव हित समूह अनेक प्रकार के है जिनकी कुछ मुख्य श्रेणियाँ हैं—(i), विशेष हित वाले सगठन जसे, ट्रेड यूनियनें, व्यापार समूह छात्र सगठन आदि। (ii) साम्प्रदायिक समूह एव धार्मिक सगठन, (iii) जाति तथा भाषा पर आधारित समूह, एव (iv) गाधीवादी विचारधारा पर आधारित समूह एव सगठन। भारत मे भी ये दबाव समूह व्यवस्थापन समितियो को प्रभावित करते हैं। हम प्राय सत्ताधारी दल पर बिरला बन्धुओ आदि को विशेष सुविधायें तथा लाइसेंस आदि देने के आरोपो की बात सुनते है। यह सब दबाव समूहो के कारण ही सम्भव होता है। दबाव समूह मन्त्रिमण्डलो के निर्णय तक को बदल देने की क्षमता है। भारत के प्रमुख दबाव समूहो का सक्षिप्त उल्लेख उपयोगी होगा। भारत मे ट्रेड यूनियनो का प्रमुख राजनीतिक दलो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन यूनियनो का राजनीति पर काफी प्रभाव है विशेषकर उन नगरों और क्षेत्रो मे जहाँ सगठित श्रमिको की सख्या काफी है, किन्तु एकता की कमी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता आदि के कारण अन्य देशो के मुकाबले इनका प्रभाव बहुत कम है। वास्तविकता यह है कि भारत की ट्रेड यूनियनें राजनीतिक दलो की सहायक सस्थाएँ बनकर रह गयी हैं। ये न तो दबाव समूह की भाँति ही कार्य करती हैं और न राजनीतिक दल हैं।

व्यावसायिक दबाव समूहो के रूप मे टाटा, बिड़ला, डालमिया आदि परिवारो ने देश के व्यापार और व्यवसाय को अपने हाथो मे केन्द्रित कर रखा है। ये परिवार चन्दा देकर राजनीतिक दलो को उपहार देकर, सार्वजनिक कोषों मे दान देकर, औद्योगिक तथा शिक्षण सस्थाओ मे उचित वेतन वाले पद देकर, अपने समर्थक

प्रत्याशियो को निर्वाचन मे विजयी बना कर सावजनिक नीति को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करन की क्षमता रखत हैं। व्यापारिक जातिया भी हैं जो सावजनिक नीति को प्रभावित करती हैं, जसे मारवाडी जन, पारसी, दक्षिण भारत मे चेट्टियार आदि। इसके अतिरिक्त अनेक व्यापारिक सगठन हैं जिनमे कुछ तो कार्यों के आधार पर सगठित हैं जैसे एम्पलायस फडरेशन ऑफ इण्डिया (Employer's Federation of India), बीमा बिल ओनस एसोसियेशन (Insurance Bill Owners Association) आदि, एव कुछ धम अथवा जाति के आधार पर सगठित हैं, जसे मुस्लिम एव मारवाडी चेम्बर ऑफ कामस आदि। ये सगठन व्यापारिक दृष्टिकोण में एकरूपता लाने और व्यापार के स्तर की वृद्धि करने मे कायरत रहते हैं। इन सभी व्यापारिक सगठनो के शीप पर 'फडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कामस एण्ड इडस्ट्री' (Federation of Indian Chamber of Commerce & Industry) है। इन व्यापारिक दबाव समूहो का सावजनिक नीति पर काफी दबाव रहता है। सभी सभाओ मे निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओ पर इन्ही का नियन्त्रण है, अत व्यापारिक दृष्टिकोण के प्रचार और प्रसार मे कोई बाधा नहीं होती।

अन्य देशो के समान ही भारत मे भी शिक्षित वग के लोगो ने अपने अपने दबाव समूहो अथवा हित-सगठनो का निर्माण किया है। इसमे अखिल भारतीय मेडिकल कौंसिल (All Indian Medical Council), अखिल भारतीय रेल्वे मेनस एसोसियेशन (All India Railway Men's Association), अखिल भारतीय पोस्ट एण्ड टेलीग्राफस यूनियन (All India Postal & Telegraphs Union) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बार एसोसियेशन, शिक्षक सघ तथा मेडिकल कौंसिल के सदस्य विधि निर्माण प्रक्रिया को अपने हितो के अनुकूल प्रभावित करने को सचेष्ट रहते हैं।

कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत म कृषि सगठन क्षीण और शिथिल है। ये सावजनिक नीति पर अधिक दबाव डालन म अक्षम रहे हैं। आल इण्डिया किसान सभा कम्यूनिस्टो के हाथ में है तो हिन्द किसान पचायत सोसलिस्टो से सम्बन्धित है। छात्र सगठन राजनीतिक रूप से अधिक सचेत हैं। अखिल भारतीय छात्र सघ, युवा कांग्रेस आदि छात्रो के अनेक दबाव समूह सक्रिय हैं। महिलाओ के दबाव समूहो के रूप मे अखिल भारतीय स्त्री सम्मेलन की शाखाएँ देश भर मे फली हुई हैं। सांस्कृतिक दबाव समूहों के रूप में विगत वर्षों मे भारत चीन मैत्री समाज, भारत रूस सांस्कृतिक सघ, अखिल भारतीय शान्ति परिषद् आदि सांस्कृतिक संगठन विशेष रूप स सक्रिय रहे हैं। राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ भी एक प्रभावशाली दबाव समूह है जो भूतपूव जनसघ दल का सहयोगी है। जातीय एव धार्मिक दबाव समूहों में उल्लेखनीय हैं—भारतीय ईसाइयों के अखिल भारतीय सम्मेलन, आग्ल भारतीय एसोसियेशन, सनातन धम रक्षिणी सभा आय प्रतिनिधि सभा मारवाडी एसोसियशन, हरिजन सेवक सघ, जाट सभा, वैश्य महासभा, बगाली समाज आदि। ये सभी दबाव एव हित-समूह अपनी

जाति और सदस्यों के हितों की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तथा देश की राजनीति और चुनाव अभियानों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। गाँधीवादी संगठन देश में काफी प्रतिष्ठित है। सर्वोदय समाज, सर्व सेवा संघ हिन्दुस्तानी प्रचार सभा तालीमी संघ भू-दान आन्दोलन आदि गाँधीवादी संगठन हैं। ये दबाव समूह नशाबन्दी, बुनियादी शिक्षा, सामाजिक नीतियों आदि के सम्बन्ध में सरकार पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं। गाँधीवादी संगठन औपचारिक रूप में सारे दबाव समूहों की तरह राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करने का कार्य नहीं करते। इनका प्रयत्न यह रहता है कि समाज में आवश्यक नैतिक जागरण पैदा कर वांछित परिवर्तन लाया जाए। वैसे केन्द्रीय तथा राज्य सरकार से घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा ये सरकारी नीतियों पर गहरा प्रभाव डालने में सक्षम हैं।

रूस में दबाव समूह- अधिनायकवादी एवं एक दलीय व्यवस्थाओं में दबाव समूहों को पनपने नहीं दिया जाता। सोवियत रूस में जो ट्रेड यूनियनें तथा व्यावसायिक एवं मनोरंजन समूह हैं वे किसी भी रूप में वैयक्तिक दबाव समूहों की भांति कार्य नहीं कर सकते। उनका सदैव यही प्रयत्न रहता है कि वे भी साम्यवादी दल की नीतियों के प्रसार और शासन के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हों। सोवियत रूस में सभी संगठनों अथवा समूहों की सम्पूर्ण गतिविधियाँ साम्यवादी दल द्वारा नियन्त्रित होती हैं। शासन व्यवस्था में विभिन्न कार्यक्रमों के सम्बन्ध में दबाव शासन के विभिन्न विभागों का ही पड़ता है। प्रत्येक विभाग शासन की उच्च मशीनरी और कार्यों का अधिकाधिक संरक्षण देने की कोशिश करता है ताकि विभागीय उद्देश्यों और कार्यों को अधिकाधिक उत्तम ढंग से पूरा किया जा सके।

जनमत
(Public Opinion)

प्रजातन्त्र के विकास के साथ आज जनमत का महत्त्व बहुत बढ़ चुका है। जनमत प्रजातन्त्र का आधार है और जनतन्त्रात्मक शासन वही है जिसमें जनता की इच्छा प्रभावी होती है और जो जनमत के अनुकूल होता है। सजग जनमत प्रजातन्त्र की आत्मा है।

जनमत का अर्थ

जनमत एक जटिल विषय है। जिन दो शब्दों से इसका निर्माण होता है—'जन' (Public) और मत (Opinion)—उनके अपने अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि जनमत तथ्यों का लेखा है, जो सही बातें हैं उनका अविकल वर्णन है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि तथ्यों के मूल्यांकन के आधार पर बना हुआ विश्वास जनमत कहा जाना चाहिए। कुछ यह भी कहते हैं कि जिस बात को लोग चाहते हैं वही जनमत है। ये सब मत अर्द्ध सत्य हैं और वास्तव में सही जनमत केवल तथ्यों का कथन अथवा उनके आधार पर बना हुआ विश्वास मात्र न होकर, वह उनसे कहीं अधिक है।

कुछ लोग जनमत को बहुमत के साथ और कुछ सर्वसम्मति के साथ जोड़ने की कोशिश करते हैं लेकिन यह धारणा भी पूर्णत सत्य ही है। यहा यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिए दो बातो की परम आवश्यकता है—प्रथम विचाराधीन समस्या के सम्बन्ध मे विशद् एव यथार्थ ज्ञान और दूसरे, समन्वित विचार के आधार पर निर्मित युक्तिपूर्ण निर्णय। अधिकतर लोगो का मत अपर्याप्त तथ्यो के आधार पर शीघ्रता में किया हुआ निर्णय होता है। उसे सही अर्थों मे 'मत' नही कह सकते। इस प्रकार जो साधारणतया जनमत समझ लिया जाता है वह वास्तव मे 'मत' ही नही होता।

लोकमत पर विचार करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने यह सत्य ही कहा है कि—"साधारणतया 'जनमत से आशय उन सब बातो के समुच्चय से होता है जिनमे समाज की रुचि होती है या जो समाज पर प्रभाव डालती है अथवा जो उन प्रभावित व्यक्तियो के विचार कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जनमत नाना प्रकार के असगत विचारो, विश्वासो, पूर्वाग्रहो एव आकाक्षाओ का एक झमेला सा होता है। वह भ्रान्त असम्बद्ध एव आकारहीन कहा जा सकता है जो दिन प्रतिदिन सप्ताह प्रति सप्ताह बदलता रहता है।"

एक अन्य स्थल पर ब्राइस ने जनमत को परिभाषित करते हुए कहा है—

"सामाजिक हित सम्बन्धी विषयो पर लोगो के कुछ विचार होते हैं। आरम्भ मे वे असगठित और अस्पष्ट होते हैं। विषय का भली भाँति ज्ञान न होने के कारण जनता के विचारो मे अस्थिरता भी रहती है। ज्यो ज्यो विषय पर प्रकाश पडता है, विचारो मे परिवर्तन होता रहता है। कुछ समय के पश्चात् कुछ समस्याऐं सबको अपनी ओर झुका लेती हैं। उनके सम्बन्ध मे पहले अस्थिर और अस्पष्ट विचार आगे चलकर निश्चित रूप धारण कर लेते हैं। जनता के विचारो के इस निश्चित रूप को, यदि यह बहुमत द्वारा निर्धारित किया गया हो लोकमत कहते हैं।"

आग एव रे (Ogg and Ray) के अनुसार—"यह प्राय एक अदृश्य अमूर्त और अस्पष्ट सी वस्तु है, किन्तु इस फिर भी वास्तविक कहा जा सकता है चूँकि वह दैनिक सम्पर्क और अनुभवो से ऊपर जन साधारण के सामूहिक दृष्टिकोण और मिश्रित विचारो से उत्पन्न होता है।" लावेल ने जनमत को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"जनमत निर्माण के लिए बहुमत काफी नहीं है और सर्वसम्मति की भी आवश्यकता नहीं है लेकिन राय ऐसी होनी चाहिए जिससे अल्पसंख्यक वर्ग (Minority) चाहे सहमत न हो तथापि वे भय के कारण नहीं, बल्कि इसको देने के लिए हितकर दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार कर लें और यदि लोकतन्त्र पूर्ण हो तो इस प्रकार की अल्पसंख्यकों की अनुमति अवश्य मिल जाती है।" लावेल की मान्यता है कि जनमत विवेक तथा निःस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित वह विचार है जिसका लक्ष्य जाति या वर्ग विशेष का हित न होकर सम्पूर्ण समाज का हित होता है।

जनमत के आवश्यक तत्त्व

जनमत के अथ के बारे मे विद्वानो में मतक्य नही है किन्तु फिर भी इनमे कुछ निश्चित तत्त्व (Elements) दृष्टिगोचर होते हैं। राजनीति शास्त्र की दृष्टि से ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) वास्तविक जनमत वह है जो किसी वग अथवा कुछ व्यक्तियो का मत न होकर जहाँ तक सम्भव हो सके जन साधारण का मत हो। यह वाँछनीय है किन्तु अनिवाय नही।

(2) सच्चा जनमत केवल वही है जो सावजनिक हित की भावना से उत्प्रेरित हो और जिसकी अभिव्यक्ति समस्त समाज के हित एव कल्याण का ध्यान म रखकर होती है। जनमत का यह तत्त्व वतमान मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

(3) स्वस्थ जनमत विवेकशील, नि स्वाथ और स्थायी होता है।

(4) जनमत की श्रेष्ठता के लिए आवश्यक है कि वह नतिकता और न्याय के आदर्शों पर आधारित हो। नतिकता एव न्याय की भावना से तात्पय यह है कि उसके मूल मे कुछ एसे उच्च एव मानवीय आदश हो जिनके द्वारा जन कल्याण का उद्देश्य अपने आप ही पूरा हो सके।

(५) यद्यपि जनमत प्राय बहुमत की अभिव्यक्ति होती है, तथापि उसम अल्पसख्यको के हितो की रक्षा भी एक उतना ही महत्त्वपूण तत्त्व है जितना कि बहुमत के हितो का सरक्षण। अल्पसख्यक अनेक प्रकार के हो सकते हैं—धार्मिक, साँस्कृतिक, जातीय, भाषायी आदि। एक श्रष्ठ जनमत अल्पमत को यदि अपने साथ न ले सके तो भी उसे अल्पसख्यको को इतना विश्वास दिलाने मे अवश्य सक्षम होना चाहिए कि निकट भविष्य मे उनके हित बहुमत के हित के साथ समाविष्ट हो जाएँगे।

इस तरह जनमत सावजनिक हित की भावना पर आधारित वह विवेकशाल और नैतिक मत होता है जो अल्पसख्यको के हितो को भी ध्यान मे रखकर किसी समाज मे राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने के लिए बनता या बनाया जाता है।

प्रजातन्त्र मे जनमत का महत्त्व

प्रजातन्त्र का अथ जनता का शासन है। अत प्रजातन्त्र मे जनमत का विशेष महत्त्व है। "प्रबुद्ध व सजग लोकमत लोकतन्त्र का प्रथम अनिवाय तत्त्व है।" लोकमत प्रशासन मे कुशल प्रहरी का काम करता है। लोकमत द्वारा ही सरकारें बनती और बिगडती हैं। सभी राजनीतिक दल लोकमत को अपने पक्ष मे करने के लिए जीवन की बाजी लगा देते है। लोकमत म थोडा सा भी परिवतन किसी भी दल के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बन सकता है क्योकि प्रजातन्त्र राज्य जनता की राय पर निभर करता है और चुनाव मे कोई भी दल, लोकमत के थोडे से परिवतन से भी जीत या हार सकता है।

प्रजातन्त्र राज्य जनहित के दृष्टिकोण पर चलता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह ठीक दिशा मे चले और वह इस प्रकार चलता है जनमत की आलोचना के सहारे। जनमत ही सरकार के दोषो को प्रकाश में लाता है और उन्हें दूर करने की माँग करता है। जनमत सरकार के कार्यों का इस उद्देश्य से निरीक्षण करता है जिससे वह नागरिको के अधिकाधिक हित के लिए काय कर सके। प्रजातन्त्र सरकार मनमानी नही कर सकती। उसकी सफलता या असफलता की कसौटी जनमत ही है। जनमत ही उसे सदव सचेत रखता है और बहुत अश तक सरकार के कार्यों का पथ प्रदशन करता है। स्वस्थ जनमत शासन को उन स्वार्थी तथा पद लोलुप व्यक्तियो के हाथो मे जाने से रोकता है जो शासन यन्त्र का लाभ अपनी स्वाथ सिद्धि के लिए उठाना चाहते है। इस प्रकार वह नागरिको के अधिकारो एव स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन के विभिन्न सगठनो के कार्यों और व्यवहारो को नियन्त्रित करने म भी जनमत बहुत योग देता है। जनमत ही वह शक्ति है जो सावजनिक हितो की विरोधी शक्तियो को दबाता है। जनमत ही सरकार का निर्माता होता है, अत सरकार कसी है यह भी जनमत की अच्छाई और बुराई पर निभर है। प्रसिद्ध विद्वान् डाइसी (Dicey) का कथन है कि—"राजनीतिक सावभौमिकता जनमत म निहित होती है और यह कानूनी सावभौमिकता से ऊपर है'। सक्षेप मे जनमत ही वह धुरी है जिस पर प्रजातन्त्र शासन घूमता है।

जनमत का निर्माण

जनमत का निर्माण स्वत नही होता वह किया जाता है और उसके निर्माण तथा अभिव्यक्ति के कुछ साधन हैं। लॉड ब्राइस के अनुसार जनमत के निर्माण में ये तीन वग हैं—शासक आलोचक और जनसाधारण। प्रथम वग जनमत का श्रीगणेश करता है वह कोई समस्या उठाता है उस पर सूचना एकत्रित करता है। समाज के सम्मुख उस समस्या पर विचार करता है और उसकी खुली आलोचना करता है। वह उस समस्या की परीक्षा करता है और परीक्षा के आधार पर सशोधन प्रस्तुत करता है। दूसरे वग के लोग इस वग की राय पर विचार करते हैं। अपने पूव मत मे आवश्यक परिवतन एव सशोधन करते हैं और उसे जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं। तीसरे वग के बहुसख्यक लोग इस सशोधित मत को अपना मत मान लेते हैं और उसे अपना बल और समथन प्रदान कर उसका विस्तार करते हैं। "कोई मत उस समय तक जनमत नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसका विस्तार नहीं हो जाता, उसमें शक्ति नही आती और जनता का अधिकांश भाग उसे कार्यान्वित करने की माँग नहीं करता।" इस तीसरे वर्ग से जनमत की यह आवश्यकता पूर्ण होती है।

जनमत के निर्माण के अनेक साधन हैं जिनमे से कुछ प्रमुख साधन इस प्रकार हैं—

(1) राजनीतिक दल—राजनीतिक दल जनमत निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन है। वे जनता को संगठित करते हैं तथा अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए सभी साधनों का उपयोग करते हैं जिससे उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त हो सके। वे सामाजिक एवं राजनीतिक वास्तविकताओं का अनुभव कराते हैं। वे महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर जनसाधारण की इच्छा को केन्द्रीभूत करने का प्रयास करते हैं जिससे जनमत में निखार आता है।

(2) समाचार पत्र जनमत के निर्माण में समाचार-पत्रों का विशेष महत्त्व है। जनता का एक बहुत बड़ा भाग समाचार पत्रों के आधार पर ही प्राय अपनी राय कायम करता है। समाचार पत्र अपने समाचारों एवं सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से तथ्यों को प्रकाश में लाते हैं व्याख्या प्रस्तुत करते हैं एवं अपने विचारों का विवरण जनता के सामने रखते हैं। अगर तथ्यों को सही एवं निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाय तो सामयिक समस्याओं से नागरिकों को अवगत कराने में समाचार पत्र बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं।

समाचार पत्र वर्तमान समस्याओं से सम्बन्धित समाचार ही प्रस्तुत नहीं करते वे समाचारों को एक विशेष ढंग से अथवा उन्हें तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करके पाठकों के विचारों को भी प्रभावित करते हैं। अग्रलेखों और टिप्पणियों द्वारा सम्पादक अपना जो मत प्रकट करते हैं उनका भी पाठकों की राय पर भारी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न समस्याओं पर किसी व्यक्ति के राजनीतिक विचार कैसे हैं यह उन समाचार-पत्रों के पढ़ने से प्रकट हो सकता है। इसी कारण उन शक्तियों का जो समाचार-पत्रों पर नियन्त्रण रखते हैं, सार्वजनिक मामलों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। वास्तव में प्रजातन्त्र की प्रामाणिक कसौटी समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता ही है।

(3) साहित्य जनमत के निर्माण में साहित्य का भी हाथ होता है। इसके माध्यम से लेखकों और विद्वानों के विचार जन साधारण तक पहुँचाते हैं। इन विचारों का नागरिकों की चिन्तन प्रणाली पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वे साहित्य के द्वारा विभिन्न समस्याओं पर सुलझे हुए विचार ग्रहण कर पाते हैं। इस प्रकार साहित्यिक ग्रन्थों के अनुशीलन से नागरिकों का चिन्तन परिष्कृत होता है जो अन्तत जनमत को प्रभावित करता है।

(4) रेडियो और सिनेमा—रेडियो और सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ सार्वजनिक प्रश्नों पर जनमानस के विचार प्रवाह का मन्थन भी करते हैं। लोगों के विचारों और चरित्र पर इनका महत्त्वपूर्ण और भारी प्रभाव पड़ता है। रेडियो समाचार पत्रों का पूरक है और उसके द्वारा लाखों नागरिकों तक दैनिक घटनाओं की सूचना और नेताओं के विचार पहुँचाये जा सकते हैं। कुछ देशों में, विशेषकर सर्वसत्तावादी राज्यों में सरकार बोलते हुए चल चित्रों का प्रयोग अपनी रुचि व विचारों का प्रचार करने के लिए करती है। वास्तव में रेडियो द्वारा एक ही समय

मे करोडो व्यक्ति वक्ता के विचारो से लाभ उठा सकते हैं जिनके द्वारा उनके विचार, सिद्धान्त और मत बदलते रहते हैं।

(5) नागरिक सघ – राजनीतिक पार्टियो के अतिरिक्त सभी राज्यो में और भी ऐसे बहुत से सघ होते हैं जो जनमत को प्रभावित करने के लिए तथा कुछ खास प्रकार की सरकारी नीतियो को अपनाने के लिए शिक्षा सम्बन्धी या प्रचार सम्बन्धी आन्दोलन चलाते हैं। उदाहरण के लिए कितने ही प्रस्तावो के पक्ष या विपक्ष में जनमत को प्रभावित करने मे अमेरिका के अमेरिकी श्रमिक सघ औद्योगिक सस्थाओ की कांग्रेस राजनीतिक कार्य समिति, वस्तु निर्माता राष्ट्रीय सघ, राष्ट्रीय शिक्षा सघ तथा दी ग्रैन्ज आदि का बहुत ही सक्रिय हाथ रहा है। निश्चय ही विविध सघ जनमत की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं।

(6) शिक्षा – स्वस्थ जनमत का निर्माण बिना शिक्षा के सम्भव नही हो सकता। शिक्षा का बीज राजनीति के क्षेत्र मे एक फसल पैदा करता है चाहे धान धीरे धीरे ही क्यो न पके। शिक्षा मनुष्य के मस्तिष्क को विकसित कर उसमे सोचने की शक्ति पैदा करती है। शिक्षित नागरिक ही हर एक समस्या पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की शक्ति रखता है और अपने अधिकारो के सदुपयोग द्वारा प्रजातन्त्र को सफल बना सकता है।

(7) सार्वजनिक सभाएँ—सार्वजनिक सभाएँ साधारण अशिक्षित जनता को प्रभावित करती हैं। ग्रामीणो के लिए तो लगभग जनमत निर्माण का यह एक मात्र साधन कहा जा सकता है, क्योंकि हजारो लाखो की सख्या मे एकत्र होने वाले ग्रामीणों के लिए ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। अत उन पर सभाओ का व्यापक प्रभाव पडता है। सभाओ का शिक्षित वर्ग के लिए भी समान महत्व है। देश के प्रतिष्ठित नेताओ के भाषणो का उनके विचारो पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। इन सभाओ मे सार्वजनिक कष्टो तथा शासन की आलोचना करने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार जनमत के शिक्षण तथा निर्माण में सार्वजनिक सभाएँ बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती हैं।

(8) व्यवस्थापिका सभाएँ—विधान मण्डलो में राजनीतिक एव अन्य सभी विषयो पर विचार विनिमय होता है। वहाँ वाद विवाद होते हैं और उनका सक्षिप्त वर्णन समाचार-पत्रो में प्रकाशित होता है जिसे पढ कर जनता राजनीतिक सामाजिक एव आर्थिक जीवन की समस्याओ से परिचित होती है। इस प्रकार जनता को यह अवसर मिलता है कि वह विभिन्न समस्याओ और उनके समाधानो के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर सके। जनता के विभिन्न भागो के प्रतिनिधि पुन विविध समस्याओ पर जनता के मतो की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका सभाओ द्वारा लोकमत का निर्माण भी होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी।

(9) चुनाव—चुनाव भी जनमत के निर्माण का एक उत्तम साधन है। चुनावो द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलो को जनता के सामने अपने अपने उद्देश्य और कार्य क्रम रखने का अवसर मिलता है। सरकार के समर्थक, सरकार के गुणो का

उल्लेख करते हैं और विरोधी उसकी त्रुटियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार जनता को दोनों पक्षों को देखकर अपना निष्पक्ष मत स्थिर करने का अवसर मिलता है।

(10) धार्मिक सगठन—धर्म ने सदा ही मानव-मस्तिष्क पर गहन प्रभाव डाला है। धर्म का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र, विचार एव कार्य पर पडता है और ये तीनों ही बातें व्यक्ति के मत निरूपण में सहयोगी होती हैं। पाकिस्तान का निर्माण मुख्यतया धार्मिक प्रचार द्वारा ही हुआ है। परन्तु सही जनमत के निर्माण के लिए आवश्यक है कि धार्मिक सगठन समस्याओं पर सकुचित और धार्मिक दृष्टिकोण से विचार न करें।

(11) अफवाहे—प्रचार साधनो मे अफवाहो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक बार जिम्मेदार व्यक्ति भी सचाई का पता लगाने के लिए जान-बूझ कर अफवाहे फैलाते है। कितनी ही बार अफवाहों का प्रयोग जनता को आतंकित करने के लिए भी किया जाता है तथा झूठी अफवाहो द्वारा विरोधियों को परास्त करने मे सहायता ली जाती है। सरकार को चाहिए कि अफवाहों के गलत प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए आवश्यक कार्यवाही करे।

आदर्श जनमत के निर्माण के मार्ग मे बाधाएँ

(1) वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता—वर्गीयता एव साम्प्रदायिकता की भावना जनता के लिए सदा अहितकारी होती है क्योंकि सब लोग अपने अपने वर्ग एव सम्प्रदाय के हित चिन्तन में सलग्न रहते हैं और सार्वजनिक हित का कोई ध्यान नहीं रखते। उनके अन्दर स्वार्थ भावना सकीर्णता एव असहिष्णुता आदि बुराइयाँ घर कर लेती हैं जो आदर्श लोकमत निर्माण की शत्रु हैं।

(2) अज्ञानता तथा निरक्षरता—अज्ञान एव अशिक्षा के कारण जनता की मनोवृत्ति सकुचित तो होती ही है साथ ही उसमे सही विचारशक्ति एव निर्णायक शक्ति का अभाव भी रहता है। सब अधिकांश लोग बिना सोचे समझे अन्धविश्वास से कार्य करते हैं और उन्हे बहकाना बहुत आसान होता है। अशिक्षित नागरिकों को अपने कर्तव्यों तथा अधिकारो का कोई ज्ञान नहीं होता। वे जब खुद की समस्याओं पर ही विचार नही कर सकते तो उनसे सार्वजनिक हित की समस्याओं पर विचार की क्या आशा की जा सकती है? वे अपने 'मताधिकार' का समुचित प्रयोग नही कर सकते।

(3) दलबन्दी—देश के राजनीतिक दलो का आर्थिक व राजनीतिक सिद्धान्तो के स्थान पर साम्प्रदायिक जातीय, धार्मिक व व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर सही निर्माण भी लोकमत के बनाने में एक बडी बाधा है।

(4) अवकाश का अभाव—स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे अवकाश का अभाव भी बुरा प्रभाव डालता है। जहाँ व्यक्तियों को सदा अपनी आर्थिक कठिनाइयों को हल करने मे ही व्यस्त रहना पडता हो अथवा जहाँ योग्य व्यक्ति स्वय के कार्यों में ही इतने व्यस्त रहते हों कि उन्हें सार्वजनिक कार्यों पर विचार के लिए समय

ही न मिले, वहा जनमत आदश कैसे हो सकता है ? ऐसी स्थिति मे उडती खबरो के आधार पर लोग अपना मत स्थिर कर लेते हैं।

(5) **साहित्य की सकीणता**— अच्छे लोकमत निर्माण के साहित्य की सकीणता भी बहुत बाधक सिद्ध होती है। राजनीतिक साहित्य एव शिक्षा सम्बन्धी पुस्तको द्वारा यदि रूढिवादी व सकुचित विचारो का प्रचार हो तथा ऊँच साहित्य का अभाव हो तो उसका समाज पर बुरा प्रभाव पडे बिना नही रह सकता है और लोकमत दूषित हो जाता है।

(6) **दरिद्रता**—दरिद्र सदा धनिको के प्रभाव म रहते हैं और उ ही के सकेतो पर काय करते हैं अत दरिद्रता स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे बहुत बाधक सिद्ध होती है।

(7) **समाचार-पत्रों द्वारा झूठा, शरारतपूण और भ्रमोत्पादक प्रचार** भी श्रेष्ठ लोकमत के निर्माण पर बुरा प्रभाव डालता है। इससे जनता को सही बात जानने का अवसर नही मिल पाता और उसके गुमर ह होने का भय रहता है।

स्वस्थ जनमत के लिए आवश्यक शर्ते

सही एव प्रभावोत्पादक जनमत कुछ सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो पर निभर करता है। इनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

(1) नागरिको को चतुर तथा सावजनिक कार्यों मे बराबर सचेत रहना चाहिए।

(2) जनमत प्रसार एव प्रभावित करने वाले साधनो का विस्तृत एव सही उपयोग होना चाहिए तथा उनका व्यवहार जनता को धोखा देने के लिए किसी स्वार्थी समुदाय की स्वाथ सिद्धि के लिए नही किया जाना चाहिए।

(3) विचार विनिमय एव मत-स्वातन्त्र्य की विद्यमानता।

(4) अल्पसख्यक समुदायो को अपने विरोधी विचार रखने तथा शान्तिपूण उपायो से व्यक्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(5) सभी प्रकार के विचारो की अभिव्यक्ति तथा श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(6) लोगो को बुद्धिमान होना चाहिए जिससे उनका नतिक चरित्र सुरक्षित रह सके।

(7) नागरिकों में सावजनिक सेवा का भाव होना चाहिए।

(8) नागरिको की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक होनी चाहिए।

(9) समाचार-पत्र स्वतन्त्र एव निष्पक्ष होने चाहिए।

सोल्टो (Soltau) ने ठीक ही कहा है कि 'लोकमत की प्रबुद्धता की मात्रा जनता की शिक्षा एव बुद्धि के सामान्य स्तर पर निभर करती है और वह निर्माता समुदायो एव नेताओ की समझदारी तथा ईमानदारी की मात्रा के अनुपात म बदलती रहती है।'

इस प्रकार 'प्रजातन्त्रात्मक सरकार की सफलता सरकारी नीतियो एव कार्यवाहियो को नियन्त्रित करने के लिए सही, सुविकसित एव प्रभावोत्पादक जनमत की मात्रा पर निर्भर करती है।"

स्थानीय स्वशासन
(Local Self-Government)

स्थानीय स्वशासन प्रजातन्त्र की रीढ कहा जाता है। स्थानीय स्वायत्त सस्थाओ के अभाव मे प्रजातन्त्र का व्यावहारिक रूप नही दिया जा सकता। आज के नवोदित राष्ट्र भी शासन के विकेन्द्रीकरण द्वारा अर्थात् स्थानीय स्वशासन का विकास करके अपनी समस्याओ के समाधान का प्रयास कर रहे हैं।

स्थानीय शासन का अर्थ उन स्थानीय सस्थाओं की स्वायत्तता से है जो जनता द्वारा चुनी जाती है तथा जिन्हे राष्ट्रीय सरकार के नियन्त्रण मे रहते हुए भी स्थानीय शासन के अनेक मामलो में अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों का उपयोग वे किसी उच्चतर अधिकारी के नियन्त्रण के बिना अपने विवेक से कर सकती हैं। स्थानीय शासन को ऐसा शासन भी बतलाया गया है जो अपने सीमित क्षेत्र मे प्रदत्त (Delegated) अधिकारो का उपभोग करता है परन्तु स्थानीय शासन अपने क्षेत्र मे सम्प्रभु नही होता स्थानीय शासन की सस्थाएँ राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त अधिकारो का उपभोग करती हैं और राज्य विधानमण्डलो द्वारा पारित विधियो को लागू करती हैं। स्थानीय सस्थाओ के सदस्य स्थानीय जनता द्वारा चुन जाते हैं। शासन के स्थानीयकरण के साथ साथ शासकीय अधिकारो का विकेन्द्रीकरण किया जाता है।

गिलक्राइस्ट ने स्थानीय सस्थाओ की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "ये अधीनस्थ सस्थाएँ हैं, लेकिन एक सीमित क्षेत्र मे इन्हें कार्य की स्वतन्त्रता होती है।" डॉ० आशीर्वादम् का कहना है कि 'स्थानीय शासन केन्द्रीय सरकार (या सघ राज्य मे राज्य सरकार) के अधिनियम द्वारा निर्मित एक ऐसी शासकीय इकाई है जिसमें नगर या ग्राम जैसे एक क्षेत्र की जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं जो अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओ के भीतर प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग लोक कल्याण के लिए करते है।"

स्पष्ट है कि स्थानीय शासन का अर्थ शासकीय अधिकारो का विकेन्द्रीकरण है। स्थानीय आवश्यकताओं हितो और समस्याओ को सबसे अधिक वे लोग ही समझ सकते हैं जो वहाँ रहते हैं अत स्थानीय प्रशासन पर स्थानीय जनता का नियन्त्रण ही उपयुक्त है। स्थानीय जनता प्रतिनिधियों का चुनाव करती है और ये प्रतिनिधि स्थानीय शासन कार्य चलाते हैं। यदि स्थानीय क्षेत्र का प्रशासन केन्द्र या प्रान्तीय सरकार के अधिकारियो द्वारा चलाया जाए तो वह स्थानीय प्रशासन कहा जायेगा, स्थानीय स्वशासन नहीं। भारत मे स्थानीय स्वशासन से आशय उन नगर पालिकाओ, जिला-बोर्डों निगमो, ग्राम-पचायतो आदि से है जिनका कार्य स्थानीय आवश्यकताओ को पूरा करना होता है।

स्थानीय स्वशासन को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नामों से सबोधित किया है जैसे भारत मे स्थानीय स्वशासन (Local Self Government) इङ्गलैण्ड म स्थानीय सरकारें (Local Gc vernment), फ्रांस मे स्थानीय प्रशासन (Lc cal Administration) और अमेरिका मे म्युनिसिपल शासन (Municipal Administration)।

केन्द्रीय सरकार और स्थानीय स्वशासन का अ तर

केन्द्रीय सरकार एव स्थानीय स्वशासन मे आधारभूत अन्तर हैं। केन्द्रीय शासन से तात्पय यह है कि राज्य के शासन की समस्त शक्तियाँ एक केन्द्र अर्थात् राजधानी में केन्द्रीभूत होती हैं जहाँ से सम्पूर्ण देश का शासन सचालित होता है। इसके विपरीत स्थानीय स्वशासन से तात्पय उन निगमों, नगर-पालिकाओं जिला बोर्डों तथा ग्राम पचायतो से होता है, जो स्थानीय महत्त्व के कार्यों का सपादन करती हैं। स्थानीय स्वशासन का सम्ब ध समस्त सामाजिक जीवन से नही होता है। स्थानीय शासन का स्वरूप स्थानीय होता है राष्ट्रीय नही।

स्थानीय शासन का तात्पय केन्द्रीय शासन के स्थानीय राज्य कमचारियो मे नही होता और न ही उसका अभिप्राय प्रान्तीय शासन से होता है। प्रान्तीय शासन के काय दूसरे प्रकार के होते हैं। प्रत्येक प्रान्तीय शासन के अन्तगत स्थानीय शासन की सस्थाएँ पृथक रूप से सगठित की जाती हैं जो पूणतया उसके अधीन होती हैं। उनकी शक्ति एव कार्यों मे वृद्धि या कमी करना प्रान्तीय व्यवस्थापिका के हाथ मे होता है। स्थानीय सस्थाओं की स्थापना हेतु प्रान्तीय शासन विशेष कानून पारित करता है और उस कानून के अन्तगत स्थानीय संस्थाओं को अपने उपनियम बनाने तथा अपने स्थानीय विषयो पर नियन्त्रण रखने का सीमित अधिकार प्रदान किया जाता है। इसके विपरीत प्रान्तीय शासन की स्थापना सविधान द्वारा होती है जो उनकी शक्ति एव काय क्षेत्र को निश्चित करता है। उपयुक्त व्यवस्था सभी सघ शासनो पर लागू होती है। सिजविक (Sidgwick) के अनुसार एकात्मक राज्य मे स्थानीय शासन का तात्पय शासन के उन अगो से है जो पूणतया केन्द्रीय विधायिका के अधीन होते हुए भी नियुक्तियो मे केन्द्रीय कायपालिका से स्वतन्त्र होते हैं और अपने निणयो मे भी बहुत कुछ स्वतन्त्र होते हैं तथा सावजनिक कार्यों पर भी उनका कुछ स्वतन्त्र नियन्त्रण रहता है।'

स्थानीय शासन और राज्य या केन्द्रीय शासन का यह अन्तर क्षेत्रफल या जनसख्या पर आधारित नही है। उदाहरणाथ मोनाको राज्य का क्षेत्रफल आठ वगमील और जनसख्या लगभग तेइस हजार है जबकि कलकत्ता या बम्बई के निगमो का क्षेत्रफल व जनसख्या इससे कही अधिक है। लेकिन मोनाको एक स्वतन्त्र राज्य है एक केन्द्रीय शासन है जबकि कलकत्ता तथा बम्बई के निगम स्थानीय शासन की इकाई मात्र हैं।

स्थानीय शासन और राज्य या केन्द्रीय शासन में एक महत्त्वपूण अन्तर उनके द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर भी किया जाता है। प्रत्येक राज्य में

कुछ कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा अच्छी तरह किए जा सकते है क्योकि वे अधिक व्यय-साध्य होते हैं और सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित होते है, जैसे—बाह्य आक्रमणो से देश की रक्षा, वदेशिक सबध, का सचालन, सचार और परिवहन साधनो का नियन्त्रण आदि। इसके विपरीत कुछ काय स्थानीय होते हैं और उनका सम्बन्ध उसी क्षेत्र की जनता से होता है। यह काय पानी, बिजली और प्रकाश क प्रबन्ध, ट्राम और बस सेवाएं नगर की नालियो आदि की व्यवस्था आदि से सम्बन्धित होते हैं। इन स्थानीय कार्यों का प्रबन्ध स्थानीय सस्थाओ द्वारा होता है। प्रकट है कि जहा केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध राष्ट्रीय महत्त्व के मामलो और प्रान्तीय शासन का सम्बन्ध अधिकाशत सम्पूर्ण प्रान्त के मामलो से होता है वहाँ स्थानीय स्वशासन का सम्बन्ध केवल स्थानीय मामलो से होता है।

लीकॉक के अनुसार केन्द्रीय और स्थानीय शासन का भेद दो बातो पर निर्भर करता है—(1) दोनो की सांविधानिक स्थिति एक दूसरे से सवथा भिन्न होती है और (2) दोनो के द्वारा किये जाने वाले लोकहित कार्यों का स्वरूप भिन्न होता है। स्थानीय शासन का निर्माण एकात्मक-प्रणाली मे केन्द्रीय शासन द्वारा किया जाता है और सघात्मक शासन प्रणाली म प्रान्तीय या राज्य-सरकारो द्वारा। इस प्रकार स्थानीय सस्थाओ का सगठन केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन के कानूनो द्वारा नियन्त्रित होता है। यद्यपि स्थानीय सस्थाओ को अपने क्षेत्र म स्वायत्तता (Autonomy) प्राप्त होती है, तथापि केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन का उन पर नियन्त्रण होता है जो इनकी शक्तियो एव कार्यों को घटा बढ़ा सकता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि काय क्षेत्र की पृथक्ता होते हुए भी केन्द्रीय हित तथा स्थानीय हितो को पूणतया पृथक नहीं किया जा सकता। स्थानीय हित राष्ट्रीय हित का ही एक भाग होता ह। उनको पूणतया पृथक्करण वाछनीय है और न सम्भव ही। यदि किसी नगरपालिका के क्षेत्र मे महामारी फैल जाती है और उस पर नगरपालिका पूणतया नियन्त्रण करने मे असमथ रहती है तो प्रान्तीय या केन्द्रीय शासन उसकी तरफ स उदासीन नहीं रह सकता।

स्थानीय स्वशासन के काय

स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के कार्यों और केन्द्रीय प्रशासन क कार्यों म अतर करना अत्यन्त कठिन है फिर भी कानूनों द्वारा केन्द्रीय एव प्रान्तीय शासन तथा स्थानीय स्वशासन का विभाजन कर दिया जाता है और कानून के क्षेत्र मे स्थानीय सस्थाएँ भी पयाप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करती हैं। स्थानीय सस्थाओ के सामान्य काय निम्नलिखित हैं—

(1) नागरिक काय- स्थानीय स्वशासन द्वारा नागरिको की सुविधा के लिए किये जाने वाले काय मुख्यत ये हैं—

(क) स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध—इसके अन्तगत रोगो को फैलने से रोकने की व्यवस्था एव फैल जाने पर उनके उपचार की व्यवस्था करने का काय सम्मिलित होता है। एतदथ स्थानीय सस्थाएँ गन्दे पानी को बाहर निकालने, ग्राम या नगर

की सफाई करने, सक्रामक रोगो को रोकने औषधियो तथा औषधालयो का प्रबन्ध करने, गदे तालावो की सफाई करने या उनको तथा गड्ढो को भरवाने आदि की व्यवस्था करती हैं।

(ख) आवागमन के मार्गों की व्यवस्था—स्थानीय शासन का दूसरा काय है–आवागमन के मार्गों को सुन्दर एव बाधारहित रखना तथा यातायात की सुव्यवस्था करना। सडकें चौडी करना एव टूट फूट या गड्ढो से रहित करना, बसों, ट्रामो वा टक्सियो आदि का प्रबध करना एव नियमन करना भी स्थानीय शासन का महत्त्वपूण काय है।

(ग) प्रकाश का प्रबन्ध—बत्तियो अथवा यथासम्भव बिजली द्वारा आवागमन के सावजनिक मार्गो पर प्रकाश का प्रबन्ध करना भी स्थानीय शासन का प्रमुख एव आवश्यक काय है।

(2) *सामाजिक एव सास्कृतिक काय*—इसके अन्तगत स्थानीय शासन निम्न कार्यों का सम्पादन करता है—

(क) क्रीडा-स्थलो एव मनोरजन के साधनो की यथासम्भव व्यवस्था।

(ख) सावजनिक स्नानगृहो, घाटो शौचालयो, तरन के तालाबो, पानी के नलो, उद्याना आदि की व्यवस्था।

(ग) पुस्तकालयो वाचनालयो एव अन्य अध्ययन केन्द्रो की स्थापना।

(घ) प्रारम्भिक अनिवाय शिक्षा तथा यथासम्भव माध्यमिक एव औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध।

(ड) सग्रहालयो, अजायबघरो एव अन्य कला-गलरियो आदि की व्यवस्था।

(3) आर्थिक काय—इसके अन्तगत स्थानीय शासन द्वारा निम्न काय सम्पादित किये जाते हैं—

(क) खाद्य-पदार्थों, तरकारियो एव इसी प्रकार की अन्य वस्तुओ का मूल्य निर्धारण।

(ख) कृषि के तरीको मे सुधार, कुटीर उद्योग की उन्नति का प्रयत्न, खादो एव बीजो का वितरण पशुपालन, शुद्ध तथा पवित्र खाद्य पदार्थों के विक्रय का प्रबन्ध आदि।

(4) विकास काय—आमतौर पर स्थानीय जीवन में सुधार करना स्थानीय सस्थाओं का काय होता है। इसके अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त सस्थाएँ, स्कूल, अस्पताल, जलाशय आदि के निर्माण का काय करती हैं, आवागमन के मार्गों के निर्माण तथा विकास पर ध्यान देती हैं।

(5) सुरक्षा काय—जनसाधारण को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से स्थानीय शासन प्राय निम्न कार्यों का सम्पादन करता है—

(क) अग्नि-शामक-दल (फायर ब्रिगेड) रखना और अग्नि काण्डों से सुरक्षा के आवश्यक कदम उठाना।

(ख) हिंसक एव विषले जीव जन्तुओ को नष्ट करना या उनसे नागरिको के जीवन की रक्षा करना।

(ग) सडको एव गलियो मे प्रकाश का उचित प्रबन्ध करना।

(घ) कहीं-कहीं स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ नियमित पुलिस दल की व्यवस्था भी करती है।

(6) प्रशासकीय एव न्यायिक काय स्थानीय सस्थाएँ सामान्यत निम्न प्रशासकीय एव न्यायिक कार्य करती हैं—

(क) कर वसूली, स्थानीय उन्नति के लिए योजना निर्माण और उनको कार्यान्वित करना।

(ख) विभिन्न कायक्रमो का सयोजन एव सचालन।

(ग) अपनी कानूनी सीमा के अन्तगत आवश्यक नियमो का निर्माण और उनका पालन करवाना।

(घ) स्थानीय विवादो को शान्तिपूवक निपटाना। स्थानीय शासन के अधीन न्यायालय छोटे छोटे कानूनी अभियोगों का भी निणय करते हैं।

(7) विविध काय - स्थानीय शासन कुछ अन्य फुटकर काय भी करता है, जसे बाध बनाना, व्यापार एव उद्योग निगम खोलना, असहायो अनाथो एव अपाहिजो की सहायता करना, अकाल-बाढ आदि से पीडितो की रक्षा करना और उनके जीवनयापन का प्रबन्ध करना आदि।

स्थानीय स्वशासन के लाभ

(1) शासन-काय मे कुशलता स्थानीय शासन से काय-दक्षता बढती है। स्थानीय समस्याओ और आवश्यकताओ को स्थानीय शासन के क्षेत्र म रहने वाली जनता ही सबसे अच्छी तरह समझती है और वही यह जानती है कि उन स्थानीय समस्याओ को किस प्रकार हल किया जा सकता है और स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति किस प्रकार की जा सकती है। स्थानीय शासकीय सस्था में जनता की इसी रुचि के कारण शासकीय काय दक्षतापूवक किए जा सकते हैं। वास्तव में विकेन्द्रीकरण के अधिकांश लाभ हमे इन सस्थाओ द्वारा प्राप्त होते हैं।

(2) केन्द्रीय शासन के काय भार मे कमी - स्थानीय सस्थाओ को शासन भार सौंप देने से केन्द्र का भार हल्का हो जाता है तथा केन्द्र को राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यों को और अधिक कुशलता से सम्पन्न करने का अवसर मिल जाता है। स्थानीय शासन केन्द्रीय या राज्य सरकारों को बहुत से कार्यों या दायित्वों से मुक्त कर देता है।

(3) मितव्ययता—स्थानीय शासन से सरकारी व्यय में बहुत बचत होती है। प्रथम, जब कुछ लाभप्रद काय केवल एक क्षेत्र विशेष के लिए किए जाते हैं तो यह उचित ही है कि इन कार्यों का खच वह क्षेत्र ही उठाए। फलत केन्द्रीय .. इस व्यय स बच जाती है। द्वितीय, स्थानीय शासन अपना खर्च पूरा करन

कुछ कर लगाता है और स्थानीय कर दाता यह सहन नहीं कर सकता कि उसके धन का अपव्यय हो। तृतीय, स्थानीय संस्थाओं के अधिकतर सदस्यों को वेतन भी नहीं दिया जाता और इस प्रकार जिस धन की बचत होती है उसका उपयोग अन्य आवश्यक कार्यों में किया जा सकता है। यदि केन्द्र स्थानीय शासन कार्यों का सम्पादन करे तो उसे अनेक विभाग स्थापित करने होंगे और वेतन भोगी राज्य कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या रखनी होगी।

(4) समस्याओं का निराकरण—स्थानीय नागरिक ही दिन प्रतिदिन की स्थानीय समस्याओं और आवश्यकताओं को भली प्रकार समझ सकते हैं और उनका निराकरण भी केन्द्रीय या राज्य शासन की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकते हैं। स्थानीय नागरिकों के कष्ट और समस्याएँ व्यक्तिगत होती हैं जिससे उनमें अपनत्व की भावना हो जाती है और वे उन्हें पूर्ण करने में सहयोग की भावना से कार्य करते हैं। दूर बैठी केन्द्रीय सरकार स्थानीय हितों को भली प्रकार नहीं समझ सकती।

(5) प्रशिक्षण का माध्यम—स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करने का अवसर देकर यह प्रणाली जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के द्वारा जनता शासन कार्यों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करती है और उसमें यह सीखती है कि प्रजातन्त्रात्मक आधार पर शासन कैसे चलना है, सरकारी संस्थाएँ कैसे कार्य करती हैं और शासन-कार्य में कौन कौन सी कठिनाइयाँ आती हैं?

(6) जीवन का अनुभव—स्थानीय स्वशासन में नागरिकों को अनेक अनुभव प्राप्त होते हैं जो उसके उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायक होते हैं। स्थानीय स्वशासन द्वारा प्राप्त अनुभव लोकतन्त्रीय शासन को सफल बनाता है।

(7) जन-सहयोग—स्थानीय स्वशासन प्रणाली में जन सहयोग प्राप्त होना अधिक सुगम हो जाता है। स्थानीय स्वशासन व्यक्ति को अपने निकट जीवन के सम्पर्क में तथा पड़ोसियों की समस्याओं के प्रति रुचि लेने को प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त जनता शासन के कार्यों में सक्रिय भाग लेती है। जब जनता निचले स्तरों पर सहयोग करना प्रारम्भ कर देती है तब राज्य और केन्द्र के शासन में जनता का उच्चस्तरीय सहयोग सुगम हो जाता है।

(8) नागरिक गुणों का निर्माण—स्थानीय शासन से नागरिक गुणों का प्रशिक्षण होता है तथा अधिकारों और कर्त्तव्यों को ठीक प्रकार से समझा जाने लगता है। जनता यह अनुभव करने लगती है कि कर्त्तव्यों की पूर्ति में ही अधिकारों का अस्तित्व रह सकता है। यह शासन जनता में जन भावना और उदार दृष्टिकोण का निर्माण करता है और जनता को प्रबोधन देता है कि सार्वजनिक हित के समक्ष व्यक्तिगत हित गौण हैं। जनता भी यह समझने लगती है कि सब की भलाई में ही उसकी भलाई है।

(9) स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का गढ़—अन्त मे स्थानीय शासन स्वतन्त्रता एव स्वाधीनता का गढ है। यह जनता को केन्द्रीय शासन के अधिनायकवादी आधिपत्य से बचाता है। स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र के लाभो को सामान्य जन तक पहुँचाता है।

स्थानीय स्वशासन के दोष

(1) यदा-कदा स्थानीय सस्थाओ को कुछ ऐसे अधिकार और कर्त्तव्य सौंप दिए जाते हैं जो वास्तव में केन्द्रीय सरकार के पास रहने चाहिए। इससे जनता को कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

(2) स्थानीय क्षेत्र बहुत छोटे होते हैं अत कोई भी धनी या प्रभावशाली व्यक्ति अथवा वर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। ऐसे व्यक्ति या वर्ग के प्रभाव मे आकर स्थानीय शासन के अन्तर्गत अवैतनिक रूप मे कार्य करने वाले प्रतिनिधि वही काम करने को अग्रसर होते हैं जो वह व्यक्ति या वर्ग चाहते है। इससे स्थानीय शासन के उद्देश्यो को आघात पहुँचता है।

(3) स्थानीय सस्थाओ पर बहुत अनुदार स्वभाव के व्यक्ति अपना प्रभाव जमा लेते हैं। तब स्थानीय संस्थाएँ जनता के हित का कोई भी कार्य पूर्ण नही कर पाती और किसी भी गरीब समुदाय या वर्ग की उन्नति के लिए कुछ भी नही किया जा सकता।

(4) स्थानीय स्वशासन भी चुनाव से चलता है, अत उसमे भी दलबन्दी, बहुमत की निरकुशता, पक्षपात् आदि दोष घर कर जाते हैं।

स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

(1) स्थानीय स्वशासन के पदाधिकारियो का चरित्र ऊँचा होना चाहिए। उनमे ईमानदारी न्याय एव जन सेवा की भावना होनी चाहिए।

(2) स्थानीय स्वशासन सस्थाओ की सफलता के लिए सतर्क और जागरूक लोकमत का निर्माण किया जाना चाहिए। जनता को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह स्थानीय शासन की नीति और कार्यों की खुली आलोचना कर सके और उन्हे जनहित के लिए कार्य करने को बाध्य कर सके। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि यदि स्थानीय शासन जन हित पर पूर्ण ध्यान न दे तो जनता अपनी शिकायतो को उच्चतर अधिकारियो के पास सरलता से पहुँचा सके और वे अधिकारीगण उन पर तुरन्त कार्यवाही कर सकें।

(3) मतदाताओ को चाहिए कि स्थानीय शासन के सदस्यो का चुनाव करते समय वे उम्मीदवारो के गुणो और उनकी सार्वजनिक सेवाओ का ध्यान रखें। मतदाताओ को किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के प्रभाव मे आकर अपने मत का दुरुपयोग नही करना चाहिए। साम्प्रदायिक या समुदाय की भावनाओं के आधार पर भी उम्मीदवारो का चुनाव करना अवांछनीय है।

(4) राज्य को स्थानीय शासन के दिन प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए अन्यथा स्थानीय शासन

उदासीन हो जायगा और उसकी कार्यक्षमता पर भी विपरीत प्रभाव पडेगा। राज्य को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब स्थानीय शासन मे भ्रष्टाचार हो अथवा उसके सदस्य अपने अधिकारो का दुरुपयोग कर रहे हो। -

(5) स्थानीय शासन के उचित एव सही मार्गदर्शन हेतु उस पर केन्द्र अथवा राज्य के शासन का नियन्त्रण अवश्य होना चाहिए। किन्तु यह नियन्त्रण सीमित एव रचनात्मक होना चाहिए, अन्यथा स्थानीय शासन के उद्देश्य के विफल होने की आशका रहती है। नियन्त्रण की आवश्यकता इसलिए है कि केन्द्रीय एव स्थानीय विषयो को पूर्णतया पृथक् नही किया जा सकता। केन्द्रीय सरकार को समय-समय पर स्थानीय शासन को आवश्यक निर्देशन तथा परामर्श देना चाहिए ताकि वह अपने अल्प अनुभव के कारण मार्ग मे भटक न जाएँ।

स्थानीय शासन लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के आधार के रूप मे

लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के जिन नागरिकोचित गुणो की आवश्यकता होती है उन गुणो का विकास सर्वोत्तम रूप से स्थानीय शासन के अन्तर्गत ही हो सकता है। स्थानीय शासन किस प्रकार लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली को सफल बनाता है यह निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

(1) स्थानीय शासन स्वशासन की प्राथमिक पाठशाला का कार्य करता है। स्थानीय सस्थाएँ नागरिको को सार्वजनिक कार्य को सम्पन्न करने के लिए बडी सख्या में भाग लेने का अवसर प्रदान करती हैं और इस प्रकार नागरिको को प्रशासनिक ज्ञान की उपलब्धि होती है। स्थानीय शासन के अन्तर्गत नागरिक प्रत्यक्ष रूप से कार्य कर पाते हैं। स्थानीय शासन के कार्यों मे भाग लेकर जनता राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त करती है और शासन की रीति नीति को समझ सकती है। जनता की यह सजगता लोकतन्त्र की आधार शिला है।

(2) स्थानीय शासन राष्ट्रीय निर्वाचन के सफल सचालन की योग्यता उत्पन्न करता है। स्थानीय ससद् और कार्यकारिणी मे कार्य करने से नागरिको मे ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है कि वे राष्ट्रीय कार्यकारिणी और ससद् के सफल सदस्य बन सकें। स्थानीय शासन नागरिको मे त्याग सहानुभूति, सहयोग शासन कला एव सामाजिक अनुशासन आदि की भावना पैदा करता है और ये सब गुण लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। स्थानीय शासन नागरिको के दृष्टिकोण को विस्तृत बनाता है, स्वार्थ के स्थान पर बलिदान की शिक्षा प्रदान करता है और जनता में निष्पक्षता के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करता है। जब नागरिकों मे ये बातें घर कर जाती हैं तो राष्ट्रीय निर्वाचन निष्पक्षता और सफलता के साथ सम्पन्न हो पाते है।

(3) स्थानीय शासन से जनसहयोग मिलना अधिक आसान हो जाता है। जनता शासन के कार्यों में सक्रिय भाग लेने लगती है। जब जनता निम्न स्तर पर सहयोग करना प्रारम्भ कर देती है तब राज्य और केन्द्र के शासन में जनता का उच्चस्तरीय सहयोग सुगम हो जाता है।

(4) स्थानीय स्वशासन की सस्थाग्रो में व्यावहारिक भाग लेने से नागरिको मे स्वतन्त्रता के प्रति विशेष प्रेम पदा हो जाता है। स्थानीय क्षेत्र में स्वतन्त्रता का रसास्वादन करने के उपरा त नागरिक राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए तत्पर एव जागरुक रहत हैं ग्रौर यह जागरूकता प्रजातन्त्र को वास्तविक रूप प्रदान करती है।

(5) स्थानीय शासन विकेन्द्रीकरण के लाभ प्रदान करता है। यह केन्द्रीय शासन का कुछ भार अपने ऊपर ले लेता है ग्रौर इस प्रकार केन्द्रीय या राज्य सरकारो को बहुत स कार्यों या उत्तरदायित्वो से मुक्त कर दता है। इस तरह एक ग्रोर जहा स्थानीय महत्त्व के कार्यों का स्थानीय शासन अधिक योग्यता ग्रौर रुचि के साथ सम्पन्न करने मे सफल होता है वहा दूसरी ग्रोर भार हलका हो जाने से केन्द्रीय शासन भी राष्ट्रीय हित क कार्यों पर अधिक ध्यान द पाता है। इस विकेन्द्रीकरण का दूसरा लाभ व्यय में कमी होना है।

(6) स्थानीय शासन नौकरशाही की बुराइयो को रोकता है। यदि स्थानीय महत्त्व के काय भी केन्द्रीय शासन ही सम्पन्न करे तो राज्य कर्मचारियों की शक्ति मे वृद्धि होकर उनमे नौकरशाही क दोष ग्रा जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र की ग्राधारशिला स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थानीय शासन राष्ट्रीय शासन का ग्राधार है। यह लोकतन्त्र की सर्वोत्तम पाठशाला है ग्रौर उसकी सबसे ग्रच्छी गारण्टी है। स्थानीय शासन के बिना लोकतन्त्र जनता के लिए ग्रर्थहीन है। बर्क के शब्दो मे—'स्थानीय स्वराज्य उस शृ खला की पहली कडी है जो हमको राष्ट्र ग्रौर मानवता के प्रेम की ग्रोर अग्रसर करती है।

निर्वाचन मताधिकार के ग्राधार
(Election Qualifications for Votes)

ग्राधुनिक विशाल राज्यो में प्रत्यक्ष या शुद्ध जनतन्त्रवाद सम्भव नही है। ग्राज का युग ग्रप्रत्यक्ष ग्रथवा प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्रवाद का है। ग्राज मतदाता ग्रपने प्रतिनिधियो को चुनते हैं ये प्रतिनिधि विधान मण्डलो का निर्माण करते हैं, विधानमण्डल विधि निर्माण करते हैं ग्रौर इस प्रकार सरकार एव जनता के मध्य प्रतिनिधियो के माध्यम से सामञ्जस्य उत्पन्न होता है। सभी वर्तमान सौंविधानिक राज्यो का विशिष्ट लक्षण व्यापक मताधिकार है।

मताधिकार सम्बन्धी प्रमुख ग्राधार, जो समय समय पर प्रतिपादित किए गए हैं, इस प्रकार हैं—

सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता

प्रतिनिधि सरकार का जन्म सामन्तवाद के ग्रवशेष पर हुग्रा था, ग्रत समय तक मताधिकार का प्रमाण केवल सम्पत्ति के स्वामियों तक ही ... इगलण्ड के जान स्टूग्रट मिल का मत था कि जो व्यवस्थापिका कर

उसका केवल उन्ही के द्वारा चुनाव होना चाहिए जो लगाए गए करो की दशा मे कुछ देते हैं।

आज सम्पत्ति पर आधारित मताधिकार के सिद्धात को स्वीकार नही किया जाता। धनिको को मताधिकार देना और निर्धनो को उससे वचित रखना आज क युग मे अन्यायपूर्ण माना जाता है। अब सवत्र यह मान लिया गया है कि मनुष्य की योग्यता की कसौटी केवल सम्पत्ति नही और न ही यह आवश्यक है कि धनिक वग लोककल्याण की भावना से मतदान करता हो।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यता

आज यह मत भी अमा य है कि केवल शिक्षित व्यक्ति ही राजनीतिक समस्याओं को समझ सकते हैं अत उन्हीं को मताधिकार प्राप्त हाना चाहिए। सामान्य विवेक बुद्धि और समस्याओं को समझने तथा उनके हल के प्रति लगन की आवश्यकता को शिक्षा मे कम अथवा गौण स्थान नही दिया जा सकता। अनिवाय शिक्षा के लिए सवस धारण में बढती हुई इच्छा के कारण अधिकाश प्रगतिशील राज्य अपने निर्वाचन कानूनो मे शिक्षा सम्बन्धी योग्यता को रखना अनिवाय नहीं मानते। इसम स देह नही कि मताधिकार के विवकपूण प्रयोग के लिए शिक्षा का महत्व हो तथापि यह निश्चित करना कि शिक्षा का अमुक स्तर मतदाता के लिए उपयुक्त होगा, असम्भव है। फिर इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि राजनीतिक व्यवहार इच्छा और लगन पर अवलम्बित रहता है। सच तो यह है कि मतदाता अच्छी स्त्री और पुरुष को ही मत देते हैं। उनका मतदान शिक्षा के स्तर स सचालित नही होता।

शिक्षा की अनिवायता को मताधिकार की शत न मानने का विचार व्यापक होने के बावजूद अमेरिका के कुछ राज्यो मे शिक्षा सम्ब धी शत आज भी रखी जाती है खासकर नीग्रो लोगो को मताधिकार न देन के लिए।

धर्म सम्बन्धी योग्यता

किसी समय धम सम्बन्धी योग्यता को भी मताधिकार का एक आधार माना जाता था, अर्थात् मताधिकार केवल उन्ही लोगो को दिया जाता था जो राज्य *समर्थित धम के अनुयायी हो। उदाहरणाथ, इगलण्ड मे कुछ धम अथवा सम्प्रदाय के* लोगो को मताधिकार से वचित रखा जाता रहा है।

आधुनिक विश्व के लगभग सभी प्रगतिशील लोकतान्त्रिक देशो मे धम सम्बन्धी योग्यता की शत अमान्य ठहरा दी गई है। आज के अधिकाश राज्य धमनिरपेक्ष हैं।

नस्ल सम्बन्धी योग्यता

मतदाताओ की योग्यता का नस्ल सम्बन्धी आधार भी अब समाप्त हो रहा है। पहले किन्ही देशो मे नस्ल विशेष के व्यक्ति को मताधिकार नही दिया जाता था जसे दक्षिणी अफ्रीका के अनेक राज्यो मे अश्वेतो को। उन बेचारों का दोष यही था कि वे गोरे न होकर काली नस्ल के थे। आधुनिक युग मे जाति अथवा

रग भेद की मान्यता अन्तिम सासें ले रही है। कुछ धर्मान्ध लोगो और देशो के हृदय म चाहे नस्ल सम्बन्धी विचार नष्ट न हुए हो, किन्तु कानूनी रूप से इनका अन्त सवत्र ही सन्निकट है।

लिंग सम्बन्धी योग्यता (स्त्री मताधिकार)

अनेक राज्यो मे लिंग को मताधिकार का आधार माना जाता रहा है। तदनुसार यह अधिकार केवल पुरुषो तक ही सीमित था, स्त्रियो को इससे वचित रखा जाता था। स्त्रियो को पूर्ण मताधिकार सयुक्त राज्य अमेरिका म 1920 के बाद और इगलण्ड म भी कुछ दशाब्दियो पूर्व ही दिया गया था। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के घर स्विटजरलण्ड म तो स्त्रियाँ आज भी मताधिकार स वचित हैं। यूरोप के अनेक राज्यों म भी जहाँ रोमन कैथोलिक धर्म का प्राधान्य है केवल पुरुषो को ही मताधिकार प्राप्त है स्त्रियो को नही।

स्त्रियो को मताधिकार न देने के पक्ष म प्राय निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

(1) स्त्रियो का कार्यक्षेत्र साधारणत घर और परिवार है। यदि वे राजनीति मे भाग लेने लगेंगी तो सतान का पालन-पोषण और पारिवारिक कार्यों का सम्पादन ठीक ढग से नहीं कर सकेंगी।

( ) स्त्रियों द्वारा मताधिकार प्राप्त कर राजनीति में भाग लेने से पारिवारिक जीवन म अशान्ति पदा हो जाएगी। पति पत्नी के राजनीतिक मतभेद परिवार के वातावरण को पशु बना देंगे और यदि निर्वाचन मे स्त्रियाँ पुरुषो का ही अनुसरण करेंगी तो स्त्रियो के मताधिकार का कोई विशेष महत्त्व नही होगा।

(3) राजनीति म भाग लेन पर स्त्रियाँ सुशीलता, सरलता, सहिष्णुता, त्याग आदि अपने उत्तम गुणो को खो बठेंगी।

(4) स्त्रियाँ शारीरिक और मानसिक दृष्टि स, पुरुषो की तुलना मे सनिक अथवा पुलिस आदि सेवाओं के लिए अनुपयुक्त हैं तो फिर उन्ह सरकार के कार्यों म भाग लेने का अधिकार देना कोई अर्थ नही रखता।

(5) राजनीति से स्त्रियो को स्वाभाविक घृणा अथवा उदासीनता होती है। कौटुम्बिक जीवन तथा गृहस्थी का काय ही उन्हे अधिक आकर्षित करता है। कहा जाता है कि जिन देशो म स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त है, वहाँ भी स्त्रियो ने उसका प्रयोग कम ही किया जाता है। इन परिस्थितियो में स्त्रियो को मताधिकार देना व्यर्थ है।

उपर्युक्त मत के विपरीत स्त्री मताधिकार के समर्थक अपने पक्ष मे निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

(1) प्रजातन्त्रवाद समानता के सिद्धान्त का समर्थन करता है
मताधिकार से वचित रखना अवांछनीय है। उन्हे भी अपने व्यक्तित्व
लिए समान अधिकार मिलने चाहिए।

(2) कोई भी व्यक्ति, जो राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, उसे मत देने का अधिकार है। पुरुष के समान स्त्रिया भी जब राज्य के प्रति कर्त्तव्य पालन करती हो तो उन्हें मताधिकार से वंचित रखना अप्रजातन्त्रिक और अन्यायपूर्ण है।

(3) स्त्रियो को पुरुषो की भाति ही सामाजिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। इन अधिकारो की सुरक्षा तभी सम्भव है जब उन्हे राजनीतिक अधिकार भी प्रदान किए जाएँ। इस दृष्टि से उनके लिए मताधिकार अनिवार्य है।

(4) नागरिकता के अन्य अनेक अधिकार पुरुषो और स्त्रिया दोनो ही को प्राप्त है। तब स्त्रियो को मताधिकार से वंचित रखने का आग्रह तर्कहीन और अनुचित है।

(5) मताधिकार के उपभोग के लिए शारीरिक बल की नही वरन् मानसिक और नैतिक बल की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से स्त्रिया पुरुषो के समकक्ष हैं। फिर इससे भी इनकार नही किया जा सकता कि अनेक पुरुष भी शारीरिक दृष्टि से स्त्रियो से भी दुर्बल होते है। अत शारीरिक दृष्टि से दुर्बलता और कोमलता की आड मे स्त्रियो को मताधिकार न देना पुरुषो की ज्यादती है।

(6) राज्य सार्वजनिक हित की साधना करता है। व्यक्ति मताधिकार द्वारा उस हित साधना मे भाग लेते हैं। मतदान द्वारा अपने हित की साधना करना पुरुष के लिए जितना आवश्यक है उतना ही स्त्री के लिए भी है। अत स्त्रियो को मताधिकार न देना अधिनायकवादी दृष्टिकोण होगा। पुनश्च न्याय की दृष्टि से सब समान होते हैं। जब अशिक्षित और दरिद्र श्रमिको तथा किसानो व कृषकाय पुरुषो तक को मताधिकार दिया जाता है तो केवल स्त्रियो को इस अधिकार से वंचित रखना न्यायसंगत नहीं है।

(7) राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति और उपभोग लोगो के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होते हैं। स्त्रियो को मताधिकार से वंचित रखना उनके व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करना है।

(8) स्त्रियो ने भी पुरुषो के समान ही हर क्षेत्र मे योग्यता, प्रतिभा और समझदारी का परिचय दिया है। कुछ क्षेत्रो मे तो वे पुरुषो से भी बढ़ कर सिद्ध हुई हैं तब उन्हें अधिकार न देना बुद्धिमानी का काम नही कहा जा सकता।

(9) करुणा की मूर्ति स्त्रियाँ यह भली प्रकार समझ सकती हैं कि किसी कठोर कानून की मासूम व्यक्तियो पर क्या प्रतिक्रिया होती है। अत उनके सहयोग से श्रेष्ठ कानूनो की रचना मे बहुत सहायता मिल सकती है।

(10) स्त्रियो को मताधिकार देने का कुटुम्ब पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। पति-पत्नी के विचारों के आदान प्रदान से बच्चों का ही नागरिक विकास होगा। राजनीति की बारीकियों से परिचित होने के कारण स्त्रियाँ बच्चों को श्रेष्ठ नागरिक बनाने में अधिक सहायक सिद्ध होंगी।

इसमे कोई सन्देह नही कि स्त्रियो को अधिकार देने के पक्ष मे दिए जाने वाले तक उन सभी युक्तियो को निर्मूल सिद्ध कर देते हैं जो स्त्रियो के मताधिकार के विपक्ष में दी जाती हैं। आज सामान्य प्रवृत्ति यही है कि स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही मताधिकार दिया जाना चाहिए। आर्थिक सामाजिक राजनीतिक सैनिक सभी क्षेत्रों मे स्त्रियो के दिन प्रतिदिन बढते हुए योगदान को देखते हुए अब यह उचित नहीं समझा जाता कि उन्हे मताधिकार मे वचित रखा जाय। जिन राज्यो मे अपवादस्वरूप स्त्रियाँ मताधिकार से वचित हैं, उनमे भी निकट भविष्य मे ही स्त्रियो का मताधिकार प्राप्त हो जाने की आशा करनी चाहिए।

वयस्कता की योग्यता

आजकल वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) का विचार लगभग सवमान्य है। सम्पत्ति, शिक्षा लिंग आदि के भेद के बिना उन सभी व्यक्तियो को मताधिकार प्रदान किया जाता है जो वयस्क होते हैं। प्राय सभी राज्य परदेशियो, पागलो, अपराधियो, दिवालियो को मताधिकार स वचित मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, जो उपर्युक्त श्रेणी मे नही आता, एक निश्चित आयु का होने पर मत देने का अधिकारी बन जाता है। अमेरिका, इगलण्ड, फ्रास, भारत आदि देशो मे वयस्को की आयु 21 वष निश्चित की गयी है, रूस 18 वष की आयु पर्याप्त समझता है तो कुछ राज्यो मे 25 वप की आयु सीमा रखी गयी है। अन्तर्निहित विचार यही है कि 'प्रतिनिधियो को चुनने के निणय में विवेक के प्रयोग के लिए परिपक्वता होनी चाहिए।"

वयस्क मताधिकार के समथक इसकी पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) वयस्क मताधिकार द्वारा समानता का अधिकार साकार हो जाता है। इससे प्रजातान्त्रिक भावना का पोषण होता है। सरकार जनता की, जनता के लिए, जनता द्वारा बनती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर प्राप्त होता है।

(2) नागरिको के सामाजिक अधिकारो की रक्षा तभी सम्भव है जब उन्हे राजनीतिक अधिकार अर्थात् मताधिकार प्राप्त हो।

(3) वयस्क मताधिकार के फलस्वरूप राज्य की सरकार में नागरिको के सक्रिय हो जाने से उनमे स्वाभिमान और गौरव के भाव जाग्रत होते हैं। इससे जनता का मनोबल ऊँचा उठता है जो किसी भी देश और समाज की स्वस्थता का प्रतीक है।

(4) वयस्क मताधिकार प्रथा द्वारा नागरिक राज्य के कार्यों मे रुचि लेने लगते हैं और उनमें नागरिक भावना का विकास होता है।

(5) वयस्क मताधिकार स्वस्थ लोकमत का निर्माण करने मे सहायक होता है जिस पर किसी भी सरकार का भविष्य निभर करता है।

(6) इस व्यवस्था मे अल्पसंख्यकों को भी एक बड़ी संख्या में मताधिकार मिल जाता है, अतः वे अपने हितों की रक्षा अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं।

(7) वयस्क मताधिकार के कारण सरकार स्वयम् को जनता की भावना से परिचित रखने का प्रयत्न करती है। वह जनहित के सभी कार्यों के प्रति जागरूक रहती है।

(8) मताधिकार से वंचित रहने पर नागरिकों के हितों के संरक्षण की व्यवस्था नहीं हो पाती। सरकार केवल उन्हीं का ध्यान रखती है जिनसे उसे मत पाने की आशा रहती है। फलस्वरूप जनता के एक बड़े भाग मे राजभक्ति का अभाव रहता है।

अनेक आलोचकों ने जिनमे मिल, हेनरीमेन, लेकी आदि मुख्य हैं वयस्क मताधिकार का खण्डन किया है। उनका मुख्य तर्क यह है कि मताधिकार जन्मसिद्ध अधिकार न होकर समाज या राज्य प्रदत्त अधिकार है जो केवल उन्हीं को दिया जाना चाहिए जिनमे उसका उचित प्रयोग करने की क्षमता हो। वयस्क मताधिकार के विपक्ष मे प्रायः ये तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

(1) सामान्य जनता मे इतनी योग्यता नही होती कि वह अपने वास्तविक हित को ठीक ठीक समझ सके, अतः अपरिपक्व बुद्धिवाली जनता को मताधिकार देना विपत्ति को निमन्त्रण देना है। मताधिकार सभी वयस्कों को प्राप्त न हो कर केवल उन्ही को प्राप्त होना चाहिए जो सार्वजनिक हित का उचित ज्ञान रखते हों।

(2) स्त्रियों को मताधिकार नही देना चाहिए क्योंकि यदि पति पत्नी दोनों का मत एक ही है तो यह दोहरा मत हो जायगा और यदि दोनों मे राजनीतिक मतभेद हैं तो उससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हो सकता है।

(3) निर्धन व्यक्तियों के मताधिकार का कोई मूल्य नही होता क्योंकि उन मतों को धनी लोग खरीद लेते हैं और उन्हीं के मतों द्वारा उनका शोषण करते हैं। इसके अतिरिक्त निर्धनों को शान्ति और सुव्यवस्था की विशेष चिन्ता नही रहती, तथा वे मत का महत्त्व भी नहीं समझते। अतः उन्हें मताधिकार देने से हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है।

(4) आज प्रशासनिक समस्याएँ इतनी जटिल होती जा रही हैं कि साधारण जन उन्हें नही समझ पाते। अतः सभी को वयस्क मताधिकार देना कोई अर्थ नहीं रखता। वयस्क मताधिकार का परिणाम यह होता है कि 'निर्वाचन राजनीतिक समस्याओं के ज्ञान के आधार पर न हो कर सामयिक नारों के आवेश के आधार पर होता है।'

निष्कर्षतः यद्यपि वयस्क मताधिकार एक ऊँचा आदर्श है तथापि मतदाताओं का निर्वाचन करते समय किसी भी देश की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, और अन्य परिस्थितियों का ध्यान मे रखना भी आवश्यक है। वयस्क मताधिकार के विरुद्ध दी जाने वाले तर्क वही हैं जो प्रायः लोकतन्त्र के विरुद्ध दिए जाते हैं।

अतः हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि हमे जनता को मताधिकार के लिए सक्षम और प्रगतिशील बनना है तो उसके लिए उनको अनुभव प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय अन्यथा उसकी क्षमता के आधार पर जब तक उसे इसके इस अधिकार से वंचित रखा जायगा तब तक वे अक्षम ही बने रहेंगे। यही कारण है कि प्रायः सभी राज्यो में प्रवृत्ति यही है कि मताधिकार का आधार वयस्कता हो।

निर्वाचन और निर्वाचन पद्धतियाँ
(Election and Systems of Election)

(1) बहुल तथा भारतीय या गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली
(Plural or Weighted Voting)

आधुनिक प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त 'एक व्यक्ति, एक मत' का है, लेकिन अनेक राज्यों में विशेष योग्यता के आधार पर व्यक्तियो को एक से अधिक मत देने का अधिकार दिया जाता रहा है इसको बहुल या भारतीय मतदान प्रणाली कहा जाता है। यह कभी कभी सापेक्ष मतदान प्रणाली (Differential Voting System) भी कहलाती है। इस प्रणाली के समर्थको का कहना है कि वयस्कता की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने के अधिकार के अतिरिक्त उन लोगो को एक से अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिए जो धन विद्या अथवा अन्य कोई योग्यता रखते हो। 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धान्तो के अन्तर्गत केवल सिरो को गिना जाता है, उनके अन्दर छिपे मस्तिष्क की परख नही की जा सकती।" यह उचित नहीं है कि एक अशिक्षित और विवेकहीन व्यक्ति को भी एक मत देने का अधिकार हो और राधाकृष्णन्, राजगोपालाचारी विनोबा भावे जैसे योग्य व्यक्तियो का भी एक मत देने का अधिकार प्रदान किया जाय।

उपर्युक्त विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही दो प्रकार की मतदान प्रणालियो का प्रयोग किया जाता है—बहुल मतदान प्रणाली और भारतीय मतदान प्रणाली। 'बहुल मतदान प्रणाली मे एक ही व्यक्ति, उन सब निर्वाचन क्षेत्रो मे मत देने का अधिकारी होता है जिसमे उसकी सम्पत्ति स्थित होती है, अथवा एक ही व्यक्ति निर्धारित सम्पत्ति के स्वामी के रूप मे, निर्धारित कर दाता के रूप मे तथा निश्चित स्तर की शिक्षा के अधिकार के रूप मे पृथक् पृथक मत देने का अधिकारी हो सकता है।" भारतीय मतदान प्रणाली के अन्तर्गत 'उन व्यक्तियो को जो अपनी शिक्षा, आयु अथवा सम्पत्ति के कारण अधिक योग्यता रखते हैं उन्हें कम योग्यता वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।" बेल्जियम ने इस प्रणाली को 1893 में चालू किया था और आज भी मौजूद है। इग्लैण्ड मे प्रत्येक मतदाता को 1918 से पूर्व उतने ही मत प्राप्त थे जितनी उसकी योग्यताएं होती थी। 1948 में श्रमदलीय सरकार ने बहुल मतदान प्रथा को इग्लण्ड मे सदैव के लिए समाप्त कर दिया।

बहुल एवं भारतीय मतदान प्रणाली के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई जाती हैं—(1) मत गिनने का कोई भी मानदण्ड निरंकुश होता है, (2) बहुधा योग्य

को दैवयोग से सम्पत्ति मिल जाती है तो सम्पत्ति को राजनीतिक अधिकार बनाना अनुचित है, (3) यह प्रणाली अलोकतान्त्रिक है, (4) इस प्रणाली के सिद्धान्तो मे विरोधाभास है, उदाहरणार्थ, यदि इस प्रणाली का लक्ष्य वयस्क मताधिकार की बुराइयो को दूर करना है तो फिर क्या यह युक्तिसगत नही होगा कि सब प्रकार की जनता को मताधिकार दिया ही न जाय। एव, (5) राष्ट्र की दृष्टि से सब लोग बिना किसी भेद भाव के समान हैं तथा शासको को चुनने मे सबकी आवाज बराबर होनी चाहिए।

उपर्युक्त आपत्तियो के अतिरिक्त विचारणीय बात यह है कि जहाँ अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित हैं वहाँ शिक्षितो को बहुमत प्रदान करना कोई विशेष महत्व नही रखता। इसी प्रकार जहा अधिकाश व्यक्ति अशिक्षित हैं, वहाँ गिने चुने शिक्षितो को कुछ अतिरिक्त मत देने का अधिकार देने से प्रशासनिक कुशलता पर विशेष प्रभाव नहीं पड सकता। वास्तव मे मत देने के अधिकार का विस्तृत प्रयोग विषमता उत्पन्न करता है तथा सीमित पैमाने पर प्रयोग करने पर इसकी कोई उपयोगिता नही रहती।

(2) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति

(Direct and Indirect Method of Election)

प्रतिनिधियो को चुनने की दो विधिया हैं। जब नागरिक अपने प्रतिनिधियो का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से करते हैं तो उसे प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति कहते है। इस प्रणाली के अन्तर्गत मत देने वालो को मतदान के स्थान पर जाकर उम्मीदवार के पक्ष मे वोट देना पडता है। बहुसंख्या मे वोट पाने वाले उम्मीदवार को निर्वाचित घोषित किया जाता है। लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशो के विधान मण्डलो के चुनाव मे यही प्रणाली प्रयुक्त की जाती है।

उपर्युक्त प्रणाली के विपरीत जब मतदाता अपने प्रतिनिधियो के चुनाव मे स्वतन्त्र, प्रत्यक्ष रूप से भाग नही लेता बल्कि केवल कुछ मध्यवर्ती निर्वाचको का निर्वाचन करते हैं और ये मध्यवर्ती निर्वाचक प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं तो अप्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। इस प्रणाली के अनुसार सम्पन्न प्रत्यक्ष निर्वाचन कहलाता है। *दूसरे शब्दो मे इस प्रणाली के अन्तगत जनता एक मध्यस्थ सस्था* का चुनाव करती है जिसे निर्वाचक मण्डल कहा जाता है और यह निर्वाचक मण्डल प्रतिनिधियो का चुनाव करता है। स्पष्ट है कि यह प्रणाली दोहरी चुनाव प्रणाली है।

1 साधारणत। प्रथम लोकप्रिय अथवा निम्न सदन (First of Popular or Lower House) के सदस्यो के निर्वाचन के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति और द्वितीय या उच्च सदन (Second or Upper House) के सदस्यो के निर्वाचन के लिए अप्रत्यक्ष पद्धति का प्रयोग किया जाता है परन्तु कभी कभी इसका अपवाद भी हो जाता है।

प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति के गुण—(1) यह व्यवस्था लोकतन्त्र के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि इसमे मतदाताओ और प्रतिनिधियो मे सीधा सम्पर्क स्थापित रहता है।

(2) जनता स्वय अपने प्रतिनिधि चुनती है, जिससे उसमे राजनीति के प्रति सक्रियता आती है। इसके द्वारा जनता मे राजनैतिक चेतना और सार्वजनिक कार्य करने की भावना जाग्रत होती है।

(3) जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे निर्वाचित होने के कारण प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्यो और वायदो के प्रति अधिक जागरुक रहते हैं।

(4) निर्वाचन सम्बन्धी भ्रष्टाचार होने की कम सम्भावना रहती है। मतदाताओं की सख्या इतनी अधिक होती है कि पूँजीपति अपने धन का खेल अधिक नही खेल पाते।

अवगुण—(1) इस व्यवस्था मे दलबन्दी को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है और दलबन्दी के इसमे सभी अवगुण पाए जाते हैं।

(2) यह व्यवस्था बहुत अधिक खर्चीली है। प्रतिनिधियो को चुनाव जीतने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है तथा निर्वाचन पूँजीपतियो का खेल बन जाता है। प्राय चुनाव म वे ही व्यक्ति सफल होते हैं जो राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं।

(3) साधारण जनता आकर्षक नारो द्वारा चिकनी-चुपडी बातो मे बहक जाती है तथा अयोग्य व्यक्ति भी हथकण्डो से विजयी हो जाते हैं।

(4) प्रशासन एक कला है तथा जनसाधारण के लिए प्रशासन मे योग देना सम्भव नही है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण—(1) इसम सुयोग्य व्यक्तियों को चुना जाता है क्योंकि निर्वाचन मे जनसाधारण भाग न लेकर निर्वाचन मण्डल के अनुभवी व्यक्ति ही सक्रिय भाग लेते हैं।

(2) इस पद्धति मे राजनीतिक दलबन्दी तथा पूँजीपतियो का भ्रष्टाचार अधिक प्रभावी नही होता। गिलक्राइस्ट के अनुसार अप्रत्यक्ष निर्वाचन एक चलनी की भाँति कार्य करता है जिसमे होकर निर्वाचन का ज्वर निकलता है।

(3) इस व्यवस्था मे सार्वजनिक मताधिकार और भीडतन्त्र के दोषों से छुटकारा मिल जाता है।

(4) 'प्रशासन एक कला है' और अप्रत्यक्ष निर्वाचन मे कलाकार की व्यवस्था लागू हो जाती है।

अवगुण—(1) यह पद्धति अलोकतान्त्रिक है क्योंकि इसके द्वारा प्रतिनिधि जनसाधारण के सम्पर्क म नही आ पाते। वे निर्वाचन मण्डल के सदस्यों का ही सम्मान करते हैं, नागरिको की भावनाओं का नहीं।

(2) इस व्यवस्था मे व्यक्ति का राजनीतिक महत्त्व कम हो ... अपने इच्छित व्यक्ति के निर्वाचन अधिकार से वंचित रह जाना पड़ता ...

(3) फलस्वरूप मतदाता देश की राजनीतिक समस्या और सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाता है।

(4) दलबन्दी और साम्प्रदायिकता की भावनाएँ अधिक प्रबल हो जाती हैं। जहाँ राजनैतिक दल सुव्यवस्थित होते हैं अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति नाम मात्र को रह जाती है और निर्वाचन वस्तुत प्रत्यक्ष हो जाता है। अमेरिका के राष्ट्रपति का चुनाव सविधान के अनुसार अप्रत्यक्ष है किन्तु दलबन्दी के कारण व्यवहार म वह प्रत्यक्ष बन गया है।

(5) इस प्रणाली मे भ्रष्टाचार की अधिक सम्भावना रहती है। निर्वाचन मण्डल के सदस्यो की सख्या सीमित होती है तथा उन पर रिश्वत आदि भ्रष्टाचार का अधिक प्रभाव हो सकता है।

(3) गुप्त एव प्रकट मतदान प्रणाली (Secret and Open Voting)

मतदान सामान्यत दो प्रकार से किया जाता है—गुप्त रूप से एव प्रकट रूप से। गुप्त मतदान प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता गुप्त रूप से अपना मत व्यक्त करता है। प्रत्येक मतदाता को एक मतदान-पत्र दिया जाता है जिसे वह अपने इच्छित उम्मीदवार की मतदान पेटी (Ballot Box) मे डाल देता है अथवा अपने इच्छित उम्मीदवार के नाम क सामने चिन्ह लगाकर मत पेटी मे डाल देता है। भारत मे सभी इस मतदान प्रणाली से परिचित हैं। प्रकट मतदान प्रणाली (Open Ballot System) का प्रचलन भी पहले काफी था। डेनमार्क प्रशा और सोवियत रूस मे तो अभी हाल तक मतदान खुले रूप मे होता था। जब निर्वाचन का कार्य बैठकों मे एकत्रित होकर मतदाता करते थे तो मतदान प्राय प्रकट रूप म होता था और लोग हाथ उठाकर प्रतिनिधियो का समर्थन करते थे। यह प्रणाली उन्हीं निर्वाचनो मे उपयोगी हो सकती थी जिनमे मतदाता सख्या मे अधिक नहीं होते थे। साथ ही इस प्रणाली मे मतदाता स्वतन्त्रता और निर्भयतापूर्वक मतदान नही कर पाते थे, तथा चुनाव निष्पक्ष न होकर केवल एक दिखावा बनकर रह जाते थे। इसीलिए इस प्रणाली की लोकप्रियता शनै शनै समाप्त हो गयी। वास्तव म प्रकट मतदान तभी उचित है जब जनता ठीक तरह से अपने अधिकारो के प्रति जागरूक हो और मानव चरित्र इतना निर्भीक तथा निष्पक्ष हो कि वह किसी दबाव या भय से प्रभावित न हो।

अल्पसख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या (Problem of Minority-Representation)

वर्तमान समय मे ससार के अधिकांश देशो में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनायी जाती है, किन्तु लोकतन्त्र शासन की एक सबसे कठिन समस्या यह है कि अल्पसख्यकों का प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका में किस प्रकार किया जाय। यदि बहु-सख्यक दल को शासन करने का अधिकार है तो साथ ही साथ अल्पसख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जनतन्त्र शासन में सभी निर्णय बहुमत के आधार पर होते हैं परन्तु अन्तिम निर्णय करने के पूर्व अल्पमत के

प्रतिनिधियों को पूरा अवसर इसलिए दिया जाना आवश्यक है कि वे भी अपने विचारो को स्पष्ट कर सकें।

इगलण्ड फ्रांस तथा भारत तीनो ही प्रजातन्त्रीय देशो मे अल्पसख्यको को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त है और उनका बहुसंख्यक निर्णयो पर प्रभाव पडता है। तीनो देशो मे प्रादेशिक आधार पर चुनाव सम्पन्न होता है। साथ ही विशिष्ट व्यवसायो, कला, विज्ञान, दर्शन आदि के विशेषज्ञों के ससद् मे स्थान सुरक्षित होते हैं।

अल्पसख्यको के प्रतिनिधित्व के उपाय

अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व देने के लिए कई तरीके प्रचलित हैं। इन उपायो मे निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं—

(1) समानुपातिक प्रतिनिधित्व जिसमें एकल सक्रमणीय मत प्रणाली तथा सूची प्रणाली मुख्य हैं

(2) सीमित मत प्रणाली,

(3) सचित मत प्रणाली,

(4) पृथक निर्वाचन प्रणाली,

(5) सुरक्षित स्थानयुक्त निर्वाचन प्रणाली

(6) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व।

1 समानुपातिक प्रतिनिधित्व

(Proportional Representation)

समानुपातिक प्रतिनिधित्व का अर्थ है कि अल्पसख्यक वर्ग अपने मतदाताओ की सख्या के अनुपात में अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन कर सकते है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व म आम तौर पर (क) एकल सक्रमणीय मत प्रणाली तथा (ख) सूची प्रणाली प्रयोग मे लायी जाती है—

(क) एकल सक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System)—इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रवर्तक थोमस हेयर था। अत इस प्रथा को 'हेयर प्रणाली' भी कहते हैं। इस व्यवस्था म देश बहुत से निर्वाचन-क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र मे कम से कम तीन सदस्य चुने जाते हैं परन्तु मतदाताओ को केवल एक ही मत देने का अधिकार होता है। मतदाता उम्मीदवारो के नाम के आगे 1, 2, 3, 4, 5 आदि लिखकर अपनी पसन्द (Preference) प्रकट करता है। यदि किसी उम्मीदवार को कोटा म निश्चित मत मिल जाते है तो वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यह कोटा अथवा चुनाव अक निकालने के लिए दो तरीके आम तौर पर प्रचलित है—

(अ) $\frac{\text{कुल मतों की सख्या}}{\text{कुल स्थानो की सख्या}}$ = कोटा

(ब) $\frac{\text{कुल मतों की सख्या}}{\text{कुल स्थानो की सख्या} + 1} + 1$ = कोटा

इसमे सन्देह नही कि पहला तरीका अधिक सरल है किन्तु दूसरा तरीका ही अधिक प्रचलित है, जिसके अनुसार मान लीजिए कि कुल 10,000 मत डाले गए और चार स्थानो के लिए सदस्य चुने जाते हैं तो $\frac{10,000}{4+1}+1=2001$ मत का कोटा हुआ। जिस उम्मीदवार को 2001 मत मिल जायेंगे, वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाएगा।

इस युक्ति की एक विशेषता मतो की गणना है। सवप्रथम सबसे पहली पसद के मतो को गिना जाता है। जसे ही उम्मीदवारो को कोटा के बराबर मत प्राप्त होते हैं, वह विजयी घोषित कर दिया जाता है। उसके बाद के विजयी उम्मीदवार के मत नही गिने जाते और उसके अवशिष्ट मतो को दूसरी पसन्द के गिने जाने के उपरान्त भी अन्य कोई उम्मीदवार कोटे तक नही पहुँच पाता तो तीसरी और फिर चौथी पसन्द की गिनती होती है। यदि तदुपरान्त भी काम न बने तो उस उम्मीदवार के मतो को जिसे पहले पसन्द मे कम से कम मत मिले हैं, अलग कर दिया जाता है और उसके मतो को दूसरी पसन्द के साथ गिना जाता है। इसी प्रकार यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि कोटे मे निश्चित मत प्राप्त न हो। इस पद्धति को अनेक देशों मे स्वीकार कर लिया गया है। भारत मे भी यही प्रणाली अपनाई जाती है।

सूची प्रणाली (List System)—इस प्रणाली के अनुसार सारा देश एक ही निर्वाचन-क्षेत्र माना जाता है। देश के चुनाव व्यक्तिगत रूप से न होकर दलबन्दी के आधार पर लडे जाते हैं। इस प्रकार जो प्रत्याशी चुनाव मे खडे होते हैं उन्हें दलो के अनुसार एक सूची मे रख दिया जाता है और जो मत व्यक्तिगत उम्मीदवारों को दिया जाता है, वे सूची के लिए अर्थात् दल के सारे उम्मीदवारो के लिए दिए गए मत माने जाते हैं। मतदाता को चुनाव क्षेत्र की स्थान सख्या के बराबर मत दिए जाते हैं परन्तु कोई भी मतदाता किसी भी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। एक सीट जीतने के लिए जो आवश्यक कोटा होता है उसे कुल डाले गये मतो की सख्या मे पूर्ति की जाने वाले मतो की सख्या से भाग देकर प्राप्त किया जाता है। यह निर्धारित करने के लिए कि उम्मीदवारो के दल को कितने मत मिलने चाहिए, उनकी सूची द्वारा प्राप्त मतों को कोटा से विभाजित कर दिया जाता है।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण—(1) इसमे अल्पसख्यकों को उनके अनुपात मे प्रतिनिधित्व मिल जाता है। (2) यह विधानमण्डलो का लोकमत का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करने मे समर्थ बनाता है। (3) यह अधिक प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली है जिससे किसी एक पार्टी का अधिकार नहीं हो पाता। (4) यह मतदाताओं को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है। (5) इसमे उन्हें अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है क्योंकि वह विभिन्न उम्मीदवारो को उनकी क्रमानुसार पसन्दगी देता है। (6) कोई भी मत बेकार नहीं जाता।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष—(1) यह अत्यन्त जटिलता व भ्रांति उत्पन्न करता है। (2) यह अनेक दलो के विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे स्थायी मन्त्रिमण्डल का बनाना सम्भव नही होता। (3) यह मतदाताओ व उनके प्रतिनिधियो के बीच निकट सम्पर्क की सम्भावनाओ का समाप्त कर देता है। (4) यह उपनिर्वाचनो को असम्भव बना देता है। (5) यह साम्प्रदायिकता व अल्पसख्यक विचार को प्रोत्साहन देता है।

2 सीमित मत प्रणाली
(Limited Vote System)

इस प्रथा के अन्तगत देश बहुत से सदस्यो वाले निर्वाचन क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम तीन उम्मीदवार चुने जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारो की निश्चित सख्या से कुछ कम मत देने का अधिकार दिया जाता है। उदाहरणाथ, यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुने जाते हैं तो लोगों को केवल दो मत देने का अधिकार होगा जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसख्यक जाति का भी चुना जा सके।

3 संचित मत-प्रणाली
(Cumulative Vote System)

इस प्रथा के अन्तगत भी बहु-निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। इसमे जितनी सीटें होती हैं, मतदाता को उतने ही मत देने होते हैं और मतदाता अपने सभी मत केवल एक ही उम्मीदवार के पक्ष मे डाल सकते हैं। इस प्रथा द्वारा अल्पसख्यक जातियो को इस बात का अवसर प्राप्त होता है कि वे अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार के हक में डालकर उसे निर्वाचित करालें।

4 पृथक् निर्वाचन-प्रणाली
(Separate Electorate System)

इस प्रणाली के अन्तगत विभिन्न जातियो के मतदाताओ की अलग अलग सूचियाँ बनायी जाती हैं, निर्वाचन क्षेत्र धार्मिक या जातीय आधार पर बनाए जाते हैं। धारा सभा मे विभिन्न जातियों के सदस्यो की पहले से ही सख्या निश्चित कर दी जाती है। चुनाव मे एक जाति के लोग दूसरी जाति के उम्मीदवार को मत नही दे सकते। यह प्रथा दोषपूर्ण है और राष्ट्रीय हित के लिए घातक है।

5 सुरक्षित स्थानयुक्त सयुक्त निर्वाचन प्रणाली
(Joint Electorate with Reservation of Seats)

इस प्रथा के अन्तगत विधान सभा में अल्पसख्यकों के स्थान सविधान द्वारा निश्चित कर दिए जाते हैं परन्तु विभिन्न जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र नियत नही किए जाते। इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढता को बल मिलता है।

6 व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

कुछ विचारकों का, विशेषत श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) के समर्थको का कहना है कि प्रतिनिधित्व का आधार पेशा या व्यवसाय होना चाहिए क्योकि सावजनिक प्रतिनिधित्व द्वारा उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यक्ति का अपने व्यवसाय मे एक विशेष स्वार्थ रहता है और उस व्यवसाय मे लगा हुआ व्यक्ति अपने व्यवसाय के लोगो का सही प्रतिनिधित्व कर सकता है। किन्तु अन्य व्यवसायो या पेशावरो का समुचित प्रतिनिधित्व नही कर सकता। अत यह उचित है कि श्रमिको का प्रतिनिधित्व श्रमिक करें, किसानो का प्रतिनिधित्व किसान करें और शिक्षको का प्रतिनिधित्व शिक्षक करें। उसी व्यवसाय म सलग्न प्रतिनिधि अपने व्यवसाय वालो की आवश्यकताओ, आकाक्षाओ और कठिनाइयो को अधिक अच्छी तरह समझते हैं। सावजनिक प्रतिनिधित्व का आधार क्षेत्रीय होना है। इसके अन्तगत एक ही व्यक्ति विभिन्न व्यवसाय वालो का प्रतिनिधित्व करता है। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सभी लोगो की आवश्यकताओ को भली प्रकार समझ सकेगा। इसके अतिरिक्त उसकी विशेष रुचि तो अपने ही व्यवसाय वाला के प्रति रहेगी। अत उचित यही है कि प्रतिनिधित्व का आधार पेशा या व्यवसाय हो। इस व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अन्तगत निर्वाचन के आधार निर्वाचन क्षेत्र न होकर विभिन्न व्यवसाय होगे और प्रत्येक व्यवसाय के लिए अलग अलग प्रतिनिधि निर्वाचित किए जाएँगे। मतदाता अपने व्यवसाय के प्रतिनिधित्व के लिए ही प्रत्याशी को मत देंगे।

विश्व के अनेक प्रगतिशील देशो मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को व्यावहारिक रूप दिया गया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण रूस है जहाँ इसी आधार पर प्रतिनिधित्व होता है। सोवियत रूस मे व्यवस्था यह है कि एक प्रतिनिधि प्रदेश का प्रतिनिधित्व न कर एक विशिष्ट हित का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में भी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व आशिक रूप से क्रियान्वित किया गया था। सन 1935 के भारतीय अधिनियम के अन्तगत केन्द्रीय परिषद् में 11 स्थान उद्योग, व्यवसाय आदि के प्रतिनिधियो के लिए सुरक्षित रख गये थे। भारत के नवीन सविधान में भी इस के प्रतिनिधित्व चुनने की व्यवस्था की गई है। जमनी के सन् 1919 के विधान मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर ही एक राष्ट्रीय की योजना बनायी गई थी जिसमे पूँजीपतियो, उपभोक्ताओ और त्व प्रदान किया गया था।

निधित्व के समथको के अनुसार इस पद्धति का सबसे बडा ताओ का सही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। उनको ओं और कठिनाइयों का ठीक अनुमान होता है।

पसन्द

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की निम्न आलोचनाएँ की जाती हैं—

1 व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अल्पसख्यक वग अपनी जनसख्या के अनुपात मे प्रतिनिधित्व प्रदान नही कर पाते।

2 इस पद्धति मे मतदाता को अपने मत का स्वतन्त्रता से उपयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता।

3 व्यवसायो का सन्तोषपूर्ण विभाजन अथवा वर्गीकरण सम्भव नही होता है।

4 इस प्रणाली के आधार पर निर्वाचित सदस्य राष्ट्रीय हितो की अपेक्षा अपने विशिष्ट हितो को प्राथमिकता देते है।

5 व्यवसायी व्यक्ति राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सामान्यतया ठीक प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता और इस तरह मतदाता आश्चय म पड जाता है और उसे कोई रास्ता नहीं सूझता।

6 व्यावसायिक आधार पर निर्वाचन के लिए विशाल जनसख्या का विभाजन करना अत्यधिक कठिन काय है। इससे भी अधिक कठिन यह पता लगाना है कि किस व्यवसाय को कितना प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

7 यह निश्चित करना भी बहुत कठिन है कि व्यक्तियो को समूहो में कसे विभाजित किया जाय अथवा किस व्यक्ति को किस ग्रुप मे रखा जाय।

8 व्यावसायिक प्रणाली मे हितो की एकता नही होती। विभिन्न हितों के कारण उनमे परस्पर सघष की सम्भावना बनी रहती है। यह प्रवृत्ति समाज-कल्याण के लिए घातक सिद्ध होती है।

9 इस प्रथा मे एक बडी समस्या यह आती है कि व्यक्ति अपने व्यवसायो मे परिवतन करते रहते हैं और यह विचार करना कठिन होता है कि उनके विषय मे क्या करना चाहिए।

उपयु क्त सम्पूर्ण विवचन से यही निष्कष निकलता है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व लोकत त्रात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नही है और सम्भवत इसी कारण इसे पूर्ण रूप से अधिकाश देशो में नही अपनाया गया है।

13

सरकार के अंग और उनके पारस्परिक सम्बन्धो की समस्या; व्यवस्थापिका–द्विसदनवाद, एकसदनवाद, व्यवस्थापिका के कार्य–कार्यपालिका और उसके कार्य, न्यायपालिका और उसके कार्य-- शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

(ORGANS OF GOVERNMENT AND THE PROBLEM OF THEIR RELATIONSHIP,LEGISLATURE BI-CAMERALISM, UNICAMERALISM FUNCTIONS OF LEGISLATURE *EXECUTIVE AND ITS FUNCTIONS JUDICIARY* AND ITS FUNCTIONS THEORY OF SEPARA TION OF POWERS)

सरकार राज्य का आवश्यक मूल तत्त्व है। यह राज्य का कार्यवाहक यन्त्र है। इसी के माध्यम से राज्य की इच्छा को निर्धारित व्यक्त और क्रियान्वित किया जाता है। सरकार पर ही राज्य के कानून बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने और उनका उल्लंघन करने वालो को उचित दण्ड दिलाने का उत्तरदायित्व होता है। इन कार्यों को पुरा करने के लिए सरकार की शक्तियाँ तीन विभागो में विभक्त होती हैं जिन्हे क्रमश व्यवस्थापिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive तथा न्यायपालिका (Judiciary) कहा जाता है। कुछ विद्वान् सरकार के केवल दो ही अंग मानते हैं–व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका और कुछ विद्वान तीन से भी अधिक अंगो का उल्लेख करते हैं, लेकिन सरकार के तीन अंगो वाला सिद्धान्त (Trinity theory of Govt) ही मान्य है।

व्यवस्थापिका
(Ligislature)

सरकार के तीनो अंगों में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापिका है। यह सरकार का वह अंग है जो राज्य की इच्छा को कानून का रूप देता है। प्रजातन्त्र शासन में

पूव राजा ही यह काम करता था, लेकिन आधुनिक प्रजातान्त्रिक युग मे लगभग सभी प्रगतिशील दशो मे अब यह काम जनता के चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं ।

तुलनात्मक दृष्टि से कायपालिका और न्यायपालिका दोनो से व्यवस्थापिका का महत्व अधिक ऊँचा है, क्योकि यह विभाग ही उन कानूनो का निर्माण करता है जिनके अनुसार कायपालिका विभाग शासन करता है तथा याय विभाग याय करता है। व्यवस्थापिका का महत्व किसी देश मे प्रचलित शासन के प्रकार पर निभर रहता है । यदि किसी देश मे निरकुश राजा का शासन हो तो वहाँ का व्यवस्थापन विभाग शासन के हाथ की कठपुतली मात्र ही हो सकता है। एक एसे देश में जहाँ अध्यक्षात्मक लोकतन्त्रवादी शासन-व्यवस्था (Presidential Democratic Type Government) प्रचलित हो व्यवस्थापिका की शक्तियाँ और उसके काय मर्यादित होते हैं तथा व्यवस्थापिका का शासन विभाग या कायपालिका पर कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नही होता । संसदीय लोकतन्त्रवादी शासन प्रणाली (Parliamentary Democratic Type Government) के अन्तगत व्यवस्थापिका का कायपालिका पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है और मन्त्रिमण्डल पूर्णत व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहता है । इस तरह ऐसी शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका का स्थान सरकार के सब विभागो मे सबसे उच्च होता है।

व्यवस्थापिका के कार्य
(Functions of Legislature)

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—व्यवस्थापिका समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यकता और परिस्थितियो के अनुसार कानून बनाती है उनमे संशोधन करती है तथा उन्हें निरस्त करती है। यह सब काफी विचार-विनिमय के बाद होता है। कानूनों का प्रारूप तयार होता है फिर सामान्यत उसके तीन वाचन होते हैं, कभी कभी विशेष विचार हेतु विधेयक को प्रवर समितियों के सुपुर्द कर दिया जाता है और जनमत जानने के लिए कानून का जनता मे प्रसारण होता है। यह स्मरणीय है कि आधुनिक राज्यों में केवल व्यवस्थापिका ही कानून नही बनाती, उदाहरणाथ, ब्रिटिश ससद् के पास इतना समय नही है कि वह कानून का सम्पूण विवरण तैयार करे, अत वह बहुधा कानून की ऊपरी रूपरेखा ही पारित करती है शेष बारीकियों को पूरा करने का काम कायपालिका के विभिन्न विभागों पर छोड दिया जाता है। कायपालिका के ये विभाग अपने प्रशासकीय आदेशो, कानूनों और नियमो द्वारा इस काय की पूर्ति करते हैं।

(2) अर्थ सम्बन्धी काय—आधुनिक व्यवस्थापिका का प्रमुख काय राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखना है। प्रति वष आगामी वष के आय और व्यय का अनुमानित ब्योरा व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और बिना उसकी स्वीकृति के एक पाई भी व्यय नही की जा सकती। व्यवस्थापिका ही नवीन कर लगाती है और अनावश्यक करो को हटाती है। वही सम्भूतियो (Supplies) को स्वीकृति देती है। विधि निर्माण में सामान्यत निचले सदन को अधिक महत्त्वपूण

स्थान प्राप्त होता है। वित्त विधेयक (Finance Bill) निचले सदन म ही प्रस्तुत किए जाने की परम्परा जड जमा चुकी है।

व्यवस्थापिका के दोनो सदनो मे परस्पर विरोध होने पर प्राय ऊपरी सदन को ही झुकना पडता है। पर अमरिका मे यदि सम्मिलित अधिवेशन मे मतभेद पर कोई सहमति नही हो पाती, तो सीनट के मत का मान्य ठहराया जाता है।

(3) प्रशासकीय काय—व्यवस्थापिका का प्रशासन पर महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण रहता है। जिन देशो मे ससदात्मक शासन प्रणाली प्रचलित है वहाँ व्यवस्थापिका कायपालिका के कार्यो पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती है, क्योकि मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के सदस्यो मे से चुना जाता है और वह उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। ससदीय प्रणाली मे व्यवस्थापिका ध्यानाकषण प्रस्ताव, प्रश्न और कामरोको प्रस्तावो द्वारा कायपालिका पर नियन्त्रण रखती है। कायपालिका का जीवन व्यवस्थापिका के विश्वास पर निभर करता है। इगलण्ड भारत आदि देशो में यही यवस्था है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण किसी न किसी रूप मे बना रहता है। अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा की गई उच्चवर्गीय नियुक्तियो तथा सन्धिपत्रो का स्वीकृति देकर कायपालिका पर अकुश रखा जाता है। साथ ही महाभियाग (Impeachment) का अमोघ अस्त्र व्यवस्थापिका (Congress) के हा पास है। व्यवस्थापिका का उच्च सदन सीनेट एक प्रमुख जाँच निकाय (Investigating Body) का काय करता है।

(4) न्याय सम्बन्धी काय—अनेक देशो मे व्यवस्थापिकाएँ न्याय सम्बन्धी काय भी करती हैं। उदाहरणाथ इगलण्ड म हाउस आफ लार्ड्स अपील का उच्चतम न्यायालय है, अमरिका म सीनट राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति आदि पर अभियाग के लिए अनुशासन भग के न्यायालय क रूप म उठता है जबकि प्रतिनिधि सदन अनुशासन भग का अभियोग लगाता है। भारत म ससद को राष्ट्रपति पर महाभियोग लगान का अधिकार है।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी काय—आधुनिक लोकतन्त्रात्मक व्यवस्थापिकाएँ अनक निर्वाचन सम्बन्धी काय भी करती हैं। उदाहरणाथ, भारतीय ससद भारतीय गणतन्त्र के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। राष्ट्रपति का चुनाव भी ससद के निर्वाचित सदस्या तथा राज्यो की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यो द्वारा किया जाता है। स्विटजरलण्ड मे वहाँ की ससद मन्त्रिपरिषद न्यायाधीशो तथा प्रधान सनापति का चुनाव करती है। अमरिका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा को अपने अपन निर्वाचनो, निर्वाचन विवरणो और सदस्यों की निर्वाचन सम्बन्धी योग्यताओं का निणय करन का अधिकार है।

(6) विविध काय—व्यवस्थापिका सभा जनता की शिकायतों को प्रकाश में लाने का एक साधन है। इसमे लगभग सभी प्रकार के मामलो की सुनवाई हो सकती है तथा वाद विवाद और चर्चा द्वारा लोक महत्व की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसकी सभी कायवाहियों का समाचार-पत्रों में

प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार यह लोकमत को प्रकट और उसके निर्माण के साधन के रूप में काम करती है। व्यवस्थापिकाएँ सविधान के सशोधन में हाथ बँटाती हैं। इगलण्ड में व्यवस्थापिका कानून निर्मात्री सभा भी है और सविधान सभा भी। अमेरिका तथा भारत में सविधानो का सशोधन करने में व्यवस्थापिका का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

विधायिका का सगठन

विधान मण्डल या व्यवस्थापिका या तो एक सदनीय (Uni cameral) होती है या द्वि-सदनीय (Bi-cameral)। द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को निम्न सदन और दूसरे को उच्च सदन कहते हैं। प्राय प्रत्येक देश में निम्न सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन जनता के कुछ वर्गों का। जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने के कारण निम्न सदन उच्च सदन से प्राय अधिक शक्तिशाली और अधिकार-सम्पन्न होता है। प्रारम्भ में जब लोकतन्त्रीय शासन का सूत्रपात हुआ, तो अधिकांश देशों में एक-सदनीय व्यवस्थापिका थी किन्तु अब केवल छोटे-छोटे राज्यों को छोड़कर प्राय सभी देशों में द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका का प्रावधान है।

एक-सदनीय व्यवस्थापिका
(Uni-cameral Legislature)

एक सदनीय व्यवस्थापिका प्रणाली 18वी शताब्दी के अन्त और 19वी शताब्दी के प्रारम्भ में अत्यधिक लोकप्रिय थी। आज यद्यपि ससार के अधिकांश देशो मे केवल छोटे छोटे राज्यो को छोड़कर, द्वि सदनीय व्यवस्थापिका का प्रावधान है फिर भी ऐसे विचारको की कमी नही है जो एक सदनीय व्यवस्थापिका का ही समर्थन करते हैं। ये विचारक द्वितीय सदन को प्रतिक्रियावादियो का मठ समझते हैं। इन्हीं विचारों के प्रभाव ने इगलण्ड में लॉर्ड सभा को आज केवल 'सभा' का स्थान बना दिया है और आय व्यय तथा अन्य अर्थ सम्बन्धी अधिकार उससे छीन लिए गए हैं। अग्रिम पक्तियो में हम यह देखेंगे कि एक-सदनात्मक प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में क्या युक्तियाँ दी जाती हैं।

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष मे दी जाने वाली प्रमुख युक्तियाँ निम्न हैं—

(1) व्यवस्थापन कार्य मे एकता और एकरूपता कायम रहती है। सम्पूर्ण राज्य के व्यवस्थापक एक ही स्थान पर बैठकर पूर्ण विचार विमर्श करते हैं और उनके द्वारा लिए जाने वाला निर्णय राज्य की एकता का प्रतीक होता है।

(2) द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका के कारण दोनो सदनो में परस्पर विरोध और प्रतियोगिता होना अवश्यम्भावी है, इसलिए व्यवस्थापिका एक सदनीय ही होनी चाहिए।

उल्लेखनीय है कि फ्रांस मे 1791 और 1848 मे तथा इगलण्ड में 1651

मे एक सदनीय व्यवस्था को अपनाया गया था लेकिन य प्रयोग सफल नहीं हुए। आज यूनान इस्टानिया और यूगोस्लाविया आदि कुछ दशो मे हा एक सदनीय विधान मण्डल हैं, अ यथा द्वि-सदनात्मक प्रणाली की व्यवस्था ही सवत्र अपनायी जाने लगी है।

एक-सदनीय व्यवस्थापिका के विपक्ष मे दी जान वाली कुछ प्रमुख युक्तियाँ इस प्रकार है—

(1) एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका मे व्यवस्थापन काय शीघ्रता पूवक होता है जिसके फलस्वरूप व्यवस्थापन काय पर पूरा ध्यान नही दिया जाता और व्यवस्थापन प्राय अविचारपूवक होता है। इस प्रकार का व्यवस्थापन राष्ट्र के सामूहिक हित की दृष्टि से उचित नही होता।

(2) एक-सदनीय व्यवस्थापिका होने से द्वितीय सदन के अकुश का कोई भय नही रहता। फलत एक सदन की व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ असीमित और अनियन्त्रित रहती हैं।

द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका
(Bi-cameral Legislature)

आज राजनीतिज्ञो का प्राय वह सवसम्मत मत है कि व्यवस्थापिका मे दो सदन होन चाहिए। 'एक सदनात्मक सरकार को जनतान्त्रिक अ धाधुन्धी' का प्रतीक समझा जाता है। सर हेनरीमैन के अनुसार, "किसी भी प्रकार का द्वितीय सदन अवश्य होना चाहिए। उनका कहना है कि, "द्वितीय सदन से यह आशा नही की जानी चाहिए कि निम्न सदन गलती नही कर सकता। उच्च सदन का लाभ यह है कि वह अतिरिक्त विचारक सस्था है।"

द्वि सदनीय व्यवस्थापिका के समथन मे तक—द्वि-सदनीय विधान-मण्डल के पक्ष मे जो तक दिए जाते हैं व निम्नलिखित हैं—

(1) कानून पर सुधारात्मक प्रभाव—द्वि-सदनीय विधान-मण्डल निम्न सदन द्वारा जल्दी मे, बिना पर्याप्त विचार के पारित किए गए कानूनो पर पुन विचार करता है और उनके दोषो को दूर करता है। लेकी (Lecky) के शब्दो मे, "उच्च सदन का काय विधि को सुधारना, इसे सुसस्कृत बनाना और शनै शनै पारित करना है। एक राय की अपेक्षा दो राय सदव ठीक रहती हैं।

(2) बुद्धिजीवियों के अनुभव का लाभ—द्वितीय सदन म सामान्यत एसे व्यक्तियो को प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो अपनी कुशाग्र बुद्धि और अनुभव के लिए प्रख्यात होते हैं तथा चुनाव मे भाग लना नहीं चाहत। भारत की राज्य-परिषद् मे कला, साहित्य विज्ञान आदि मे पारगत, विशेष ज्ञान एव व्यावहारिक अनुभव प्राप्त बारह सदस्यो को राष्ट्रपति द्वारा नामजद किया जाता है। अमेरिका की सीनट में प्रतिनिधि-सभा म अधिक बुद्धिमान् और मघावा पुरुषो को स्थान प्राप्त होता है।

(3) अल्पसख्यकों का प्रतिनिधित्व – उच्च सदन मे अल्पसख्यको तथा एसे व्यक्तियो को स्थान दिया जाता है जिन्हे निम्न सदन मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। इस तरह लोकतान्त्रिक भावना की रक्षा होती है।

(4) विलम्ब द्वारा लाभ पहुँचाने का काय—उच्च सदन विलम्ब द्वारा लाभ पहुँचाता है। वह किसी विधेयक को प्रस्तुत होने और स्वीकृत होने के बीच विलम्ब करता है ताकि उसको स्वय को भी उस पर काफी सोचन-विचारने का अवसर मिल सके और जनता भी इस विषय में अपना मत प्रकट कर सके।

(5) निम्न सदन की निरकुशता पर रोक—उच्च सदन के अभाव मे निम्न सदन निरकुशता तथा एकाधिकारवादी हो सकता है। निम्न सदन की मनमानी पर यथासम्भव रोक लगाकर उच्च सदन जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

(6) सघात्मक राज्यों के लिए उपयोगिता –द्वितीय सदन सघात्मक राज्यो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसके द्वारा सघ मे शामिल होने वाले राज्यो को पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। यदि सघात्मक सरकार मे निम्न सदन राष्ट्रीय हितो का प्रतिनिधित्व करता है तो उच्च सदन सघ की इकाइयों के स्थानीय और विशिष्ट हितो का सरक्षण करता है।

(7) कायकारिणी को अधिक स्वतन्त्रता—दो भवनो की विधान सभाओ के होने से कायकारिणी को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है क्योंकि दोनो सदन एक दूसरे की शक्ति के प्रतिरोध का यत्न करते हैं।

(8) श्रम विभाजन से लाभ—द्वि सदनीय विधान सभा में काय बट जाता है। आधुनिक युग मे व्यवस्थापिका का काय इतने भिन्न प्रकार का तथा अधिक होता है कि बिना विशेष प्रयत्न के उसे पूण करना कठिन होता है। दूसरा सदन उस बडे काय मे हाथ बटा सकता है। कुछ प्रस्ताव प्रथम के स्थान पर द्वितीय मे पहले प्रस्तुत किए जा सकते हैं और इस सदन द्वारा पारित होने के बाद प्रथम सदन को भेजे जा सकते हैं। इस प्रकार प्रथम सघ का काय भार हल्का हो जाता है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्तावो पर समुचित विचार विनिमय कर सकता है।

द्वितीय सदन के विपक्ष मे तक – अनेक विद्वानो ने द्वि सदनीय व्यवस्थापिका प्रणाली की निम्न आधारो पर कटु आलोचना की है—

(1) लोकमत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता—विख्यात लेखक अबेसियेस के अनुसार, "लोकमत का सही प्रतिनिधित्व केवल प्रथम सदन ही कर सकता है, द्वितीय नहीं। किसी भी विषय पर लोकमत एक ही हो सकता है दो नही। यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि समर्थन करता है, तो व्यथ है। अत प्रत्येक अवस्था में इससे कोई लाभ नही।"

(2) गत्यावरोध की सम्भावना—बजामिन फ्रैंकलिन के अनुसार —"द्वि-सदनात्मक विधानमण्डल उस गाडी की तरह है जिसमे दोनो ओर एक एक घोडा जुता हो और दोनो उस गाडी को अपनी अपनी तरफ खीच रहे हो।" यदि दो सदन

होगे तो उनमे आपस में मतभेद और विवाद होंगे और कानून की स्वीकृति म देर लगेगी। शासन काय मे विभिन्नता के साथ ही शासन की सुचारुता पर भी विपरीत प्रभाव पडेगा।

(3) विलम्ब करने के अधिकार का दुरुपयोग—कुछ देशो मे जस कि इगलण्ड मे उच्च सदन को बिलो के पारित हाने मे विलम्ब करन का अधिकार होता है, बहुधा इस अधिकार का दुरुपयोग किया जाता है जिसम प्रगतिशील एव उपयोगी कानून के स्वीकृत होने मे बाधा पड सकती है।

(4) धनिकों और अनुदारों का गढ़—अनुभव यह बताता है कि उच्च सदन वास्तव में धनिको और अनुदार दलों का गढ बन जाता है जिसम जनसाधारण के हितो को हानि पहुँचती है। उदाहरणाथ लॉड-सभा को सदव अनगत कहा जाता है क्योकि वह शाही वशजो को छोड अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नही करता और स्वत एक वग के रूप मे है।

(5) पुर्नानरीक्षण काय की धारणा भ्रामक—यह कहा जाता है कि एक सदन द्वारा स्वीकृत कानून न तो कुविचारित होता है और न ही जल्दबाजी का। प्राय प्रत्येक प्रस्ताव, जो कानून बनता है विवाद और विश्लषण की लम्बी विधि का परिणाम होता है। आजकल की प्रत्यक व्यवस्थापिका सभा कानून बनाते समय समाचार-पत्रो एव मच पर व्यक्त की गई सम्मतियो की ओर पूरा ध्यान देती है। इन परिस्थितियों मे दो दो बार विचार करना और आवश्यक कानून निर्माण मे विलम्ब करना उचित नही जान पडता।

(6) सघीय राज्य मे कोई महत्त्व नहीं—सघीय व्यवस्था मे भी दो सदनो का होना अनिवाय नही क्योकि सघ के सम्पूण राजनीतिक जीवन पर राजनीतिक दलो का प्रभाव होता है। उच्च सदन द्वारा स्थानीय हितो का व राज्यीय हितो का प्रतिनिधित्व करना उचित नही।

(7) निर्माण सम्बन्धी कठिनाइयाँ—द्वितीय सदन की एक भारी कठिनाई इसकी निर्माण सम्बन्धी है। यदि सदन के सदस्यो की नियुक्ति चुनाव द्वारा की जाय तो निम्न सदन की कवल नकल मात्र होगी और यदि इसको मनोनीत किया जाय तो सत्तारूढ दल के हाथ मे अपरिमित शक्ति आ जाती है। साथ ही यदि इस सदन के सदस्यो का स्थान लॉड-सभा की तरह वशानुगत कर दिया जाय तो वतमान प्रजातन्त्रीय युग में यह बडी अवांछनीय प्रथा होगी।

(8) अल्प सख्यकों के हितों की रक्षा के लिए उच्च सदन से कहीं अधिक अच्छी अन्य विधियाँ हैं। इनके हितो की रक्षा सविधान तथा न्यायालय द्वारा कहीं अधिक अच्छी प्रकार से की जा सकती है।

तार्किक दृष्टिकोण स भले ही दूसर सदन की विशेष आवश्यकता प्रतीत न हो परन्तु ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि एक सदनीय पद्धति कभी लोकप्रिय नहीं हो सकी है। द्वितीय सदन की सब बुराइयो के बावजूद आजकल लगभग सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे दो सदनो की व्यवस्थापिकाएँ पायी जाती हैं। इस बात

पर अधिकांश विद्वान् सहमत हैं कि दूसरा सदन प्रथम सदन के पारित प्रस्तावो पर विचार करके एक महत्वपूर्ण कार्य करता है तथा महत्त्वपूर्ण विषयो पर पूर्ण एव स्वतन्त्र विवाद का अवसर प्रदान करता है। अत यह स्वीकार करना होगा कि द्विसदनात्मक व्यवस्था में हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हैं।

व्यवस्थापिका सभाओ के सदनो की रचना

जहाँ तक प्रथम सदन का प्रश्न है सभी जगह उसकी रचना राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यो द्वारा होती है। द्विसदनीय रचना मे अवश्य ही भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न भिन्न सिद्धान्तो का प्रयोग किया जाता है। यदि ग्रेट ब्रिटेन में हाउस ऑफ लॉर्ड्स की रचना वशानुगत आधार पर होती है तो सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील और आस्ट्रेलिया आदि राज्यो के द्वितीय सदन पूर्णत निर्वाचित होते हैं। कुछ राज्यो मे ऐसी व्यवस्था भी होती है कि द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाएँ। जापान, इटली और कनाडा आदि देशो मे ऐसी व्यवस्था रही है। ऐसे राज्य भी हैं जिनमे पूर्ण मनोनयन तथा पूर्ण निर्वाचन के मध्य का मार्ग ग्रहण किया गया है। दूसरे शब्दों मे राज्यो मे द्वितीय सदन के सदस्यों का आंशिक रूप में मनोनयन और आंशिक रूप से निर्वाचन होता है। भारतीय सघ मे द्वितीय सदन (राज्य परिषद्) की रचना इसी सिद्धान्त के आधार पर की जाती है।

व्यवस्थापिका सभाओ का कार्यकाल

इस विषय मे साधारणत यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि ससद् का कार्यकाल न अधिक लम्बा हो और न अत्यन्त अल्प। कार्यकाल लम्बा होने से सदस्यो मे निर्वाचकों के प्रति विश्वासपात्र बने रहने की प्रवृत्ति घटती है। इसके विपरीत यदि ससद् का कार्यकाल बहुत ही अल्प रखा जाता है तो जिस कार्यक्रम को लेकर सदस्य राजनीतिक दलों के रूप मे निर्वाचित होकर ससद् मे जाते हैं, उसे वे समयाभाव के कारण पूरा नहीं कर पाते। अत साधारणतया यह कहा जा सकता है कि, "ससद् का कार्यकाल इतना छोटा नहीं होना चाहिए कि प्रतिनिधिगण और जनता मे निकट सम्पर्क कायम न रहे तथा न ही इतना लम्बा होना चाहिए कि ससद् के सदस्य अनुभव प्राप्त कर सकें और जनता को जल्दी-जल्दी चुनाव के झझट मे न पड़ना पड़े।"

व्यवस्थापिका सभाओ की समिति प्रणाली

आधुनिक विधायिकाएँ कार्य भार से अत्यधिक दबी रहती हैं। अत जो विधेयक उनके सम्मुख उपस्थित रहते हैं उन सबका विस्तारपूर्वक सूक्ष्म परीक्षण करने के लिए वे पर्याप्त समय प्राप्त नहीं कर पातीं। अत ससार की लगभग सभी विधायिकाएँ अपना अधिकांश काम समितियो द्वारा करती हैं ताकि कार्य सुचारु रूप से संचालित हो सके और समय की भी बचत हो सके। कार्यपालिका विधायिका से पृथक पृथक होने से अमेरिका मे कांग्रेस का सारा काम समितियो द्वारा होता है। ब्रिटेन, भारत आदि की ससदें भी समिति व्यवस्था का पूर्ण लाभ उठाती हैं।

कार्यपालिका
(The Executive)

कार्यपालिका सरकार का दूसरा अंग है। आधुनिक राज्यों में उसका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्राय उसी के लिए 'सरकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग उन अधिकारियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनका काम कानूनों को क्रियान्वित करना है। पर राजनीतिक विज्ञान में कार्यपालिका शब्द को उसके संकुचित अर्थ में प्रयोग करने की ही प्रथा है। यह अर्थ राज्य के मुख्य कार्यपालक नेता और उनके परामर्शदाताओं तथा मन्त्रियों का ही संकेत करता है। उदाहरण के लिए भारत में राष्ट्रपति और उसका मन्त्रिमण्डल, ब्रिटेन में राजा और उसका मन्त्रिमण्डल तथा अमेरिका में राष्ट्रपति एवं उसके सचिवों को कार्यपालिका कहा जाता है। आधुनिक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत केवल वे व्यक्ति ही सम्मिलित किए जाते हैं जो "नीति निर्धारण करते हैं, योजनाओं का निर्माण करते हैं, कानूनों की कार्यान्विति को देखते हैं तथा सैनिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं।" इनके अतिरिक्त राज्य के अन्तर्गत जितने भी सिविल सेवा या प्रशासन के स्थायी अधिकारी होते हैं, उन्हें कार्यपालिका में नहीं गिना जाता।

कार्यपालिका के विभिन्न रूप
(Various Forms of Executive)

आधुनिक कार्यपालिका के विभिन्न रूप हैं—

(क) 1 ध्वजमात्र कार्यपालिका (Titular Executive)
 2 वास्तविक कार्यपालिका (Real Executive)

(ख) 3 एकल कार्यपालिका (Singular Executive)
 4 बहुल कार्यपालिका (Plural Executive)

(ग) 5 संसदात्मक कार्यपालिका (Parliamentary Executive)
 6 अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Presidential Executive)

(क) ध्वजमात्र और वास्तविक कार्यपालिका ध्वजमात्र कार्यपालिका को नाममात्र की कार्यपालिका (Nominal Executive) भी कहा जाता है। यह वह कार्यपालिका होती है जिसके नाम पर शक्ति की ध्वजा बँधी रहती है, कार्यपालिका का सम्पूर्ण कार्य जिसके नाम पर होता है किन्तु शासन की वास्तविक शक्ति उसके पास नहीं होती। इंग्लैण्ड का राजा (वर्तमान में रानी) इसी प्रकार की कार्यपालिका है। यहाँ वास्तविक कार्यपालिका कैबिनेट है जिसके चारों ओर शासन रूपी धुरी घूमती है। जिन देशों में संसदात्मक (Parliamentary) शासन पद्धति है वहाँ नाममात्र कार्यपालिका को कुछ नहीं करना पड़ता। शासन का सम्पूर्ण कार्य मन्त्रिमण्डल संचालित करता है। उसके सारे कार्यों पर एक मन्त्री की सहमति आवश्यक होती

है जो मन्त्रिमण्डल, विधायिका और जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। नाममात्र की कार्यपालिका द्वारा किए जाने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य एक प्रकार से रस्मी काम होते हैं। भारतीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति भी राज्य का नाममात्र का नेता है। असली कार्यपालिका 'मन्त्रिपरिषद्' है।

(ख) एकल और बहुल कार्यपालिका—जिस कार्यपालिका की प्रधान शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ में होती है उसे एकल कार्यपालिका (Singular Executive) कहते हैं। अमरिका की कार्यपालिका इसी प्रकार की है क्योंकि वहाँ कार्यपालिका की समस्त शक्ति केवल एक व्यक्ति राष्ट्रपति में निहित है। बहुल कार्यपालिका (Plural Executive) वह होती है जिसमें शक्ति का स्रोत एक व्यक्ति न होकर अनेक व्यक्ति होते हैं और जिसमें प्रशासन का उत्तरदायित्व एक से अधिक व्यक्तियों पर होता है। बहुल कार्यपालिका का सर्वोत्तम उदाहरण स्विटजरलैण्ड की कार्यपालिका है। यह निःसन्देह अपने ढंग की अनूठी है। यह 7 सदस्यों की एक परिषद् होती है जिसका चुनाव संसद् के दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक में किया जाता है। सोवियत रूस में भी शासन की सर्वोच्च संघीय परिषद् या प्रसीडियम द्वारा उन सभी कार्यपालिका कार्यों का सम्पादन किया जाता है जो अन्य देशों में कार्यपालिका प्रधान करता है। स्टॉलिन ने इसे कालेजियेट प्रसीडेण्ट (Collegiate President) अर्थात् सामूहिक राष्ट्रपति की संज्ञा दी थी।

(ग) संसदीय एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका—जो कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए संसद् के समक्ष उत्तरदायी होती है और जिसका जीवन मरण संसद् के हाथ में होता है उसे संसदात्मक कार्यपालिका कहते हैं। इस प्रकार की कार्यपालिका के सदस्य अर्थात् मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं। संसदीय कार्यपालिका की कार्यावधि निश्चित नहीं होती क्योंकि व्यवस्थापिका उसे कभी भी पदच्युत कर सकती है। भारत और ब्रिटेन में इसी प्रकार की कार्यपालिका है। दोनों देशों में मन्त्रिमण्डल (Cabinet) ही वास्तविक कार्यपालिका होती है जो राष्ट्रपति या राजा के नाम पर समस्त शासनात्मक संगठन का संचालन करती है। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका उसे कहते हैं जो व्यवस्थापिका से बिलकुल पृथक होती है। संविधान द्वारा दोनों की शक्तियाँ बँटी रहती हैं और वे एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करतीं। इस प्रकार की कार्यपालिका में शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ राज्याध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति में निहित रहती हैं जो अपने मन्त्रियों की सहायता से शासन कार्य का संचालन करता है। राष्ट्रपति और उसके मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और न ही वे उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वास्तविक स्थायी कार्यपालिका होती है जिसे व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर पदच्युत नहीं कर सकती। इस प्रकार की कार्यपालिका का सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका है। वहाँ राष्ट्रपति और उसके सचिव काँग्रेस से पृथक तथा स्वतन्त्र हैं। दोनों का गठन और कार्य संविधान द्वारा निर्धारित है। अमेरिकी राष्ट्रपति संविधान के अतिरिक्त और

किसी के प्रति, उत्तरदायी नहीं है। उसे अवधि से पूर्व या तो उसका स्वय का त्यागपत्र या उसकी मृत्यु ही उठा सकती है या वह कवल महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है जो एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

कार्यपालिका के कार्य
(Functions of the Executive)

कार्यपालिका का प्रमुखतम कार्य राज्य की उस इच्छा को कार्यरूप देना है जो व्यवस्थापिका द्वारा कानूनो के रूप म व्यक्त की जाती है। सविधानो के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि कार्यपालिका के कार्य हर जगह और हर समय एक ही नहीं होते। व कार्यपालिका क रूप अथवा प्रकार के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। फिर भी सामान्यतया आधुनिक युग मे कार्यपालिकाओ द्वारा जिन महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन किया जाता है उन्हे हम निम्नांकित शीर्षको मे व्यक्त कर सकते हैं -

(1) प्रशासकीय कार्य—प्रशासन की नीति निर्धारण करना तथा राज्य का प्रबन्ध करना किसी भी कार्यपालिका का सवप्रथम कर्त्तव्य है। कानूनो का कार्य रूप देने के लिए कार्यपालिका अथवा शासन विभाग द्वारा कर्मचारियो की नियुक्ति की व्यवस्था की जाती है। कार्यपालिका उन्हे उचित आदेश देती है और यह देखती है कि प्रशासन-कार्यों का सचालन सुचारू रूप से हो। लगभग सभी राज्यो म स्थायी सिविल कर्मचारियो के बारे मे निश्चित नियम होते हैं और उन सभी नियमो का स्रोत कार्यपालिका ही होती है। कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उनमे सशोधन व परिवर्तन कर सकती है।

ससदीय प्रणाली मे कार्यपालिका का कार्य प्राय अधिक कुशलता स होता है क्योकि मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री किसी विशेष विभाग या कई विभागो का दायित्व सम्भाल कर उन्हें कुशलतापूर्वक निभाने का प्रयत्न करता है और इसके लिए ससद् के प्रति उत्तरदायी होता है।

(2) सैनिक कार्य—कार्यपालिका सैन्य अधिकारियो के स्थल, जल एवं वायुसेना की सर्वोच्च कमान होती है। कुछ राज्यो में युद्ध की घोषणा करने का भी अधिकार इसमें शामिल है। कार्यपालिका विदेशों के साथ सन्धि और समझौते भी कर सकती है।

(3) कूटनीतिक कार्य—प्रत्येक राज्य के दूसरे राज्य के साथ कुछ सम्बन्ध स्थापित होते है और उनम पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार होता है, सन्धियाँ होती हैं व्यापारिक समझौते होते हैं तथा राजदूतों का आदान-प्रदान होता है। तत्सम्बन्धी सभी कार्य कार्यपालिका करती है यद्यपि व्यवस्थापिका का इस सम्बन्ध म पर्याप्त नियन्त्रण रहता है। कार्यपालिका ही विदेशो के साथ आर्थिक, राजनीतिक, व्यापारिक सभी प्रकार के समझौते सम्पन्न करती है।

(4 विधायी कार्य—कार्यपालिका किसी न किसी रूप म व्यवस्थापिका के साथ विधि निर्माण के कार्य म अवश्य भाग लेती है अथवा उस प्रभावित करती है। ससदीय पद्धति वाले राज्यो म मन्त्रिपरिषद् ससद् का अधिवेशन बुलाती है उसका सत्रावसान तथा विघटन करती है। यद्यपि कानूनों को सब जगह विधानमण्डल ही

स्वीकृत करता है। किन्तु विधेयकों पर विचार करने के लिए प्रस्ताव रखना, विधेयकों को प्रस्तुत करना तथा पारित कराना, किसी विधेयक को कानून का रूप लेने से रोकना आदि कार्यों मे कार्यपालिका का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भाग रहता है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी जगह इसे व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त अपने अधिकार के अन्तर्गत कानूनी आदेश एव नियम जारी करने का भी अधिकार रहता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अधिवेशन के आरम्भ मे अथवा अधिवेशन काल मे समय समय पर देश की आवश्यकता के बारे मे आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करती है। व्यवस्थापिका के विश्रान्तिकाल में कार्यपालिका आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश (Ordinances) जारी करती है। किन्ही राज्यो मे ऐसी व्यवस्था भी है कि राज्य का अध्यक्ष सकटकालीन घोषणा करके स्वय सारी शक्तियां ग्रहण कर लेता है और व्यवस्थापन कार्य अपने ऐसे अध्यादेशो के माध्यम से सम्पादन कर सकता है जिनकी मान्यता ससद् द्वारा पारित कानूनो के अनुरूप ही होती है।

(5) न्यायिक कार्य—प्रत्येक देश की कार्यपालिका के प्रधान कुछ न्यायिक कार्य भी करते हैं जैसे न्यायाधीशो की नियुक्ति, अपराधियो का क्षमा दान दण्ड घटाना आदि। भारत और अमेरिका मे राज्याध्यक्षो को यह अधिकार प्राप्त है। कुछ देशो मे शासन के अधिकारियो और नागरिको के मध्य कुछ विशेष प्रकार के विवादो के निर्णय का न्यायिक अधिकार कार्यपालिका को रहता है।

(6) वित्तीय कार्य—देश के समूचे आय-व्यय का व्यावहारिक रूप मे उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है, यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से इस आय व्यय की स्वीकृति विधानमण्डल ही देता है। भारत एव ब्रिटेन मे केबिनेट ही धन विधेयकों को ससद् में प्रस्तुत करती है और अपने बहुमत के बल पर ससद् से उन्हें पारित करवाती है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सम्पूर्ण विधि निर्माण का कार्य कांग्रेस का है, लेकिन व्यावहारिक रूप से बजट राष्ट्रपति के निर्देशन मे ही तयार होता है। यद्यपि इसे पारित कांग्रेस ही करती है।

राष्ट्रीय कोष की समुचित व्यवस्था के लिए कार्यपालिका के अन्तर्गत एक वित्त विभाग होता है। यह प्रत्येक विभाग के आय व्यय का निरीक्षण करता है और उस पर नियन्त्रण रखता है।

(7) अन्य कार्य—कार्यपालिका और भी अनेक कार्यों का सम्पादन करती है, जैसे उपाधियो का वितरण व्यक्तियो का उनकी विशिष्ट सेवाओ के लिए पेन्शन या अन्य प्रकार की सहायता आदि। राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के विस्तार के साथ कार्यपालिका का अधिकार और कार्य क्षेत्र मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को छूने लगा है। आज व्यवस्थापिका की स्थिति कार्यपालिका के समक्ष गौण हो गई है। कार्यपालिका का स्वरूप इतना जटिल और शक्तिशाली बन गया है कि इसके समस्त कार्यों को किसी सीमा मे बाँधना अत्यन्त दुष्कर है।

कार्यपालिका के निर्वाचन की विधि

देशकाल के अनुसार कार्यपालिका की नियुक्ति भिन्न भिन्न प्रकार से होती है। आधुनिक काल में राज्य की मुख्य कार्यपालिका के चयन की चार

विधियाँ प्रचलित हैं—(1) वंशानुगत, (2) जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन (3) निर्वाचित निर्वाचक मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन, (4) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन।

कार्यपालिका का कार्य काल

कार्यपालिका का कार्य काल राज्य में प्रचलित शासन पद्धति पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ जिस राज्य में राजतन्त्र हो, वहाँ शासक का कार्यकाल अनिश्चित रहता है, अर्थात् शासक एक लम्बे तथा अनिश्चित काल तक के लिए पदासीन रहता है। संसार के विभिन्न आधुनिक जनतन्त्रीय राज्यों में कार्यपालिका का कार्यकाल भिन्न भिन्न है। संयुक्त राज्य अमरिका के कुछ राज्यों में एक वर्ष, कुछ में दो वर्ष और कुछ में चार वर्ष है। अमेरिकी राष्ट्रपति का निर्वाचन चार वर्ष की एक निश्चित अवधि के लिए होता है और उसी अवधि के लिए वह अपने मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति कर सकता है। संसदीय पद्धतिवाले राज्यों में कार्यपालिका सामान्य व्यवस्थापन विभाग के एक या दोनों सदनों के कार्यकाल के समान होता है, *यद्यपि कार्यपालिका केवल तभी तक पदासीन रह सकती है जब तक व्यवस्थापिका* उसके प्रति अपना अविश्वास प्रकट न करे। भारत में राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष है। मन्त्रिपरिषद् जो कि वास्तविक कार्यपालिका है, लोकसभा के अविश्वास प्रस्ताव द्वारा कभी भी हटायी जा सकती है। अमेरिकी और भारतीय राष्ट्रपतियों को मध्यावधि में ही हटाने के लिए संसद के हाथ में महाभियोग का अस्त्र है।

न्यायपालिका
(The Judiciary)

राज्य के अंगों में न्याय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि किसी देश में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका तो उत्तम हो, पर स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका न हो तो उस देश के संविधान का अधिक मूल्य नहीं रह जाता। नागरिकों का कल्याण सत्वर और पक्षपातरहित न्यायपालिका पर ही निर्भर करता है। हर नागरिक एक सभ्य सरकार से यह आशा रखता है कि वह निरंकुश शासन से उसकी रक्षा करे और इस सुरक्षा का सर्वोत्तम साधन एक सुसंगठित न्यायपालिका ही है।

यह देखने के लिए कि राजकीय कानूनों का पालन सर्वत्र ठीक ढंग से हो रहा है। यदि कोई उल्लंघन करता है तो उसे दण्ड व्यवस्था द्वारा ऐसा करने से रोकने के लिए निर्भीक निष्पक्ष और न्यायिक संस्था का होना अनिवार्य है। सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए कानून ही सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है और इन कानूनों के अनुसार न्याय करने का कार्य न्यायपालिका का ही है। आधुनिक युग में न्यायपालिका का महत्त्व और भी बढ़ गया है क्योंकि यह केवल पारस्परिक अभियोगों का निर्णय ही नहीं करती अपितु उन विवादों का निर्णय भी करती है जो व्यक्तियों तथा राज्यों अथवा राज्यों और राज्यों के मध्य उठ खड़े होते हैं।

न्यायपालिका के कार्य

(1) अभियोग निर्णय—न्यायपालिका का सबसे प्रमुख कार्य कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करना है। न्यायालय दीवानी फौजदारी एवं राजस्व संबंधी सभी पारस्परिक विवादों का निर्णय विधि अनुसार करते हैं। इस सम्बन्ध में न्यायालय अपने निर्णय प्रचलित कानूनों के अनुसार करते हैं। वे कानूनों की अच्छाई या बुराई से सम्बन्ध नहीं रखते।

(2) कानूनों की व्याख्या—यद्यपि न्यायाधीश कानूनों के औचित्य तथा अनौचित्य से सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु कानूनों की व्याख्या करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। न्यायालयों द्वारा कानूनों के स्पष्टीकरण के लिए की गई व्याख्याओं की स्थिति कानूनों के समान होती है।

(3) औचित्य के सिद्धान्त पर निर्णय—कभी-कभी न्यायाधीशों के समक्ष ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जब कोई निश्चित कानून लागू नहीं होता। ऐसे समय न्यायाधीश अपने विवेकानुसार जो उसे न्यायसंगत जान पड़ता है, निर्णय कर देता है। इन निर्णयों के आधार पर कानून की परम्परा स्थापित हो जाती है और राज्य में कानूनों के लिए ऐसे प्रकार का विकास होता है जिन्हें न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है।

(4) अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा—न्याय विभाग व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों की रक्षा भी करता है जो व्यक्ति को संविधान द्वारा प्राप्त होते हैं। न्यायालय देखता है कि राज्य की शक्ति व्यक्ति की उचित स्वतन्त्रता में बाधक न बने। ऐसी स्थिति में व्यक्ति न्याय विभाग से न्याय प्राप्त कर सकता है। न्यायालय व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करने वाले किसी भी शासकीय कार्य पर रोक लगा सकता है।

(5) संविधान का संरक्षण—न्यायपालिका का एक प्रमुख कार्य संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिपादित व्यवस्था की रक्षा करना है। संघीय व्यवस्था में न्यायालय को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों तथा कार्यकारिणी की आज्ञाओं को वैध या अवैध घोषित करने का अधिकार होता है। संघीय सरकार व उसकी इकाइयों के मध्य के और इकाइयों के पारस्परिक विवादों का निर्णय भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) के अधिकार से कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका द्वारा होने वाले अतिक्रमणों के विरुद्ध न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में काम करने का अवसर प्राप्त होता है।

(6) परामर्श—अनेक राज्यों में न्यायपालिका वहाँ के राज्याध्यक्ष को कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देती है। इङ्गलैण्ड में न्यायालयों से किसी मामले के सम्बन्ध में औपचारिक निर्णय माँगने की प्रथा प्रचलित है। भारत में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँग सकता है। कनाडा, पनामा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन आदि देशों में भी न्यायपालिका परामर्शात्मक कार्य का निर्वाह करती है।

(7) **प्रशासनिक कार्य**—उच्च न्यायालयों को और सर्वोच्च न्यायालय को स्थानीय पदाधिकारियों और अधीनस्थ कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा न्यायालय के आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी छोटे छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार प्राप्त होता है।

(8) **विविध कार्य**—गार्नर ने न्यायपालिका के अन्य कार्यों का भी उल्लेख किया है। "(1) विभिन्न प्रकार के लेख (Writs) और आदेश (Injunctions) जारी करना, (2) सम्बन्धित पक्षों की प्रार्थना पर यह निर्णय देना कि क्या ठीक उचित या अधिकार संगत है और विधि की मांग क्या है (3) न्यायालय के कुछ स्थानीय अधिकारियों को नियुक्त करना, क्लर्कों तथा अन्य कर्मचारियों को नियुक्त करना, लाईसेंस देना, संरक्षकों और न्यायाधिकारियों (Trustees) को नियुक्त करना, वसीयतनामों को प्रमाणित करना, मृत व्यक्तियों की संपत्ति का प्रबन्ध करना, आदातात्रों (Receivers) को नियुक्त करना आदि।"

वास्तव में न्यायपालिका के महान् कार्यों की यह मोटी रूपरेखा मात्र ही दी गई है। न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है तथा विभिन्न राज्यों में किसी सीमा तक उनमें न्यूनाधिक भिन्नता भी पायी जाती है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और इस स्वतन्त्रता प्राप्ति के साधन

राज्य की श्रेष्ठता की माप वहाँ की न्यायपालिका पर निर्भर करती है। जिस राज्य की न्याय व्यवस्था जितनी अधिक अच्छी है, वह राज्य उतना ही श्रेष्ठ है। यदि न्यायपालिका निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र नहीं है, तो जनता का उस पर से विश्वास हट जाता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि न्यायाधीशों को निष्पक्ष, ईमानदार और न्याय कार्य में स्वतन्त्र होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उनमें भ्रष्टाचार नहीं होना चाहिए और उन पर विधान मण्डल तथा कार्यकारिणी का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, 'न्यायपालिका की स्वतन्त्रता' से यह अभिप्राय है कि न्यायाधीश अपने पद की स्थिरता के सम्बन्ध में निश्चिन्त हों, उन्हें यह भय न हो कि उनको कभी भी उनके पद से पृथक किया जा सकता है।" न्यायाधीश अपने कर्त्तव्यों का भली प्रकार पालन तभी कर सकते हैं जब उन्हें यह विश्वास हो कि कोई उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता।

यदि हम चाहते हैं कि एक देश में न्याय निष्पक्ष तथा समान हो, तो वहाँ की न्यायपालिका का स्वतन्त्र और प्रवीण होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्र न्यायपालिका व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करती है, कार्यकारिणी के अधिकारों की सीमा निर्धारित कर देती है और उसे मनमाने ढंग से कार्य नहीं करने देती। एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायालय जनता के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा का कवच है और सरकार की उत्तमता का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव में न्याय पद्धति सर्वथा निरर्थक हो जाती है और न्याय का

वह उद्देश्य, जिसके लिए न्यायपालिका का गठन किया जाता है, सर्वथा परास्त हो जाता है। स्वतन्त्र न्यायपालिका स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अति आवश्यक है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए निम्न अवस्थाएँ अथवा शर्तें आवश्यक हैं—

(1) नियुक्ति की विधि—न्यायाधीशों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा नहीं होनी चाहिए अन्यथा वे दलबन्दी के चक्कर में पड जायेंगे। न्यायाधीश या तो न्यायाधीशों की समिति की सिफारिश पर कार्यकारिणी के प्रधान द्वारा नियुक्त किए जाने चाहिए अथवा स्वतन्त्र प्रतियोगिता द्वारा। लॉस्की के अनुसार नियुक्ति के समय न्यायाधीशों की एक स्थायी-समिति की स्वीकृति अनिवार्य कर दी जाती है तो इससे निष्पक्ष न्यायालय की स्थापना अधिक सुनिश्चित हो जाती है।

(2) अवधि की सुरक्षा—न्यायाधीशों की योग्यता तथा स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि उनके कार्यकाल की अवधि सुरक्षित और निश्चित हो तथा केवल मात्र कर्त्तव्य भ्रष्ट होने पर ही उन्हें *पदच्युत किया जाय*, किन्तु ऐसा कार्यकारिणी द्वारा न होकर व्यवस्थापिका द्वारा हो और वह भी एक निश्चित विधि के अनुसार। अल्पकाल के लिए घातक सिद्ध होती है। इसलिए न्यायाधीशों के पद की अवधि सदाचार और सुनिश्चितता के आधार पर होनी चाहिए।

(3) पर्याप्त वेतन—न्यायाधीशों का वेतन इतना ऊँचा होना चाहिए जिससे वे किसी प्रलोभन में न पड़ें और न न्याय खरीदा जा सके। ऊँचा वेतन इसलिए भी आवश्यक है ताकि विशेष योग्य पुरुष इस ओर आकर्षित हो सकें।

(4) न्यायाधीशों की योग्यता न्यायपालिका का कार्य सुचारु रूप से सचालित हो इसके लिए आवश्यक है कि उच्च कानूनी महत्ताओं, सूक्ष्म-बुद्धि और दृढ व निष्कपट चरित्रवाले व्यक्तियों को ही न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जावे। न्याय एक दैवी गुण माना जाता है अतः न्यायाधीशों को दैवी गुणों से विभूषित होना चाहिए।

(5) प्रशासनिक कार्यों का पृथक्करण—स्वतन्त्र न्यायपालिका के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायपालिका को विधान मण्डल और कार्यपालिका से पृथक रखा जाय। यदि कार्यकारी और न्याय दोनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथ आ जायेंगी तो ये न्याय के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होंगी। यदि वही आदमी आरोप लगाये और वही न्यायाधीश बन कर न्याय करे तो उस न्यायाधीश का निर्णय निष्पक्ष नहीं होगा। इसी प्रकार न्यायपालिका को यदि विधान मण्डल से सम्बन्धित रखा जाय तो भी अधिकारों के दुरुपयोग का भय है।

शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त
(Theory of Separation of Powers)

सरकार के तीन अंग होते हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। इनके द्वारा क्रमशः विधायी, प्रशासकीय और न्यायिक कार्यों का सम्पादन किया जाता है। लोकतान्त्रिक शासन प्रणालियों का विकास होने से पूर्व तक सरकार के

तीनो अगो की शक्तियाँ एक ही शासक में निहित होती थीं, किन्तु प्रजातांत्रिक विचारो के प्रसार के साथ यह समस्या उत्पन्न हुई कि सरकार के तीनो अंगों की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथो मे केन्द्रित रहे या पृथक्-पृथक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूहो के हाथ मे। इस प्रकार की समस्या के समाधान के लिए जिन विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ, उनमे आधुनिक युग के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का सबसे अधिक महत्व है। इस सिद्धान्त के साथ नियन्त्रण और सन्तुलन की धारणा मुख्य रूप से सम्बद्ध है।

सिद्धान्त का विकास

शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लाज' द्वारा मिश्रित राज्य का विचार प्रस्तुत किया था। अरस्तू ने शासन के वैधानिक प्रशासनिक और न्यायिक रूप तथा इनके कार्य का उल्लेख कर शक्ति-पृथक्करण का आभास दिया था। रोम के गणतन्त्र मे शासन-कार्य का विभाजन था। सिसरो के समय मे अनेक शताब्दियो तक शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त अचर्चित रहा। 14वी शताब्दी मे मार्सिलियो ने कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की शक्तियो के बीच विभाजन रेखा खींचने का प्रयत्न किया। 16वीं शताब्दी मे बोदाँ ने स्पष्ट रूप से न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रखने की वकालत की। इङ्गलैण्ड में रक्तहीन राज्य क्रांति से पूर्व क्रामवल ने कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों मे पृथक्करण करके इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की।

17वी शताब्दी मे लॉक ने व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का पृथक्करण स्वीकार किया तथा कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीनस्थ माना। उसने यह भी कहा कि न्यायिक कार्य विधायी और प्रशासकीय कार्यों से भिन्न होते हैं, अत इन्हे दोनो ही से, या कम से कम व्यवस्थापिका से पृथक रखना चाहिए।

सिद्धान्त की व्याख्या (मॉण्टेस्क्यू)

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रथम सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्या फ्रांसीसी विचारक माण्टेस्क्यू द्वारा की गई थी। उसके अनुसार स्वतन्त्रता तभी कायम रह सकती है जब कार्यपालिका न्यायपालिका और व्यवस्थापिका पृथक-पृथक अपना कार्य सम्पादन करें तथा एक दूसरे के क्षेत्र पर हावी न हो। जहाँ विधि निर्माण और कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति मे केन्द्रित होगी वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही रह सकती क्योंकि एक ही व्यक्ति कानून निर्माता भी होगा और कानून को लागू करने वाला भी। इसी प्रकार यदि विधायी और न्यायिक शक्तियो को भी एक ही व्यक्ति के हाथों मे सौंप दिया गया तो प्रजा अपने जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित नही रख सकेगी क्योकि विधियो का निर्माण करने वाला ही विधि का व्याख्याता और न्यायाधीश बन जाएगा। इसी तरह यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियो का भी एक ही व्यक्ति स्वामी रहेगा तो भी स्वतन्त्रता की रक्षा असम्भव है क्योकि एक ही संस्था अभियोक्ता भी

होगी और न्यायाधीश भी। पुनश्च, यदि विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी कार्य एक ही व्यक्ति के हाथों में रहेंगे तो विनाश अवश्यम्भावी है। मॉण्टेस्क्यू ने यही निष्कर्ष निकाला कि सरकार के विभिन्न अंग पृथक् पृथक रहें और कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

ब्लेकस्टोन का मत माण्टेस्क्यू के कुछ वर्षों बाद विख्यात ब्रिटिश न्याय शास्त्री ब्लेकस्टोन ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के समर्थन में लिखा है कि, "जहाँ कहीं कानून बनाने और उन्हें लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित रहता है वहाँ सार्वजनिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है क्योंकि शासक अत्याचारपूर्ण कानून बनाकर उन्हें मनमाने ढंग से लागू कर सकता है। यदि न्यायिक अधिकार को व्यवस्थापिका के साथ संयुक्त कर दिया जाता है तो प्रजा के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथ में आ जाते हैं और वे सभी फैसले अपने मतानुसार देते हैं न कि आधारभूत कानूनों के अनुसार। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ संयुक्त कर दिया जाता है तो व्यवस्थापिका का स्थान गौण हो जाता है।" अमरिका के सुप्रसिद्ध विधान शास्त्री मेडिसन ने भी शक्तियों के विभाजन को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए आवश्यक माना था।

आधुनिक विचार—शक्ति पृथक्करण के प्रारम्भिक विचारों में सरकार के द्विमुखीय विभाजन पर ही बल दिया गया और वर्तमान पीढ़ी के प्रो० गुडन, पावल आदि लेखक भी न्यायपालिका को कार्यपालिका का ही एक अंग मानते हैं, तथापि 18वीं शताब्दी के मध्य तक आमतौर पर सरकार के त्रिमुखी विभाजन को संवैधानिक शासन की आधारभूत आवश्यकता मान लिया गया और आज तो, कतिपय अपवादों को छोड़ कर, यह लगभग एक सर्वमान्य संवैधानिक धारणा है। शक्ति पृथक्करण के एक विशुद्ध सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए प्रो० एम जे सी वाइल (M J C Vile) का कथन है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है कि सरकार को विधायी, कार्यकारी और न्यायिक—इन तीन अंगों में विभाजित किया जाय। प्रत्येक अंग अपने कार्य-सम्पादन तक ही सीमित रहे, उसे दूसरे अंगों के कार्यों का अतिक्रमण न करने दिया जाय। जो व्यक्ति इन तीन अंगों की रचना करें वे भी एक दूसरे से पृथक् हों। कोई भी एक व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक अंग अथवा शाखा का सदस्य न हो। इस प्रकार सरकार का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर नियन्त्रण रखे और व्यक्तियों का कोई एक समूह सम्पूर्ण सरकारी मशीनरी पर पूरी तरह हावी न हो।

वाइल के अनुसार, यद्यपि अपने अतिवादी रूप में सिद्धान्त को कभी प्रयुक्त नहीं किया गया है तथापि सिद्धान्त का यह एक आदर्श रूप है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में मुख्यतः निम्नलिखित चार तत्त्व आवश्यक ही माने जाते हैं—[1]

(1) सरकारी अधिकरणों का व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्याय पालिका इन तीन श्रेणियों में विभाजन हो, अर्थात् शक्ति स्वायत्त केन्द्र बनाकर आन्तरिक रूप से सरकार पर अंकुश रखा जाय।

(2) सरकार के तीनों अंगों के पास तीन विशेष कार्य हों। व्यवस्थापन विभाग विधायी कार्यों कार्यपालिका प्रशासकीय कार्यों और न्यायपालिका न्यायिक कार्यों का सम्पादन करे।

(3) सरकार के तीनों अंग लोगों के पृथक समूहों से सगठित हों। एक अंग के सदस्य दूसरे अंग के सदस्य न हों।

(4) सरकार के अंगों, उनके कार्यों और उन कार्यों का सचालन करने वाले व्यक्तियों में पृथकता होने से कोई भी अंग अपनी शक्ति में निरंकुश नहीं हो सकता। नियन्त्रण और सन्तुलन की प्रणाली शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के साथ आवश्यक रूप से संयुक्त होनी चाहिए।

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना

(1) शक्ति का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सरकार के तीनों अंगों के पृथक होने पर भी एक अंग दूसरे अंग के सहयोग पर आधारित रहता है। पूर्ण पृथक्करण का अर्थ होगा प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना। इस प्रकार की तीन सम्प्रभु शक्तियों के होते हुए शासन नहीं चल सकता। 1791 में फ्रांस में इस सिद्धान्त को विशुद्ध रूप में लागू करने की चेष्टा की गई किन्तु सफलता नहीं मिली। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी नियन्त्रण व सन्तुलन की पद्धति के साथ शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाया गया है।

(2) शासन के तीनों अंगों में इतनी व्यापक घनिष्टता है कि उनका पूर्ण पृथक्करण अव्यावहारिक है। शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो सरकार के विभिन्न अंगों द्वारा मिश्रित प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करते समय ऐसे निर्णय और नियम प्रस्तुत करता है जो आगे चलकर कानून का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। कार्यपालिका सकटकालीन स्थितियों का सामना करने के लिए प्रायः अध्यादेश जारी करती है जो व्यवहार में कानून के समान ही प्रभावी होते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा भी कई प्रकार के कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी कार्य सम्पादित किए जाते हैं, अतः शक्ति के पूर्ण पृथक्करण की बात करना अव्यावहारिक है।

(3) माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की व्याख्या भ्रामक थी। ब्रिटिश संसदीय प्रणाली का अवलोकन कर मॉण्टेस्क्यू ने अनुभव किया था कि ब्रिटेन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल कारण शक्ति का पृथक्करण है। पर आज इस मत से असहमत होना कठिन है कि मॉण्टेस्क्यू ब्रिटिश संविधान की आत्मा को परखने में असफल रहा था।

(4) नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों के विभाजन पर उतनी आधारित

नहीं है जितनी सविधान की आत्मा पर। ब्रिटेन म पृथक्करण के सिद्धा त को न अपनाए जाने पर भी सयुक्त राज्य अमेरिका से कम स्वतन्त्रता का उपभोग नही किया जाता।

(5) यह धारणा भी गलत है कि सरकार के सब अग समान होते हैं। व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है और अपनी विधायी तथा वित्तीय शक्तियो द्वारा दूसरे अगो का नियन्त्रण रखती है। व्यवस्थापिका के निर्देशो का पालन ही कायपालिका और न्यायपालिका द्वारा किया जाता है।

(6) यह सिद्धा त अपने विशुद्ध अथवा पूण रूप में सरकार की कायक्षमता को नष्ट करने वाला है। फाइनर (Finer) के शब्दो मे, "यह शासन को निश्चित एव ऐंठने वाली अवस्था मे डाल देता है।" सरकार के अगो मे परस्पर सन्देह और सघष होने से प्रशासकीय दक्षता विनष्ट हो जायगी और प्रत्येक विभाग मे स्थानीय स्वार्थों का बोलबाला हो जायगा।

(7) इस सिद्धान्त को अधिनायकवादी शक्तियो न भी अपने अनुकूल नही माना है क्योकि इसके माध्यम से उन्हे वांछित योग्यता और कायकुशलता उपलब्ध नही हो सकती।

(8) पृथक्करण के सिद्धा त का आज इस दृष्टि स भी व्यावहारिक महत्व नहीं रहा है कि राजनीतिक दलबन्दी ने मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका को जोड दिया है।

(9) मॉण्टेस्क्यू ने अपने सिद्धा त को शक्ति का विभाजन कहा है जबकि 'शक्ति' शब्द के स्थान पर 'काय' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। लोकतान्त्रिक राज्य मे शक्ति तो जनता मे निहित है और सरकार उन्ही कार्यों का सम्पादन करती है जो जनता उसे करने के लिए कहे।

(10) यह सिद्धा त असामयिक है क्योकि वे परिस्थितिया जिनम इसका जन्म हुआ था, बदल गयी हैं। लोककल्याणकारी राज्य का विचार पूण शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुरूप नही है।

(11) पूर्ण पृथक्करण के लिए न्यायाधीश को भी निर्वाचित करना पडेगा जो न्याय की दृष्टि मे घातक होगा। न्यायाधीश मतदाता के हाथ की कठपुतली बन जायगा।

सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त ने फ्रांस और अमेरिका के सविधान को अत्यधिक प्रभावित किया। इस सिद्धा त मे महान् जनतान्त्रिक आकषण था, अत शीघ्र ही यह व्यावहारिक रूप म अपना लिया गया। अमेरिका के स्वातन्त्र्य सग्राम और फ्रांस की राज्य क्रान्ति को इसने आधार प्रदान किया। जब 1789 की क्रान्ति क बाद मानव अधिकारो की घोषणा हुई तो कहा गया कि जिस देश में शक्तियो के पृथक्करण की व्यवस्था नही है वहाँ सविधान नामक कोई वस्तु नही है।

अमेरिकी शासन व्यवस्था मे इस सिद्धान्त का जितने स्पष्ट रूप मे प्रयोग किया गया, वह अनेक राज्यो क लिए आकषण का कारण बना। अर्जेण्टाइना,

चिली, ब्राजील, मैक्सिको आदि दक्षिण अमेरिका के राज्यों ने इस सिद्धान्त को अपनाया।

अमरिकी सविधान निर्माताओं की दृष्टि में शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अधिनायकता से सुरक्षा का प्रबल साधन था। अत अमेरिकी सविधान की पहली तीन धाराओं में सरकार के तीन पृथक अगो को पृथक् पृथक् शक्तियाँ सौंपी गई। तद्नुसार कांग्रेस विधि-निर्माण करती है, राष्ट्रपति (कार्यपालिका) विधि को लागू करता है, और सर्वोच्च न्यायालय उन विधियों की सवैधानिकता का परीक्षण करता है। इस प्रकार तीनो विभागो के कार्य एव अधिकार-क्षेत्र स्पष्टत निर्धारित हैं। कोई भी विभाग दूसरे विभाग के कार्यों मे हस्तक्षेप नहीं कर सकता और न ही हस्तान्तरित अथवा प्रत्यायोजित (Delegate) कर सकता है। तीनों विभाग अपने अपने क्षेत्र मे सम्पन्न और स्वतन्त्र हैं तथा एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी नही हैं। परन्तु कोई विभाग निरकुश न बन जाए, इसके लिए नियन्त्रण व सतुलन प्रणाली अपनाई गई है जिसके फलस्वरूप शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त व्यावहारिक बन गया है। फ्रांस मे शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर शासन विभाग को न्याय विभाग से पृथक और उसके प्रभाव से मुक्त रखने के लिए प्रशासकीय न्यायालयों की स्थापना की गई जिनमे केवल सरकारी कर्मचारियो के विरुद्ध अभियोग की सुनवाई हो और वे साधारण न्यायालयो के दबाव से मुक्त रहे। प्रारम्भिक फ्रांसीसी गणतन्त्र मे शक्तियो के सहयोग की प्रधानता रही, तथापि शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त निष्प्राण नहीं हुआ। वर्तमान पचम गणतन्त्र के सविधान मे शक्ति-पृथक्करण की अनुपम व्यवस्था है।

शक्ति पृथक्करण के साथ नियन्त्रण और सतुलन के सिद्धान्त का मिश्रण

सरकार के अगो मे शक्तियो के पूर्ण पृथक्करण को इसलिए व्यावहारिक नही माना जाता है कि सरकार का सयोगात्मक स्वरूप इससे नष्ट हो जाता है। अत तीनो अगों के मध्य कार्य विभाजन होते हुए भी आवश्यक है कि उनमे परस्पर सम्बन्ध और सम्पर्क की ऐसी व्यवस्था कायम रखी जाय कि वे एक दूसरे पर नियन्त्रण और सतुलन करें। इसके बिना सरकार मे एकता और समरूपता की भावना नही आ सकती। इसीलिए अर्थात् शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को व्यावहारिक बनाने के लिए उसे नियन्त्रण और सतुलन की प्रणाली (Theory of Checks and Balances) के साथ सयुक्त किया जाता है। शासन के तीनो अगो की शक्ति के लिए ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि वे अपने कार्य क्षेत्र में स्वतन्त्र रहते हुए भी आपस में एक दूसरे पर ऐसा नियन्त्रण कायम रखें जिससे शक्ति का सतुलन बना रहे। प्रत्येक विभाग को एक दूसरे पर कुछ हद तक निर्भर बना दिया जाय ताकि कोई विभाग यदि अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान खो बैठे तो शासन का दूसरा अग उसे सचेत करके उत्तरदायित्व निभाने के लिए विवश करदे।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कार्यपालिका को व्यवस्थापन के विषय मे निषेधाधिकार दिया जाता है किन्तु यह निषेधाधिकार पूर्ण नही होता, क्योंकि

इसस कार्यपालिका के निरंकुश हो जाने का भय रहता है। व्यवस्थापिका प्राय: अपने दो तिहाई बहुमत से कार्यपालिका के निषेधाधिकार को निरस्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका की निरंकुशता को रोकने के लिए व्यवस्थापिका को महाभियोग लगाने का अधिकार भी होता है। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मिलकर मनमानी न करने लगें, इसके लिए न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की जाती है ताकि वह संविधान विरोधी कानूनों को अवैध घोषित कर सके। न्यायपालिका भी अवांछित आचरण न करने लगे, इसके लिए न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने की व्यवस्था रहती है। किन्तु महाभियोग की प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि न्यायपालिका को काफी स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। इस तरह सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ पृथक पृथक् होते हुए भी एक दूसरे पर नियन्त्रण एवं सतुलन रखती हैं। अत तीनों ही अंग अनुचित ढंग से निरपेक्ष न रह कर परस्पर सहयोगी रुख अपनाते हुए अपने कार्य सुचारु रूप से करते रहते हैं।

आदर्श सम्बन्ध

शक्ति-पृथक्करण और नियन्त्रण तथा सतुलन के सिद्धान्तों के विवेचन के उपरान्त हम सरलतापूर्वक कह सकते हैं कि सरकार के अंगों में आदर्श सम्बन्ध क्या होना चाहिए। ये सम्बन्ध वास्तव में किसी सिद्धान्त विशेष पर आधारित नहीं किए जा सकते। आदर्श स्थिति वही है जिसमें सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए लोकतान्त्रिक और लोककल्याण की भावना से कार्य करें तथा प्रत्येक विभाग की निरंकुशता की प्रवृत्ति पर आवश्यक अंकुश लगा रहे। अंगों के बीच कार्यों और शक्तियों का विभाजन हो, लेकिन वह प्रतिस्पर्द्धापूर्ण न होकर लोक कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित हो।

14

राजनीतिक धारणाएँ—अधिकार और अधिकार के सिद्धान्त; विशिष्ट अधिकार: स्वतन्त्रता—इसका अभिप्राय और इसके प्रकार; समानता—इसका अभिप्राय और इसके प्रकार, कानून—इसका अभिप्राय और इसके प्रकार; स्वतन्त्रता और सत्ता; स्वतन्त्रता और समानता

(POLITICAL CONCEPTS—RIGHTS AND THEORIES OF RIGHTS PARTICULAR RIGHTS LIBERTY—ITS MEANING AND KINDS EQUALITY—ITS MEANING AND KINDS LAW—ITS MEANING AND KINDS LIBERTY AND AUTHORITY LIBERTY AND EQUALITY)

अधिकार, उनकी विशेषताएं और उनका वर्गीकरण
(Rights, Their Characteristics and Classification)

राजनीति दर्शन के प्रमुख विद्वान् प्रो० लास्की का मत है कि 'जो राज्य अपने नागरिकों को जैसे अधिकार प्रदान करता है उनके अधिकार पर ही राज्य का अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।" प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान करता है जिनका उपभोग व अपनी सीमाओं में रह कर करते हैं। अधिकारों की यह व्यवस्था राज्य और सरकार की प्रकृति को निर्धारित करती है तथा उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी पर्याप्त प्रभाव [illegible] है।

कुछ आधुनिक लेखक तो जनतन्त्रात्मक और सर्वाधिकारवादी प्रणालियों के मध्य अन्तर बतलाते हुए वहाँ की अधिकार व्यवस्था को ही उनकी प्रकृति का निर्णायक मानते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन में अधिकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

अधिकारों का अभिप्राय

अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। उनके अभाव में वे वह नहीं बन सकते जो वे बनने के योग्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति यदि समाज में सम्भव न हो सके तो उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है और वह स्वस्थ रूप से अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर पाता। उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं और वह अपने जीवन का पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता। इसी कारण लॉस्की अधिकारों को "सामाजिक जीवन की अवस्थाएँ बतलाता है जिनके बिना कोई भी व्यक्ति सामान्यतः अपने पूर्णतम स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।"

प्रत्येक राज्य का आदर्श अपने नागरिकों का अधिकतम हित साधन करना है। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक को राज्य की ओर से कुछ सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हों। यदि राज्य अपने नागरिकों को जीवन की मूल सुविधाएँ प्राप्त नहीं करा सकता तो वह उनके व्यक्तित्व के साथ अन्याय करता है। ऐसा करने से राज्य अपने आप अपनी नींव को खोखली बनाता है। अतः यह आवश्यक है कि राज्य व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराए। राज्य द्वारा स्वीकृत और कानून द्वारा संरक्षित इन्हीं सुविधाओं का नाम अधिकार है।

'अधिकार' शब्द सदैव से राजनीतिक लेखकों के वाद विवाद का विषय रहा है। हॉबहाउस के अनुसार, "अधिकार वह सामाजिक आचरण है जैसा हम दूसरों से अपने प्रति आशा करते हैं और अन्य हम से।" होलैण्ड के मतानुसार "अन्य व्यक्तियों के कार्यों को अपनी शक्ति के स्थान पर समाज के बल द्वारा प्रभावित करने की व्यक्तिगत क्षमता को अधिकार कहते हैं।"

टी एच ग्रीन के शब्दों में, "अधिकार वह शक्ति है जिसकी माँग केवल लोक-कल्याण के लिए ही की जाती है और जिन्हें इसी उद्देश्य से मान्यता प्रदान की जाती है।" वाइल्ड के कथनानुसार, "अधिकार कुछ विशेष कार्यों के लिए उपयोग की जाने वाली स्वतन्त्रता की एक विवेकपूर्ण माँग है।"

अधिकारों की परिभाषा प्रसिद्ध लेखक मैकने ने इस प्रकार की है—"अधिकार मानव के सामाजिक हित की वे लाभदायक परिस्थितियाँ हैं जो उसके सच्चे विकास के लिए आवश्यक हैं।" इसी प्रकार बोसांके ने भी कहा है कि 'अधिकार केवल वह माँग है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।'

सालमण्डल अधिकार की परिभाषा कानूनी ढग से करता है। उसके अनुसार "अधिकार एक हित है जिसे कानून द्वारा स्वीकृत किया जाता है तथा सुरक्षित रखा जाता है।"

अधिकारो की विशेषताएं

1 प्रत्येक अधिकार का कत्तव्य से घनिष्ठ सम्बध होता है। व एक दूसरे पर आश्रित हैं और प्रत्यक अधिकार मे अनिवाय रूप से कत्तव्य की भावना निहित होती है।

2 अधिकार एक सामूहिक मांग है जिसके लिए समाज की स्वीकृति जरूरी है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी सतुष्टि एव पूणता के लिए उसे कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितिया की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से सभी अधिकारो को सामाजिक मान्यता की आवश्यकता होती है, जिसके बिना वे निरथक और निस्सार रहते हैं।

3 अधिकार कोई स्वाथपूर्ण दावा नही है। वह निस्वाथ एव सावभौम होता है। उसे कुछ खास नागरिको की सम्पत्ति नही कहा जा सकता। सभी नागरिक बिना किसी जाति, वश, धन, वण और भेदभाव के जिन परिस्थितियो का उपयोग कर सकें उन्ही को सच्चे रूप मे अधिकार कहा जा सकता है।

4 अधिकारा का एक नैतिक पक्ष भी होता है। व सामाजिक सदाचार पर आधारित हाने चाहिए। इसके साथ साथ वे मानव तक और विवेक पर भी आधारित हाने चाहिए। तक तथा सामाजिक सदाचार दोनो का प्रयोग होना इसलिए आवश्यक है कि केवल सामाजिक सदाचार के आधार पर ही जिन मागो को अधिकार के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है उन्हें पूणत उचित तथा न्यायपूण नही माना जा सकता और इस तरह उन्हे नतिक दृष्टि से अधिकार मानने मे कितने ही व्यक्तियो को सकोच होता है।

अधिकारो का वर्गीकरण

अधिकारो का वर्गीकरण मुख्य रूप से दो भागो म किया जा सकता है—

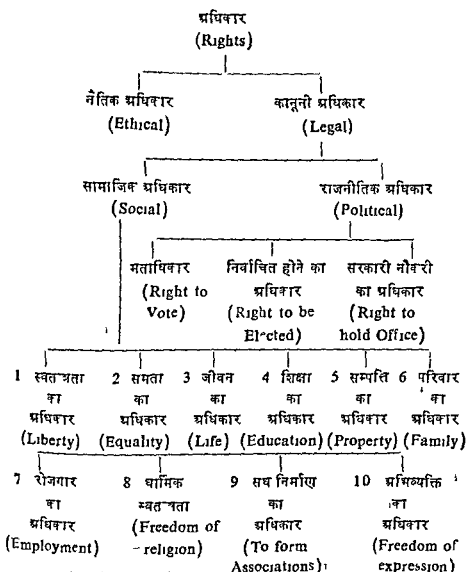
(1) नतिक अधिकार (Ethical)

(2) कानूनी अधिकार (Legal)

कानूनी अधिकारो के भी दो भाग हैं—(1) सामाजिक अधिकार (Social Rights) और (2) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)।

सामाजिक अधिकार को भी फिर कई हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार राजनीतिक अधिकार को भी कितने ही भागों में बांटा जा सकता है।

निम्नांकित चार्ट की सहायता से अधिकारों के इस वर्गीकरण को सरलता से समझा जा सकता है—



नैतिक अधिकार (Moral Rights)—राजनीतिक दर्शन को नैतिक दृष्टि से देखने वाले लेखकों का कहना है कि अधिकारों का सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक आचरण से है। राज्य इन कानूनों को लागू नहीं कर सकता और न ही ये अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू किए जा सकते हैं। ये तो व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर होते हैं और इनकी स्वीकृति भी जनता की आत्म चेतना द्वारा ही प्रस्फुटित होती है।

कानूनी अधिकार (Legal Rights)—लौकॉक के अनुसार 'कानूनी अधिकार वे विशेषाधिकार हैं जो एक नागरिक को अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध राज्य की

अवस्था में भी कुछ प्राकृतिक नियम थे। विवेक (Rationality) हमारा मुख्य नियम था जो सभी को यह शिक्षा देता था कि सब समान और स्वतन्त्र हैं, इसलिए किसी का कष्ट नहीं देना चाहिए। सभी को चाहिये कि कोई किसी का जीवन न ले, किसी के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचावे, किसी की स्वतन्त्रता को सीमित न करे और किसी की सम्पत्ति को न लूटे।" रूसो के अनुसार भी 'मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, किन्तु हर जगह वह बन्धनों में जकड़ा हुआ है।" उसका यह कथन प्राकृतिक अधिकारों की समाप्ति की ओर संकेत करता है। हॉब्स के अनुसार भी सभी व्यक्ति अपने सब प्राकृतिक अधिकार, एक समझौते द्वारा राजा को सौंपते हैं। हॉब्स आत्मरक्षा के अधिकार को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है और उसका कहना है कि प्राकृतिक अधिकारों के पूर्ण परित्याग के बाद भी व्यक्ति का मूल प्राकृतिक अधिकार उसके पास रहता है।

सिद्धान्त का प्रभाव—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का राजनैतिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन अधिकारों का उल्लेख तथा इस सिद्धान्त की गूँज 18वीं शताब्दी में अमेरिका तथा फ्रांस के संविधानों में दृष्टिगोचर होती है। वर्जीनिया के संविधान में उल्लेख है कि 'सभी मनुष्य स्वभाव से समान रूप से स्वाधीन और स्वावलम्बी हैं। उनके पास कुछ वंशानुगत अधिकार हैं जिनसे उन्हें किसी भी लेख द्वारा समाज या राज्य में प्रविष्ट होने पर वंचित नहीं किया जा सकता और न ही उन अधिकारों की प्राथमिकता को विनष्ट किया जा सकता है। वे अधिकार, जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपयोग, सम्पत्ति प्राप्ति और उसके मालिक के साधन सुरक्षा तथा शान्ति सम्बन्धी हैं।"

अमेरिका की स्वाधीनता घोषणा में, जो इस सिद्धान्त का उद्घोष करती है, कहा गया है कि 'हम इसे नितान्त सत्य मानते हैं कि परमात्मा ने सभी मनुष्यों को समान पैदा किया है। हम यह भी मानते हैं कि परमात्मा ने सभी को कुछ अविभाज्य अधिकार प्रदान किए हैं। इनमें मुख्य अधिकार हैं—जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार और आनन्दप्राप्ति का अधिकार। हम यह भी मानते हैं कि इन अधिकारों के क्रियान्वयन के लिए मनुष्य सरकार बनाते हैं जो शासितों की सहमति से बनती है। यदि कभी कोई सरकार शासितों की इच्छा के विपरीत आचरण करती है तो जनसाधारण को अधिकार होता है कि वह ऐसी क्रूर सरकार को बदल दे।"

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के अवसर पर ऐसे ही प्राकृतिक अधिकारों का नारा लगाया गया। जेफरसन (Jefferson) के अनुसार राज्य तथा सरकार का उदय प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए हुआ है। फ्रांसीसी विचारक वाल्तेयर (Voltaire) का कथन है कि सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति तथा कानूनी सुरक्षा के समान अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने जिन्होंने प्राकृतिक अधिकारों का अध्ययन किया है, माना है कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के पास प्रारम्भिक समाज में भी थे। जब राज्य की स्थापना हुई तब व्यक्ति ने उन अधिकारों के साथ राज्य में प्रवेश किया।

सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किए जाते हैं और राज्य द्वारा जिसकी रक्षा भी की जाती है। कानूनी अधिकारो को राज्य के कानूनो द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और नागरिक उन्हे न्यायालय के माध्यम से लागू करवा सकते है।'

कानूनी अधिकार के दो रूप होते है—एक सामाजिक और दूसरा राजनीतिक। सामाजिक अधिकार मानव जीवन के आधार कहे जा सकते हैं। कोई भी व्यक्ति चाहे वह उस राज्य विशेष का नागरिक हो या अनागरिक, इन अधिकारो का उपभोग कर सकता है। राजनीतिक अधिकार वे हैं जिनके द्वारा व्यक्ति राज्य के शासन मे भाग ले सकता है। राजनीतिक अधिकार केवल राज्य के नागरिको को ही प्राप्त होते हैं और विदेशियो अथवा अनागरिको को राज्य के राजनीतिक जीवन मे वे सुविधायें नही दी जा सकती। राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार एक दूसरे से सम्बंधित हैं और उन्हे एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है।

अधिकारो के सिद्धान्त
(Theories of Rights)

राजनीतिक दर्शन के इतिहास मे अधिकारो के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1 नैसर्गिक अधिकारो का सिद्धान्त (The Theory of Natural Rights)
2 अधिकारो का वैध सिद्धान्त (The Legal Theory of Rights)
3 अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Historical Theory of Rights)
4 अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त (The Idealistic Theory of Rights)
5 अधिकारो का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त (The Social Welfare Theory of Rights)।

(1) नैसर्गिक अधिकारो का सिद्धान्त

अधिकारो का यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। यूनानी युग से राजनीति दर्शन मे इसकी चर्चा होती आई है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के कुछ जन्म जात अधिकार होते हैं। ये अधिकार व्यक्ति को प्रकृति की देन हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वाभाविक और अनिवार्य हैं। इनकी रचना समाज द्वारा नहीं हुई है। ये मानव जीवन के प्राकृतिक अंग हैं और राज्य तथा समाज की अनुपस्थिति मे भी कायम रह सकते हैं। व्यक्ति उनकी मांग इसलिए करता है कि वह व्यक्ति है। इन नैसर्गिक अधिकारो को उचित ठहराने के लिए उसे किसी प्रकार के तर्क की आवश्यकता नहीं।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के लेखको ने इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। लॉक का कहना है कि सभी मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र रूप में पैदा होते हैं और उनमें तर्क करने की योग्यता स्वाभाविक है। उसके शब्दो मे, "हमारी प्राकृतिक

अवस्था मे भी कुछ प्राकृतिक नियम थे। विवेक (Rationality) हमारा मुख्य नियम था जो सभी को यह शिक्षा देता था कि सब समान और स्वतन्त्र हैं, इसलिए किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। सभी को चाहिये कि कोई किसी का जीवन न ले, किसी के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचावे, किसी की स्वतन्त्रता को सीमित न करे और किसी की सम्पत्ति को न लूटे।'' रूसो के अनुसार भी ''मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, किन्तु हर जगह वह बन्धनों में जकड़ा हुआ है।'' उसका यह कथन प्राकृतिक अधिकारों की समाप्ति की ओर संकेत करता है। हाब्स के अनुसार भी सभी व्यक्ति अपने सब प्राकृतिक अधिकार, एक समझौते द्वारा राजा को सौंपते हैं। हॉब्स आत्मरक्षा के अधिकार को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है और उसका कहना है कि प्राकृतिक अधिकारों के पूर्ण परित्याग के बाद भी व्यक्ति का मूल प्राकृतिक अधिकार उसके पास रहता है।

सिद्धान्त का प्रभाव—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का राजनैतिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन अधिकारों का उल्लेख तथा इस सिद्धान्त की गूँज 18वीं शताब्दी मे अमेरिका तथा फ्रांस के संविधानों मे दृष्टिगोचर होती है। वर्जीनिया के संविधान मे उल्लेख है कि 'सभी मनुष्य स्वभाव से समान रूप से स्वाधीन और स्वावलम्बी हैं। उनके पास कुछ वंशानुगत अधिकार हैं जिनसे उन्हें किसी भी लेख द्वारा समाज या राज्य में प्रविष्ट होने पर वंचित नहीं किया जा सकता और न ही उन अधिकारों की प्राथमिकता को विनष्ट किया जा सकता है। ये अधिकार, जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपयोग, सम्पत्ति प्राप्ति और उसके मालिक के साधन सुरक्षा तथा शान्ति सम्बन्धी हैं।'

अमेरिका की स्वाधीनता घोषणा मे, जो इस सिद्धान्त का उद्घोष करती है, कहा गया है कि 'हम इस नितान्त सत्य मानते हैं कि परमात्मा ने सभी मनुष्यों को समान पैदा किया है। हम यह भी मानते हैं कि परमात्मा ने सभी को कुछ अविभाज्य अधिकार प्रदान किए हैं। इनमे मुख्य अधिकार हैं—जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार और आनन्दप्राप्ति का अधिकार। हम यह भी मानते हैं कि इन अधिकारों के क्रियान्वयन के लिए मनुष्य सरकार बनाते हैं जो शासितों की सहमति से बनती है। यदि कभी कोई सरकार शासितों की इच्छा के विपरीत आचरण करती है तो जनसाधारण को अधिकार होता है कि वह ऐसी क्रूर सरकार को बदल दे।''

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के अवसर पर ऐसे ही प्राकृतिक अधिकारों का नारा लगाया गया। जेफरसन (Jefferson) के अनुसार राज्य तथा सरकार का उदय प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए हुआ है। फ्रांसीसी विचारक वाल्टेयर (Voltaire) का कथन है कि सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति तथा कानूनी सुरक्षा के समान अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने जिन्होंने प्राकृतिक अधिकारों का अध्ययन किया है, माना है कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के पास प्रारम्भिक समाज मे भी थे। जब राज्य की स्थापना हुई तब व्यक्ति ने उन अधिकारों के साथ राज्य मे प्रवेश किया।

आधुनिक काल मे इस सिद्धान्त का उपयोग पिछड़ी जन-जातियो की राजनीतिक स्वाधीनता के अधिकार के समर्थन के लिए किया गया है। गटिल के अनुसार—"एक शताब्दी या उससे कुछ पहले मनुष्य प्राकृतिक अधिकारो के विषय मे बहुत चर्चा करते थे। जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आनन्द की खोज तथा अन्य इसी प्रकार की सुविधाओ को प्राकृतिक नियमो के अन्तगत अवांछित समझा जाता था। सरकारो की स्थापना के पूर्व पूर्ण स्वतन्त्रता की दशा की कल्पना खेद सहित इसलिए की जाती थी कि पूर्ण 'प्राकृतिक राज्य' सदव कायम न रह सका।" आज भी अनेक लेखक इन अधिकारो की प्रकृति और महत्ता पर बल देते हैं।

आलोचना—(1) प्राकृतिक शब्द के अर्थ के बारे मे कोई निश्चित राय बनाना सम्भव नही है। प्रत्येक लेखक ने इस शब्द की व्याख्या अपने अपने ढंग से की है। कही पर इसका अर्थ 'प्रकृति', कही पर प्रगति', कही पर 'उन्नति' अथवा 'अपूर्ण' इत्यादि मान गए हैं, जिसके फलस्वरूप हम यह नही कह सकते कि विभिन्न लेखको ने प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किस अर्थ मे किया है।

(2) प्राकृतिक अधिकारो की कोई निश्चित सूची नही है। यह कहना कठिन है कि कौन से अधिकार प्राकृतिक हैं और कौन से कृत्रिम।

(3) प्राकृतिक अधिकार-सिद्धान्त पर यदि तार्किक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह परिणाम निकलता है कि राज्य एक कृत्रिम रचना है जो विकास का फल नही हो सकती। यह अधिकार-सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के विषय मे एक गलत धारणा का प्रचार करता है। राज्य की उत्पत्ति एक सतत विकास के फलस्वरूप हुई है और प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त विकास के इस मूल सिद्धान्त को अस्वीकार कर उन्हे प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) के युग से मानव व्यक्तित्व में निहित मानता है।

(4) यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि राज्य की अनुपस्थिति मे भी मनुष्य के पास अधिकार थे। इस प्रकार की मान्यता निराधार है। बिना राज्य के अधिकारो की कल्पना भी नही की जा सकती।

(5) लॉर्ड के अनुसार यह सिद्धान्त प्रकृति की प्रकृति के विषय (Nature of Nature) में बहुत उलझा हुआ है वास्तव मे यह 'अधिकार' शब्द की व्याख्या पर उतना बल नही देता जितना कि 'प्राकृतिक' शब्द की परिभाषा और महत्त्व पर।

आधुनिक राजनीति दर्शन मे प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त को अब त्याग दिया गया है। फिर भी इस सिद्धान्त मे बहुत कुछ सत्यांश हैं। यदि प्राकृतिक शब्द की व्याख्या नैतिक दृष्टिकोण से की जाय तो इस सिद्धान्त की मान्यताओ मे बहुत कुछ सत्य का अंश आ जाता है। गिलक्राइस्ट इसी विचार की पुष्टि इन शब्दो मे करता है—'प्राकृतिक अधिकारो को जिस उचित अर्थ मे लिया जा सकता है वह

केवल यही कि मनुष्य को नीतिशास्त्र के अनुसार सच्चा मनुष्य बनने के लिए क्या क्या आवश्यक है ?''

(2) अधिकारों का वैध सिद्धान्त

यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त को सत्य नहीं मानता। इसके अनुसार अधिकार कानून से जन्म लेते हैं। उनकी स्थापना राज्य करता है। राज्य ही अधिकारों को जन्म देता है तथा उन्हें सुरक्षित रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा कोई अधिकार नहीं जिसे मनुष्य जन्म से अपने साथ लेकर पैदा होता है। आशीर्वादम के अनुसार—"अधिकार का स्वतः कोई अस्तित्व नहीं होता क्योंकि मनुष्य का अपने आप से कोई अधिकार नहीं बनता। वे देश की विधि व्यवस्था पर आधारित होते हैं और उससे जन्म लेते हैं।'

प्रसिद्ध विचारक बेन्थम तथा आस्टिन ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को सर्वथा अस्वीकार करते हुए उसे निरी बकवास बतलाया है। उसकी मान्यता है कि अधिकार प्रकृति की देन नहीं वरन् कानून द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ हैं।

आलोचना—(1) वैध सिद्धान्त की यह मान्यता है कि राज्य का आदेश ही किसी कार्य को उचित ठहरा सकता है भ्रामक है। समाज में रीति रिवाज, परम्पराएँ आदि कितने ही प्रभाव होते हैं जिनके विरुद्ध राज्य भी कुछ नहीं कर सकता।

(2) यह सिद्धान्त सर्वाधिकारवादी है। आशीर्वादम् की मान्यता है कि 'यह कहना कि राज्य ही एकमात्र अधिकारों की सृष्टि करता है, राज्य को निरंकुश बना देना है। राज्य को हम ऊँचा स्थान देने को प्रस्तुत हैं लेकिन उसे इतना ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। यदि हर अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किया जाने लगे तो राज्य एक विशालकाय दैत्य (Leviathan) के रूप में प्रकट होने लगेगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति राज्य के हाथ की कठपुतली मात्र बन जाएगा। वह हर बार, हर प्रकार की सुविधा के लिए राज्य का मुँह ताकेगा और उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह सकेगी। इतना ही नहीं फिर राज्य द्वारा निर्मित कानून सदा के लिए कानून के रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते। राज्य जनहित के लिए होता है और यदि वह यह हित पूरा नहीं करता तो सरकार का बदला जाना आवश्यक है।

(3) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अधिकारों का समूचा क्षेत्र (Scope) नहीं आता। राज्य द्वारा अधिकारों को मान्यता दी जा सकती है किन्तु मान्यता के आधार पर ही न वे अधिकार बनते हैं और न बन सकते हैं।

(4) लॉस्की की मान्यता है कि राज्य अधिकारों का सृजन नहीं करता वरन् उन्हें केवल स्वीकार करता है। अतः राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति के अधिकारों की देख रेख करे। राज्य के लिए अपेक्षित है कि वह नागरिकों के लिए ऐसी अवस्थाएँ पैदा करे जिनमें रहकर वे अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकें।

(5) विधि-सिद्धान्त एक भ्रात धारणा पर आधारित है। अधिकारो के कानूनी रूप धारण करने से ही उनका पालन निश्चित नही बन जाता है। यह भी सम्भव है कि एक लिखित कानून से अलिखित कानून को अधिक पवित्रता प्राप्त हो।

(3) अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धान्त

ऐतिहासिक सिद्धा त के अनुसार अधिकार इतिहास की उपज है। उनका जन्म रीति-रिवाजो के माध्यम स होता है। बहुत दिनो से चालू रहन वाले रीति रिवाज कालान्तर मे अधिकारो का रूप धारण कर लेते हैं।

रित्से (Ritchie) के अनुसार—'वे अधिकार जिन्हे लोग समझते हैं कि वे उनके होने चाहिए, वास्तव मे अधिकार है जिनके वे अभ्यस्त हो चुके हैं अथवा जो रिवाजी तौर पर (गलत या सही) उनके माने जाते हैं। वास्तव मे रीति रिवाज ही आदिम कानून हैं।" प्रसिद्ध परम्परावादी बर्क (Burke) का मत है कि फ्रास की राज्य क्राति व्यक्ति के मौलिक अधिकारो की खोज म हुई थी किन्तु ब्रिटेन की रक्तहीन क्राति का आधार वहाँ के जन-जीवन के रीति रिवाज और उनकी परम्पराएँ थीं। इस प्रकार सिद्धा त के अनुसार अधिकारो की उत्पत्ति मूल रूप से परम्पराओ के माध्यम से ही हुइ है।

आलोचना—(1) हमे यह नही भूलना चाहिए कि रीति रिवाज सदैव बदलते रहते हैं। उनके परिवर्तन का कारण हमारी नैतिक धारणाएँ होती है। जब अधिकार रीति रिवाजो स बध जाते हैं तो समाज की गतिशीलता लुप्त हो जाती है। अत अधिकारो का आधार केवल इतिहास नही हो सकता।

(2) प्रोफेसर हॉकिंग की यह आलोचना महत्त्वपूर्ण है कि रीति रिवाज सदैव ठीक नही होते। उनके मत मे रीति रिवाजो को सदैव सही मानकर अधिकार बताना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना यह कहना कि कानून किसी भी कार्य को उचित बना सकता है।

(3) अधिकारो के केवल ऐतिहासिक रूप को मान्यता देने का अर्थ दूसरे शब्दो मे यह है कि सामाजिक समस्याओ मे सुधार नहीं हो सकता। हम यह जानते हैं कि सती प्रथा छुआ छूत, दास प्रथा इत्यादि ऐतिहासिक रूढ़ियाँ हैं किन्तु उन्हे आज उचित नहीं ठहराया जा सकता। यदि परम्परा के आधार पर उनको अधिकार माना जाय तो नैतिक दृष्टि से ऐसा अधिकार किसी भी प्रगतिशील स्वस्थ समाज के लिए लज्जा का विषय होगा।

(4) अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त अधिकारो के नैतिक पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। इस सिद्धा त के अनुसार अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए बाह्य अवस्थाओ का नाम है। अधिकारो के बिना व्यक्ति मे व्यक्तित्व का विकास नही हो सकता।

ग्रीन अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त का समर्थक है। क्रॉज (Krause) की भी यही मान्यता है कि अधिकार "वह समस्त बाह्य अवस्था है जो व्यक्ति के बौद्धिक जीवन के लिए आवश्यक है।" इसी प्रकार हेनरीसी (Henrici) भी अधिकार की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह वह वस्तु है "जो वास्तव में मनुष्य की उन भौतिक अवस्थाओं के लिए आवश्यक है जो उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए अपेक्षित है।"

आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्तित्व के विकास की माँग करता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की दृष्टि में व्यक्तित्व के विकास का अधिकार एक मूल अधिकार है। शेष सभी अधिकार इस एक पूर्ण अधिकार के सहायक अधिकार हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अधिकार के दो पहलू हैं—एक अधिकार का और दूसरा कर्त्तव्य का। अधिकार रूप में वह व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है और कर्त्तव्य रूप में उसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण है। ये दोनों रूप एक दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं।

अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त के मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की माँग है।

(2) वह समाज से सम्बन्धित होने के कारण सामाजिक है।

(3) प्रत्येक अधिकार का एक पहलू कर्त्तव्य भी है जो उसके उपभोग में सहायक होता है।

आलोचना—(1) आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्तित्व के विकास पर सबसे अधिक बल देता है पर स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बतलाता कि व्यक्तित्व क्या है? अगर व्यक्तित्व शब्द की परिभाषा दी भी जाय तो यह कहना कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कौन कौन सी परिस्थितियाँ आवश्यक तथा सहायक हैं।

(2) यह सिद्धान्त व्यक्ति कल्याण तथा सामाजिक कल्याण के बीच उचित सम्बन्धों का निरूपण नहीं करता।

इन दोषों के होते हुए भी अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त सत्य के अधिक निकट है। यह अधिकारों के नैतिक तथा सामाजिक पक्षों को स्वीकार करता है और व्यक्ति की नैतिक एवं जनतान्त्रिक भावनाओं को बल देता है।

(5) अधिकारों का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याण को सम्भव बनाने [illegible] शर्त है। रोस्को पाउण्ड (Roscoe Pound) और चफी (Chafee) [illegible] प्रमुख समर्थक हैं। इन दोनों लेखकों के अनुसार कानूनों तथा रीति [illegible] के [illegible] में आत्म-समर्पण कर देना चाहिए।' प्रो० आशीर्वादम् [illegible] अधिकारों को सामाजिक कल्याण की आवश्यक शर्त [illegible] ति केवल समाज में ही सम्भव है।'

(5) विधि-सिद्धान्त एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है। अधिकारों के कानूनी रूप धारण करने से ही उनका पालन निश्चित नहीं बन जाता है। यह भी सम्भव है कि एक लिखित कानून से अलिखित कानून को अधिक पवित्रता प्राप्त हो।

(3) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त

ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार अधिकार इतिहास की उपज है। उनका जन्म रीति-रिवाजों के माध्यम से होता है। बहुत दिनों से चालू रहने वाले रीति रिवाज कालान्तर में अधिकारों का रूप धारण कर लेते हैं।

रित्से (Ritchie) के अनुसार—"वे अधिकार जिन्हें लोग समझते हैं कि वे उनके होने चाहिए, वास्तव में अधिकार हैं जिनके वे अभ्यस्त हो चुके हैं अथवा जो रिवाजी तौर पर (गलत या सही) उनके माने जाते हैं। वास्तव में रीति रिवाज ही आदिम कानून हैं।" प्रसिद्ध परम्परावादी बर्क (Burke) का मत है कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति, व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की खोज में हुई थी किन्तु ब्रिटेन की रक्तहीन क्रान्ति का आधार वहाँ के जन-जीवन के रीति रिवाज और उनकी परम्पराएं थी। इस प्रकार सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति मूल रूप से परम्पराओं के माध्यम से ही हुई है।

आलोचना—(1) हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रीति रिवाज सदैव बदलते रहते हैं। उनके परिवर्तन का कारण हमारी नैतिक धारणाएँ होती हैं। जब अधिकार रीति रिवाजों से बंध जाते हैं तो समाज की गतिशीलता लुप्त हो जाती है। अतः अधिकारों का आधार केवल इतिहास नहीं हो सकता।

(2) प्रोफेसर हॉकिंग की यह आलोचना महत्त्वपूर्ण है कि रीति रिवाज सदैव ठीक नहीं होते। उनके मत में रीति रिवाजों को सदैव सही मानकर अधिकार बताना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना यह कहना कि कानून किसी भी काम को उचित बना सकता है।

(3) अधिकारों के केवल ऐतिहासिक रूप को मान्यता देने का अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि सामाजिक समस्याओं में सुधार नहीं हो सकता। हम यह जानते हैं कि सती प्रथा, छुआ छूत, दास प्रथा इत्यादि ऐतिहासिक नई रूढ़ियाँ हैं किन्तु उन्हें आज उचित नहीं ठहराया जा सकता। यदि परम्परा के आधार पर उनको अधिकार माना जाय तो नैतिक दृष्टि से ऐसा अधिकार किसी भी प्रगतिशील स्वस्थ समाज के लिए लज्जा का विषय होगा।

(4) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त अधिकारों के नैतिक पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए बाह्य अवस्थाओं का नाम है। अधिकारों में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता।

ग्रीन अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त का समर्थक है। क्रॉज (Krause) की भी यही मान्यता है कि अधिकार "वह समस्त बाह्य अवस्था है जो व्यक्ति के बौद्धिक जीवन के लिए आवश्यक है।" इसी प्रकार हैनरीसी (Henrici) भी अधिकार की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह वह वस्तु है "जो वास्तव में मनुष्य की उन भौतिक अवस्थाओं के लिए आवश्यक है जो उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए अपेक्षित है।"

आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्तित्व के विकास की माँग करता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की दृष्टि में व्यक्तित्व के विकास का अधिकार एक मूल अधिकार है। शेष सभी अधिकार इस एक पूर्ण अधिकार के सहायक अधिकार हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अधिकार के दो पहलू हैं— एक अधिकार का और दूसरा कर्त्तव्य का। अधिकार रूप में वह व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है और कर्त्तव्य रूप में उसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण है। ये दोनों रूप एक दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ हुए हैं।

अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्त के मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की माँग है।

(2) वह समाज से सम्बन्धित होने के कारण सामाजिक है।

(3) प्रत्येक अधिकार का एक पहलू कर्त्तव्य भी है जो उसके उपभोग में सहायक होता है।

आलोचना—(1) आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्तित्व के विकास पर सबसे अधिक बल देता है पर स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बतलाता कि व्यक्तित्व क्या है? अगर व्यक्तित्व शब्द की परिभाषा दी भी जाय तो यह कहना कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कौन कौन सी परिस्थितियाँ आवश्यक तथा सहायक हैं।

(2) यह सिद्धान्त व्यक्ति कल्याण तथा सामाजिक कल्याण के बीच उचित सम्बन्धों का निरूपण नहीं करता।

इन दोषों के होते हुए भी अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त सत्य के अधिक निकट है। यह अधिकारों के नैतिक तथा सामाजिक पक्षों को स्वीकार करता है और व्यक्ति की नैतिक एवं जनतान्त्रिक भावनाओं को बल देता है।

(5) अधिकारों का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याण को सम्भव बनाने वाली आवश्यक शर्त है। रोस्को पाउन्ड (Roscoe Pound) और चफी (Chafee) इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं। इन दोनों लेखकों के अनुसार कानूनों तथा रीति-रिवाजों को समाज के हित में आत्म समर्पण कर देना चाहिए।' प्रो० आशीर्वादम् के मतानुसार 'यह सिद्धान्त अधिकारों को सामाजिक कल्याण की आवश्यक शर्त मानता है क्योंकि अधिकार की उत्पत्ति केवल समाज में ही सम्भव है।"

बेन्थम और मिल भी इसी सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में से हैं। उनका कहना है कि अधिकार उपयोगी होने चाहिए और उपयोगिता की परीक्षा अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित की कसौटी पर की जा सकती है। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री प्रो० लॉस्की के विचार भी बहुत कुछ इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार "अधिकार केवल वे ही उचित हैं जो राज्य के सभी सदस्यों के लिए मूल्यवान् अथवा महत्त्वपूर्ण हैं।"

आलोचना—(1) यह सिद्धान्त अनिश्चित है क्योंकि 'सामाजिक कल्याण' या 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' ऐसे शब्द हैं जो अपने आप में अनिश्चित हैं और जिनसे अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं।

(2) सामाजिक कल्याण का अर्थ अधिनायकवादी विचारकों ने अपनी आन्तरिक भावनाओं के प्रतिपादन के लिए किया है। उदाहरण के लिए जर्मनी में हिटलर ने सामाजिक कल्याण के नाम पर लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही पाकिस्तान आज भी जिहाद और साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं के नारों को बुलन्द करता है।

सारांश में अधिकारों का समुचित रूप से निरूपण करने के लिए आदर्शवादी सिद्धान्त और सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त का समन्वय होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के सिद्धान्त द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज दोनों की सच्ची भलाई का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

नागरिकों के मूल अधिकार
(Rights of Citizens)

अधिकार मानव विकास के लिए आवश्यक हैं। आधुनिक सभ्य राज्यों में नागरिकों को राज्य की ओर से कुछ मूल अधिकार दिए जाते हैं। नीचे उन अधिकारों का विवेचन किया जा रहा है जिन्हें प्रायः सभी सभ्य समाज और राज्यों में स्वीकृत ही नहीं किया जाता बल्कि सुरक्षित रखने के लिए भी कदम उठाए जाते हैं।

(1) जीवन और सुरक्षा का अधिकार (Right to Life and Security)—जीवन का अधिकार नागरिक का सर्वप्रथम मौलिक अधिकार है। यदि समाज में नागरिक के जीवन की सुरक्षा नहीं होगी तो अन्य सभी सुविधाएँ या परिस्थितियाँ व्यर्थ हो जाएँगी। यदि व्यक्ति का जीवन कुछ नागरिकों या सरकार की कृपा पर ही पूरी तरह निर्भर हो, तो सामाजिक जीवन असम्भव हो जाएगा। जीवन का आधार सर्वाधिक मूलभूत अधिकार है—विशेष रूप से इसलिए कि इस अधिकार में केवल जीवित रहने का ही नहीं अपितु आक्रमण होने पर आत्म रक्षा का अधिकार भी सन्निहित है।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of Liberty)—स्वतन्त्रता मानव जीवन में एक विशेष स्थान रखती है। व्यक्ति की गतिविधियों अथवा जीवन मूल्यों का अन्य व्यक्तियों द्वारा अवरुद्ध किया जाना व्यक्ति के विकास को कुण्ठित करता है। प्रत्येक नागरिक को अपनी प्रवृत्तियों के स्वतन्त्र प्रयोग की अधिक से अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अतीव आवश्यक है।

स्वतन्त्रता का अधिकार मूलत इस सिद्धान्त से जन्म लेता है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज की भलाई मे कुछ न कुछ योग दे सकता है और उसे यह योग देना भी चाहिए। दासता को आज समूचा विश्व निन्दा करता है। यह एक सामाजिक कुरीति इसलिए मानी जाती है कि दास को अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार ढालने की स्वतन्त्रता का अवसर नहीं मिलता।

जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार यद्यपि मौलिक हैं तथापि इन्हे निरकुश नहीं कहा जा सकता। इनका उपभोग और अस्तित्व परिस्थितिया पर निर्भर करता है, उदाहरण के लिए सकटकाल अथवा युद्ध की अवस्था में राज्य की रक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन तथा स्वतन्त्रता के बलिदान के लिए तैयार इसलिए रहना चाहिए कि इससे भावी नागरिको को ये अधिकार अधिक मात्रा मे और सुरक्षित रूप मे मिल सकें।

(3) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—मानव जीवन के अस्तित्व के लिए सम्पति आवश्यक है। गिलक्राइस्ट के अनुसार सम्पत्ति का आधार नैतिक है और वह व्यक्ति के नैतिक लक्ष्यों की सम्प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सम्पत्ति योग्यता का पुरस्कार है और सम्पत्तिहीन व्यक्ति भूख के भय के बिना अपनी बुद्धि का विकास कर सकता है। लॉस्की के शब्दो मे यह कहना सर्वथा उचित है कि "यदि सम्पत्ति रखने की आवश्यकता इस कारण से है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके तो इस प्रकार के अधिकार का अस्तित्व अपने आप मे स्वयसिद्ध है।"

आधुनिक औद्योगिक युग मे सम्पत्ति का अधिकार वादविवाद का विषय बन गया है। राजनीति शास्त्र के समाजवादी लेखक उस सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता नही देते जो किसी के निजी श्रम का परिणाम नहीं है अथवा जो सामाजिक हित के विरुद्ध हैं। इन लेखकों का मत है कि 'जिन व्यक्तियो की सम्पति दूसरे व्यक्तियो के परिश्रम का फल है, वे समाज म परान्नभोजी (Parasitic) हैं और उन्हें इस सम्पत्ति को अपनी कहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।'

स्वतन्त्रता की तरह सम्पत्ति का अधिकार भी निरकुश अथवा असीम नही है। युद्धकाल या राष्ट्रीय सकटकाल के समय राज्य कोई भी कदम उठाकर इस अधिकार को सीमित कर सकता है। इस बात से सभी सहमत हैं कि राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति का कुछ भाग कर (Tax) के रूप मे वसूल कर सकता है। कानून का उल्लघन करने पर राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति को सजा के रूप में जब्त भी कर सकता है। ऐसा सभी देशो के दण्ड विधानों मे प्रावधान है।

(4) नौकरी और उचित पारिश्रमिक का अधिकार (Right to Employment and Fair Emoluments)—व्यक्ति को जीवन के अधिकार के साथ-साथ काम का भी अधिकार मिलना चाहिए। नागरिक का यह अधिकार है कि वह राज्य से उपयुक्त कार्य पाने की आशा करे। रूस के सविधान में इसका स्पष्ट रूप से प्रावधान है। केवल काम के अधिकार को स्वीकार करना ही काफी नही है, व्यक्ति को उसके श्रम के अनुरूप वेतन भी मिलना न्यायोचित है। नौकरी

तथा समुचित पारिश्रमिक के प्रभाव में यह सम्भव है कि राज्य प्रथवा कुछ व्यक्ति का एक वर्ग गरीब मजदूर वर्ग का शोषण करने लग जाय।

(5) प्रेस और भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Free of Speech and Expression)—व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने भा प्रथवा लेख लिख कर उनको व्यक्त करने का अधिकार भी न्यायोचित है जिस जनतान्त्रिक सरकारें प्राजकल स्वीकार करती हैं। इस अधिकार का यह अर्थ कि व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहे कह सकता है। उसका यह अधि भी सीमित है और वह तभी तक कायम रह सकता है जब तक कि उसकी वजह जनसाधारण के हित मे कोई बाधा उपस्थित न हो। प्रजातान्त्रिक देशो मे अधिकार आवश्यक समझा जाता है। परन्तु वहाँ पर भी जनतन्त्र की सफलता लिए, इस अधिकार पर समय-समय पर अनेक प्रतिबंध लगाए जाते हैं।

व्यावहारिक रूप से अधिकार की सीमाएँ निर्धारित करना एक दुष्कर है। व्यक्ति को वैधानिक क्षेत्र मे रह कर ही काम करना चाहिए। वह ऐसे लेख लिख सकता प्रथवा ऐसे भाषण नही दे सकता जिनसे समाज का अहित होता प्रथवा सामाजिक व्यवस्था को आंच आती हो।

(6) समानता का अधिकार (Right to Equality)—समानता से तात्पर्य यह लिया जाता है कि एक राज्य के सभी नागरिक समान अधिकारो उपभोग करें। कानून की दृष्टि मे सभी व्यक्ति बराबर माने जाने चाहिए। भारत संविधान मे इस अधिकार को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। कानून के सामने स भारतीय नागरिक समान माने जाते हैं। सभी नागरिको को यह गारटी दी गई कि राज्य तथा सरकार वंश, जाति, जन्म-स्थान-तथा रग इत्यादि के आधार कोई भेदभाव नही करेगा। छुआछूत का अन्त कर दिया गया है। इस प्रक भारतीय संविधान मे समानता के अधिकार को व्यापक रूप दिया गया है जिस कानूनी, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि अनेक पहलू हैं।

(7) परिवार का अधिकार (The Right to Family)—परिवार और राज्य में गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिको को परिवार बनाने और उसमे रहने का अधिकार देता है। इस अधिकार के अन्दर परिवार मे रहने के साथ साथ बच्चो की रक्षा देखरेख तथा विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति आदि अधिक सम्मिलित हैं किन्तु विवाह तथा परिवार के अधिकारो का उपभोग समाज की भल को ध्यान मे रखते हुए ही किया जा सकता है। पारिवारिक राज्य उत्तम जीवन लिए आवश्यक है, किन्तु सम्पत्ति के मामले मे इस अधिकार का उपयोग वस्तु सम्ब होता है, वहा पारिवारिक राज्य मे इस अधिकार का प्रभाव एक अथवा अने व्यक्तियो पर पडता है। इसका अर्थ यह है कि कौटुम्बिक अधिकार का उपभोग कर वाले व्यक्ति को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उसके अपने कल्याण के साथ मा दूसरो का कल्याण भी स्थायी और अखण्ड रूप से सम्बद्ध है।

(8) धार्मिक स्वतन्त्रता (Freedom of Religion)—आधुनिक जनतान्त्रि देशों मे धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार सामान्यत सभी नागरिको को प्रदान कर

का आश्वासन दिया जाता है। नागरिक अपनी इच्छा के अनुसार पूजा व उपासना कर सकते हैं तथा किसी भी धर्म का अनुसरण कर सकते हैं। राज्य उनके धार्मिक कार्यों मे हस्तक्षेप नही करता। आधुनिक प्रवृत्ति धम और राजनीति को पृथक मानती है तथा राज्य मे शाति व व्यवस्था की दृष्टि से यह उचित समझा जाता है कि राज्य सभी धर्मों को समान स्वतन्त्रता प्रदान करे।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी अनेक सीमाओ से मर्यादित है। यदि धम के नाम पर अनैतिक यभिचार अथवा पाखण्ड बढने लगे तो राज्य का कत्त व्य हो जाता है कि नागरिकों की धार्मिक स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए कुछ व्यक्तियो द्वारा किए गए अतिक्रमण को रोके। कोई धार्मिक सगठन यदि राज्य व समाज की शाति और व्यवस्था को खतरा बन जाय तो राज्य को चाहिए कि उनके विरुद्ध कार्यवाही करे।

कानून अभिप्राय, स्रोत और प्रकार
(Law its Meaning, Sources and Kinds)

कानून की परिभाषा
(Definition of Law)

साधारणत कानून से हमारा तात्पय उन नियमो से होता है जिनसे हमारे काय नियन्त्रित होते हैं। सघष रोकने और सामाजिक जीवन व्यवस्थित बनाने के लिए य नियम आवश्यक हैं। पहले यही कानून रीति रिवाजो और रूढियो के रूप में प्रचलित थे, पर समय की प्रगति के साथ साथ इन्होने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। वास्तव मे कानून वह नियम है जो राज्य मे रहने वाले व्यक्तियो के तथा नागरिको और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो को निश्चित करता है। कानून की कुछ उल्लेखनीय परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति द्वारा लागू मनुष्य के बाह्य जीवन से सम्बन्धित सामान्य नियम ही कानून हैं।" —हॉलैण्ड

"कानून एक निर्णायक मानव-श्रेष्ठ का अपने अधीनस्थ को आदेश है और कानून का तत्त्व राज्य की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह लोगो से कानूनो का पालन करवाता है।" —आस्टिन

"कानून अधिकार और कत्तव्यो की वह व्याख्या है जिसे राज्य लागू करता है।" —ग्रीन

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि कानून—(1) मानव के बाह्य आचरण को नियन्त्रित करने वाला नियम है (2) यह एक एसा आदेश है जो राज्य द्वारा लागू किया जाता है (3) कानून मनुष्य की आन्तरिक भावनाओ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, (4) यह सबके लिए समान है और सब पर सामान रूप से लागू होता है (5) इसका उद्देश्य मनुष्य के अधिकारो की रक्षा करना है और इसका उल्लघन राज्य द्वारा दण्डनीय है, (6) न केवल राज्यादेश ही कानून कहलाते हैं बल्कि वे परम्पराएँ व रिवाज भी कानून हैं, जिन्हे राज्य शक्ति मनुष्यो से पालन कराती है।

उपयुक्त कारणो मे ही कानून को राज्य की प्रभुत्व शक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति भी कहा जाता है अर्थात् राज्य अपनी प्रभुता को नियमो द्वारा प्रकट

करता है और प्रयोग में लाता है। जिन नियमो पर राज्य या सरकार की स्वीकृति की मोहर न लगी हो उसे कानून की सना नही दी जा सकती।

कानून के प्रकार (Kinds of Law)

विभिन्न लेखको ने विभिन्न प्रकार स कानूनों का वर्गीकरण किया है। हॉलण्ड ने कानूनो के दो भेद बताए हैं –निजी कानून (Private Laws) और सावजनिक कानून (Public Laws)। निजी कानून वे कानून हैं जो व्यक्तियो क पारस्परिक सम्ब घ निर्धारित करते हैं। सावजनिक कानून वे कानून हैं जो व्यक्ति और राज्य के सम्ब घो को निर्धारित करते हैं।

(1) साधारण कानून (Ordinary Law)—य वे कानून हैं जो विधान मण्डल द्वारा निर्मित होत हैं। इन्हें सविधि कानून (Statute Law) भी कहा जाता है।

(2) वधानिक कानून (Constitutional Law) – शासक वग को नियन्त्रित एव सगठित करने वाले सविधान के नियमो को सवधानिक कानून कहत हैं। सरकार क सगठन की रुपरेखा विधान मण्डल, कायपालिका और न्यायपालिका का निर्माण एव उनके पारस्परिक सम्बन्धो आदि की विस्तृत विवचना सवधानिक कानूना का अग होते हैं।

(3) सामान्य कानून (Common Law)—यह कानून प्राचीन परम्पराओ और रीति रिवाजो पर आश्रित होता है। इसे रिवाजी कानून (Customary Law) भी कहा जाता है।

(4) अध्यादेश (Ordinances)—ये वे कानून हैं जिन्ह राज्य का मुख्य कायकारी प्रधान उस समय जारी करता है जब विधान मण्डल की बठक नही हो रही हो। अध्यादेश बहुत थोडे समय के लिए जारी किए जाते हैं।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)—विश्व के विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या करने वाले नियमो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते हैं। ऐसे कानूनो के पीछे ऐसी कोई सत्ता नही होती जो उन्हे बलपूवक लागू कर सके, इसीलिए कुछ व्यक्ति तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून ही नहीं मानते। परन्तु अधिकांश विद्वानो क अनुसार यह आधा कानून और आधी नैतिकता है।

(6) प्रशासकीय कानून (Administrative Law)—जब शासक और शासितो के लिए विभिन्न कानूनी व्यवस्थाएँ की जाती हैं तो उन्हे प्रशासकीय कानून कहते हैं। वास्तव मे यह सावजनिक विधि का ही एक अग है जो प्रशासकीय सगठन और प्रशासकीय अधिकारियो के अधिकारों की सीमा निर्धारित करता है तथा नागरिको को इस बात से परिचित कराता है कि प्रशासन द्वारा उनके अधिकारो के दमन की स्थिति में उन्ह क्या करना चाहिए।

(7) सावजनिक कानून (Public Law)—राज्य और व्यक्तियो के बीच सम्बन्धो की व्याख्या करने वाले नियम सावजनिक कानून कहलाते हैं। मेकाइवर के अनुसार, 'सावजनिक कानून समाज की व्याख्या करता है और राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था करना उसका कत्तव्य है।'

(8) व्यक्तिगत कानून (Private Law) - व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय करने वाले नियम व्यक्तिगत कानूनों की श्रेणी में आते हैं। कन्ट्रेक्ट, विवाह, सम्पत्ति आदि विषय इसमें सम्मिलित हैं।

कानून के स्रोत (Sources of Law)

आज का कानून एक दिन का परिणाम नहीं है। वह निरंतर व क्रमबद्ध विकास व परिवर्तन का परिणाम है। विकास के अनेक तत्त्वों ने कानून को आधुनिक रूप प्रदान किया है। हॉलैण्ड ने कानून के निम्नांकित छः स्रोतों का उल्लेख किया है।

1 रीति रिवाज 2 धर्म, 3 विवेचन, 4 न्यायालयों के निर्णय, 5 न्याय भावना, 6 विधान मण्डल।

(1) रीति रिवाज—रीति-रिवाज कानून के सम्भवतः सर्वाधिक प्राचीन स्रोत हैं। प्राचीन काल में सामान्य व्यवहारों और दैनिक प्रयोगों पर आधारित रीति रिवाज ही कानून होते थे। आदिम समाजों में सब विवाद तत्कालीन प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार ही सुलझाए जाते थे। इन रीति रिवाजों का विकास समयानुसार होता रहा उन्हें किसी राज्य या मनुष्य ने नहीं बनाया। राज्य के अस्तित्व में आने के उपरान्त विधि के निर्माण में इन रीति रिवाजों ने बड़ा योगदान दिया। सत्य तो यह है कि किसी भी देश के कानूनों में रीति रिवाजों का अंश अवश्य रहता है।

(2) धर्म - धर्म ने कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। समाज के विकास की प्रारम्भिक स्थिति में रीति रिवाज तथा धर्म ही कानून थे। प्राचीन समय में रीति रिवाज और धार्मिक नियमों में कोई भेद नहीं था। कुछ रीति रिवाज तो धर्म के ही प्रमुख अंग थे। प्राचीनकाल में कानून का स्रोत धर्म माना जाता था। धर्म ने रीति रिवाज के कानूनों को दैवी स्वीकृति प्रदान कर अधिक शक्तिशाली बनाया। धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप ईश्वर को कानून का स्रोत माना जाने लगा। कानून के स्रोत के रूप में धर्म की जो प्रधानता है उसे मुस्लिम कानून के उदाहरण से समझा जा सकता है जो कुरान पर आधारित है। भारत में मनुस्मृति 'हिन्दू लॉ' का आधार है।

(3) वैधानिक विवेचन—कानून के विकास में कानूनी लेखकों, टीकाकारों और न्याय शास्त्रियों के मत, निर्णय तथा विवेचन का भी महत्त्व है। ये लोग कानून की टीका करते हैं, उनके अर्थ स्पष्ट कर उनकी व्याख्या करते हैं तथा न्याय और लोकहित की भावना से उनमें सुधार सुझाते हैं। उनके विचार न्यायाधीशों के निर्णय को प्रभावित करने लगते हैं। इन महान् लेखकों के विचारों से लाभ उठाकर कानून में फिर से संशोधन परिवर्द्धन कर नूतन निर्माण किया जाता है।

(4) न्यायालयों के निर्णय—समय-समय पर न्यायालयों द्वारा दिए जाने वाले निर्णय भी कानून के स्रोत बन जाते हैं। न्यायाधीश अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार कानून की स्पष्ट व्याख्या करते हैं और उस व्याख्या के अनुरूप निर्णय देते हैं। इस प्रकार वे कानून का विस्तार करते हैं और एक प्रकार से नूतन कानूनों का निर्माण होता है। उनके निर्णय भावी न्यायाधीशों के लिए प्रमाण बन जाते हैं और उनके

बार बार स्वीकार किए जाने पर वे कानूनो का रूप ले लेते हैं। इन्हें न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है।

(5) न्याय भावना—न्याय भावना का अर्थ समानता, ईमानदारी व न्याय प्रियता है। कानून सदैव पूर्ण नहीं होता। कभी न्यायालय के सामने कोई ऐसा अभियोग आता है जिस पर कोई भी कानून लागू नहीं होता। ऐसे अवसरो पर न्यायाधीश अपने स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्णय के आधार पर फैसला दे देते हैं और भविष्य मे ऐसे सभी अभियोगो पर यही निर्णय लागू होता है। न्यायाधीश का यही विवेक मौन कानून की पूर्ति करता है। यह विवेक एक प्रकार से कानून का रूप लेता है कानून मे रिक्त स्थान की पूर्ति करता है और इसलिए न्याय भावना को कानून का स्रोत माना गया है।

(6) विधान मण्डल—आधुनिक युग मे कानून निर्माण का प्रमुख कार्य सरकार के विधायी विभाग के हाथ मे होता है और देश की संसद् तथा विधान-मंडलो द्वारा कानूनो का निर्माण किया जाता है। यह कानून लिखित व निश्चित होते हैं। किन्तु इस कानून निर्माण मे भी व्यवस्थापिका-सभाएँ, जनता की इच्छा हितो, प्रचलित रीति रिवाजो, धार्मिक प्रथाओ एवं न्याय भावना की उपयोगिता की उपेक्षा नही कर सकती। स्विटजरलैण्ड मे प्रत्यक्ष कानून निर्माण की ही व्यवस्था है तथा ऐसी अवस्था मे व्यवस्थापिका सभा अधिक शक्तिशाली नही रह पाती।

कानून और नैतिकता, कानून व स्वतन्त्रता
(Law and Morality, Law and Liberty)

कानून और नैतिकता
(Law and Morality)

कानून और नैतिकता एक-दूसरे से भिन्न वस्तुएँ हैं। परन्तु चूँकि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, अतः कानून और नैतिकता मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कानून एवं नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध एवं अन्तर को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

कानून एवं नैतिकता मे सम्बन्ध—कानून एवं नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। गिलक्राइस्ट के अनुसार—"राज्य का अधिकार नागरिको के मस्तिष्क होते हैं, जो नैतिक एजेन्ट होते हैं।" मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और नैतिक भी। वह अपने प्रत्येक कार्य को औचित्य की कसौटी पर कसता है। कानून अधिकतर समाज के उचित एवं नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित होते हैं। नैतिकता हमको आदर्श जीवन यापन की शिक्षा देती है और समाज के प्रति सद् व्यवहार की प्रेरणा देती है। राज्यकृत कानूनो का भी यही उद्देश्य है। मनुष्य के व्यवहार को समाज मे कानून और नैतिकता दोनो ही नियमित करते हैं। यदि कानून का आधार नैतिकता होता है तो कानून बहुत अधिक प्रभावशाली बन जाता है

नैतिकता और कानून दोनो ही एक-दूसरे को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। जनता का नैतिक स्तर उसके कानूनो में परिलक्षित होता है। यदि कोई कानून जनता

के नतिक स्तर से बहुत ऊँचा या आगे बना दिया जाता है तो उसका पालन नहीं कराया जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में शराबबन्दी कानून पारित किया गया परन्तु वहाँ की जनता शराब पीना अनतिक नहीं मानती थी अत उस कानून का पालन नहीं किया जा सका। इसी प्रकार भारत में शारदा एक्ट इसका उदाहरण है। कभी-कभी कानून भी जनता के नतिक स्तर मे परिवतन कर देता है। उदाहरण के लिए भारत में सती प्रथा रोकने का कानून या विधवा विवाह कानून बनाए गए तो जनता इन कानूनों को अनतिक मानती थी, परन्तु शन शन इनका यह प्रभाव हुआ कि अब लोग इनको नतिक मानने लगे हैं।

कानून एव नतिकता मे भेद—कानून और नतिकता मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी काफी अन्तर है। यह आवश्यक नहीं है कि एक अनतिक बात गर-कानूनी हो और एक गर-कानूनी काय अनतिक हो। उदाहरण के लिए शराब पीना अनतिक हो सकता है किन्तु सदा गर कानूनी नहीं है। इसी प्रकार सडक पर दाहिने हाथ चलना गर कानूनी हो सकता है पर अनतिक नहीं। कानून और नतिकता मे निम्न लिखित अन्तर है—

कानून (Law)	नतिकता (Morality)
(1) कानून का राज्य की सावभौमिक शक्ति द्वारा पालन कराया जाता है।	(1) नतिकता का पालन व्यक्ति अपनी अन्त करण की प्ररणा से करते है।
(2) कानून का उल्लघन राज्य द्वारा दण्डनीय है चाहे वह दण्ड शारीरिक हो अथवा आर्थिक।	(2) नतिकता के नियमो का उल्लघन शारीरिक या आर्थिक रूप से दडनीय नहीं है। मनुष्य की भावना और सामाजिक बुराई का डर ही व्यक्ति को नैतिक नियमो के उल्लघन से रोक सकता है।
(3) कानून मनुष्य के बाह्य आचरण को नियमित करता है और उस पर नियन्त्रण रखता है, आतरिक विचारो से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।	(3) नैतिकता मनुष्य के मन की भावनाओ और बाह्य आचरण, दोनो को नियमित करती और उन पर नियन्त्रण रखती है। इसका मनुष्य के समूचे जीवन से सबध है।
(4) कानून निश्चित निर्धारित एव सवव्यापी होते हैं।	(4) नतिकता के नियम अनिश्चित होते हैं और उनका पालन एच्छिक होता है।
(5) कानून न्यायशास्त्र के अधीन माना जाता है।	(5) नतिकता का अध्ययन नीति शास्त्र या आचार शास्त्र के अन्तगत किया जाता है।

(6) कानून का आधार सार्वजनिक होता है और यह जनता के के लिए होता है।	(6) नैतिकता व्यक्तिगत मान्यता होती है।

(7) बहुधा कानून नैतिकता पर आधारित न होकर उपयोगिता पर आधारित होते हैं। प्रत्येक अनैतिक कार्य कानून विरोधी नहीं होता और प्रत्येक कानून विरोधी कार्य अनैतिक नहीं होता, सडक पर बाएँ हाथ को न चलना और रिक्शा मे रोशनी का प्रबन्ध न करना गैर कानूनी होते हुए भी नैतिक दृष्टि से अपराध नहीं है। इसी प्रकार ईर्ष्या नैतिक दृष्टि से तो अनुचित है, परन्तु वह गैर कानूनी नहीं है।

(8) राज्य के कानून कर्त्तव्यो का निर्माण भी उपयोगिता के आधार पर ही करते हैं। राज्य के टैक्स चुकाना और सरकारी कर्मचारियों को सहायता प्रदान करना कानून की दृष्टि मे नागरिक के कर्त्तव्य हैं किन्तु मा बाप की सेवा करना, शिक्षक का आदर करना आदि नैतिक तथ्य कानून की दृष्टि से कर्त्तव्य की श्रेणी मे नही आते।

कानून और नैतिकता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने कहा है—"*सभी नैतिक दायित्वो को कानूनी रूप देने का अर्थ नैतिकता का अन्त करना होगा।*'

कानून और स्वतन्त्रता
(Law and Liberty)

कानून एव स्वतन्त्रता के विषय में विरोधी विचारधाराएँ—कानून एव स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे दो विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार स्वतन्त्रता एव कानून परस्पर विरोधी हैं अर्थात् कानून स्वतन्त्रता पर आघात करता है, तो दूसरे के अनुसार कानून और स्वतन्त्रता मे कोई विरोध नहीं है और स्वतन्त्रता कानून के द्वारा ही सम्भव है। प्रथम विचारधारा के पोषक अराजकतावादी एव व्यक्तिवादी विचारक हैं तो दूसरी विचारधारा के पोषक आदर्शवादी हैं। अराजकतावादी यदि राज्य और कानून दोनो का अन्त कर देना चाहते हैं तो व्यक्तिवादी विचारक अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए कानून की परिधि को अत्यधिक सीमित कर देना चाहते हैं।

डायसी के शब्दो में—' जितने कम कानून होंगे, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता होगी और जितने अधिक कानून होंगे, उतनी ही कम स्वतन्त्रता होगी।" ऐसे विचारक कानून को स्वतन्त्रता विरोधी मानते हैं। समस्त व्यक्तिवादी एव अराजकतावादी विचारक कानून का विस्तृत करने के लिए ही राज्य के विनाश की कल्पना करते हैं। गॉडविन के शब्दो मे—"राज्य का कानून दमन और उत्पीडन का एक नया यन्त्र है।'

दूसरी विचारधारा के समर्थकों का मत है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति केवल कानून के माध्यम से ही सम्भव है। लॉक का कथन है कि—' जहाँ कानून नहीं वहाँ

स्वतन्त्रता भी नही हो सकती।" हॉकिन्स के शब्दों मे—"जितनी अधिक स्वतन्त्रता व्यक्ति चाहता है, उतना ही अधिक उसे शासन के सम्मुख झुकना पडता है।

दोनों दृष्टिकोणों की आलोचना और कानून एवं स्वतन्त्रता के वास्तविक सम्बन्ध का विवेचन—जो व्यक्ति यह समझते हैं कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है व स्वतन्त्रता का अर्थ यह लेते हैं कि व्यक्ति को अपना मनचाहा व्यवहार करने की आजादी होनी चाहिए और उसके कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। किन्तु यह धारणा भ्रामक है क्योंकि प्रतिबन्धरहित स्वतन्त्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है। एक व्यक्ति की निरंकुश इच्छा की तुलना तो केवल बर्बर स्वतन्त्रता से ही की जा सकती है। प्रतिबन्ध रहित स्वतन्त्रता तो अराजकता है और सामाजिक जीवन मे ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव नही है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य स्वेच्छाचारी बनकर मनमाने ढग से करने लगेगा तो सामाजिक जीवन असम्भव हो जाएगा और पग पग पर संघर्ष एवं विरोध उत्पन्न होंगे। मानव की जान माल, प्रतिष्ठा आदि सभी कुछ निरन्तर भय और खतरे के बीच मडराती रहेगी। एक व्यक्ति अपनी इच्छा पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्ति की इच्छाओं एवं भावनाओं को गौणतम समझने लगेगी और निर्बल तथा अशक्त व्यक्तियों का जीवन दूभर हो जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज अव्यवस्था, अशान्ति, भय और कलह का घर बन जाएगा।

प्रतिबन्ध रहित स्वतन्त्रता के इन्ही कुपरिणामो को रोकने के लिए एवं सामाजिक जीवन मे मनुष्य के आचरण तथा व्यवहार पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिए कुछ नियमो का होना अनिवार्य है। सार्वजनिक हित के कानूनों का पालन किए बिना हम साथ-साथ नही रह सकते। कानून केवल जगली स्वतन्त्रता का शत्रु होता है। वास्तविक स्वतन्त्रता एवं कानून में कोई विरोध नहीं है। कानून केवल ऐसी ही स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित करते हैं जिससे दूसरों को हानि पहुँचती हो। कानून द्वारा मनुष्य की पैशाचिक प्रवृत्तियाँ दबा दी जाती हैं एवं मनुष्य की वास्तविक एवं सच्ची स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है। कानून का आक्रमण मनमाने काम करने की स्वतन्त्रता पर होता है। कानून या विधि का अर्थ राज्य के उन नियमों से है जो समाज मे शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने तथा जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाए जाते हैं। क्योंकि राज्य के कानून के पीछे राज्य की दण्ड शक्ति काम करती है, अत व्यक्ति अपनी स्वेच्छाचारिता और समाज के सदस्यों के प्रति अहितकर कार्यों पर अंकुश रखने को बाध्य होता है। राज्य का कानून प्रत्येक मनुष्य से अनुशासित जीवन की माँग करता है। सामाजिक उन्नति वास्तविक स्वतन्त्रता पर निर्भर होती है और वास्तविक स्वतन्त्रता बिना ही उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता एवं स्वच्छन्दाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाये प्राप्त नही हो सकती। स्वतन्त्रता की सीमा को कानून निश्चित करता है और हमे हमारे कर्त्तव्यों का बोध कराता है। इस प्रकार कानून द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध जनता के लिए

हितकर ही होते हैं। राज्य के कानून व्यक्तियों की, स्वतन्त्रता की रक्षा ही नहीं करते, वरन् वृद्धि भी करते हैं।

पर यदि हम इस दूसरी धारणा को मूल सत्य समझकर कानून को सदा सर्वदा स्वतन्त्रता का जनक और रक्षक मान लें तो यह भी गलत है, क्योंकि समस्त कानून उत्तम कानून नहीं होते। प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता के लिए अच्छा ही होगा, यह सत्य नहीं है। कभी कभी स्वार्थी शिक्षकों के द्वारा ऐसे कानूनों की सृष्टि की जाती है जो नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। 1789ई की क्रान्ति से पूर्व फ्रांस की सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक अवस्था बहुत विकृत हो चुकी थी। वहाँ पर गरीबों को सब कर देने होते थे और अमीर मस्त रहते थे। कानूनों से तो गरीबों का खून चूसा जाता था। अतः ऐसी दशा में लोगों का कर्त्तव्य था कि ऐसे कानूनों का अवश्यमेव उल्लंघन करें। राज्य का केवल न्यायसंगत कानून पालन करवाने का ही अधिकार प्राप्त है। स्वतन्त्रता एवं न्याय के प्रति घातक कानूनों का विरोध करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। अनुचित और दमनकारी कानूनों (Oppressive Laws) का स्वतन्त्रता में कोई स्थान नहीं। कानूनों का निर्माण किसी वर्ग विशेष के स्वार्थपूर्ण हितों को सामने रख कर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि सम्पूर्ण समाज के हितों को सामने रख कर किया जाना चाहिए। वास्तव में कानून एक ऐसी बन्दूक है जिसका प्रयोग स्वतन्त्रता की रक्षा और उसकी हत्या दोनों ही कार्यों के लिए किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रेष्ठ कानून यदि स्वतन्त्रता का पूर्ण रक्षक है तो बुरा कानून स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। साथ ही बिना कानून और प्रतिबन्ध के वास्तविक स्वतन्त्रता की कल्पना भी करना कठिन है। कानून रहित स्वतन्त्रता का अर्थ है अन्याय। अतः आवश्यक है कि स्वतन्त्रता की रक्षार्थ प्रतिबन्धों पर कानून की स्थापना हो, किन्तु वे कानून नैतिक आधार पर हों तथा निरकुश प्रवृत्ति से मुक्त हों।

स्वतन्त्रता : अर्थ एवं प्रकार
(Liberty : its Meaning and Kinds)

स्वतन्त्रता मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है। इतिहास में स्वतन्त्रता के नाम पर कितने ही संघर्ष हुए हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रायः स्वतन्त्रता के इतिहास की एक विभाजक रेखा माना जाता है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व फ्रांस के क्रान्तिकारियों के एक युग परिवर्तनकारी नारे थे, जिस पर हजारों फ्रांसिसी शहीद हो गए। यूरोप में, स्वतन्त्रता की भावना का त्वरित विकास फ्रांस की इसी राज्यक्रान्ति का परिणाम था जिसे उसकी आधुनिक युग को एक महान देन भी कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता की यह हवा फ्रांस से समस्त यूरोप में फैली और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पश्चिम में एक नए समाज का निर्माण होने लगा।

स्वतन्त्रता मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तत्व है। बिना इसके व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का मार्ग अवरुद्ध रहता है। मानव की अन्तर-चेतना

और मानसिक भावनाएँ स्वतन्त्रता के अभाव में विकसित नहीहो पाती। स्वतन्त्रता के अभाव की स्थिति मे कोई भी समाज सडने लगता है और उसके सदस्या का बौद्धिक धरातल गिरने लगता है। परतन्त्रता के कारण समाज मे असतोष की आग धीरे-धीरे दहकने लगती है और जब यह असतोष सीमाएँ लाँघ जाता है ता यह स्वभावत समाज मे क्रान्ति और परिवतन का बीजारोपण होना है जिसका परिणाम राजनीति मे सदैव भयानक तथा भयकर रूप धारण करता है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता मानव मात्र के स्वाभिमानी जीवन के लिए परम् आवश्यक है। यह शुष्क और निस्सार जीवन को प्राणवान बनाती है एव मानव मस्तिष्क की चिन्तन प्रक्रिया को सजग करती है। यही कारण है कि इसे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक ही नही वरन् अनिवाय माना गया है।

स्वतन्त्रता का अर्थ

राजनीति की दृष्टि से स्वतन्त्रता का निश्चित अर्थ प्रस्तुत करना एक कठिन काम है। 'स्वतन्त्रता' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'लिबर्टी' (Liberty) है और इसकी उत्पत्ति लटिन शब्द 'लिबर' (Liber) से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ 'मुक्त' माना जा सकता है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की अभिव्यजना से इस शब्द का अभिप्राय 'इच्छानुकूल कार्यों को करने की स्वतन्त्रता' समझने की भूल कर सकता है। स्वतन्त्रता का यह अर्थ ठीक नही है। चौराहे पर खडा होने वाला पुलिसमैन यदि रिक्शा कारो आदि आवागमन के साधनो मे हस्तक्षेप न करे तो न जाने कितनी दुर्घटनाएँ रोज होने लगे। अत व्यक्तिवादी यह विचारधारा त्रुटिपूर्ण है। ऐसी स्वतन्त्रता जो हस्तक्षेप अथवा नियन्त्रण रहित हो कदापि स्वतन्त्रता नही कही जा सकती। सामाजिक जीवन में मानव के आचरण व व्यवहार पर कुछ नियन्त्रण होना आवश्यक है।

राजनीति शास्त्र के लेखकों ने स्वतन्त्रता की परिभाषाएँ देते समय उसके व्यावहारिक रूप पर दृष्टि रखी है। लास्की के मतानुसार "स्वतन्त्रता से अभिप्राय उन सामाजिक परिस्थितियो पर प्रतिबन्धो के अभाव से है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति की सुख समृद्धि के लिए आवश्यक है।" लास्की ने अन्यत्र स्वतन्त्रता की अधिक उदार व्याख्या की है और उसके सक्रिय रूप पर बल देते हुए लिखा है कि—'स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की उत्साहपूर्ण रक्षा से है जो मनुष्य को अपने श्रेष्ठतम् रूप की अनुभूति का अवसर प्रदान करता है।" जी डी एच कोल के अनुसार—'बिना किसी बाधा के अपने व्यक्तित्व को प्रगट करने के अधिकार का नाम स्वतन्त्रता है।" मानव अधिकारो के फ्रांसीसी घोषणा पत्र में स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा गया था कि उस प्रत्येक काय को करने की शक्ति का नाम स्वतन्त्रता है जिससे दूसरो को कोई हानि नही पहुँचती।" इसी प्रकार मैकशनी के विचारानुसार, "स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धो के अभाव का नाम

नहीं है बल्कि उसे अबौद्धिक प्रतिबन्धों के स्थान पर बुद्धिसगत प्रतिबन्धों की व्यवस्था कहा जाना चाहिए।"

उपयुक्त परिभापाग्रो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता वयक्तिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो की उपस्थिति है। आशीर्वादम् के शब्दो मे—'हमे सक्रिय (Positive) स्वतन्त्रता की आवश्यकता है और उसकी व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति के आत्म विश्वास (Se f development) अथवा उसके व्यक्तित्व की निरन्तर अभिव्यक्ति क अवसर का दूसरा नाम है।"

स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार
(Various Forms of Liberty)

स्वतन्त्रता शब्द का तात्पय समझने के लिए यह आवश्यक है कि स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकारो का अध्ययन किया जाय।

(1) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—प्राकृतिक स्वतन्त्रता से तात्पय उस स्वत त्रता से है जो व्यक्ति को प्रकृति द्वारा प्रदान की गई है। वास्तविक जीवन मे इस स्वतन्त्रता के उपभोग पर अनेक प्रतिबन्ध हैं जिनका कारण आधुनिक युग का सभ्य सामाजिक जीवन है। आशीर्वादम् लिखते हैं कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा जगली जीवन की स्वतन्त्रता का ही दूसरा नाम है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता के समथको का कहना है कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वतन्त्र है और सभ्यता ही बढते हुए ब धनो के लिए उत्तरदायी है।" प्राकृतिक स्वतन्त्रता के साथ रूसो का नाम भी जुड़ा हुआ है। उसका यह कथन लोकोक्ति बन चुका है कि मनुष्य स्वत त्र पदा होता है पर सवत्र ब धनो मे जकडा हुआ है।" रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो आदश चित्र खीचा है वह कवियो की कल्पना से मिलता जुलता है। उसने प्राकृतिक स्वत त्रता को व्यक्ति की क्षमताओ और योग्यताओ के समकक्ष बतलाया है। आधुनिक राज्नीति शास्त्र मे प्राकृतिक स्वतन्त्रता को सच्ची स्वतन्त्रता के नाम से नही पुकारा जाता। जिस स्वत त्रता का राजनीति विज्ञान मे प्रयोग होता है वह एक एसी स्वतन्त्रता है जो केवल समाज मे ही सम्भव है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता और नागरिक स्वत त्रता परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। आधुनिक लेखको के अनुसार जबकि प्राकृतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति की शारीरिक शक्ति पर निभर करती है नागरिक स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता का पहलू है जिसे राज्य द्वारा सरक्षण प्रदान किया जाता है।

(2) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता वह अमूल्य अधिकार है जो नागरिक को सभ्य समाज की सरकारा द्वारा प्रदान किया जाता है। राज्य नागरिक स्वतन्त्रताओ को सम्भव बनाता है। इन स्वतन्त्रताओ में अनक अधिकार निहित हैं जसे जीवन रक्षा का अधिकार, विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, कानून के सामने समानता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार आदि। य सभी अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व और मानव-समाज की

प्रगति के लिए आवश्यक हैं। इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का निर्माण और विकास करते हैं। इनके बिना मानव का मानसिक एवं नैतिक विकास रुक जाता है और वह नहीं बन सकता जो कि वह बनने के योग्य है। नागरिक स्वतन्त्रता की सीमाएँ राज्य के कानूनों द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रजातान्त्रिक देशों में यह स्वतन्त्रता संविधान के द्वारा सुनिश्चित और सुरक्षित की जाती है। उदाहरण के तौर पर भारतीय संविधान तथा अमेरिका के संविधानों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है। ये विधान प्रतिबन्ध भी लगाते हैं जो उनके उपभोग के लिए आवश्यक हैं। एक जनतन्त्रात्मक सरकार की सच्ची कसौटी यही है कि इन स्वतन्त्रताओं पर कम से कम प्रतिबन्ध लगाए जाएँ और इनकी प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायालयों की व्यवस्था की जाय।

(3) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रत्येक राज्य के नागरिकों का महत्त्वपूर्ण अधिकार होता है। लास्की ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा है कि, "राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय राज्य के कार्य व्यापारों में सक्रिय भाग लेने के अधिकार से है।" उन्हीं के शब्दों में, "मैं सार्वजनिक कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक योग दे सकता हूँ। मुझे सामान्य अनुभव के योग में बिना किसी बाधा के अपने विशिष्ट अनुभवों को जोड़ने योग्य होना चाहिए। सामान्य बाधाओं के अतिरिक्त मेरे मार्ग में ऐसी कोई बाधा नहीं होनी चाहिए जो मेरी अधिकारपूर्ण स्थिति को प्राप्त करने में अवरोध सिद्ध हो। मुझे अपनी राय को घोषित करने तथा दूसरों के साथ मिलकर राय बनाने में स्वतन्त्र होना चाहिए।"

इसी प्रकार गिलक्राइस्ट ने राजनीतिक स्वतन्त्रता को 'क्रियात्मक रूप में लोकतन्त्र के समानार्थक' बतलाया है। लीकॉक ने इसे वैधानिक स्वतन्त्रता की संज्ञा दी है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता की अवधारणा में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश आवश्यक माना जाता है—

(क) प्रतिनिधि निर्वाचन अथवा मतदान का अधिकार,

(ख) चुनाव में खड़े होने का अधिकार,

(ग) सार्वजनिक पद पर नियुक्ति पाने का अधिकार, एवं

(घ) शासन-नीति की रचनात्मक आलोचना करने का अधिकार।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के अधिकार को सार्थक बनाने के लिए लास्की ने दो परिस्थितियों को आवश्यक माना है—

(क) शिक्षा का व्यापक प्रसार और

(ख) जनता को सत्य तथा स्पष्ट जानकारी प्राप्ति की अवस्था।

इस अवस्थाओं के मिलने पर राजनीतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है और उसका क्षेत्र विस्तृत होता है।

(4) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty) - स्वतन्त्रता के सभी प्रकारो मे आर्थिक स्वतन्त्रता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। राजनीति अथवा नागरिक स्वतन्त्रता आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना निरर्थक है। मानव जब तक आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नही होता तब तक वह दूसरे अधिकारो का सही उपभोग नही कर सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता सभी स्वतन्त्रताओं की जड इसलिए मानी गई है कि भूख और बेकारी के समय से व्यक्ति की सभी स्वतन्त्रताएँ सदा के लिए नष्ट हो सकती हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता से 'मनुष्य को अपना दैनिक भोजन उपार्जित करने हुए उचित रूप मे सुरक्षा और सुअवसर प्राप्त होता है।" यह उसे भय तथा कल की चिन्ता से मुक्ति दिलाती है। आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद ही प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त कर सकता है। लास्की ने तो यहाँ तक कहा है कि—इन सब स्वतन्त्रताओ के अभाव मे अथवा इन्हें प्राप्त करने की कम से कम क्षमता के बिना मनुष्य लगभग वैसा ही दास है जैसा कि बाजार मे खडा करके बेचा या खरीदा जाने वाला कोई व्यक्ति दास माना जाएगा।"

(5) राष्ट्रीय एकता (National Liberty)—इस प्रकार की स्वतन्त्रता द्वारा कोई भी परतन्त्र राष्ट्र अपना शासन अपने आप करने का राजनीतिक अधिकार प्राप्त करता है। राजनीतिक जागरण के इस युग मे कोई भी एक राज्य दूसरे राज्य के अधीन रहना नही चाहता और अपने देश की स्वतन्त्रता की माँग करता है। साम्राज्यवादी परतन्त्रता का जुआ उतार फेंकने वाले सभी राष्ट्रो ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया है जैसा कि आधुनिक एशिया और अफ्रीका के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना राष्ट्रीय आत्म-निर्णय करने का अधिकार हो। दूसरे शब्दो मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मे सांस्कृतिक और राजनीतिक तत्त्व निहित होते हैं जो कि एक राष्ट्रीय समूह को किसी अन्य राष्ट्रीय राज्य का नियन्त्रण अस्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर ही प्राय राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता आधारित होती है।

समानता अर्थ एवं प्रकार
(Equality its Meaning and Kinds)

अर्थ (Meaning)

स्वतन्त्रता की तरह 'समानता' शब्द का अर्थ भी भ्रामक है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए इस शब्द की व्याख्या इसीलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि आजकल यह समाजवादी नारा के साथ जुडा हुआ है। प्राय लोग समानता का अर्थ यह लगाते हैं कि सभी व्यक्ति समान है। जनसाधारण समझता है कि मनुष्य समान पैदा होते है और क्योकि प्रकृति ने उन्हें समान बनाया है, इसलिए वे हर दृष्टि से समान हैं अथवा होने चाहिए। अठारहवीं शताब्दी की इसी मान्यता पर आधारित अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा में उल्लेख है कि—"सब मनुष्य आजाद और समान

पैदा होते हैं।" फ्रांस के अधिकारों के घोषणा पत्र में भी कहा गया था कि 'मनुष्य, स्वतन्त्र और समान पैदा होते हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में भी समान और स्वतन्त्र हैं।" समानता की यह धारणा आज के युग में पूर्ण रूप से अव्यावहारिक है। प्रत्येक व्यक्ति न समान पैदा होता है और न वह समान है तथापि यह कहना कि सभी मनुष्य समान हैं, ठीक इतना ही गलत है, जितना यह कहना कि 'पृथ्वी समतल है।"

समानता के सिद्धान्त की आज के युग में अधिकारपूर्ण व्याख्या प्रो लास्की ने की है। लास्की ने समानता के दो अर्थ बतलाए हैं। उसके मत में समानता का पहला अर्थ यह है कि एक समानतावादी समाज में सब प्रकार की विशिष्ट सुविधाओं का लोप कर दिया जाए। 'नागरिक होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति जिन अधिकारों के योग्य है वही अधिकार मुझे भी उसी सीमा तक और उसी प्रकार प्राप्त होने चाहिए।" दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता की राजनीतिक सम्प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के लिए राज्य के सभी दरवाजे समान रूप से खुले हुए हों और उन पर अनावश्यक प्रतिबन्ध न हों। आधुनिक समाज में पद्‌क अथवा वंश परम्परागत परिस्थितियों के कारण जो अवसर व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं, वे समानता के सिद्धान्त का हनन करते हैं। समानता का दूसरा अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हों। राज्य की ओर से नागरिकों के बीच किसी प्रकार के अवांछनीय भेदभाव न हों। व्यक्ति के किसी व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित और समान अवसर सुलभ होने के बाद ही समाज में समानता का अधिकार सार्थक कहला सकता है।

समानता के प्रकार

लार्ड ब्राइस ने समानता का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(1) नागरिक समानता (Civil Equality)
(2) राजनीतिक समानता (Political Equality)
(3) सामाजिक समानता (Social Equality)
(4) प्राकृतिक समानता (Natural Equality)

(1) नागरिक समानता—इस प्रकार की समानता से तात्पर्य यह है कि नागरिकों को अपने नागरिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ राज्य को जाति, लिंग धर्म वर्ण इत्यादि के आधार पर भेद-भाव नहीं रहना चाहिए। कानून की दृष्टि में सभी को समान समझा जाना चाहिए। ब्राइस के अनुसार कुछ शताब्दी पूर्व नागरिक समानता बहुत कम राज्यों की सरकारों द्वारा स्वीकार की जाती थी परन्तु अब एक अधिकार के रूप में यह सभी सभ्य राज्यों का नियम बन गया है।

(2) राजनीतिक समानता—प्रजातान्त्रिक देशों में राजनीतिक समानता महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ब्राइस का कथन है कि राजनीतिक समानता के अनुसार सभी नागरिकों को सरकार के कार्य में भाग लेने और सरकारी पद प्राप्त करने का समान

अधिकार होना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि नागरिक आवश्यक योग्यताएँ पूरी करें राजनीतिक समानता का आधार बहुत कुछ आर्थिक समानता है जिसके बिना राजनीतिक समानता वास्तविक नहीं बन सकती।

(3) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता के अनुसार नागरिक समाज की वे इकाइयाँ हैं जिनका स्तर समान है। समाज को रंग, पद वंश वर्ग आदि के आधार पर भेद नहीं करना चाहिए। विश्व के विभिन्न समाजों में इस प्रकार की सामाजिक समानता का अभाव है। समाज के विभिन्न प्रकार के नागरिकों में भेद किया जाता है और राज्य अपने कानूनों द्वारा सामाजिक समानता लागू नहीं कर पाता। असमानता एक भावना के रूप में आज भी सर्वत्र विद्यमान है और जाति रंग, वर्ग तथा धर्म आज भी नागरिकों में असमान व्यवहार की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। नागरिकों के हृदय परिवर्तन के बाद ही यह समानता स्थापित हो सकती है।

(4) प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता के लेखक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के लेखकों ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की प्राकृतिक समानता का उल्लेख किया है। आधुनिक युग में इस प्रकार की समानता को कोरी कल्पना समझा जाता है।

(5) आर्थिक समानता—*आर्थिक समानता राजनीतिक तथा सामाजिक* समानता का आधार है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक शक्ति समाज के एक वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाती है जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली बन जाता है। मार्क्स के इस कथन में पर्याप्त सत्यता है कि जो वर्ग अर्थतन्त्र पर अधिकार जमा लेता है वह अन्ततः राजनीतिक शक्ति को भी अपने नियन्त्रण में कर लेता है जिसका परिणाम शोषण और गृह युद्ध होता है।

आर्थिक समानता से यह आशय कदापि नहीं है कि सभी नागरिकों की आय एक समान हो या सभी को एक से आर्थिक साधन प्राप्त हों। समाज के सब नागरिकों के बीच राष्ट्रीय पूँजी का समान वितरण असम्भव है। आर्थिक समानता से तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक नागरिकों को बिना शोषण के अपने जीवन निर्वाह का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। *उसे अपने परिश्रम का समुचित पुरस्कार* मिलना चाहिए। सरकार को चाहिए कि प्रत्येक नागरिक के लिए काम की व्यवस्था करे और देश की बेकारी दूर करे। इसके लिए राज्य को समाज से पूँजी तथा उत्पादन के साधनों को कुछ व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने से रोकना चाहिए।

आज के समाजवादी देश अपनी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा आर्थिक समानता स्थापित करने का दावा करते हैं यद्यपि जैसा कि लार्ड ब्राइस की मान्यता है— 'पूर्ण आर्थिक समानता सर्वथा असम्भव है।"

समानता तथा स्वतन्त्रता
(Equality and Liberty)

राजनीति शास्त्र में समानता एवं स्वतन्त्रता शब्द एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। किन्तु व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से अनेक विचारक समानता तथा स्वतन्त्रता को एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। उनका कहना है कि समानता की उपस्थिति में स्वतन्त्रता का नष्ट हो जाती है और उसका अर्थ असमानता बन जाता है।

डी० टाकविल तथा लॉर्ड एक्टन दोनों ही इस प्रकार के विचारक हैं जो स्वतन्त्रता तथा समानता को एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार समानता स्वतन्त्रता की शत्रु है। लॉस्की का कहना है कि लार्ड एक्टन तथा टाकविल का निष्कर्ष अत्यन्त चरमतावादी है। वास्तव में स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे की पूरक और साथ-साथ रहने वाली राजनीतिक धारणाएँ हैं। आशीर्वादम् के शब्दों में "स्वतन्त्रता के पुजारियों का यह विचार (टाकविल एवं लॉर्ड एक्टन) कि स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की विरोधी हैं, गलत है। फ्रांस के क्रान्तिकारी कोई मूर्ख नहीं थे जो उन्होंने 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व' का नारा बुलन्द किया। ये तीनों शब्द एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। यदि स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य प्राप्त करना है तो यह जरूरी है कि समानता भी किसी न किसी रूप में उनके साथ रहे।"

स्वतन्त्रता एवं समानता एक साथ रखने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। राज्य में न वर्गभेद होना चाहिए और न धन के आधार पर कार्य का वितरण। आधुनिक समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनका शक्ति का मूल आधार केवल धन है। अधिकांश जनता जिनकी इज्जत करती है और जिनके पीछे-पीछे चलती है, उनकी उस इज्जत और नेतृत्व का कारण उनका ज्ञान या गुण न होकर उनके धन की शक्ति है। वे लोग पूँजी के आधार पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। समाज के उत्पादन के साधन उनकी अपनी इच्छा के अनुसार नियन्त्रित होते हैं। समाचार-पत्रों पर अपने नियन्त्रण द्वारा, राजनीतिक संस्थाओं पर एक भारी प्रभाव डालते हैं। समाज की आर्थिक शक्ति ऐसे लोगों के हाथों में पड़कर मजदूर वर्ग के लिए घातक सिद्ध होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ पर ज्यादा आर्थिक असमानताएँ हैं, वहाँ स्वतन्त्रता की अनुभूति और उपभोग भी उसी अनुपात में कम हो जाते हैं।

इन सब परिस्थितियों के आधार पर लॉस्की का मत है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता तब तक यथार्थ नहीं हो सकती जब तक कि उनके साथ आर्थिक समानता न जुड़ी हुई हो, चूँकि राजनीतिक आगे चलकर आर्थिक शक्ति के हाथ की कठपुतली बन जाती है।" कोल की भी यही मान्यता है। उसके अनुसार 'आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल उन लोगों के हाथ में रही है जिनका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रहा है।

स्वतन्त्रता एव समानता के प्रश्न पर प्राचीन समय मे भी विचार किया गया था। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कहा है कि प्रजातन्त्र मे एक धनी तथा दूसरा गरीब वर्ग होता है। रोमन इतिहास मे आर्थिक असमानता के आधार पर कितने ही सघर्ष हुए हैं। जॉन बाल के उपदेशो, मूर की 'यूटोपिया' और हैरिंगटन की पुस्तक 'Oceana' का आधार आर्थिक समानता ही है। इन सभी ने स्वतन्त्रता एव समानता के सम्बन्धो पर गम्भीर रूप मे विचार किया है। समाजवाद का प्रारम्भिक इतिहास इसी विचार से ओत प्रोत है कि जब पूँजी एक वर्ग विशेष के हाथो मे केन्द्रित होने लगती है तो वह राज्य और समाज के लिए अहितकर सिद्ध होती है। इसी विश्वास के अनुरूप मार्क्स ने अपनी 'Communist Manifesto' मे एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया जो आधुनिक विश्व में एक वैज्ञानिक और प्रभावशाली दर्शन माना जाता है।

आर्थिक समानताओ का प्रभाव कानून पर भी पडता है और वह भी आर्थिक शक्ति के पक्ष मे झुकता है। गॉल्सवर्दी कृत सिलवर बॉक्स' (Silver Box) नाटक से स्पष्ट है कि इंगलैण्ड जैसे लोकतन्त्रात्मक देश मे भी वस्तुत दो प्रकार के कानून रहे हैं—एक अमीरो के लिए और दूसरा गरीबो के लिए। मैडीसन के कथनानुसार "सम्पत्ति का विषम विभाजन ही सघर्ष का एकमात्र स्थायी कारण होता है।" उस समाज मे जहाँ भारी आर्थिक असमानताएँ होती हैं, वहाँ नागरिको को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती। आर्थिक समानता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के बीच सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि हम एक दूसरे को अलग अलग रखने की कल्पना भी नही कर सकते। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व असम्भव है।

प्रश्नावली
(Exercises)

यूनिट -- 1

1 राजनीति शास्त्र की कोई एक ऐसी परिभाषा दें जो इस विषय के अर्थ, स्वरूप तथा क्षेत्र को स्पष्ट करे। इस परिभाषा का परीक्षण करें तथा उसकी सीमाएँ एव उपयोगिता इगित करें।

2 निम्नलिखित कथनो म से किसी एक का परीक्षण करें तथा राजनीति शास्त्र के अर्थ, स्वरूप एव क्षेत्र को इगित करें—

(अ) "राजनीति शास्त्र सामाजिक शास्त्र का वह अग है जो राज्य के आधार एव सरकार के सिद्धान्तो से सम्बद्ध है।" (पॉल जैने)

(ब) "राजनीति शास्त्र राज्य कैसा रहा है सम्बन्धी ऐतिहासिक परिनिरीक्षण, राज्य कैसा है सम्बन्धी विश्लेषण, तथा राज्य कैसा होना चाहिए सम्बन्धी नैतिकता प्रधान राजनीतिक परिचर्चा से सम्बद्ध है।" (गैटिल)

3 निम्नलिखित कथनो मे से किसी एक का परीक्षण करें तथा राजनीति शास्त्र के अर्थ, स्वरूप एव क्षेत्र को इगित करें—

(अ) "राजनीति शास्त्र, समाज में नियन्त्रण के काय से, नियन्त्रण के फलस्वरूप प्रक्रिया से तथा उन सरचनाओ से सम्बद्ध है जो भावनाओ के नियन्त्रित सम्बन्धो के कारण प्रस्तुत है।" (कैटलिन)

(ब) "एक अनुभव-जन्य अध्ययन के रूप मे, राजनीति शास्त्र के निर्माण तथा साझेदारी का विषय है।" (लासवेल एव कैप्लान)

4 राजनीति शास्त्र के अर्थ, स्वरूप तथा क्षेत्र के सन्दर्भ में परम्परागत तथा आधुनिक दृष्टिकोणो को स्पष्ट करें। (1978)

अथवा

परम्परागत एव आधुनिक परिभाषाओ के अनुसार राजनीति शास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र की विवेचना कीजिए और इनमे समानता व अन्तर बताइए। (1979)

5 राजनीति, राजनीति विज्ञान, राजनीति सिद्धान्त तथा राजनीति दर्शन का परीक्षण करें। (1977)

6 स्पष्ट करें कि राजनीति शास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण किस प्रकार राजनीति शास्त्र के परम्परागत दृष्टिकोण की सीमाओ के निवारण का प्रयास है। (1977)

7 "राजनीति शास्त्र राजनीतिक अर्थतन्त्र अथवा पूँजीविज्ञान इतिहास, जो राजनीति शास्त्र को उन तथ्यो की उपलब्धि कराता है जो उसके लिए आवश्यक है, दर्शनशास्त्र एव विशेष रूप से सदाचार, जो राजनीति शास्त्र को आंशिक रूप से सिद्धान्त देता है, सभी विषयो से सम्बद्ध है।" (पॉल जेने) इस कथन का परीक्षण करें।

8 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि वर्तमान परिस्थितियों मे राजनीति शास्त्र इतिहास की अपेक्षा अर्थशास्त्र एव समाज शास्त्र से कहीं अधिक सम्बद्ध है।

9 निम्नलिखित विषयो में से किन्ही दो की राजनीति शास्त्र से सम्बद्धता का परीक्षण करें—इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एव भूगोल।

10 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि यदि इतिहास की अवहेलना हो तो राजनीति शास्त्र सारहीन रह जाएगा।

11 इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करें कि राजनीति शास्त्र एव अर्थशास्त्र, दो ऐसे सामाजिक शास्त्र है जिनका अध्ययन अलगाव में नही हो सकता।

12 आप इस दृष्टिकोण से किस सीमा तक सहमत हैं कि आज राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र से इतना अधिक सम्बद्ध है कि राजनीति शास्त्र को राजनीति समाज शास्त्र कहना चाहिए। (1976, 1977)

13 वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य तत्त्व क्या हैं? इनको राजनीति शास्त्र पर किस सीमा तक लागू किया जा सकता है? (1977)

14 उचित उदाहरण दें एव इगित करे कि राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रभावी ढग से लागू किया जा सकता है।

15 इस दावे का परीक्षण करें कि राजनीति शास्त्र, विज्ञान एव कला दोनो है। (1976)

16 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि राजनीति शास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानो के अर्थ मे, विज्ञान बनने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि राजनीति शास्त्र की सम्बद्धता सजीव मानव से है।

17 राजनीति शास्त्र, प्राकृतिक विज्ञानो के अर्थ में नही है, वह एक सामाजिक विज्ञान है। स्पष्ट करें। (1977)

18 निम्नलिखित पद्धतियो में से किसी एक का परीक्षण करें तथा उसकी सीमाएँ एव उपयोगिता इगित करें—(अ) ऐतिहासिक पद्धति, (ब) दार्शनिक पद्धति, (स) तुलनात्मक पद्धति। (1977)

19 राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद के उदय के कारणों एव परिस्थितियों की विवेचना करें।

20 व्यवहारवाद के अर्थ का परीक्षण करें तथा व्यवहारवाद द्वारा परम्परागत राजनीति शास्त्र की आलोचना का इंगित करें।

21 व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट करें तथा उसकी सीमाओं का परीक्षण करें। (1977, 1978)

22 राजनीति शास्त्र पर व्यवहारवाद के प्रभाव का मूल्यांकन करें।

23 उत्तर-व्यवहारवाद का क्या अर्थ है? यह व्यवहारवाद से किस प्रकार भिन्न है

24 क्या यह कथन उचित है कि उत्तर व्यवहारवाद व्यवहारवाद की सीमाओं के निवारण का प्रयास है?

25 यदि आपको विकल्प दिया जाए तो आप राजनीति शास्त्र के परम्परागत तथा आधुनिक दृष्टिकोणों में से किसको प्राथमिकता देंगे? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दें।

26 निम्न कथन का परीक्षण करें—
"इतिहास के बिना राजनीति का कोई आधार नहीं, राजनीति के बिना इतिहास का कोई फल नहीं।" (1977)

27 व्यवहारवादी दृष्टिकोण के प्रमुख अंगों की विवेचना कीजिए तथा इसके उपयोग एवं सीमाएँ बताइए। (1976)

यूनिट—2

1 राज्य के अर्थ एवं तत्वों का परीक्षण करें।

अथवा

राज्य की परिभाषा बताइए तथा इसके तत्वों का परीक्षण कीजिए। क्या आप राजस्थान वेटिकन संयुक्त राष्ट्र संघ तथा बंगलादेश को राज्य मानेंगे? कारणों सहित स्पष्ट कीजिए। (1976)

2 निम्नलिखित में से केवल दो के अन्तर स्पष्ट करें—
(अ) राज्य एवं समाज, (ब) राज्य एवं राष्ट्र,
(स) राज्य एवं सरकार, (द) राज्य एवं समुदाय। (1976)

3 सम्प्रभुता का अर्थ एवं लक्षण स्पष्ट करें। (1977)

4 आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की विवेचना करें। (1977, 1978)

5 बहुलवाद द्वारा सम्प्रभुता की आलोचना का परीक्षण करें।

6 बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्ट करें।

7 निम्नलिखित में से किन्हीं दो का परीक्षण करें—
(अ) जन-सम्प्रभुता, (ब) कानूनी सम्प्रभुता,
(स) ध्वजमात्र सम्प्रभुता, (द) राजनीतिक सम्प्रभुता,
(य) वास्तविक एवं वैध सम्प्रभुता।

8 राज्य के सावयव (आंगिक) सिद्धान्त को स्पष्ट करें एवं उसकी सीमाओं को इंगित करें। (1977)

9 राज्य की उत्पत्ति के निम्नलिखित सिद्धान्तो मे से किन्ही दो की विवेचना करें—
(अ) दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त, (ब) शक्ति सिद्धान्त,
(स) पैतृक सिद्धान्त, (द) मातृक सिद्धान्त ।

10 राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का परीक्षण करें तथा उसकी सीमाओ को इंगित करें । (1977)

अथवा

रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त विषयक विचारो का परीक्षण करें । (1977)

11 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि राज्य की उत्पत्ति दवीय अनुकम्पा अथवा सामाजिक समझौते के फलस्वरूप नहीं हुई । ऐतिहासिक परिप्रक्ष्य मे, व्यक्ति द्वारा सुरक्षा एव व्यवस्था की खोज मे राज्य की उत्पत्ति को देखा जा सकता है ।

अथवा

राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए । (1976)

12 अनेक बार ऐसा कहा जाता है कि सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी अपने विचारो की सीमाओ के बावजूद, हॉब्स, लॉक एव रूसो ने राजनीतिक विचारो के विकास में योगदान दिया । आपका क्या मत है ? अपने उत्तर के समथन मे कारण दें ।

13 हॉब्स अथवा लॉक अथवा रूसो द्वारा प्रतिपादित, राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त विषयक विचारो का परीक्षण करें ।

अथवा

प्राकृतिक अवस्था एव सामाजिक समझौते पर हॉब्स लॉक और रूसो के विचारो का परीक्षण कीजिए । (1976)

14 इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन करें कि राज्य की उत्पत्ति उन कारणों एव परिस्थितियो के फलस्वरूप हुई जो ऐतिहासिक विकास से सम्बद्ध हैं। (1977)

15 *निम्नलिखित में से किसी भी एक दृष्टिकोण का परीक्षण करें—*
(अ) उत्पादन के साधनो पर सामाजिक नियन्त्रण होना चाहिए ।
(ब) अपने आर्थिक कार्यो मे, राज्य द्वारा व्यक्ति को अकेला छोड दिया जावे ।
(स) नागरिको से सम्बद्ध कोई ऐसा काय नहीं जो राज्य के कायक्षेत्र के अन्तगत नहीं आता है ।

16 रूसो की सामान्य इच्छा अवधारणा का मूल्यांकन करें । (1977)

17 जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करें । जनकल्याणकारी राज्य की प्रमुख गतिविधियाँ क्या हैं ?

18 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा, व्यक्तिवाद एव समाजवाद का समझौता है।

19 धर्म एव राजनीति में क्या सम्बन्ध होने चाहिए ? इस सन्दर्भ मे, धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा का परीक्षण करें। (1977)

20 इस दृष्टिकोण की विवेचना करे कि लोककल्याणकारी राज्य को समाजवादी राज्य भी होना चाहिए।

21 राष्ट्रीय स्व निर्णय अवधारणा का मूल्यांकन करें। (1977)

22 इस मत से आप सहमत हैं अथवा असहमत हैं कि केवल एक धर्म निरपेक्ष तथा समाजवादी राज्य ही व्यापक जनकल्याण का सरक्षक हो सकता है ? अपने दृष्टिकोण के समर्थन मे कारण दें।

23 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रवाद के स्थान पर एक निर्बल विकल्प है।

24 *इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन करें कि धार्मिक राष्ट्रवाद एक अभिशाप है।*

25 लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। यह व्यक्तिवादी (हस्तक्षेप) राज्य से किस प्रकार भिन्न है ? (1976)

यूनिट—3

1 एक सरकार के रूप मे लोकतन्त्र के प्रमुख लक्षणो की परीक्षा करें। (1977)

2 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव मे राजनीतिक लोकतन्त्र अर्थहीन है।

3 लोकतन्त्र के सन्दर्भ में पश्चिमी अवधारणा तथा समाजवादी दृष्टिकोण के अन्तर की विवेचना करें।

4 यह कथन किस सीमा तक उचित है कि सभी लोकतन्त्र, पश्चिमी अथवा समाजवादी उत्तरदायित्व एव लोक कल्याणकारी तत्त्वों के अभाव मे, अधिनायकवादी प्रवृत्ति दर्शाते हैं ?

5 अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्थाओ के लक्षण क्या हैं ? अपने उत्तर के समर्थन मे उदाहरण दें।

6 एकात्मक सरकार के गुणो एव दोषो का परीक्षण करें। (1977)

7 यह कथन किस सीमा तक उचित है कि सभी सघीय राजनीतिक व्यवस्थाओ के कार्यान्वयन मे कुछ तत्त्व एकात्मकता के भी विद्यमान होते हैं ? अपने उत्तर के समर्थन म उचित उदाहरण दें।

अथवा

सघात्मक शासन के लाभ और हानियो का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1976)

8 सघीय व्यवस्था की सफलता हेतु प्रमुख परिस्थितियो का परीक्षण करें।

9 सरकारों के पारस्परिक वर्गीकरण की विवेचना करें एव उसकी सीमाओं को वतमान स दभ में स्पष्ट करें।

10 सरकारा के आधुनिक वर्गीकरण की विवेचना करें एव उसकी सीमाओं को स्पष्ट करें।

11 लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के स दभ में व्यवस्थापिका एव कायपालिका के सम्ब धो का परीक्षण करें। (1977)

12 समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ मे व्यवस्थापिका एव कायपालिका के सम्ब धो का परीक्षण करें। (1977)

13 लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के स दभ में व्यवस्थापिका एव यायपालिका के सम्ब धो का परीक्षण करें।

14 समाजवादी राजनीति व्यवस्थाओं के स दभ में व्यवस्थापिका एव न्यायपालिका के सम्ब धो का परीक्षण करें।

15 आपका इस कथन के विषय में क्या दृष्टिकोण है कि व्यवस्थापिका एव कायपालिका से अपने सम्ब धो में यायपालिका को स्वत त्र एव सर्वोच्च रहना चाहिए। अपने उत्तर के समथन मे उचित उदाहरण दें।

अथवा

स्वत त्र यायपालिका के महत्त्व की विवेचना कीजिए। यायपालिका की स्वत त्रता कसे बनाए रखी जा सकती है? (196)

16 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को स्पष्ट करें तथा वतमान सन्दभ मे उसके औचित्य का परीक्षण करें। (1977, 1978)

17 आप इस मत से सहमत हैं-अथवा असहमत है कि यद्यपि व्यवस्थापन, कायपालन एव यायिक कार्यों का निधारण अनिवाय है। इन कार्यों का पूणतया पृथक्करण न तो आवश्यक है और न ही सम्भव? अपने दृष्टिकोण के समथन मे कारण दें।

18 ससदीय व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण करें, तथा उसके गुण एव दोषों को इगित करें। (1977)

19 अध्यक्षात्मक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण करें, एव उसके गुण एव दोषो को इगित करें। (1977, 1978)

20 ससदीय एव अध्यक्षात्मक व्यवस्थाओं की तुलना, उनके सगठन एव कार्यों के स दभ में करें।

अथवा

ससदीय एव अध्यक्षात्मक शासन की मुख्य विशेषताएँ बताइए। (1976)

21 यह कथन किस सीमा तक उचित है कि व्यवहार में, लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं मे अभिजनवादी सरकारो की प्रवृत्ति दीख पड़ती है? अपन उत्तर के समथन में कारण दें।

22 इस कथन का परीक्षण करें कि व्यापक अधिकारो, याय एवं लोककल्याण के सरक्षण हेतु राजनीतिक लोकत त्र अनुपयुक्त है।

23 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुणों एवं दोषों का (अथवा पक्ष एवं विपक्ष में तर्कों का) परीक्षण कीजिए। (1976, 1978)

24 संसदात्मक व्यवस्थाओं के सफल कार्यान्वयन हेतु अनिवार्य परिस्थितियों का परीक्षण करें।

25 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि विकासशील समाजों में लोकतन्त्र की पश्चिमी प्रतिकृति (मॉडल), सामाजिक आर्थिक न्याय का संरक्षण करने में अनुपयुक्त हैं। (1977)

26 "लोकतन्त्र केवल शासन का स्वरूप ही नहीं है, अपितु जीवन का एक माध्यम है।" पाश्चात्य एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर कथन को स्पष्ट करें। (1976)

यूनिट 4

1 राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के अर्थ, भूमिका एवं आवश्यकता का परीक्षण करें। (1977)

2 लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना करें। (1976 1978)

3 विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना करें। (1976)

4 समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना करें।

5 एक दलीय व्यवस्था के गुणों एवं दोषों का मूल्यांकन करें। (1977)

6 द्वि दलीय व्यवस्था के गुणों एवं दोषों का मूल्यांकन करें।

7 बहुदलीय व्यवस्था के गुणों एवं दोषों का मूल्यांकन करें। (1977)

8 इस मत का परीक्षण करें कि केवल विश्वसनीय दल व्यवस्था ही सफल राजनीतिक व्यवस्था को संरक्षण दे सकती है।

9 दबाव-समूह से क्या तात्पर्य है? राजनीतिक दल एवं दबाव समूह का अन्तर स्पष्ट करें। (1977)

अथवा

राजनीतिक दल एवं दबाव-समूह भूमिका, कार्य प्रणाली तथा उद्देश्यों में किस प्रकार भिन्न होते हैं? (1976)

10 दबाव-समूहों में प्रमुख प्रकारों का परीक्षण करें एवं दबाव-समूह किस प्रकार निर्णय निर्माण को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं, इंगित करें।

11 राजनीतिक व्यवस्था में दबाव-समूहों की भूमिका का परीक्षण करें। आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत हैं कि दबाव-समूह लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया के नकारात्मक तत्व हैं? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दें।

12 जनमत से क्या तात्पर्य है? जनमत निर्माण किस प्रकार होता है? (1978)

13 लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में जनमत निर्माण एव अभिव्यक्ति कैसे होती है ? (1977)

14 उन तत्वों की विवेचना करें जो विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं मे जनमत निर्माण को चुनौती देते हैं ।

15 समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में जनमत निर्माण एव अभिव्यक्ति कैसे होते हैं ?

16 इस मत का परीक्षण करें कि जनमत नागरिको द्वारा निर्मित नहीं हो सकता । जनमत अनेक स्रोतो द्वारा, जिन पर नागरिको का कोई नियन्त्रण नही होता क्रियान्वित एव आरोपित किया जाता है ।

17 जनमत निर्माण में निम्नलिखित की भूमिका की विवेचना करें—
(क) राजनीतिक दल, (ख) शैक्षणिक सस्थाएँ एव (ग) प्रेस (1977)

18 राजनीतिक लोकतन्त्र में ग्राम एव शहरी, स्थानीय स्वायत्त सस्थाओं की भूमिका का परीक्षण करें ।

अथवा

लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे स्थानीय स्वायत्त सस्थाएँ सामान्यत कौन से मुख्य काय करती है ? (1976)

19 विकेन्द्रित लोकतन्त्र का अथ स्पष्ट करें, एव विकेन्द्रित लोकतन्त्र की सस्थाओं के महत्व को इगित करें । (1977)

20 राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता हेतु निम्नलिखित की भूमिका का सक्षिप्त परीक्षण करें—(1) जनमत, (11) राजनीतिक दल एव (111) स्थानीय स्वायत्त शासन ।

21 सावजनिक वयस्क मताधिकार का अथ एव उपयोगिता स्पष्ट करें ।

22 अल्पसख्यक प्रतिनिधित्व के प्रमुख साधनो का सक्षेप मे स्पष्टीकरण कर । (1977, 1978)

23 आनुपातिक प्रतिनिधित्व मे क्या तात्पय है ? इस प्रणाली के गुणो एव दोषो का परीक्षण करें । (1976 1977)

24. निम्नलिखित कथनो मे से केवल एक की विवेचना करे—
(अ) यदि औसत नागरिक अशिक्षित एव विवेकहीन हैं तो स्थानीय स्वायत्त शासन एक अथहीन प्रयोग मात्र है ।
(ब) जनमत को सदव अधिनायकवादी प्रभावों का भय बना रहता है ।
(स) दबाव समूहो का निर्माण अभिजनवादी शक्तियो द्वारा होता है जो अधिकाधिक उपलब्धियों को अर्जित करना चाहती है ।

25 निम्नलिखित कथनो में से केवल एक की विवेचना करें—
(अ) राजनीतिक दल अनिवाय हैं क्योंकि वे विकल्प उपलब्ध करते हैं ।

(ब) धर्म एव साम्प्रदायिक आधारों पर निर्मित राजनीतिक दल, लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए अभिशाप हैं।

(स) राजनीतिक दल के विकास हेतु स्पष्ट सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम होना अनिवार्य है।

26 अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का परीक्षण कीजिए तथा इसके लाभ हानियाँ बताइए। (1976)

यूनिट 5

1 राजनीति शास्त्र के सन्दर्भ में शक्ति अवधारणा का परीक्षण करें।

अथवा

इस प्रस्ताव का परीक्षण कीजिए कि राजनीति शास्त्र 'शक्ति का विज्ञान' (Science of Power) है? (1976)

2 शक्ति एव प्रभाव के अन्तर को स्पष्ट करें।

3 शक्ति, प्राधिकार तथा वैधता (औचित्य) के अर्थ एव सम्बन्धों की विवेचना करें। (1978)

4 इस दृष्टिकोण का परीक्षण करें कि शक्ति, प्रभाव के क्रियान्वयन की विशेष स्थिति है। इस सन्दर्भ मे 'बल प्रवर्ती (दबाव) प्रभाव तथा 'अनुनयी' प्रभाव के अन्तर को स्पष्ट करें।

5 आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं अथवा असहमत हैं कि राजनीति एव शक्ति समानार्थक हैं? अपने मत के समर्थन मे कारण दें। (1977)

6 राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा का परीक्षण कर, एव राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों को इंगित करें। (1977, 1978)

7 डेविड ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा की विवेचना करें एव उसकी सीमाओं को इंगित करें। (1977)

8 डेविड ईस्टन के सचार के मूल तत्वों के रूप मे राजनीतिक', 'व्यवस्था', एव 'राजनीतिक व्यवस्था शब्दों को स्पष्ट करें।

9 'राज्य' एव 'शासन' सम्बद्ध परम्परागत दृष्टिकोण से श्रेष्ठतर विकल्प के रूप में, डेविड ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा की विवेचना करें।

10 अधिकारों के प्रमुख सिद्धान्तों का सक्षेप मे परीक्षण करें। आप किस सिद्धान्त को सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं और क्यों? (1976, 1977)

11 अधिकारों का क्या अर्थ है? अधिकारों के प्रमुख प्रकारों का संक्षेप में परीक्षण करें।

12 प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का परीक्षण करें।

13 लोकतन्त्र तथा समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों के स्वरूप में अन्तर को स्पष्ट करें।

14 नागरिक स्वतन्त्रताओं के अर्थ एव महत्व को स्पष्ट करें। (1977)

15 इस दृष्टिकोण का परीक्षण करें कि कर्त्तव्यों की अनुपस्थिति में, अधिकार निरर्थक हैं। (1977)

16 "सशक्त राजनीतिक व्यवस्था का लक्षण है कि नागरिकों के कर्त्तव्य, नागरिक अधिकारों की पूर्वदशा होते हैं।" विवेचना करें।

17 लोकतान्त्रिक एवं समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिक स्वतन्त्रताओं के स्वरूप तथा महत्त्व का परीक्षण करें।

18 इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन करें कि सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय के संरक्षण की स्थिति में ही, राजनीतिक स्वतन्त्रता सार्थक होती है। (1978)

19 इस दृष्टिकोण की विवेचना करें कि यदि अविवेक, दरिद्रता, अन्याय शोषण एवं साम्प्रदायिकता, राजनीतिक व्यवस्था पर आघात करते रहे तो राजनीतिक स्वतन्त्रता नितान्त औपचारिकता बन जाती है। (1977)

20 आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत हैं कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक आर्थिक समानता एवं न्याय का संरक्षण करने में असमर्थ होती है? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दें। (1977)

21 आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत कि केवल समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था ही सामाजिक-आर्थिक समानता एवं न्याय का संरक्षण करने में समर्थ होती है? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दें।

22 इस मत की विवेचना करें कि कानून एवं स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं। (1977)

23 "विभिन्न स्वतन्त्रताओं का प्रावधान मात्र आवश्यक नहीं है। नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की व्यावहारिक उपलब्धि ही निर्णायक तत्त्व है।" इस कथन की विवेचना करें।

24 "राष्ट्रीय अनुशासन द्वारा ही स्वतन्त्रता एवं समानता को अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है।" इस कथन की विवेचना करें।